बेनीप्रसाद



हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता

बेनीप्रसाद

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद



प्रथम संस्करण—१९३१
द्वितीय संस्करण—१९५०
तृतीय संशोधित संस्करण—१९६७
मूल्य—दस रुपया



मुद्रक
सरयू प्रसाद पाण्डेय,
नागरी प्रेस,
दारागंज,
इलाहाबाद

प्रकाशकीय

राजनीति और इतिहास के पारङ्गत विद्वान् स्वर्गीय डॉ० बेनीप्रसाद के इस ग्रन्थ 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' का तीसरा संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। हिंदुस्तानी एकेडेमी ने इस ग्रन्थ का पहला संस्करण सन् १६३१ में और दूसरा संस्करण सन् १६५० में प्रकाशित किया था। यह इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का ही प्रमाण है कि इसका तीसरा संस्करण नये सजधज के साथ आपके सामने प्रस्तुत है। निरन्तर बढ़ती हुई मँहगाई के कारण बाध्य होकर इस ग्रन्थ के मूल्य में दो रुपये की वृद्धि करनी पड़ी है।

यह ग्रन्थ कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। विश्वास है, विगत दोनों संस्करणों की भाँति यह संस्करण भी विद्वज्जनों, विद्यार्थियों और सुधी-पाठकों के बीच समादृत होगा।

फरवरी १६६७

उमाशंकर शुक्ल
सचिव

प्रथम संस्करण की भूमिका

हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता इतना बड़ा विषय है कि उसकी विवेचना के लिये हज़ारों पृष्ठों की कई पुस्तकों की ज़रूरत है। छः-सात सौ पृष्ठों में उसका दिग्दर्शन भी कराना मानों सागर को गागर में भरना है। यह पुस्तक न तो हिन्दू-सभ्यता का पूरा इतिहास है, न उसका पूरा वर्णन है। इसमें केवल कुछ मोटी-मोटी बातों का थोड़ा-सा उल्लेख है। विशेष अध्ययन के लिये पाठक उन ग्रन्थों और पत्रिकाओं को पढ़ें जिनका हवाला मूलपाठ में और टिप्पणियों में दिया है।

हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों की जानकारी अभी अधूरी है और सैकड़ों बातों पर अभी मतभेद है। नई-नई सम्मतियाँ निकल रही हैं और कट रही हैं। इस पुस्तक में लेखक ने अपने अध्ययन के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि मूल सामग्री को पढ़ कर अपनी स्वतन्त्र सम्मति स्थिर करें। पुस्तक में सब जगह तारीख ईस्वी-सन् में लिखी हैं क्योंकि वही आजकल संसार में अधिकतर प्रचलित है।

भाषा के बारे में जो शब्द हमारी मामूली बोलचाल में प्रचलित हैं, उनको हिन्दी शब्द मानना चाहिये। वह संस्कृत से निकले हों या प्राकृत से; फारसी से निकले हों या अरबी से; पर जब उनका चलन हो गया तब वह हमारे ही हैं। उनका बहिष्कार करना अपनी भाषा के भण्डार को सङ्कुचित करना है। अगर आज भी वह कुछ लोगों को कर्णकटु मालूम होते हैं तो इसका कारण यह है कि अब तक हमने साहित्य में सङ्कोच की नीति का अनुसरण किया है। स्वतन्त्र प्रयोग से कर्णकटुता जल्द ही मिट जायगी और भाषा का कोष भी बढ़ जायगा।

बेनीप्रसाद

विषय-सूची

संक्षेप-निर्देश

अग्नि०—अग्नि पुराण
अट्ठ० —अट्ठकथा
अथर्व०—अथर्ववेद
अर्थ०—अर्थशास्त्र
अनु०—अनुशासन पर्व
अभिज्ञान०—अभिज्ञान शाकुन्तल
अरण्य०—अरण्य-काण्ड
अस्स०—अस्सलायन सुत्त
अश्व०—अश्वमेध पर्व
अत्रि०—अत्रिस्मृति
अयोध्या०—अयोध्या-काण्ड
आ० उ०—आश्रम उपनिषद्
आई० ए०—इण्डियन एण्टिक्वेरी
आचा०—आचाराङ्गसुत्त
आदि०—आदिपर्व
आनु०—आनुशासिक पर्व
आ० स० रि०—आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट
आपस्तम्ब०—आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आरु० उ०—आरुणेय उपनिषद्
आश्व०—आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्रम०—आश्रमवास पर्व
ईश०—ईशोपनिषद्
उश०—उशनसस्मृति
उद्योग०—उद्योग पर्व
ऋग्०—ऋग्वेद
ऐत० आ०—ऐतरेय आरण्यक
ऐत० ब्रा०—ऐतरेय ब्राह्मण
अङ्गि०—अङ्गिरसस्मृति
अंगु०—अङ्गुत्तर निकाय
अंबट्ठ०—अम्बट्ठ सुत्त
अम्बा०—अम्बा जातक
कठ०—कठोपनिषद्
कण्ण०— कण्ण कथल सुत्त
कथा०—कथासरित्सागर
कला०—कलासूत्र
कर्ण०—कर्ण पर्व
काम०—वात्स्यायन कामसूत्र
का० सं०—काठकसंहिता
किरा०—किरातार्जुनीय
किष्किन्धा०—किष्किन्धा-काण्ड
कुमार०—कुमारसम्भव
कृ०-यजु०—कृष्ण यजुर्वेद
कौ० अर्थ०—कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौशी० उ०—कौशीतकि उपनिषद्
कौशी० ब्रा०—कौशीतकि ब्राह्मण
गौतम०—गौतम धर्मसूत्र
चुल्ल०—चुल्लवग्ग
छा० उप०—छान्दोग्य उपनिषद्
जुण्ह०—जुण्ह जातक
जे० आर० ए० एस०—जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसायटी
तित्तिर०—तित्तिर जातक

तैत्ति० आ०—तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्ति० उ०—तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्ति० ब्रा०—तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्ति० सं०—तैत्तिरीय संहिता
दक्ष०—दक्षस्मृति
दीघ०—दीघनिकाय
धम्म०—धम्मपद
नि० निरुक्त
निदान०—निदान कथा
नीति०—कामन्दकीय नीतिसार
पञ्च० ब्रा०—पञ्चविंश ब्राह्मण
पारा०—पाराशरस्मृति
बाल०—बाल-काण्ड
बौद्धायन०—बौद्धायन धर्मसूत्र
भग —भगवद्गीता
भीष्म०—भीष्म पर्व
म०— महावग्ग
मज्झिम०—मज्झिम निकाय
मधुर०—मधुरसुत्त
मनु०—मनुसंहिता
महास०—महासकुलदापि सुत्त
महा प्र०—महाप्रस्थानिक पर्व
महा०—महाभारत
महा० परि०—महापरिनिब्बान सुत्तंत
मिलिंद०—मिलिन्दपन्हो
मैत्रा० सं०—मैत्रायणी संहिता
यम०—यमस्मृति
याज्ञ०—याज्ञवल्कस्मृति
रघु०—रघुवंश
राजधर्म०—राजधर्मानुशासन पर्व
राजतर०—राजतरङ्गिणी-कल्हण
ललित०—ललितविस्तर
लिखित०—लिखितस्मृति
वन०—वनपर्व
वशिष्ठ०—वशिष्ठधर्मसूत्र
व्यास०—व्याससस्मृति
वासेट्ठा०—वासेट्ठ सुत्त
वाजस० सं०—वाजसनेयि संहिता
बार्ह०—बार्हस्पत्यसूत्र
विनय०—विनय पिटक
विष्णु०—विष्णुस्मृति
बृ०—बृहद्देवता
बृ०—बृहदारण्यक उपनिषद्
शत० ब्रा०—शतपथब्राह्मण
शु० यजु०—शुक्ल यजुर्वेद
शान्ति०—शान्तिपर्व
शाता०—शातातपस्मृति
शा० भा०—शारीरक भाष्य
शिक्षा०—शिक्षासमुच्चय
सम०—समव्रतस्मृति
समण०—समणमण्डिका सुत्त
स्त्री०—स्त्री-पर्व
सभा०—सभापर्व
सुत्त०—सुत्तनिपात
सं० उ०—संन्यास उपनिषद्
हट्ठ०—हट्ठपाल सुत्त
हरि०—हरिवंश
हरिवंश—हरिवंश पुराण

प्रारम्भ

१

यों तो सारा इतिहास एक है, पर पढ़ाई की सुगमता के लिये अन्य, देशों की तरह हिन्दुस्तान के इतिहास के भी तीन भाग किये जा सकते हैं—एक तो प्राचीन, जो बहुत-ही पुराने समय से लेकर १२ वीं ईस्वी सदी तक रहा, जिसकी सभ्यता की परम्परा कभी टूटने न पाई; जिसके धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य, कला की धाराएँ सारे देश में अपने खास ढङ्ग से बेखटके चलती रहीं और जिसके सङ्गठन के मूल सिद्धान्तों को किसी भारी आपत्ति का सामना न करना पड़ा। बारहवीं सदी में यह स्थिति बदल गई, उत्तर-पश्छिम से नई जातियाँ, नया धर्म, नई सभ्यता आई, जिन्होंने देश की राजनैतिक अवस्था बिल्कुल बदल दी, जिन्होंने समाज पर भी बहुत असर डाला और भाषा, साहित्य, कला के मार्गों को बदल दिया। इस वक्त से माध्यमिक भाग प्रारम्भ होता है जो १८वीं सदी तक रहा। पुरानी सभ्यता के बहुत-से सिद्धान्त और तत्त्व इस कला में भी मौजूद थे; देश के सभी सिद्धान्तों में उन्होंने बहुत-सा विकास भी पाया, पर नई शक्तियों और प्रभावों से मिलकर वह एक नई सभ्यता के रूप में बदल गये। अठारहवीं सदी से हमारे इतिहास का अर्वाचीन भाग प्रारम्भ होता है जिसमें यूरोपियन प्रभावों से देश की राजनैतिक और आर्थिक अवस्था फिर उलट-पलट हो जाती है और जीवन के सब अङ्ग बड़ी तेज़ी से ढङ्ग बदलते हैं। हर एक देश के लिए अर्वाचीन इतिहास सबसे उपयोगी होता है, क्योंकि वह वर्तमान स्थिति पर सबसे ज्यादा प्रकाश डालता है और वर्तमान गुत्थियों को सुलझाने में सबसे ज़्यादा मदद देता है। पर कई कारणों से हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास का समझना भी बहुत ज़रूरी है। एक तो बहुत से पुराने विचार और रीति-रिवाज अबतक क़ायम हैं; पुराने वेदान्त की प्रभुता अब तक बनी हुई है; पुराना संस्कृत साहित्य आज भी भाषा-साहित्यों पर पूरा असर डाल रहा है; पुराने धर्मों के सिद्धान्त अभीतक माने जाते हैं। दूसरे, माध्यमिक और अर्वाचीन इतिहास के मर्म को पुराने इतिहास के बग़ैर कोई समझ नहीं सकता। तीसरे,

हिन्दुस्तान का इतिहास

प्राचीन समय में पच्छिम-एशिया और पूर्वी-एशिया पर हिन्दुस्तानी धर्म और संस्कृति का ऐसा प्रभाव पड़ा था कि वह आजतक नहीं मिटा है। इन दूरवर्ती देशों की सभ्यता को समझने के लिये हिन्दुस्तान का पुराना इतिहास आवश्यक है। चौथे, वैज्ञानिक दृष्टि से भी पुरानी भाषा, कथा, धर्म, काव्य, गणित, ज्योतिष, एवं सामाजिक और राजनैतिक सङ्गठन का बड़ा महत्त्व है। पुराने जमाने में बहुत-सी रचनाएँ हुई जो आजकल की सामाजिक विद्याओं, दर्शनों और भाषा इत्यादि के विज्ञानों के बड़े काम की हैं। सच तो यह है १९वीं सदी में बौप, ग्रिम, मैक्स-मुलर इत्यादि ने जो नये-नये शास्त्र चलाये वह हिन्दुस्तानी संस्कृति के आधार के बिना ठहर ही न सकते थे। जब हिन्दुस्तानी सामग्री का पूरा प्रयोग हो चुकेगा तब आजकल के समाजशास्त्र (सोशियोलोजी) का रूप बदल जायगा।

सामग्री

सौ बरस से विद्वानों की शिकायत है कि पुराने समय में हिन्दुस्तानियों ने इतिहास बहुत-कम लिखा, अपनी किताबों या इमारतों या मूर्तियों पर तारीख डालने की परवा नहीं की और अब हमारे लिये पूरा इतिहास लिखना असम्भव-सा कर दिया। राजनैतिक इतिहास के लिये तो आज बहुत-सी खोज के बाद भी यह शिकायत दुरुस्त है। सभ्यता के इतिहास के लिये भी शिकायत ठीक है कि तिथियों के न होने से विकास का क्रम अच्छी तरह स्थिर नहीं होता। पर इसके बाद जो कठिनाई पड़ती है वह सामग्री की कमी से नहीं किन्तु बहुतायत से पैदा होता है। संस्कृत और पाली साहित्य इतने विशाल हैं कि बरसों की लगातार मेहनत के बाद कहीं थोड़ा-सा अधिकार उन पर होता है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ही बरसो के लिये काफ़ी हैं।

साहित्य

उनके बाद बहुत से श्रौतसूत्र, गृहसूत्र और धर्मसूत्र आते हैं, जिनमें सभ्यता के इतिहास की सामग्री मानो अक्षरशः कूट-कूट कर भरी है। दो बड़े वीरकाव्य, रामायण और विशेषकर महाभारत अथाह सागर-से जान पड़ते हैं। इस समय के बाद ही बौद्ध साहित्य शुरू होता है, जिसके पाँच पाली निकाय और अन्य ग्रन्थ हजारों पृष्ठों में हैं। दूसरी ई० सदी के लगभग से संस्कृत-साहित्य की धाराएँ फिर प्रारम्भ होती हैं। एक ओर

तो मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद, वृहस्पति, पराशर इत्यादि के धर्मशास्त्र हैं, जिनका क्रम १८ वीं ई० सदी तक जारी रहा। दूसरे, वह रचनाएँ हैं जो कुछ अदल-बदल कर ८वीं सदी के लगभग १८ पुराणों के रूप में प्रकट हुईं। तीसरे, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि हैं, जो धर्म से कुछ गौण सम्बन्ध रखते हैं। चौथे, भास, कालिदास, भारवि, भवभूति, वाणभट्ट, माघ, दण्डी, सुबन्धु, क्षेमेन्द्र, गुणाढ्य, सोमदेव, इत्यादि का लौकिक काव्य है, जिसमें युग-युग की सभ्यता की तसवीर खिंची हुई है। पाँचवें, बौद्ध संस्कृत साहित्य है, जिसके बहुत से ग्रन्थों का पता हाल में ही नैपाल, तिब्बत, चीन और जापान से लगा है। छठे, संस्कृत और पाली जैन साहित्य है जो ब्राह्मण या बौद्ध-साहित्य से किसी तरह कम नहीं है और जो बहुत-से अंशों में उनकी सामग्री को पूरा करता है। सातवें, ब्राह्मण, बौद्ध और जैन लेखकों के व्याकरण, कोष, गणित, ज्योतिष, कला इत्यादि-इत्यादि के ग्रन्थ हैं, जो अपने विषय के अलावा कभी-कभी राजनीति और समाज की बातों का भी उल्लेख करते हैं। आठवें, इन सब श्रेणियों के साहित्य की टिप्पणियाँ हैं जो लगभग ७वीं सदी से ले कर आज तक लिखी गई है। नवें, धुरदक्खिन का तामिल-साहित्य है जिसकी परम्परा ईस्वी सन् के पहिले तक पहुँचती है। अधिक उपयोगी ग्रन्थों का ज़िक्र आगे किया जायगा और उनकी तिथि बताने का यथासम्भव उद्योग किया जायगा। यहाँ केवल इस बात पर जोर देना जरूरी है कि वेदों से ले कर १२वीं सदी तक का साहित्य हमारी पुरानी सभ्यता के इतिहासकार मूल आधार है।

पर सौभाग्य से कुछ और सामग्री भी है जो साहित्य की कमी को बिल्कुल तो नहीं, पर बहुत-कुछ पूरा कर देती है। ई० पू० ३री सदी में बौद्ध सम्राट्

शिलालेख और ताम्रपत्र

अशोक ने बहुत से लेख प्रजा की उन्नति के लिये शिलाओं पर खुदवाये जो आजतक वैसे ही बने हुए हैं और जिनका अर्थ प्रिंसप, फ्लीट, हुल्ट्ज़, और भाण्डारकार इत्यादि विद्वानों ने स्पष्ट कर दिया है। ई० पू० २री सदी में उत्कल के जैन राजा खारवेल का हाथीगुंफा लेख है। पहली ई० सदी के बाद आन्ध्र, क्षत्रप इत्यादि नरेशों के ४थी सदी के बाद गुप्त महाराजाधिराजों के और उसके बाद १२वीं सदी तक देश के प्रायः सभी राजवंशों के शिलालेख, ताम्रपत्र इत्यादि बहुतायत-

से मिलते हैं। बंगाल ऐशियाटिक सुसायटी, रायल एशियाटिक सुसायटी और उसकी बम्बई शाखा, एवं बिहार और उड़ीसा रिसर्च सुसायटी की पत्रिकाओं में कोर्पस इंस्क्रिपशनम्, इण्डियन एण्टिक्वेरी और एपिग्रेफिया इण्डिका में ऐसे हज़ारों लेख बीसों विद्वानों ने सम्पादन कर के अपनी टीकाओं के साथ छपाये हैं। दक्खिनी के लेख, जो संख्या में और भी ज्यादा हैं और जो १७वीं सदी तक पहुँचते हैं, एपिग्राफिया कर्नाटिका, साउथ इण्डियन इंस्क्रिपशन्स् और मद्रास एपिग्रेफिस्ट्स रिपोर्ट में भी प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों से सैकड़ों राजाओ और महाराजाधिराजों की तिथि और करनी मालूम पड़ती है, राज-शासन का चित्र खिच जाता है और कभी-कभी समाज, आर्थिक स्थिति और साहित्य की बातों का भी पता लगता है।

सिक्के और मुहरें

यही प्रयोजन सिक्कों और मुहरों से भी सिद्ध होता है, जो ई० सन् के प्रारम्भ के लगभग से पञ्जाब, सिन्ध, मालवा इत्यादि प्रदेशों में मिलते है। कभी-कभी तो यह सिक्के धार्मिक और सामाजिक समस्याओं को मानो चमत्कार से हल कर देते हैं।

भवन और मूर्ति

सामाजिक और धार्मिक इतिहास के लिये पुरानी मूर्तियों और भवनों के ध्वंसावशेष भी बहुत उपयोगी हैं। तक्षशिला, सारनाथ, पाटलिपुत्र आदि को खोदकर जो मकान, बरतन, मूर्ति वगैरह निकाली गई हैं, इलूरा, अजन्ता, कार्ली इत्यादि में जो गुफाएँ और चैत्यालय हैं, साँची इत्यादि में जो स्तूप हैं, वह पुरानी निर्माण-कलाओं के भी अच्छे उदाहरण देते हैं। हिन्दू-सभ्यता के इस अङ्ग को समझने के लिये लङ्का, बर्मा, स्याम, कोचीन चाइना, जावा, सुमात्रा और बाली के उन मन्दिरों और मूर्तियों पर नजर डालना भी जरूरी है, जिनके सिद्धान्त और नियम हिन्दुस्तान से लिये गये थे और जो असल में हिन्दू-संस्कृति के ही हिस्से हैं।

विदेशी लेख

पुराने हिन्दुस्तान के बारे में कुछ परदेसी यात्रियों या लेखकों ने भी अपनी देखी या सुनी बातें लिखी हैं। इनके वर्णनों में बहुत-सी आवश्यक बातों का जिक्र है, जिनको हिन्दुस्तानियों ने साधारण समझ कर कहीं नहीं लिखा। ई० पू० ६ठी-५वीं सदी में सिन्ध नदी के पच्छिम का प्रदेश ईरान के विशाल साम्राज्य में मिला लिया

गया था। हेरोडोटस इत्यादि ग्रीक लेखकों ने, जिनके देश का सम्पर्क ईरान से था, हिन्दुस्तानियों के बारे में भी दो-चार बातें कही हैं। ई० पू० ३२७ में मेसीडोनिया के महाराजा सिकन्दर (ऐलेक्जांडर) के साथ कुछ ग्रीक लेखक भी आये थे, जिनके इतिहासों और वृत्तान्तों के अंश आगे के लेखकों में मिलते हैं। १०-१५ बरस-के बाद सेल्यूकस निकेटर के राजदूत मेगस्थेनीज़ ने अपना देखा और सुना हुआ बहुत-सा हाल लिखा। उसकी मूल-रचना तो लोप हो गयी है पर इसकी बहुत-सी बातें और लेखकों में इधर-उधर पाई जाती हैं। इसी तरह कुछ अन्य ग्रीक और लैटिन किताबों में हिन्दुस्तान के बारे में ई० सन् के प्रारम्भ के इधर-उधर की बातें लिखी हैं। पुराने यूरोपियन साहित्य के इन बिखरे हुए वाक्यों को १८४६ में जर्मन विद्वान् ई० ए० श्वानवक ने इकट्ठा करके प्रकाशित किया था। इनका अंग्रेज़ी अनुवाद जे० डब्ल्यू मेक्क्रिंडल ने किया है। इन लेखों का उपयोग करते समय यह याद रखना ज़रूरी है है कि भाषा और रीति-रिवाज से अनभिज्ञ होने के कारण विदेशी यात्री कभी-कभी धोखा खा जाते हैं। दूसरे, हमारे पास तक जो वचन पहुँच पाये हैं, उनमें शायद बीच के लेखकों ने, जो हिन्दुस्तान से विल्कुल अपरिचित थे, कुछ नमक-मिर्च लगा दिया है।

ग्रीक

पाँचवीं और ७वीं ई० सदी के हाल के लिये चीनी यात्री बड़े काम के हैं जो बुद्ध भगवान् के जीवन क्षेत्रों का दर्शन करने और बौद्ध शास्त्र पढ़ने और जमा करने आये थे। फ़ाहियान (५वीं ई० सदी) का अनुवाद जाइल्स ने और लेज ने भी अंग्रेजी में किया है और टामस वाटर्स ने, चाइना रिव्यू' के ८वें भाग में कुछ टिप्पणी-की है। ह्येनसंग या युआनच्वांग (७वीं ई० सदी) का अनुवाद सेम्युएल बील ने और थोड़ा-सा वाटर्स ने किया है। इत्सिग (७वीं सदी) का अनुवाद जापानी विद्वान् टकाकुसू ने किया है।

चीनी

पच्छिमी-एशिया से हिन्दुस्तान का व्यापारिक सम्बन्ध ई० पू० ६-८ वीं सदी से चला आता था। इसके बाद बहुत से हिन्दू राजाओं ने पच्छिम शासकों से मेल-मिलाप के सम्बन्ध भी किये। आठवीं ई० सदी से मुसलमानों से राजनैतिक सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ। आठवीं सदी में सिन्ध पर मुहम्मद-बिन क़ासिम की अरब

फ़ौज ने हमला करके विजय पाई। अरबों में इतिहास लिखने की कला ने बहुत उन्नति पाई थी। सुलैमान, अबू जैदुलहसन, इब्न खुर्दबा, अलमसूदी, अल् इदरीसी इत्यादि अरबों ने ९वीं और १०वीं सदी में हिन्दुस्तान का कुछ हाल लिखा। तेरहवीं सदी में चचनामा अर्थात् तारीख़ हिन्द वा सिन्ध की रचना हुई, जिसमें ८वीं सदी की लिखी हुई बहुत-सी बातें शामिल कर ली गईं। ग्यारहवीं सदी में पञ्जाब और सिन्ध पर हमला करके महमूद गजनवी ने हिन्दुस्तान का दरवाज़ा उत्तर-पच्छिम वालों के लिये फिर खोल दिया। उसके दरबार का विद्वान् अल्बेरूनी हिन्दुस्तान आकर संस्कृत का पूरा पण्डित हो गया। उसने हिन्दू-धर्म, साहित्य, विज्ञान इत्यादि का ऐसा चित्र खींचा जैसा पहिले किसी के ख्याल में भी न आया था। उसके बाद और मुसलमान तारीखों में भी कहीं-कहीं हिन्दू-सभ्यता की कुछ बातों का जिक्र आ गया है। ग्रीक, लैटिन, चीनी और अरब ग्रन्थों का बहुत-सा अनुवाद अंग्रेजी के द्वारा हिन्दी में भी हो चुका है।

अरब

इस तमाम सामग्री के आधार पर इतिहास लिखने के पहिले सभ्यता के क्षेत्र पर एक नज़र डालना ज़रूरी है। एशिया महाद्वीप के दक्खिन में हिन्दुस्तान कोई १८०० मील लम्बा और १८०० मील चौड़ा देश है, जिसका रक़बा (बर्मा को छोड़ कर लगभग १५ लाख वर्ग-मील है। पर यह याद रखना चाहिये कि उत्तर की ओर नैपाल, अफ़ग़ानिस्तान और मध्य-एशिया का कुछ हिस्सा और दक्खिन की ओर लङ्का भी हिन्दू सभ्यता के दायरे में शामिल थे। दूसरे फ़ारस बलोचिस्तान, सिन्ध और राजपूताने का रेगिस्तान पहिले इतना बड़ा न था जितना कि आज है। आरेल स्टाइन वग़ैरह ने ज़मीन खोद कर बालू के नीचे से जो शहर और मकान निकाले हैं वह साबित करते हैं कि किसी समय हिन्दुस्तान के बाहर पच्छिमी रेगिस्तान की जगह पर हरे-भरे खेत थे और घनी आबादी थी। सब प्रमाणों को जमा करने से यह नतीजा निकला है कि ई० पू० ९वीं सदी से ई० स० की ९वीं सदी तक प्राकृतिक कारणों से जमीन धीरे-धीरे सूखती गई, पानी कम होता गया और रेत के ढेर-के-ढेर निकलने लगे। जबतक रेगिस्तान न था या थोड़ा-ही बना

भूगोल का असर

उत्तर-पश्चिम

था तबतक हिन्दुस्तान और पच्छिमी देशों में व्यापार और आना-जाना बराबर हुआ करता था। इसलिये इन प्रदेशों की सभ्यताओं ने एक-दूसरे पर बहुत असर डाला।

आबहवा के बारे में भी यह कह देना आवश्यक है कि जैसा एल्जवर्थ हंटिंगटन ने 'सभ्यता और आबहवा' 'तथा एशिया की नब्ज' इत्यादि पुस्तकों में और दूसरे लेखकों ने संसार भर से नये पुराने तथ्य जमा

आबहवा में परिवर्तन

करके सिद्ध किया है, बहुत से स्थानों की आबहवा बदल गई है। पुराने हिन्दुस्तान के बारे में दृढ़तापूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर सरस्वती इत्यादि नदियों के अस्तित्व से, रेगिस्तान की कमी से जंगलों की बहुतायत से, और वैदिक साहित्य में ठंढे देशों से आये हुए आर्यों में गर्मी की कोई शिकायत न होने से, यह अनुमान अवश्य होता है। कि उत्तर-हिन्दुस्तान की आबहवा ३-४ हजार बरस पहिले आजकल के बराबर गर्म न थी। शायद यह भी एक कारण हो कि ऋग्वेद का जीवन आनन्द और उल्लास फिर कभी नहीं दिखाई देता। छः हजार बरस पहिले के प्रमाण तो अब अच्छी तरह दिये जा सकते हैं। हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो में गैंडे और हाथी के चिह्न मिलते हैं पर बबरशेर का कोई निशान नहीं मिलता। स्पष्ट है कि उस समय सिन्ध और पश्चिमी-पंजाब में नमी ज़्यादा थी और हरियाली भी ज़्यादा थी। यह भी साबित हो चुका है कि सिन्ध प्रान्त में उस समय सिन्ध नदी के अलावा एक और नदी भी बहती थी।

हिन्दुस्तान के उत्तर में हिमालय है, जो संसार की सबसे ऊँची पर्वत श्रेणी है, जिसकी एक ही घाटी में सारा आल्प्स समा सकता है, और जो १५०० मील तक फैली हुई है। अगर हिमालय न होता तो तिब्बत

हिमालय पर्वत

की तीखी सर्द हवाएँ उत्तर-हिन्दुस्तान में आदमी का रहना ही मुश्किल कर देतीं और जमीन को उपजाऊ बनाने वाली नदियाँ कहीं भी न होतीं। यही देख कर एक समय हिन्दुओं ने हिमाचल को देवता माना था। दक्खिन-पूरब और दक्खिन-पच्छिम से आने वाली मौसमी हवाएँ हिमालय से रुक जाती हैं, ठंडी हो जाती हैं, और उत्तर प्रान्तों में मूसलाधार पानी बरसाती हैं। इतिहास पर हिमालय पहाड़ का एक बड़ा असर यह भी

हुआ है कि तिब्बत और तुर्किस्तान से, या यों कहना चाहिये कि मंगोलियन संसार से, हिन्दुस्तान का सम्बन्ध कम रहा। उत्तर के दर्रे इतने छोटे, ठंढे और डरावने हैं कि उनमें हो कर आना-जाना बहुत मुश्किल है।

उत्तर-पूरब की पर्वत श्रेणी

उत्तर-पूरब की तरफ़ पर्वत श्रेणी नीची हो गई हैं और इसलिए कुछ आमद-रफ़्त भी होती रही है। उधर से कुछ मंगोलियन आकर आसाम या शायद पूर्व बंगाल में भी बसे थे। पर इस तरफ़ का प्रदेश जंगलों और जंगली जातियों से ऐसा घिरा है कि इस ओर से व्यापारिक और मानसिक सम्बन्ध बहुत नहीं हो सका। चीन और हिन्दुस्तान से जो सम्पर्क था वह ज़्यादातर समुद्र की राह से या मध्य-एशिया के द्वारा था।

उत्तर-पच्छिम की घाटियाँ

इसके विपरीत हिमालय पहाड़ की उत्तर-पश्चिमी नीची घाटियों के दर्रों ने हिन्दुस्तान के सारे इतिहास पर अपनी छाप लगा दी है। इस तरफ़ कई दर्रे हैं जिनमें होकर आर्य लोग हिन्दुस्तान आये थे और उनके पीछे ईरानी, ग्रीक, कुशन, सिथियन, हूण, अफ़गान और तुर्क आये, उन्होंने हिन्दुस्तान की राजनीत, समाज और सभ्यता पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला। इन रास्तों से ११वीं ई० सदी तक मध्य-एशिया, पूर्वी एशिया और योरप से व्यापार भी बहुत होता रहा और साहित्य, कला, दर्शन के विचार भी आते-जाते रहे।

उत्तर का मैदान

उत्तर का मैदान, जिसमें सिन्ध, गङ्गा, ब्रह्मपुत्र और सहायक नदियाँ बहती हैं, दुनिया के बड़े उपजाऊ और आबाद प्रदेशों में गिना जाता है। कलकत्ते से पेशावर तक चले जाइये, कहीं कोई पहाड़ी या टीला न मिलेगा, कहीं कोई रेगिस्तान न मिलेगा। हर जगह हरे-भरे खेत लहराते हैं, खेती के लिये उतना परिश्रम नहीं करना पड़ता जितना इंग्लिस्तान, फ्रांस, जर्मनी इत्यादि ठंढे और कुछ-कुछ पहाड़ी देशों में करना पड़ता है। सदा से खेती ही यहाँ का प्रधान उद्योग रही है और सारी सभ्यता पर खेती की प्रधानता की मुहर-सी लग गई है। जनता ज़्यादातर गाँवों में रहती है, गाँव ही जीवन का केन्द्र है, राजनैतिक सङ्गठन का आधार है, आर्थिक जीवन का मूल है। इस मैदान में कोई प्राकृतिक रुकावट

न होने के कारण सभ्यता, सङ्गठन, धर्म भी एक से ही रहे, छोटी-मोटी बातों में थोड़ा-बहुत फ़र्क़ जरूर था, पर सिद्धान्त का कोई अन्तर नहीं था। जहाँ प्रकृति और सभ्यता की इतनी एकता हो वहाँ राजनैतिक एकता का प्रयत्न जरूर ही होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में ही, अर्थात् ई० सन् से कोई सौ बरस पहिले समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैलने वाले राज्य की कल्पना हो गई थी। मौर्यवंश, खारवेल, आन्ध्र, गुप्त, वर्धन और गूर्जर-प्रतिहार वंशों ने इस कल्पना को चरितार्थ भी कर दिया। पर रेल, तार, बेतार इत्यादि के पहिले दुनिया भर में बड़े राज्यों के दूरवर्ती प्रदेशों का शासन बड़ी कठिनाई का काम था। इसलिये कभी तो बड़ा साम्राज्य बन जाता था और कभी उसके टुकड़े-टुकड़े हो जते थे। अठारहवीं सदी तक हिन्दुस्तान का राजनैतिक इतिहास इसी चक्र पर घूमता रहा। विशाल साम्राज्यों के समय में भी यात्रा की वर्तमान सुगमताएँ न होने से प्रदेशों को बहुत-कुछ स्वतन्त्रता देनी पड़ती थी। ऐसा राजनैतिक सङ्गठन होना भूगोल के कारणों से अनिवार्य था। पुराने ग्रीस से तुलना कीजिये तो साफ़ मालूम हो जायगा कि यहाँ एथेन्स, कारिन्थ से नगर राज्य बन ही न सकते थे और न वैसा घोर, प्रज्वलिन राजनैतिक जीवन ही पैदा हो सकता था। सिन्ध-गङ्गा का मैदान इतना बड़ा है, इसके साधारण भाग भी इतने बड़े हैं कि यहाँ जनसत्ता के लिए राज्य के सब लोगों का इकट्ठा होना या प्रतिनिधियों का भी अच्छी तरह मिलना-जुलना बहुत कठिन था। यही कारण है कि कई मामलों में जनसत्ता का सिद्धान्त मानते हुए भी यहाँ केन्द्रित शासन में जनसत्ता का रूप लाना टेढ़ी खीर थी।

नदियाँ

उत्तर-भारत के सारे जीवन पर नदियों का बहुत असर पड़ना जरूरी ही था। पहाड़ों से आई हुई नदियों की मिट्टी किनारे के मैदानों को सबसे ज़्यादा उपजाऊ बना देती है। इसलिये इन प्रदेशों की आबादी सबसे ज़्यादा थी, जलमार्गों के कारण उनका उद्योग-व्यापार भी बढ़ा-चढ़ा था और उनका वैभव सबसे अधिक था। शहर भी ज़्यादातर नदियों के किनारे बसे थे और सभ्यता के केन्द्र थे। कोई आश्चर्य नहीं है कि कई पुराने देशों की तरह यहाँ भी नदियाँ—जैसे गङ्गा और जमुना, गोदावरी और कावेरी—पवित्र मानी गई हैं।

उत्तरी मैदान के दक्खिन किनारे पर सतपुरा और विन्ध्याचल की श्रेणियाँ हैं जो कहीं भी बहुत ऊँची नहीं हैं और इधर-उधर, खास कर पूरब की तरफ़, इतनी नीची हो गई हैं कि आने-जाने में कोई रुकावट नहीं होती। इस तरह के पहाड़ों का नतीजा यह हुआ कि उत्तर और दक्खिन में कुछ भेद आवश्यक हो गया, जाति का कुछ अन्तर बना रहा, भाषाएँ भी बहुत कुछ भिन्न रहीं, राजनैतिक इतिहास भी बहुधा अपने अलग रास्ते पर चलता रहा, पर सभ्यता के प्रधान तत्त्व एक हो गये। धर्म के वही सिद्धान्त दोनों ओर प्रचलित रहे, संस्कृत और पाली का पठन-पाठन वैसा ही रहा, जीवन पर एक-सी ही दृष्टि रही, दोनों भाग आपस में व्यापार खूब करते रहे और ई० पू० ४थी सदी के बाद कई बार दोनों का घना राजनैतिक सम्बन्ध भी हो गया। उतर और दक्खिन की सभ्यता के मूल-सिद्धान्त एक ही थे, पर उनके इतिहास चक्र कभी-कभी अलग-अलग घूमते रहे। एक बड़ा भारी अन्तर यह था कि उतर-पच्छिम से आनेवाली जातियाँ या तो दक्खिन तक पहुँचती ही न थीं या थोड़ी संख्या में पहुँचती थीं। नर्मदा और कृष्णा नदी के बीच का देश उतना चौरस नहीं है और न उतना उपजाऊ है जितना कि उत्तरी मैदान है। उसकी आबादी भी उतनी घनी नहीं थी और खुश्की के व्यापार की मात्रा भी उतनी नहीं थी। पर पच्छिमी और पूर्वी किनारे पर समुद्र के द्वारा दूर-दूर के देशों से तिजारत का सुभीता था। समुद्र के मार्ग से हिन्दू सभ्यता और देशों में जा सकती थी और विदेशी विचार यहाँ आ सकते थे।

दक्खिन

कृष्णा नदी के नीचे जो प्रदेश हैं और जिसे धुरदक्खिन कह सकते हैं, वह पूरब में तो बहुधा चौरस है पर पच्छिम में पहाड़ों से घिरा हुआ है। आने-जाने की कोई प्राकृतिक रुकावट न होने से यह भी सभ्यता मूल सिद्धान्तों में दक्खिन की तरह उत्तर के समान हो गया, पर दूर होने से यहाँ उत्तर का प्रभाव कम रहा, उत्तर की जातियाँ बहुत थोड़ी संख्या में आईं। इसलिये यहाँ की सभ्यता कुछ अङ्गों में उत्तर से जुदा रही, कुछ सामाजिक संस्थाएँ निराली ही बनी रहीं, भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव बहुत कम हुआ, मन्दिर, भवन, मूर्ति इत्यादि बनाने की रीतियाँ भी भिन्न रहीं, राजनैतिक सङ्गठन में भी गाँव की व्यवस्था इत्यादि

धुरदक्खिन

अपने ढङ्ग की ही रही। धुरदक्खिन का इतिहास, बाक़ी हिन्दुस्तान के इतिहास का हिस्सा होते हुए भी, अपनी विशेषता रखता है, जिसका ध्यान सभ्यता की समीक्षा में रखना आवश्यक है।

लङ्का

धुरदक्खिन से जरा दूर पर सिंहल द्वीप या लङ्का का टापू है जिसका राजनैतिक इतिहास तो हिन्दुस्तान से ज्यादातर अलग रहा है, पर जिसकी सभ्यता—धर्म, भाषा, आचार-विचार, कला, विज्ञान—पर हिन्दुस्तान का और खासकर धुरदक्खिन का प्रभाव सदा से बहुत रहा है। लङ्का के बारे में बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है पर हिन्दुस्तानी सभ्यता के इतिहास में उसको बिल्कुल छोड़ देना भी असम्भव है।

पहाड़ी जातियाँ

हिन्दुस्तान के उत्तर में, उत्तर-पच्छिम और उत्तर-पूरब में, मध्यहिन्द में, और पच्छिम में तमाम कोंकन और मलाबार तट पर, जो पर्वतमालाएँ हैं उन्होंने सभ्यता पर एक और प्रभाव डाला है। चौरस मैदानों को जीतने वाली जातियों से हारकर पुराने निवासी पहाड़ियों में शरण ले सकते थे। घाटियों और जंगलों की आड़ में वह अपने अस्तित्व, अपनी भाषा और रीति-रिवाज की रक्षा कर सकते थे। बाहर का थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ने पर भी यह जातियाँ ज्यादातर अपने पुराने रास्ते पर ही चलती रहीं। आज भी इनमें तरह-तरह के व्याह, दायभाग, धार्मिक विश्वास और सामाजिक संस्थाएँ मौजूद हैं। साधारण हिन्दुस्तानी सभ्यता के प्रवाह से यह दूर रही हैं। इस पुस्तक में उनका जिक्र बहुत कम आयेगा, पर उनसे थोड़ी-सी जानकारी जरूरी है।

आबहवा

आदमी के चरित्र पर उद्योग धन्धे का प्रभाव बहुत पड़ता है। उद्योग-धन्धे आबहवा के अनुसार होते हैं—यह तो स्पष्ट है, पर गत सौ बरसों में विद्वानों ने यह पता लगाने की भी कोशिश की है कि स्वयं आबहवा का असर चरित्र पर कैसा पड़ता है? इस जटिल विषय पर निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता, पर दो-चार अनुमान किये जा सकते हैं। हमारे देश में जिन्दगी का दारमदार खेती पर है, खेती मेह पर निर्भर है, मेह का बरसना अपने अधिकार की बात नहीं है, दैवगति-सी मालूम होती है। आषाढ़ के महीने से भादों तक सारी जनता आसमान पर टकटकी

लगाए रहती है, वर्षा की प्रार्थना किया करती है, और अगर पानी न पड़े तो अपनी लाचारी पर हाथ मलती रह जाती है। अगर कभी अतिवृष्टि हो जाय या पाला पड़ जाय तो भी विवश होकर खेतों का सत्यानाश देखना पड़ता है। लोग सोचते हैं कि आदमी की ताक़त कुछ नहीं है, दैव ही प्रबल है। शायद यही कारण है कि हिन्दुस्तान में लोग क़िस्मत को बहुत मानते हैं, देवी-देवताओं की पूजा बहुत करते हैं। दूसरी ओर दिन में सूरज की चमक, रात की चटकीली चाँदनी और सितारों की दिवाली—यह सब चित्त को ऊपर ले जाती हैं और देवताओं की कल्पना कराती हैं। इंग्लिस्तान वग़ैरह की तरह हिन्दुस्तान में ज़्यादा कुहरा नहीं पड़ता, ख़ूब उजेला रहता है। इसका असर मन पर यह पड़ सकता है कि स्पष्ट विचार और तर्क की प्रबलता हो। कुछ भी हो, तर्क का प्रेम हिन्दुस्तानी सभ्यता में अवश्य दिखाई देता है। धर्म और साहित्य की कल्पनाओं का भी कुछ सम्बन्ध शायद भूगोल से है। हिमालय की ऊँची चोटियाँ, हजारों मील लम्बे मैदान, झूम-झूम कर बहने वाली लम्बी-चौड़ी नदियाँ, मूसलाधार मेह और तूफ़ान, आकाश के नक्षत्रमण्डलों के ढेर—सारा ही प्राकृतिक कौतुक कल्पना को उत्तेजित करता है।

हिन्दुस्तान की एकता

विशाल होते हुए भी हिन्दुस्तान की एकता नक़्शे पर और इतिहास पर साफ़ लिखी हुई है। जैसा कि भूगोल के बड़े विद्वान् चिज़ोम ने कहा है, संसार में कोई देश नहीं है जो पड़ोसी देशों से इतना भिन्न हो जितना कि हिन्दुस्तान है। बहुत पुराने समय में ही जब आना-जाना बहुत मुश्किल था, हिन्दुस्तानियों ने अच्छी तरह समझ लिया था कि हमारा देश और शिष्टाचार बाहरवालों से जुदा है। रामायण और महाभारत के समय में 'भारतवर्ष' नाम से काश्मीर और कन्याकुमारी तक के, तथा सिन्ध से ब्रह्मपुत्रा तक के, देश का सम्बोधन होने लगा था। आपस में कितना ही फ़र्क़ हो, पर दूसरों के सामने सब भारतवासी एक-से ही जान पड़ते थे। सभ्यता के बहुत से अङ्गों में इस एकता का प्रतिबिम्ब नज़र आता है। गङ्गा, जमुना, सरस्वती, सिन्ध, नर्मदा, गोदावरी और कावेरी जो पवित्र नदियाँ मानी गई हैं, वह देश के सब भागों से ली गई है। आठवीं सदी में शङ्कराचार्य ने बद्रीनाथ, केदारनाथ, रामेश्वर, द्वारिका और जगन्नाथ, यह चार प्रधान तीर्थ

देश के एक-एक कोने से चुने थे। दूसरे तीर्थ, जैसे हरद्वार, प्रयाग, बनारस, गया, उज्जैन और काञ्ची भी देश भर में फैले हुए हैं। ब्रह्मपुराण इत्यादि में जो पवित्र मन्दिर सरोवर आदि गिनाए हैं वह भी देश के सभी हिस्सों से लिये गये हैं। जैनियों के तीर्थं सम्मेदशिखर, पावापुरी, श्रवण-बेल्गोला, आबू पर्वत इत्यादि भी सारे देश में बिखरे हुए हैं। पुराने समय में साहित्य, विज्ञान, धर्म की भाषाएँ—संस्कृत और पाली—सारे देश में पढ़ी जाती थीं। तक्षशिला, नालंद, विक्रमशिला आदि विद्यापीठों में देश के कोने-कोने से विद्यार्थी आते थे। अपनी कीर्ति स्थापित करने के लिये विद्वान् सारे देश में घूमकर दिग्विजय करते थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आर्थिक और राजनैतिक सम्पर्क देश के सब प्रान्तों को एक-दूसरे से जोड़ देता था।

देश की पुरानी सभ्यता का कुछ हाल इस पुस्तक में लिखा जायगा, पर सभ्यता के पहिले की विवेचना इसके दायरे के बाहर है। इतना कह देना काफ़ी होगा कि किसी की सभ्यता की सृष्टि एकदम नहीं होती।

सभ्यता के पहिले

आदमी के जीवन के सबसे पुराने चिह्न जो दुनिया के लगभग सब हिस्सों में, गुफाओं से, ज़मीन के और नदियों के नीचे से निकले हैं, और जिनको एक साथ अध्ययन कर के विद्वानों ने सबसे पुराने जीवन का चित्र बनाया है, वह साबित करते हैं किसी समय आदमी जैसे-तैसे कच्चे माँस और जंगली कन्द-मूल पर निर्वाह करता था और पत्थर या हड्डी के भद्दे औज़ार बनाकर शिकार करता था। बहुत समय बीतने पर औज़ारों की शक्ल और शक्ति सुधर गई और पुराना पाषाणयुग हो गया। उसके बाद धीरे-धीरे और उन्नति हुई, और काँसे के हथियार बनने लगे, जिससे यह युग काँसे का युग कहलाता है। इन युगों का परिमाण हज़ारों बरस का है। इस अर्से में जानवरों को पालने की प्रथा भी जारी हो गई थी। उसके बाद खेती शुरू हुई, और फिर उद्योग और व्यापार का जन्म हुआ। आपस के जीवन में भी परिवर्तन हुए, विवाह-सम्बन्ध स्थिर हुए, कुटुम्ब की स्थापना हुई, हर एक जनसमूह एक मुखिया या एक बड़ा मुखिया और कुछ छोटे-छोटे मुखिया मानने लगा। असभ्यता और अर्धसभ्यता की यह हज़ारों बरस की कहानी बड़ी दिलचस्प है और इन पृष्ठों से परे होने पर भी याद रखने के योग्य है। हिन्दुस्तान

के यह सबसे पुराने निवासी किस वंश के थे ? इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव है । पुरानी खोपड़ियों और हड्डियों पर बहुत ग़ौर किया गया, पर न तो उनका समय ठीक-ठीक स्थिर हुआ और न यह पता लगा है कि उन आदमियों का सम्बन्ध दूसरी जातियो से क्या था ? सम्भव है कि जिस समय मनुष्य की उत्पत्ति हुई उस समय हिन्दुस्तान या तो आस्ट्रेलिया से जुड़ा हुआ था या आफ्रीका से या दोनों से; और इन प्रान्तों में तथा लुप्त प्रदेशों में कोई एक ही जाति रहती थी, पर पीछे बढ़ते हुए समुद्र के द्वारा अलग हो जाने पर इधर-उधर के लोग एक-दूसरे से भिन्न हो गये और अपने-अपने ढङ्ग पर निराली संस्थाओं की रचना करने लगे ।

जातियों का उथल-पुथल

पर हज़ारों बरस से कहीं-कहीं ज़मीन सूख जाने से वा आबादी बढ़ जाने से या दूसरों की सम्पत्ति पर अधिकार करने-की लालसा से, भिन्न-भिन्न जातियाँ एक-दूसरे को ढकेलती रही हैं, इधर से उधर जाती रही हैं, कभी एक-दूसरे का नाश करती रहती हैं, कभी एक-दूसरे से जुड़ती रही हैं, कभी एक-दूसरों को ग़ुलाम बना कर दबाती रही हैं । यह उथल-पुथल इतनी बार हुई है और कभी-कभी इतने बड़े पैमाने-पर हुई है कि संसार में कोई भी जाति ठीक अपने पुराने स्थान पर जम नहीं सकी है और न कोई जाति दूसरों की मिलावट से बच सकी है । इतिहास में विशुद्ध जाति कहीं पर नहीं मिलती ।

हिन्दुस्तान के जातिसमूहों के निवासस्थानों से अनुमान होता है कि जातियों-की बहुत-सी उथल-पुथल यहाँ इतिहास के पहिले हो चुकी थी । मध्य-हिन्दुस्तान-

हिन्दुस्तान में

को दूर-दूर तक की घाटियों और जंगलों में एक ही तरह के समूह रहते हैं, जिनकी भाषाएँ मिलती-जुलती हैं, रीति-रिवाज मिलते-जुलते हैं । जान पड़ता है कि यह लोग किसी दूरवर्ती पुराने समय में मैदानों में रहते थे पर किसी ज़ोरदार जाति के हमलों से तंग आकर इन्हें पहाड़ियों की शरण लेनी पड़ी । यह ज़ोरदार जाति कौन थी –आर्य या द्राविड़ या और कोई—यह बड़ी कठिन समस्या है, जिसका उत्तर निश्चयपूर्वक नहीं दिया जा सकता । बिलोचिस्तान के एक हिस्से में ब्राहुई भाषा बोली जाती है, जो धुर-दक्खिन की द्राविड़ भाषाओं से मेल खाती है और जो आसपास की किसी भी भाषा से सम्पर्क नहीं रखती । इसका अर्थ या

तो यह है कि द्राविड़ लोग उत्तर-पच्छिम से आये थे और बिलोचिस्तान में अपना एक समूह छोड़ कर या किसी समूह पर अपनी छाप लगा कर तुरन्त ही या कुछ दिन के बाद किन्हीं कारणों से दक्खिन चले गये, या किसी समय यह द्राविड़ लोग सारे हिन्दुस्तान के आदिम-निवासी, पीछे आर्यों ने इनको उत्तर से निकाल दिया या अपने में मिला लिया, पर किसी कारण से एक टुकड़ा उत्तर-पच्छिम में रह गया। दोनों धारणाओं में से एक का भी सबूत नहीं दिया जा सकता, पर यहाँ इतना और कह देना भी जरूरी है कि द्राविड़ शब्द का प्रयोग केवल सुभीते के लिए किया जाता है, वास्तव में कोई द्राविड़ जाति नहीं है। दक्खिन में कई जातियाँ हैं और हर एक जाति-सम्मिश्रित है। दूसरी बात यह है कि अगर हमें उत्तर में रहनेवाली आदिम जाति का पता भी लग जाय तो उससे ऐतिहासिक समय के निवासियों के विषय में बहुत जानकारी नहीं हो सकती। पच्छिम से आई हुई जातियों के बसने पर यहाँ एक नई जाति की ही सृष्टि हो गई।

आर्यों के आने के पहिले उत्तर में कौन-कौन सी जातियाँ थीं, इसकी कुछ जाँच वैदिक-साहित्य के आधार पर अगले अध्याय में की जायगी। यहाँ इस बात पर जोर देना जरूरी है कि आर्यों के आने के बहुत पहिले ही देश में सभ्यता की बहुत उन्नति हो गई थी। गत सात बरस में आर्किओलाजिकल डिपार्टमेण्ट (पुरातत्त्व-विभाग) के जान मार्शल, राखलदास बनर्जी, दयाराम साहनी, आदि अधिकारियों ने सिन्ध और पच्छिमी पञ्जाब में हड़प्पा और मोहनूजोदड़ो स्थान को खोद कर बहुत से बरतन, मकान, मन्दिर, तालाब, स्नानागार और शहर निकाले हैं। जो ऊँचे दर्जे की सभ्यता का परिचय देते हैं। यह सभ्यता कम-से-कम ६-७ हजार बरस पुरानी है और सिन्ध, पञ्जाब, राजपूताना में और शायद इधर-उधर के और प्रान्तों में भी फैली हुई थी। मिश्र और बेबिलोनिया की सभ्यता से तुलना करने पर मालूम होता है कि उस पुराने समय में भी हिन्दुस्तान में उनकी अपेक्षा जीवन के सुखों का अच्छा प्रबन्ध था। एक दृष्टान्त लीजिये। मोहेनूजोदड़ो नगर में सफाई का जैसा इन्तिजाम था, गन्दगी बहाने के लिये जैसी अच्छी नालियाँ थीं, वैसी दक्खिन मेसोपोटामिया के मशहूर शहर उर में भी न थीं।

हड़प्पा और मोहेनूजोदड़ो

हड़प्पा में १५० से ज्यादा मिट्टी की मुहरें मिली हैं जिन पर तरह-तरह के

चित्र बने हुये हैं। इन चित्रों के और बाकी चीजों के अध्ययन से ६-७ हजार बरस पुराने जीवन के विषय में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। इस समय सिन्ध और पच्छिमी पञ्जाब में आजकल के बनिस्बत पानी कहीं ज्यादा बरसता था, सिन्ध नदी के पूरब में एक और नदी बहती थी जो अब लोप हो गई है, सिंचाई का इन्तिजाम अच्छा था, खेती खूब होती थी, मोहेनूजोदड़ो में गेहूँ के जो दाने मिले हैं आजकल के पञ्जाबी गेहूँ के से ही हैं। भोजन में रोटी के अलावा दूध का भी बहुत प्रयोग होता था। आधीजली हुई हड्डियाँ जो मकानों में मिली हैं यह बतलाती हैं कि उन दिनों मछली, घड़ियाल, बकरी, सूअर और गाय का माँस खाने की भी चाल थी। बहुत-से मकानों में चर्खे की पिंडलियाँ मिली हैं जिनसे मालूम होता है कि घर-घर में चर्खा चलता था। बहुत महीन बुने हुए रुई के कपड़ों से पता लगता है कि बुनने की कला बहुत उन्नति कर गई थी।

भोजन

कपड़ा

पुरुष बहुधा एक धोती पहनते थे और एक दुशाला डालते थे जो बायें कन्धे के ऊपर से होकर दाहिने कन्धे के नीचे आ जाता था पर दाहिने हाथ को खुला छोड़ देता था। पुरुषों में कोई-कोई तो मूछें मुड़ाते थे और कोई-कोई नहीं; ज्यादातर लोग छोटी-सी दाढ़ी रखते थे। बालों को माथे से ऊपर ले जाकर पीछे एक बड़ी चोटी बनाते थे। अभाग्यवश केवल एक ही बड़ी स्त्रीमूर्ति मिली है। इसके बाल बँधे नहीं हैं, खुले हुए हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह साधारण रीति थी या नहीं? उन दिनों जेवर पहिनने की चाल बहुत थी। स्त्री-पुरुष दोनों ही हँसुली और छाप पहनते थे। स्त्रियाँ कान में बाली, हाथ पर चूड़ी, कमर पर कर्धनो, और पैर में साँठ वग़ैरह भी पहनती थीं। अमीर आदमियों के जेवर सोने-चाँदी के, और तरह-तरह के जवाहिरात के होते थे, हाथीदाँत का भी प्रयोग होता था। जेवर बनाने के हुनर में उस समय के लोग आजकल के सुनारों और जौहरियों से किसी तरह कम न थे। सोने के कोई-कोई जेवर इस सफाई से बने हैं कि ताज्जुब होता है। ग़रीब आदमी सीप, कौड़ी वग़ैरह के ही जेवरों से सन्तोष कर लेते थे। यह कपड़ा भी बहुत कम पहिनते थे, ग़रीब स्त्रियाँ केवल कमर पर एक धोती बाँधती थीं। एक वेश्या की छोटी

जेवर

सी मूर्ति भी मिली है जो बिल्कुल नङ्गी है।

सवारी के लिए अमीरों के पास गाड़ियाँ थीं, जिनमें दो पहिये होते थे, ऊपर छत होती थी और आगे हाँकने वाला बैठता था। हड़प्पा में ऐसी गाड़ी का काँसे का जो नमूना मिला है वह मिश्र या मेसोपोटामिया से बहुत पुराना है और संसार में गाड़ी का सबसे पुराना ढाँचा है। रहने के मकान और सरकारी दफ़्तर कभी-कभी बहुत बड़े बनाए जाते थे। एक भवन मिला है जो उत्तर से दक्खिन १६८ फ़ीट और पच्छिम से पूरब १३६ फ़ीट है, जिसमें दोनों ओर बहुत से समकोण कमरे और दालानें हैं और बीच में एक बड़ा कमरा चला गया है। यह भूमध्यसागर के टापू क्रीट के माइनोन सभ्यता के समय के पुराने महलों से मिलता-जुलता है। सम्भव है कि क्रीट की तरह यहाँ भी कर-रूप वसूल की हुई चीज़ें जमा की जाती हों। अफ़सोस है कि बहुत से मकान इतनी बुरी हालत में हैं कि उनसे कुछ नतीजा नहीं निकलता। पर दो बातें साफ़ मालूम होती हैं। एक तो नहाने के लिये स्नानागार बड़े शानदार बनते थे, उनकी कोई-कोई दीवालें दस-दस फ़ीट मोटी हैं, धूप या आग से बनाई हुई ईंटें बड़ी खूबसूरती से लगाई गई हैं, फ़र्श भी ईंटों के हैं और बड़े सुन्दर हैं। दूसरे, तालाब बहुत थे और शायद उनमें से कुछ पवित्र माने जाते थे। मुहरों से मालूम होता है कि चीते वग़ैरह का शिकार ख़ूब खेला जाता था। लोहे की कोई चीज़ नहीं मिली है। भाले, कटार, गड़ासे, हँसिए चाक़ू, वग़ैरह ताँबे के बनते थे। टीन और सीसे की भी बहुत-सी चीजें बनती थीं। बहुत-से औज़ारों के लिये काँसे का भी प्रयोग किया जाता था। ताँबा शायद बिलोचिस्तान, वर्तमान राजपूताना और उत्तर अफ़ग़ानिस्तान से आता था। टीन शायद खेरावन से या और भी पच्छिम से आती थी। साफ़ ज़ाहिर है कि व्यापार दूर-दूर से होता था और उद्योग-धन्धे बहुत थे। मुहरों से पता लगता है कि देश की रक्षा के लिये सिपाही होते थे जो धातु की बनी हुई मज़बूत टोपियाँ पहिनते थे। अब तक कोई ऐसी चीज़ नहीं मिली जिसके आधार पर सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था का हाल लिखा जा सके। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की

गाड़ी

मकान

हथियार वग़ैरह

सुमेरियन सभ्यता

सभ्यता मेसोपोटामिया की सुमेरियन सभ्यता से बहुत मिलती-जुलती है। पर इसका कोई प्रमाण नहीं है कि एक ने दूसरे की नक़ल की। अनुमान होता है कि बीच के रेगिस्तान न होने से हिन्दुस्तान और पच्छिम एशिया में आमदरफ़्त बहुत होती थी और इसलिये अनेक बातों में समता हो गयी थी।[1] हिन्दुस्तान से लेकर भूमध्यसागर तक शायद एक ही विशाल सभ्यता थी, जिसके भिन्न-भिन्न देशों में अनेक विभाग थे पर जो बहुत-सी बातों में मिलती-जुलती थी। कुछ भी हो, यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि पुराने समय में हिन्दुस्तान पच्छिमी देशों से बिल्कुल अलग न था, वरन् विदेशों से बहुत सम्पर्क रखता था। दूसरे, यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हिन्दुस्तान की आदिम सभ्यता आर्य-सभ्यता से भी पुरानी थी और सम्भवतः उसने आर्य-सभ्यता पर बहुत प्रभाव डाला। मोहेन्जोदड़ो में पूजा के बहुत से लिङ्ग मिले हैं। वैदिक साहित्य में शिश्न-देवताओं की निन्दा की है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यों में पहिले लिङ्ग-पूजा नहीं थी, पर वैदिक काल के बाद उन्होंने अनार्यों से शिवलिङ्ग-पूजा ग्रहण की। हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो की खोज अभी जारी है। सम्भव है कि आगे चलकर आर्यों के अनार्यों से और बातें लेने के भी प्रमाण मिलें।

---

[1] हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो के लिये देखिये आ० स० रि०, १९२४-२५, पृ० ६३-८०; १९२५-२६, पृ० ७२-९८

ऋग्वेद (मण्डल १-६) का समय
२

हड़प्पा और मोहन्‌जोदड़ो के ध्वंसावशेषों से जिस सभ्यता का परिचय मिलता है, उसके अगले इतिहास का पता अभी तक नहीं लगा है। और सब सभ्यताओं की तरह उसमें भी परिवर्तन हुए होंगे, शायद कुछ उन्नति हुई होगी, दूसरी सभ्यताओं से सम्पर्क होने पर बहुत-सा पारस्परिक प्रभाव पड़ा होगा। पर अभी तक इसके ऐतिहासिक चिह्न नहीं मिले हैं। हड़प्पा और मोहन्‌जोदड़ो के ध्वंसों के बाद इतिहास ऋग्वेद से शुरू होता है। ऋग्वेद दस मण्डलों में विभक्त है, जिनमें कुल मिलाकर १०२८ मन्त्र हैं। इन मन्त्रों की रचना भिन्न-भिन्न ऋषियों ने भिन्न-भिन्न समयों और स्थानों में की थी; पर रचनाक्रम स्थिर करना असम्भव है। कई विद्वानों ने मन्त्रों की भाषा, शैली, विचार और रचयिता के आधार पर काल-क्रम बताने की चेष्टा की हैं।[1] पर काफी सामग्री न होने से इनमें सफलता नहीं हुई है। निश्चयपूर्वक तो इतना ही कहा जा सकता है कि १०वें मण्डल के मन्त्र और मन्त्रों के बाद रचे गये थे। इसलिए सबसे प्राचीन सभ्यता का वर्णन पहिले ६ मण्डलों के आधार पर ही किया जायगा, १०वें मण्डल का प्रयोग बाद की सभ्यता के लिये ही हो सकता है। पहिले ६ मण्डलों के बारे में अनुमान है कि सबसे पहिले २-७ मण्डल रचे गये थे, जो गृत्समद, विश्वामित्र, कामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ ऋषियों के नाम से हैं। उनके बाद शायद वह मन्त्र रचे गये जिनका नम्बर पहिले मण्डल में ५१ से १६१ तक है। इसके बाद पहिले मण्डल के अन्य मन्त्र अर्थात् शुरू के पचास मन्त्र और ८ वें मण्डल के मन्त्र बनाये गये। तत्पश्चात् सोम देवता से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्र शायद इन ८ मण्डलों से निकाल कर एकत्र किये गये और यह मन्त्रसमूह ६ वें मण्डल के रूप में

ऋग्वेद

---

[1] उदाहरणार्थ देखिये आर्नल्ड, 'वैदिक मीटर', पृ० ४६। इसके प्रतिकूल, बेरीडेल कीथ, जे० आर० ए० एस०, १६०६, पृ० ४८३-६०, ७१६-२२, १६१२, पृ० ७२६-२६

प्रगट हुआ।[1]

ऋग्वेद के मन्त्रों में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उनकी तारीख तै की जा सके। विद्वानों ने बहुत-सी अटकलें लगाई हैं, पर अभी तक कोई ऐसा परिणाम नहीं निकला जिस पर सब सहमत हो सकें। कोई ६०-७० बरस हुए, सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समुलर ने वैदिक और लौकिक संस्कृत के अन्तर की तुलना ग्रीक भाषा के अन्तरों से कर के अनुमान किया था कि ऋग्वेद ईस्वी सन् के १२००-१००० बरस पहिले रचा गया होगा। पर यह कोरा अनुमान है, सब भाषाओं में परिवर्तन एक ही क्रम से नहीं होते। इस समय के दो बड़े वैदिक विद्वान् मैक्डानेल और कीथ ने मैक्समुलर की सम्मति मान ली है, पर कुछ और विद्वानों की राय है कि ऋग्वेद का समय बहुत पीछे ले जाना चाहिये। ज्योतिष के प्रमाणों के आधार पर जर्मन विद्वान् जैकौबी ने ऋग्वेद का समय ई० पू० लगभग ४००० बरस और बालगङ्गाधर तिलक ने ई० पू० लगभग ८००० बरस ठहराया है। पर पूरी समीक्षा करने पर यह सम्मतियाँ भी अनुमान मात्र ही रह जाती हैं। कठिनाई यह है कि पुराने हिन्दुस्तान में ज्योतिष की बहुत-सी गणनाएँ थीं और ठीक-ठीक पता नहीं लगता कि ऋग्वेद में कौन सी गणना मानी है। हाल में पच्छिम-एशिया के वोग़ज़क़वाई नामक स्थान पर मितन्नी लेख मिले हैं जो ई० पू० १४०० के हैं, और जिनमें वैदिक देवताओं का उल्लेख है। इनसे वैदिक सभ्यता की प्राचीनता तो सिद्ध होती है, पर ऋग्वेद के रचना-काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अब तक विद्वानों की बहस जारी है। हाल में ही विण्टरनिज ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि ऋग्वेद ई० पू० २५०० के लगभग रचा गया था। अस्तु, ऋग्वेद ई० पू० १२०० या यों कहिये ई० पू० १५०० में अवश्य मौजूद था और सम्भव है कि उसके भी बहुत पहिले रचा गया हो; सबसे पुराने मन्त्र शायद बहुत ही प्राचीन हों।[2]

ऋग्वेद का समय

---

[1]देखिये आर्नल्ड, 'वैदिक मीटर'; ऋग्वेदसंहिता की मैक्समुलर लिखित भूमिकाएँ; मैक्डानेल, हिस्ट्री 'आफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४०-४८

[2]ऋग्वेद के रचनाकाल के लिये देखिये, मैक्समुलर, 'ऋग्वेदसंहिता की

ऋग्वेद की सभ्यता तो मन्त्रों के रचना-काल से भी पुरानी है। वह बड़े ऊँचे दर्जे की सभ्यता है; उसके विकास में सैकड़ों बरस लगे होंगे। ऋग्वेद की

आर्य

भाषा भी बहुत उन्नति कर चुकी है, और बहुत पेचीदा हो चुकी है। उसके विकास में भी सैकड़ों बरस लगे होंगे। यह सारी सभ्यता जिस जाति में प्रारम्भ हुई और इतनी बढ़ी उसे स्वयं ऋग्वेद ने आर्य बताया है। ऋग्वेद में ही इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि यह आर्य लोग कहीं बाहर से हिन्दुस्तान में आये थे। ऋग्वेद में जमुना नदी तक ही मिलने वाले प्राकृतिक दृश्यों, पशुओं और वनस्पतियों का उल्लेख है; आगे के साहित्यों में पूर्वी प्रदेशों की भिन्न-भिन्न बातें भी मिलती हैं। इससे प्रगट होता है कि आर्य पच्छिम से आकर पहिले पञ्जाब में बसे और फिर आगे की ओर बढ़ते गये। सारे ऋग्वेद में अनार्यों के साथ लड़ाई की कशमकश मौजूद है। इससे भी मालूम होता है कि बाहर से आने वाले आर्यों को आदिम निवासियों से बहुत दिन तक युद्ध करना पड़ा। इसमें तो कोई सन्देह नहीं मालूम होता कि आर्य लोग किसी समय पच्छिमी दर्रों में होकर हिन्दुस्तान में दाखिल हुए थे, पर यह पता लगाना बहुत कठिन है कि यह पहिले कहाँ रहते थे और दूसरी जातियों से इनके क्या सम्बन्ध थे? संस्कृत, पश्तो, फ़ारसी, आदि एशियाई भाषाओं में और ग्रीक, लैटिन, जर्मन, अँग्रेजी, फ्रेञ्च, रशियन इत्यादि भाषाओं में बहुत सी समानताएँ हैं। पिता, माता, भाई, इत्यादि इत्यादि के द्योतक बहुतेरे शब्द और बहुत-सी क्रियाएँ स्पष्टतः एक ही धातुओं से

भूमिकाएँ; मैक्डानेल, हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर', पृ० ४०-४८; कीथ, 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इण्डिया', १, पृ० १०६-११३; जैकोबी, आई० ए०, २३, पृ० १२४ इत्यादि। टीबो, आई० ए०, २४, पृ० ८५, ३६१, बालगङ्गाधर तिलक 'ओरियन'। विण्टरनिज़ 'कलकत्ता यूनीवर्सिटी रीडरशिप लेक्चर्स'; पृ० १ इत्यादि। 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर', पृ० १। मितन्नी लेखों पर विवाद के लिये, जे० आर० ए० एस० १६०६, जैकोबी, पृ० ७२१, ओल्डनबर्ग, पृ० १०६५; कीथ पृ० १११०। जे० आर० ए० एस०, १६१०, जैकोबी, पृ० ४५६; कीथ, पृ० ४६४; ओल्डनबर्ग, पृ० ८६४

निकली हैं। इसलिये १९ वीं सदी में विद्वानों की धारणा हुई थी कि यह सब भाषाएँ एक ही आदिम भाषा की रूपान्तर हैं, और इन सब भाषाओं के बोलनेवालों के पूर्वज उस आदिम भाषा के बोलनेवाले एक ही समुदाय के अङ्ग थे। यह आदिम आर्य-समुदाय था और बहुत प्राचीन समय में एक ही स्थान में रहता था। यहाँ तक तो विद्वान् एकमत थे। इस धारणा को मैक्समुलर इत्यादि ने अपने लेखों और व्याख्यानों के द्वारा ऐसा फैलाया कि वह सर्वमान्य-सी हो गई। हिन्दुस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस और यूरुप के अधिकांश निवासी एक ही आर्यजाति के वंशज मान लिए गये। आदिम स्थान के बारे में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत थे। बहुतों की राय थी, यह स्थान मध्यक एशिया था जो उस प्राचीनकाल में हरा-भरा प्रदेश था। पर धीरे-धीरे वह सूखने लगा, तब आर्यलोग उसे छोड़कर पच्छिम, दक्खिन और फिर पूरब की तरफ़ भिन्न-भिन्न देशों में जा बसे। पर कुछ विद्वानों की राय थी कि आदिम स्थान पूरबी रूस में था। कुछ और सम्मतियों के अनुसार यह स्थान फ़िनलैण्ड में था, जहाँ अब भी संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती एक भाषा बोली जाती है। अथवा यह पुराना घर मध्य-यूरुप में वर्तमान बोहेमिया (चेकोस्लोवाकिया) में था जहाँ के वृक्ष, पशु, इत्यादि सबसे पुरानी ऋचाओं के-से जान पड़ते हैं। बालगङ्गाधर तिलक की राय थी कि यह स्थान कहीं उत्तरी ध्रुव के पास था। यह विवाद अभी तय नहीं हुआ था कि दूसरी दिशाओं से सारी आर्य-धारणा पर ही आपत्तियों की बौछार होने लगी। जाति-समस्या के कुछ विद्वानों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भाषा की समानता से जाति की समानता नहीं सिद्ध होती। वरन् पुरानी हड्डियों और खोपड़ियों की नाप से प्रगट होता है कि 'आर्य' भाष-भाषियों के पूर्वज एक जाति के नहीं हो सकते, वह भिन्न-भिन्न जातियों के रहे होंगे। भाषा, धर्म, और सभ्यता की समानताओं से केवल इतना ही सिद्ध हो सकता है कि यह लोग किसी समय एक उन्नतिशील समुदाय के प्रभाव के नीचे आये थे या एक-दूसरे की नक़ल करते रहे। अस्तु, अब पुरानी 'आर्य' धारणा नहीं मानी जाती अथवा यों कहिये कि इस परिवर्तित रूप में मानी जाती है। वर्तमान विश्वास से हिन्दुस्तान के इतिहास के बारे में एक नतीजा यह निकलता है कि उत्तर-हिन्दुस्तान के भी सब लोग बाहर से आये हुये आर्यों की सन्तान नहीं माने

जा सकते। बहुत से आर्य हिन्दुस्तान आए थे पर वह इतने न थे कि पुराने निवासियों को मटियामेट कर दें। उनकी प्रबल सभ्यता ने कुछ सदियों में सारे देश पर आधिपत्य जमा लिया, पर सारे देश को आबाद करना उनके लिये असम्भव था।

पञ्जाब में आर्य

यह तो स्पष्ट है कि आर्य लोग हिन्दुस्तान में उत्तर-पच्छिम के दर्रों से आये थे, पर हर्नल आदि कुछ विद्वानों ने यह साबित करने की कोशिश की है कि कुछ आर्य काश्मीर के रास्तों से आये और हिमालय के नीचे-नीचे चलते हुए गङ्गा-जमुना के मैदानों में आ बसे। इस विचार का अनुमोदन प्रसिद्ध भाषा-शास्त्रवेत्ता ग्रियर्सन ने भिन्न-भिन्न प्रदेशों की प्रचलित भाषाओं की तुलना के आधार पर किया है। पर अभी तक इस मत को पुष्ट करने के लिए कोई अकाट्य प्रमाण नहीं मिला है। जब तक यह सम्मति और दृढ़ न हो जाय तब तक हमें इसी धारणा के अनुसार इतिहास लिखना पड़ेगा कि आर्य लोग उत्तर-पच्छिम से आये थे। सम्भवतः सब आर्य एक साथ न आये होंगे जैसा कि जन-समूहों की गतियों में साधारणतः होता है, वह बड़ी छोटी संख्याओं के बहुतेरे जुट्टों में आये होंगे। ऋग्वेद के समय तक वह सारे पञ्जाब में तो फैल ही गये थे, पर जमुना और गङ्गा के किनारों तक भी पहुँच गये थे। मन्त्रों में पञ्जाब की पाँचों नदियों का उल्लेख बार-बार किया है—वितस्ता अर्थात् झेलम, असिक्री अर्थात् चिनाब, परुष्णी अर्थात् रावी, विपाश अर्थात् व्यास और शुतुद्री अर्थात् सतलज। जमुना का उल्लेख तीन बार और गङ्गा का एक बार मिलता है। गङ्गा के पूरब की नदियों का सङ्केत ऋग्वेद में कहीं नहीं है। अनाजों में चावल का जिक्र नहीं है, क्योंकि वह पूरब की ओर पैदा होता है। जानवरों में चीते का सङ्केत नहीं है, क्योंकि वह पूरब की ओर ही पाया जाता है। इन बातों से ऋग्वेद के आर्यों के निवास और भ्रमण की भौगोलिक सीमा अच्छी तरह जाहिर होती है।

अभाग्यवश ऋचाओं में इतनी ऐतिहासिक सामग्री नहीं है कि उस समय के जीवन का पूरा चित्र खींचा जा सके। तो भी कुछ मोटी-मोटी बातों का पता अच्छी तरह लग सकता है। जीवन-निर्वाह के दो मार्ग थे----एक तो पशुपालन और दूसरे खेती। भेड़-बकरी बहुत थे, जो खाने के काम आते थे। असबाब

आर्यों का साधारण जीवन

ढोने के लिये गदहे भी पाले जाते थे, यात्रा के लिये। दौड़ के लिये और लड़ाई के लिये घोड़े बहुत थे। बड़े आदमियों के पास सवारी के लिये रथ होते थे, जिनको घोड़े खींचते थे। रखवाली और शिकार के लिये कुत्ते रहते थे। शिकार के द्वारा आनन्द-प्रमोद और कसरत के अलावा भोजन की भी प्राप्ति होती थी। सबसे उपयोगी जानवर थे—गाय और बैल। गाय से दूध मिलता था और दूध से मक्खन, घी वगैरह भी बनते थे, जिनका प्रयोग भोजन में बहुतायत से किया जाता था। बैल हल चलाते थे और गाड़ी भी खींचते थे। यह कभी खाने के काम भी आते थे। खेती से बहुत से अनाज, तरकारी और फल पैदा किये जाते थे। सिंचाई के लिये कुँए, तालाब और कुल्या अर्थात् एक तरह की नहरें थीं। पर कभी-कभी ऐसा सूखा पड़ता था कि गरीब आदमियों के जीने के लाले पड़ जाते थे।[1] रहने के लिये जो मकान थे उनके बनाने में लकड़ी का प्रयोग बहुत किया जाता था। मकानों में जो हाते थे वह भी लकड़ी के ही बनते थे। मकानों में बहुत से कमरे होते थे और आँगन भी होते थे।[2] जेवर पहिनने की चाल बहुत थी; अमीर आदमी सोने और जवाहिर के तरह-तरह के जेवर पहिनते थे।[3] आर्य समूह आसपास के ही नहीं किन्तु दूर-दूर के प्रदेशों से भी व्यापार करते थे।[4]

साधारण जीवन की और बातों का उल्लेख आगामी वर्णन में आ जायगा। यहाँ केवल यह बताने की आवश्यकता है कि साधारण जीवन की बातें सभी आर्य समूहों में एक-सी थीं और अगले इतिहास में भी एक सी बनी रहीं।

जन

आर्य लोग इस समय अनेक जनों में विभक्त थे। प्रत्येक जन एक पृथक् राजनैतिक समूह मालूम होता है।

[1] ऋग्० १। १४६। ४३ ॥ १। १०। ३ ॥ १। ६०। ५ ॥ ८। ५५। ३ ॥ १। १८३। ३ ॥ ७। १८। २३ ॥ ३। ४५। ३ ॥ ७। ४६। २ ॥ ३। ५३। १५ ॥ ८। ८। ११ ॥ ८। ५५। १४ ॥ साधारण जीवन का सङ्केत प्रत्येक मण्डल के बहुत से मन्त्रों में है। [2] ऋग्० ७। ६६। ३ ॥ १। ५६। १ ॥ १। ५६। ६ ॥ ७। ५५। ८ ॥ [3] ऋग्० १। ३७। २ ॥ १। ११६। १ ॥ ५। ५४। ११ ॥ [4] ऋग्० १। ४८। ३ ॥ १। ५६। २ ॥ १। ११६। ५ ॥

पाँच जन विशेषकर बलवान और महत्त्वपूर्ण थे—पुरु, तुर्वशस्, यदु, अनु, और द्रुह्यु। इनका उल्लेख बहुतेरी ऋचाओं में आया है। इसके अलावा भरत, गधारि, उशीनरस् इत्यादि थे।

वर्ग

भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने पर भी आर्यजनों के धर्म, सामाजिक और राजनैतिक संस्था और रीति-रिवाज एक से ही थे। ऋग्वेद के समय तक वर्ण-व्यवस्था क़ायम नहीं हुई थी, रोटी-बेटी के व्यवहार में आगामी काल की-सी रोक-टोक नहीं हुई थी, पर कई कारणों से जनता में भिन्न-भिन्न वर्ग, भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ, बन रही थीं, और भविष्य के सामाजिक सङ्गठन का अङ्कुर जम रहा था। इस महान् परिवर्तन के कारण राजनैतिक और जातीय थे एवं आर्थिक और धार्मिक भी थे। इन कारणों पर और इस परिवर्तन के क्रम पर ऋचाएँ कुछ प्रकाश डालती हैं। आर्य सङ्गठन पर सबसे अधिक प्रभाव तो आर्यों और अनार्यों के सङ्ग्राम और सम्पर्क का पड़ा।

अनार्य

ऋग्वेद, जो आर्यों का ग्रन्थ है, अनार्यों की निन्दा से भरा हुआ है। अगर किसी संयोग से अनार्यों की कोई रचना हमारे पास होती तो शायद उसमें आर्यों के बारे में वैसे ही दुर्वचन मिलते। कुछ भी हो, आर्यों के प्रलाप से यह परिणाम हम नहीं निकाल सकते कि हिन्दुस्तान के पुराने अनार्य निवासी जङ्गली थे। सच तो यह है कि स्वयं ऋचाओं में इधर-उधर ऐसे सङ्केत हैं, जिनसे जान पड़ता है कि अनार्यों की सभ्यता ऊँचे दर्जे की थी। अनार्यों के कई विभाग थे, जैसे दास, किरात, कीकट, शंयु। दस्यु शायद उसी विभाग का दूसरा नाम है जो बहुधा दास कहलाता था पर यह भी सम्भव है कि उनका एक अलग समुदाय था। दासों के साथ-साथ पक्षियों का उल्लेख भी अनेक बार आया है। शायद इन दोनों समुदायों का निकट सम्बन्ध था। ऋग्वेद में तो नहीं, पर आगामी साहित्य में चण्डालों का भी ज़िक्र बार-बार आया है। शायद यह अनार्य वर्ग गङ्गा के पूरब में कहीं आर्यों को ऋग्वेद के समय के बाद मिला। शूद्र शब्द सबसे पहिले ऋग्वेद के १०वें मण्डल के पुरुषसूक्त में आया है। वास्तव में यह भी संस्कृत शब्द नहीं मालूम होता। सम्भव है कि यह एक ऐसे बड़े अनार्य-

समूह का नाम था कि आगे चलकर यह एक पूरे वर्ण का द्योतक हो गया।[1] इन भिन्न-भिन्न अनार्य समुदायों की सभ्यता शायद एक-दूसरे से कुछ पृथक् रही हो, पर सामग्री के अभाव के कारण इसका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता। पर सामान्यतः उनके रहन-सहन के बारे में कुछ बातों का पता ऋचाओं से लग सकता है। रहने के लिये वह मकान बनाते थे, जिनको कभी-कभी अवसर पाने पर आर्यों ने जला दिया।[2] कम-से-कम दासों और दस्युओं के अपने शहर थे, जिनको नाश करने की प्रार्थना आर्यों ने इन्द्र से बार-बार की है।[3] रक्षा के लिये और युद्ध के लिये उनके पास सेनाएँ थीं और क़िले थे। क़िलों में वह अपना ख़जाना भी रखते थे।[4] बहुत से अनार्य या कम-से-कम उनके सर्दार बड़े अमीर थे—यह उन मन्त्रों से प्रगट है, जिनमें आर्यों ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि अनार्यों को मार कर उनका इकट्ठा किया हुआ धन हमें दे दो।[5] अनार्यों-की अपनी भाषाएँ थीं जो आर्यों को अजीब-सी मालूम पड़ती थीं।[6] आर्यों ने उनको अन्यव्रत इत्यादि कहा है, जिससे ज़ाहिर होता है उनके पृथक् धर्म, देवता नियम इत्यादि थे।[7]

आर्यों और अनार्यों में भेद

इन ऋचाओं से स्पष्ट है कि भाषा, रीति-रिवाज और धर्म के मामलों में आर्यों और अनार्यों में बहुत अन्तर था। इसके अलावा उनके शरीर की बनावट और रङ्ग में भी कुछ भेद मालूम होता है। कहीं-कहीं उनको अनास अर्थात् नाक से रहित कहा है, जिससे ज़ाहिर है कि कम-से-कम कुछ अनार्य वर्गों की नाक आर्यों की नाक से बहुत छोटी होती थी। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण भेद रङ्ग का था। आर्यों की

---

[1] ऋग्वेद के सामान्य मन्त्रों के अलावा विशेषकर देखिये ऋग्० ३ । ५३ । १४ ॥ ७ । १८ । ५ ॥ अथर्व० १० । ४ । १४ ॥ वाजस० सं० । ३० । १६ ॥ निरुक्त ६ । ३२ ॥ ७ । २३ ॥ [2] ऋग्० ७ । ५ । ६ ॥ [3] ऋग्० १ । १०३ । ३ ॥ १ । ११७ । २१ ॥ २ । २० । ६-७ ॥ इत्यादि । [4] ऋग्० ४ । ३० । १३ ॥ २ । २० । ६-७ ॥ [5] ऋग्० । १७६ । ३-४ ॥ ८ । ४० । ६, १० ॥ [6] ऋग्० ७ । ६ । ३ ॥ [7] ऋग्० ८ । ७० । ११ । ४ । १६ । ९-१० ॥ ७ । ६ । ३ ॥ १ । १७५ । ३ ॥ ९ । ४१ । २ ॥

अपेक्षा अनार्यों का रङ्ग बहुत काला था। संस्कृत में रङ्ग को वर्ण कहते हैं। वर्णों के भेद से वर्ण-व्यवस्था का नाम पड़ा और प्रादुर्भाव हुआ।[1] आजकल की तरह प्राचीन समय में भी गोरे रङ्गवालों को कुछ कालों से ग्लानि होती थी।

आर्यों और अनार्यों के सम्बन्ध

इस समय में अनार्यों को अपनी धन-धरती के लिये, अपनी सभ्यता के लिये, अपने अस्तित्व के लिये आर्यों से घमासान युद्ध करना पड़ा। उस भयङ्कर संग्राम की झङ्कार आज भी ऋग्येद के प्रत्येक मण्डल में गूँज रही है। हमला करने वालों का सामना अनार्यों ने पग-पग पर बहुत दिन तक बड़ी बहादुरी से किया। ऋग्वेद पढ़ने में कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि आर्यों के दाँत खट्टे हो रहे हैं और वह अपने देवताओं की शरण में भाग रहे हैं। पर अन्त में अनार्य हार गये। शायद सङ्गठन में सैन्यबल में साहस और बुद्धि में वह आर्यों से घट कर थे। शायद उन सबने मिलकर दुश्मन का मुकाबला नहीं किया। उनके सब समूहों को एक-एक करके आर्यों ने हरा दिया। शायद आर्य-सभ्यता अनार्य सभ्यताओं से इतनी बढ़कर थी कि उसकी विजय अनिवार्य थी। कभी-कभी आर्यों और अनार्यों में मेल भी हो जाता था। ऋग्वेद में बल्बूथ नामक एक व्यक्ति है जो दास मालूम होता है पर उसकी उदारता की महिमा ऋषि ने गाई है। कभी-कभी आर्य लोग स्वयं आपस में लड़ते थे। दाशराज्ञ युद्ध में अनेक राजाओं ने मिलकर सुदास पर हमला किया। पर सुदास ने उनके छक्के छुड़ा दिये। इस पारस्परिक घोर संग्राम में आर्यों ने अनार्यों से भी कुछ सहायता ली। पर यह सन्धियाँ स्थायी नहीं हो सकती थीं। अन्त में आर्यों ने सभी अनार्यों की प्रभुता छीन ली। हारने पर कुछ अनार्य मार डाले गये, कुछ भाग कर मध्य हिन्द के पहाड़ों और घाटियों में जा बसे, जहाँ उनके वंशज आज तक रहते हैं। बाकी अनार्यों ने आर्यों की अधीनता स्वीकार की। बहुत से गुलाम बना लिये गये; दास जाति के इतने अनार्य गुलाम बनाये गये कि दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया और अब तक है।[2] पर शायद अनार्यों की

---

[1] ऋग्० २। २०। ६-७ में इन्द्र काले दासों की सेनाओं का नाश करता है। ऋग्० ९। ४१। १ में काले चमड़े को दूर भगाने की बात है। [2] ऋग्० ७। ८६। ७॥ ८। ५६। ३॥ १०। ६२। १० इत्यादि में दास शब्द का

संख्या इतनी ज्यादा थी कि सब गुलाम नहीं बनाये जा सकते थे। बहुत से पराधीन होकर खेती-बारी या चाकरी या नीचे दर्जे के उद्योग-धन्धे करने लगे। पराजय के बाद आर्यों और अनार्यों के संग्राम का कोई सवाल न था, दोनों वर्ग शान्तिपूर्वक रहने लगे, पर अनार्यों का दर्जा बहुत नीचा था। एक तो, वह साधारण सभ्यता में आर्यों से घट कर थे; दूसरे, उनका रङ्ग काला था, तीसरे पराजयका कलङ्क उनके माथे पर था; चौथे, धन-धरती छिन जाने से वह गरीब हो गये थे। इस स्थिति में जहाँ-कहीं ऐसे दो वर्ग साथ-साथ रहते हैं, वहाँ कुछ जटिल प्रश्न जरूर ही पैदा होते हैं। दो सभ्यताओं का सम्पर्क हुआ नहीं कि एक का असर दूरी पर पड़ने लगता है। स्वभावतः पराधीन वर्ग पर ज्यादा प्रभाव पड़ता है पर स्वामियों का वर्ग भी अछूता नहीं बच सकता। अनार्यों ने आर्यों के धर्म, देवी, देवता, भाषा और रीति-रिवाज बहुत-कुछ अपना लिए, पर आर्यों ने भी अनार्यों की कुछ बातें जानकर या अनजान में अवश्य ही ग्रहण की होंगी। ऐसी परिस्थिति में स्वामिवर्ग के नेताओं को चिन्ता होने लगती है कि कहीं हमारी सभ्यता का ह्रास न हो जाय और वह नीचे पराधीनवर्ग को अपने से दूर रखने की चेष्टा करते हैं। इस साधारण प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक भयङ्कर समस्या वर्गों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है। जहाँ दो वर्गों के स्त्री-पुरुष पास-पास रहते हैं वहाँ आपस में ब्याह-सम्बन्ध या अनुचित सम्बन्ध हो ही जाते हैं। पर यह सम्मिश्रण स्वामि वर्ग के बहुतेरे आदमियों को बड़ा बुरा मालूम होता है। अगर पराजित वर्ग गरीब हो और रङ्ग में काला हो तो बड़ी ग्लानि होती है और भय होता है कि हमारी सभ्यता, हमारा वंश, हमारा मानसिक बल, हमारा चरित्रबल, हमारा वास्तविक जीवन इनके सम्मिश्रण से मिट्टी में न मिल जाये। आजकल काले-गोरों के सम्बन्ध में यह स्थिति दक्खिन अफ्रीका में और अमरीकन संयुक्त राज्य की दक्खिनी रियासतों में मौजूद है। वहाँ अगर कोई गोरी लड़की काले से ब्याह करे या मित्रता ही करे तो उद्विग्न

अर्थ गुलाम है। गुलाम के लिए अंग्रेजी शब्द है 'स्लेव'। वह भी स्लाव जाति के नाम से निकला है। जिसके बहुत से व्यक्ति रोमनों से हार कर गुलाम बनाये गये थे।

गोरी जनता दोनों का काम तमाम कर दे। किसी काले पर गोरी स्त्री पर नज़र डालने का सच्चा या झूठा अभियोग लगाया जाय तो वह अमरीका में ज़िन्दा जला दिया जाता है या और निर्दयताओं के साथ मार डाला जाता है। कोई गोरा आदमी काली स्त्री से ब्याह नहीं करने पाता, यद्यपि दक्खिन अफ्रीका और अमरीका दोनों ही देशों में गोरे आदमी काली स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध बहुधा किया करते हैं। दोनों ही देशों में काले आदमी राजनैतिक जीवन से दूर रक्खे जाते हैं, शिक्षा, धन, गौरव के अवसर उनको बहुत कम दिये जाते हैं। यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि पुराने हिन्दुस्तान में ठीक इसी तरह की स्थिति पैदा हुई थी, जाति और सभ्यता की यह समस्याएँ तमाम परि-स्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हैं। पर इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि अनार्यों की पराजय के बाद उनके और आर्यों के पास-पास रहने से सभ्यता और सम्मिश्रण के विकट प्रश्न उठे। अपनी सभ्यता, जाति और रुधिर की रक्षा के विचार से अपनी प्रभुता के गर्व से और अनार्यों की ग्लानि से, आर्यों ने अनार्यों से सम्बन्ध रोकने की चेष्टा की। ऋग्वेद में तो अन्तर्जातीय ब्याह के बारे में कोई नियम नहीं मिलता, पर आगे चल कर धर्मसूत्रों में यह नियम मिलता है कि कोई द्विज अपनी कन्या शूद्र को न ब्याहे, पर कुछ परिस्थितियों में द्विज शूद्र कन्या से ब्याह कर सकता है। सम्भव है कि ऋग्वेद के समय में ऐसा कोई नियम न रहा हो, पर सम्मिश्रण को रोकने का कुछ-न-कुछ प्रयत्न अवश्य हुआ होगा। यहाँ दो शक्तियों का मुक़ाबिला था; एक तो वह साधारण मानुषिक शक्ति जो सम्मिश्रण की प्रेरणा कर रही थी; दूसरी ओर आर्यों की आत्म-रक्षण शक्ति या कहिये गर्व से प्रेरित वहिष्करण शक्ति थी जो आर्य समुदाय को विशुद्ध आर्य रखने की चेष्टा कर रही थी। पहिली शक्ति ने बहुत सा सम्मिश्रण करा ही दिया, आर्यों और अनार्यों का खून कुछ मिल ही गया, पर अन्त में इस शक्ति का प्रवाह रोक दिया गया। अनार्यों से ब्याह करने के मामले में कुछ कड़े नियम बनाये गये, प्रतिबन्धनों की व्यवस्था कर दी गई। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ में सच पूछिये तो दो ही वर्ण थे—गोरे और काले, अथवा यों कहिये एक तो वह समुदाय जो बहुत-कुछ आर्य था, दूसरा वह समुदाय जो बहुत-कुछ अनार्य था। आगे चलकर पहिला समुदाय द्विज

कहलाया और दूसरा शूद्र। यह नाम ऋग्वेद के पहिले ६ मण्डलों में नहीं आये हैं, शायद उस समय तक व्यवस्था पूरी न बन पाई थी।

आर्यवर्ग

पर आर्यों और अनार्यों के इस महान् जातीय भेद के अलावा स्वयं आर्यों में कुछ भेद होने लगे थे। यह सच है कि इस समय सब आर्यों में, आवश्यक गोत्र छोड़कर, ब्याह-सम्बन्ध हो सकता था, खाने-पीने के मामले में तो किसी तरह की रोक-टोक थी ही नहीं, उद्यम-व्यवसाय की स्वतन्त्रता थी। उदाहरणार्थ एक ऋषि कहता है कि मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है, मैं कविता करता हूँ।[1] पर प्रत्येक समाज में असमानताओं के कारण और धार्मिक, सैनिक या आर्थिक आवश्यकताओं के कारण वर्ग बन जाते हैं, अर्थात् भिन्न-भिन्न भावों, विचारों या स्थितियों के लोग या भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले अपने कुछ पृथक् समुदाय बना लेते हैं। जहाँ-कहीं मानसिक या व्यावसायिक असमानता होती है वहाँ अनेक श्रेणियों का बन जाना स्वाभाविक है। जैसे-जैसे सामाजिक सङ्गठन पेचीदा होता जाता है, वैसे-वैसे श्रेणियाँ भी ज़्यादा होती जाती हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध भी पेचीदा होते जाते हैं। ऋग्वेद के समय में सामाजिक सङ्गठन उतना पेचीदा नहीं हुआ था जितना कि हज़ार-पाँच सौ बरस पीछे हो गया। तो भी इतनी भिन्नताएँ अवश्य हो गई थीं कि कई वर्ग पैदा हो जायँ।

धर्म

पहिला वर्ग तो धार्मिक कर्म-काण्डवालों का था जो ब्राह्मण वर्ग कहलाया। ऋग्वेद के आर्यों को परलोक की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी कि उनके वंशजों को चार-पाँच-सौ बरस पीछे हो गई। ऋग्वेद के पहिले ६ मण्डलों में पुनर्जन्म का कोई सङ्केत नहीं है, कर्म संसार का सिद्धान्त कहीं नहीं है। उस समय आर्यों की दृष्टि मुख्यतः इसी जीवन पर रहती थी, यहीं वह आनन्द-प्रमोद करना चाहते थे, जीवन का उभाड़ जैसा यहाँ है वैसा किसी आगामी युग में नहीं मिलता। इस मामले में वैदिक आर्य अगले हिन्दुओं की अपेक्षा प्राचीन ग्रीक और रोमन लोगों से अधिक मिलते-जुलते हैं। तथापि आर्य लोग बहुत-से देवताओं में विश्वास करते थे, उनसे इस जीवन-

---

[1] ऋग्० ९। ११२। ३॥

के सुख ऐश्वर्य की प्रार्थना करते थे, उनकी पूजा के लिये मन्त्र बनाते और गाते थे, यज्ञ करते थे, बलि चढ़ाते थे, सोमरस की दीक्षा करते थे। ऋग्वेद के देवता ज्यादातर प्रकृति के देवता हैं अर्थात् अन्य प्राचीन देशों की तरह यहाँ भी प्रभावशाली प्राकृतिक दृश्यों और शक्तियों में देवताओं की कल्पना कर ली गई है। द्यौः अर्थात् आकाश एक देवता है और उसके मुक़ाबिले में है पृथिवी। द्यौः के साथ-साथ अथवा यों कहिये कि बहुत कुछ उसके स्थान पर वरुण देवता है, जिसकी गिनती प्रधान देवताओं में है। बहुत-से मन्त्रों में उसकी महिमा गाई है। एक और प्रधान देवता है इन्द्र जो मेह और तूफ़ान का देवता है, जो पानी बरसाता है, युद्ध में आर्यों की सहायता करता है और अनार्यों को ध्वंस करता है। सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषन् और विष्णु सूरज से सम्बन्ध रखनेवाले देवता हैं। शिव और मरुत् तूफ़ान के, रुद्र, वायु और बात हवा के और पर्जन्य पानी के देवता हैं। उषा प्रभात की सुन्दर देवी है। अग्नि और सोम भी प्रधान देवताओं में हैं। इनके अलावा और बहुत से देवता हैं एवं ऋभु, अप्सरा, गन्धर्व इत्यादि अलौकिक जीव हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आगे चलकर इन देवताओं का रूप बदल गया; अथवा इन्हीं नामों से और देवता सम्बोधन किये जाने लगे। और बातों की तरह धार्मिक विश्वास भी प्रगतिशील होते हैं; सदा एक से नहीं रहते; पुराने नाम रह भी जायँ तो अर्थ बदल जाते हैं। ऋग्वेद में मनुष्य और देवताओं का जैसा सम्बन्ध है वैसा आगामी हिन्दू साहित्य में नहीं है। यहाँ देवता मनुष्य-जीवन से दूर नहीं हैं; आर्यों का विश्वास है कि प्रार्थना करते ही वह सहायता करते हैं, शत्रुओं का नाश करते हैं। वह मनुष्य से प्रेम करते हैं, और प्रेम चाहते हैं। हिन्दू भक्ति-सम्प्रदाय का आदिस्रोत ऋग्वेद है। यहाँ कुछ मन्त्रों में आदमी और देवता के बीच में गाढ़े प्रेम की, मित्रता की, कल्पना की गई है। देवताओं को प्रसन्न रखने की बड़ी आवश्यकता है, उनकी कृपा हो तो खूब पानी बरसेगा, धनधान्य की बढ़ती होगी, जानवर भलेचङ्गे रहेंगे, घर, गाँव, नगर, राज्य, आनन्दमय रहेंगे, जीवन सुखमय होगा। सबका ही कर्तव्य था कि देवताओं की भक्ति में मन्त्रों का उच्चारण करें और घी, अन्न, दूध, माँस और सोम के द्वारा यज्ञ करके उनको बलि दें। साधारण पूजापाठ तो सब कर सकते थे पर

देवता

समाज को कुछ ऐसे लोगों की भी आवश्यकता थी जो अपना सारा समय या कम से कम अधिकांश समय धार्मिक कार्य में लगा सकें। नये मन्त्रों की रचना आवश्यक थी जो विशेष विद्वानों के द्वारा ही हो सकती थी। नये-पुराने मन्त्रों का अर्थ सब को समझाने के लिये भी ऐसे आदमियों की जरूरत थी जो और कामों से बरी हों। धीरे-धीरे यज्ञों का विधान बढ़ने लगा; बहुत बड़े पैमाने पर यज्ञ होने लगे, जिनके लिये बहुत-से आदमियों को बहुत समय तक तय्यारी और कार्यवाही करनी पड़ती थी। अकेले सोमयज्ञ के लिये ही कई पुरोहितों की आवश्यकता थी। उदाहरणार्थ, एक होतृ चाहिये था जो मन्त्र सुनाये, एक अध्वर्यु चाहिये था जो क्रियाकाण्ड करे और अनिष्ट का निवारण करे, एक उद्गातृ चाहिये था जो सोम गाये। इनको कई सहायकों की आवश्यकता थी। ऋग्वेद से जान पड़ता है कि ऐसे यज्ञों में बहुधा सात पुरोहित लगते थे। एक ऋचा में इनकी गिनती इस प्रकार की है—होतृ, पोतृ, नेष्ट्ट, अग्नीध, प्रशास्तृ, अध्वर्यु और ब्रह्मन्। यज्ञ का सारा काण्ड ऐसा पेचीदा हो रहा था कि हर कोई उसे न तो याद रख सकता था और न पूरा कर सकता था। अस्तु, एक पुरोहितवर्ग बनने लगा जो ब्राह्मण कहलाया और जो जनता की धार्मिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता था। जो लोग अपने गुणों से या कर्मों से या आकांक्षाओं से पुरोहिती के योग्य थे, वह ब्राह्मण हो गये। उनके घरों में उनके लड़के स्वाभावतः मन्त्र पढ़ना या रचना सीखते थे; अपने पिताओं के साथ रह के ही यज्ञ की विधि जान जाते थे। पुरोहित के व्यवसाय सीखने की जैसी सुगमता, जैसी सुविधा, उनको थी वैसी किसी को नहीं थी। वह भी अपने वंश का काम करने लगे। इस तरह धीरे-धीरे एक अलग ब्राह्मणवर्ग बन गया। पहिले और लोग भी इसमें शामिल होते रहे होंगे, पर धीरे-धीरे बाहर से आनेवालों की संख्या कम होती गई। ऋग्वेद के समय में ब्राह्मण वर्ग के लोग औरों से ब्याह-सम्बन्ध कर सकते थे, पर साधारणतः सब लोग अपने से वंशवालों के साथ ही ब्याह करते थे। अभी युवकों और युवतियों को ब्याह की स्वतन्त्रता थी, पर बहुधा उनका प्रेम उन्हीं से होता था जिनसे अकसर मुलाक़ात होती थी और जो समकक्ष थे अर्थात् बहुधा जो अपने ही वर्ग के थे।

यज्ञ

ब्राह्मण

यूरुप और अमरीका में और दूसरे देशों में आजकल भी ऐसा ही होता है। अस्तु, ब्याह की स्वतन्त्रता होने पर भी ब्राह्मण वर्ग धीरे-धीरे एक अलग वर्ग होता गया।

ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से ब्राह्मणों के कर्म और पद का कुछ हाल मालूम होता है। एक जगह कहा है कि ब्राह्मण सोमरस से वर्ष भर का यज्ञ करते हैं।[1]

ब्राह्मणों का पद

अन्यत्र ब्राह्मण और पितृ सोम पीने के लिये मिलते हैं, जिससे प्रगट है कि ब्राह्मणों का पद बहुत ऊँचा था।[2] अनेक मन्त्रों में पुरोहितों का या देवताओं के पुरोहित अग्नि का यश गाया है और पुरोहितों को दान देने का उल्लेख है। दान में सिक्के, ज़ेवर, कपड़े, रथ, मकान, पशु, गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते, वग़ैरह दिये जाते थे।[3] एक जगह कहा है कि सरस्वती कञ्जूस का नाश कर देती है[4], जिसका तात्पर्य यह मालूम होता है कि जो ब्रह्मणों को दान नहीं देता वह नष्ट हो जाता है। जो ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित थे, वह स्वभावतः बहुत प्रभावशाली थे। पर कभी-कभी बड़े-बड़े पुरोहित भी आवश्यकता पड़ने पर सब काम करते थे। विश्वामित्र और वसिष्ठ तो रणक्षेत्र तक में जाते हैं।[5]

जैसे धार्मिक आवश्यकता से ब्राह्मण वर्ग की उत्पत्ति हुई वैसे ही सैनिक आवश्यकताओं से क्षत्रिय वर्ग का उदय हुआ। कह चुके हैं कि आर्यों को बहुत

क्षत्रिय

दिन तक अनार्यों से गहरी लड़ाई लड़नी पड़ी। अनार्यों की पराजय के पहिले ही वह कभी-कभी आपस में भी लड़ मरते थे[6]; पराजय के बाद आपस की लड़ाई मानो रोज़ की

---

[1]ऋग्० ७। १०३। १, ७-८॥ [2]ऋग्० ६। ७५। १०॥ [3]उदाहरणार्थ, ऋग्० १। ४४। १०, १२॥ ३। २। ८॥ २। २४। ६॥ १। १। १॥ ३। ३। २॥ ५। ११। २॥ ७। ७०। ४॥ १। १२६। १-४॥ ५। ३०। १२-१५॥ ७। १८। २१-२४॥ ८। १। ३२-३३॥ १। ३१। २॥ ५। २७। १७॥ ५। ३६। ४॥ ५। ४२। ८॥ ६। २७। ८॥ [4]ऋग्० ६। ६१। १॥ [5]ऋग्० ३। ३३॥ ७। १८॥ [6]संग्रामों के दृष्टान्तों के लिये देखिये ऋग्० १। ५१। ६॥ १। १०३। ३॥ १। ११७। २१॥ १। १३०।

बात हो गई। यों तो लड़ाई में बहुत दिन तक सब तरह के लोग मैदान लेते थे और दुश्मन का मुक़ाबिला करते थे। जैसा कि ऋग्वेद में कई बार कहा है, मैदान में जनता इकट्ठा होती है, जनता अपना बल दिखाती है।[1] प्रभात की देवी के बारे में एक ऋषि कहता है कि उषा इस तरह आती है जैसे कि लड़ाई के लिये तय्यार जनता।[2] हथियारों से अपने जानमाल की रक्षा करना सब का कर्तव्य था, पर सारी जनता के लिये बार-बार मैदान लेना समाज के लिये हितकर नहीं हो सकता था। अगर सब पुरुष एकदम रणक्षेत्र में उतर जायें तो खेती कौन करेगा, पशुपालन और दूसरे व्यवसाय कौन करेगा, घर पर स्त्री-बच्चों की रक्षा कैसे होगी। धार्मिक और मानसिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन को ठीक-ठीक जारी रखने के लिये ज़रूरी था कि कुछ लोग तो सैनिक-सेवा में अपना जीवन ही लगा दें और बाक़ी कभी-कभी ज़रूरत पड़ने पर उनके चारों ओर जमा हो जाया करें। अर्थात् एक सुव्यवस्थित सेना हो, उसके सर्दार हों, नायक हों, उसकी शिक्षा का कुछ प्रबन्ध हो, हथियारों का ठीक-ठीक इन्तिज़ाम हो, उनके लिये घोड़े या दूसरे जानवर बराबर तय्यार रहें। इस तरह की सेना में वही लोग शामिल हुए जो साहसी थे, बहादुर थे, शरीर के हृष्टपुष्ट थे, समरभूमि के प्रेमी थे। ऐसी सेना शायद किसी ने एक निर्दिष्ट समय पर जान-बूझकर न बनाई थी। लड़ाई के युग में आप-से-आप उसका विकास हो गया था, धीरे-धीरे वह आप ही आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक आर्यजन में बन गई थी। इन सिपाहियों के लड़के भी कुल परम्परा से बहुधा सिपाही का काम अङ्गीकार करते थे। वंश का व्यवसाय करने की प्रवृत्ति आज भी प्रत्येक देश में थोड़ी-बहुत पाई जाती है, प्राचीन समय में यह और भी प्रबल थी क्योंकि उन दिनों व्यवसाय की शिक्षा ज़्यादातर घर में ही मिल सकती थी। इस तरह आर्यसमाज में एक सैनिक वर्ग बना। सैन्यबल के कारण राजनैतिक प्रभुता भी इस वर्ग के हाथ में रही। यह

८॥ २। २०। ६-८॥ ५। २६। १०॥ ५। ३३। ४॥ ५। ३४। ६॥ ६। २२। १०॥ ६। ३३। ६॥ ६।४७। २०॥ ६। ६०। ६॥ ६। ६७। ५॥ ८। २५। ७३॥ ८। ४१। ७६॥ ६। ४१। १॥ [1]ऋग्० ४। २४। ४॥ ६। ३६। १॥ [2]ऋग्० ७। ७६। २॥

राजनैतिक और सैनिक क्षत्रिय वर्ग बहुत दिन तक तो औरों से ब्याह-सम्बन्ध करता रहा पर ब्राह्मणों की तरह अथवा यों कहिये वर्ग मात्र की तरह इसकी प्रवृत्ति भी ज़्यादातर आपस में ही सम्बन्ध करने की थी। बल और प्रभुता के कारण इस वर्ग की बड़ी सत्ता थी; इसे स्वाभाविक गर्व था और सारा समाज इसका लोहा मानता था। ऋग्वेद में क्षत्रिय-पद का बड़प्पन स्वीकार किया है और उन लोगों की निन्दा की है जो झूठमूठ ही क्षत्रिय होने का दावा करते हैं।[1]

जैसे-जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग दृढ़ होते गये वैसे-वैसे वह शेष जनता से अधिकाधिक पृथक् होते गये। शेष आर्य जनता विश् कहलाने लगी। विश् शब्द से पहले सारी आर्य जनता का बोध होता था। इसका

विश्

मूल अर्थ तो केवल बैठना है, घूमने-फिरने के बाद जब आर्य लोग ज़मीन पर बैठ गये, अर्थात् ज़मीन पर स्थायी रूप से बस गये, और मुख्यत: खेती-बारी से जीवन-निर्वाह करने लगे, तब उनकी बस्ती विश् कहलाने लगी। बस्ती के अर्थ से यह शब्द बसने वालों का अर्थात् जनता का द्योतक हो गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग बनने पर एक ऐसे शब्द की आवश्यकता थी जो शेष जनता का बोधक हो। इस अर्थ में विश् शब्द का ही प्रयोग होने लगा—एक मन्त्र में पहिले क्षत्रियों के लिये बल की प्रार्थना की है और फिर विश् के लिये वही प्रार्थना की है।[2] ऋग्वेद के पहिले ९ मण्डलों में वैश्य शब्द कहीं नहीं आया है, केवल विश् का ही प्रयोग किया गया है। विश् बड़ा भारी वर्ग था, इसके लोग खेती, पशु-पालन, तरह-तरह की दस्तकारी इत्यादि बहुत-से व्यवसाय करते थे। धीरे-धीरे इन व्यवसायों के अनुसार बहुत-से छोटे वर्ग विश् समुदाय में बन गये।

व्यवसाय-भेद के अलावा एक और कारण भी था जिससे वर्ग बने। जैसा कि फ्रेञ्च विद्वान सेनार्ट ने बताया है, आर्यों में प्राचीन समय में यह प्रथा थी कि गोत्र या सम्बन्ध-विशेष के दायरे में ब्याह नहीं करते थे

अनेक वर्ग

पर बहुधा दूसरे विशेष गोत्रों में ब्याह करते थे। अन्तर्व्याह और बहिर्व्याह की इस परिपाटी से भी बहुत से वर्ग बने। ब्राह्मण

---

[1] ऋग्० ७। १०४। १३॥ [2] ऋग्० ८। ३५। १७-१८॥

क्षत्रिय वर्गों के एवं अन्य-अन्य छोटे-छोटे वर्गों के बनने में सैकड़ों बरस लगे होंगे। सामाजिक विकास सदा धीरे-धीरे होता है, सामाजिक संस्थाएँ आहिस्ता-आहिस्ता परिपक्व होती हैं। ऋग्वेद के समय में वर्गव्यवस्था बन चुकी है, पर आगामी काल की वर्ण-व्यवस्था अभी दूर है। आर्यों के बीच में अभी अन्तर्व्याह जारी है, एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश करना अभी सम्भव है; व्यवसाय की भी स्वतन्त्रता है। यह ज़रूर है कि व्यवहार में ऐसा कम होता था पर कोई मनाही न थी। खान-पान की तो कोई भी रोकटोक न थी।

तुलना

कह चुके हैं कि वर्ग सब समाजों में बन जाते हैं। पुराने ज़माने में कई देशों में वैसे ही वर्ग थे जैसे हिन्दुस्तान में। उदाहरणार्थ, ईरान में वर्गीकरण बिल्कुल इसी ढङ्ग पर हुआ था। पुरानी कथाओं के आधार पर फ़ारसी कवि फ़िरदौसी कहता है कि राजा यिमने चार वर्ग बनाए।[1] पर सच यह है कि वहाँ भी वर्ग शताब्दियों के विकास से बने थे। पुराने बैबिलन, ऐसीरिया और मिश्र आदि में भी वर्ग थे।

अनार्यवर्ग

आर्य वर्गों के लिए तो ऋग्वेद साक्षी है पर क्या अनार्यों में भी कोई वर्ग थे? अनार्यों की कई जातियाँ थीं, यह तो ऋग्वेद से प्रगट है, पर सम्भव है कि प्रत्येक अनार्य-जाति में आर्य-सङ्घर्षण के पहिले भिन्न-भिन्न वर्ग रहे हों। वह वर्ग भी शायद उन्हीं कारणों से पैदा हुए होंगे जिनसे आर्य वर्ग बने थे। जब पराजय के बाद अनार्य आर्यों से दब कर रहने लगे तब उनका पुराना वर्गीकरण कुछ बदल गया होगा, पर बिल्कुल मिटा न होगा। सामाजिक संस्थाओं के बनने में जैसे देर लगती है वैसे ही मिटने में भी देर लगती है। कभी-कभी तो परिस्थिति बदल जाने पर भी वह मिटाये नहीं मिटती। पुराने अनार्य वर्ग किसी-न-किसी रूप में जारी रहे होंगे।

आर्यों और अनार्यों में जो थोड़ा या बहुत सम्मिश्रण हो गया था, उससे उत्पन्न होने वाले समुदाय का क्या हुआ? यहाँ ऋग्वेद से कोई सहायता नहीं मिलती। इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि शायद उनमें से कुछ आर्य समुदाय में रहे हों, शायद कुछ अनार्य समुदाय में ढकेल दिये गये हों,

---

[1] शाहनामा, १। १३२॥

शायद उनके अलग वर्ग बन गये हों जैसा कि आजकल अफ्रीका में और अमरीकन संयुक्त राज्य की दक्खिनी रियासतों में, या एक छोटे पैमाने पर लङ्का, हिन्दुस्तान इत्यादि बहुतेरे देशों में दृष्टिगोचर है। इन सम्मिश्रित वर्गों की गिनती चाहे आर्यों में हुई हो, चाहे अनार्यों में, पर व्यवहार-दृष्टि से यह पृथक् वर्ग ही थे।

सम्मिश्रित वर्ग

यह विस्तृत वर्ग-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था में कैसे परिणत हुई ? यह आगे बताया जायगा। ऋग्वेद के समय के बारे में निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि एक ओर आर्यों में दूसरी ओर अनार्यों से बड़ा भारी अन्तर था, स्वयं आर्यों में कम-से-कम तीन वर्ग थे, पर शायद इनके भीतर छोटे-छोटे वर्ग और भी बन रहे थे; शायद अनार्यों में भी कई वर्ग थे, शायद सम्मिश्रित जातियों के भी अपने पृथक् वर्ग थे।

उपसंहार

अनार्य वर्गों के साधारण सामाजिक जीवन के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भव हैं कि समय के अनुसार वह आर्यों की संस्थाओं-को अङ्गीकार करते जाते थे। आर्यों के सामाजिक जीवन की एक झलक ऋग्वेद से मिलती है। सङ्गठन के सिद्धान्त और व्यावहार में स्त्रियों का पद बहुत ऊँचा था। किसी तरह का पर्दा नहीं था। साधारण जीवन के अलावा समाज के मानसिक और धार्मिक नेतृत्व में भी स्त्रियों का हाथ था। जैसी कुछ शिक्षा उन दिनों थी, उसके द्वारा स्त्रियों के लिये भी खुले हुए थे। जिन स्त्रियों में धार्मिक साहित्य रचने की शक्ति थी, उनको अपनी इस प्रवृत्ति के अनुसार चलने में कोई रोक-टोक न थी। कई स्त्रियाँ ऋषि थीं, जिनकी रचनाएँ पुरुषों की तरह ऋग्वेद संहिता में आज तक शामिल हैं।[1] साहस और वीरता में भी स्त्रियाँ कम न थीं। कोई-कोई स्त्रियाँ तो समर-भूमि में जाकर पुरुषों-की तरह शूरता दिखाती थीं। उदाहरणार्थ, एक कथा है कि विष्पला लड़ाई में गई थी, जब लड़ते-लड़ते घायल हो गई तब आश्विनों ने उसका इलाज

साधारण सामाजिक जीवन

स्त्रियों का पद

[1] ऋग्० १। ११७ ॥ १। १७९ ॥ ५। २८ ॥ ६। १०। २ ॥ ८। ९१॥

किया।[१] ब्याह के मामले में भी स्त्रियों को बड़ी स्वतन्त्रता थी। बहुधा जवान स्त्री-पुरुष आपस में मिला-जुला करते थे, अपनी रुचि के अनुसार प्रेम करते थे और अपनी पसन्द से अनुसार एक-दूसरे से ब्याह कर लेते थे।[२] कोई-कोई युवतियाँ अपने सौन्दर्य पर फूली न समाती थीं, और अपने प्रेमियों के चित्त प्रसन्न करने में बड़ी कुशल होती थीं।[३] कभी-कभी प्रेमी युवक और युवतियाँ छिपकर मिलने का प्रयत्न करते थे। एक स्थान पर एक युवक मन्त्र के द्वारा अपनी प्रेयसी के घर वालों को सुलाना चाहता है।[४] इन उल्लेखों से एवं ब्याह के बाद ही होने वाले संस्कारों से साफ जाहिर है कि उन दिनों बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। ऋग्वेद में न तो कहीं बाल-विवाह का उल्लेख है और न कोई ऐसी बात है जिससे बाल-विवाह का जरा भी अनुमान हो सके। इसके विपरीत, एक उल्लेख से प्रगट होता है कि स्त्रियाँ कभी-कभी अधेड़पन के बाद ब्याह करती थीं। उदाहरणार्थ, गोषा नामक एक स्त्री बड़ी उम्र तक कुमारी ही रही।[५] कोई-कोई स्त्रियाँ ऐसी भी थीं जो शादी से बिल्कुल इन्कार कर देती थीं और अपने पिता या भाई के साथ रहती थीं। एक जगह एक स्त्री का उल्लेख है जो अपने माँ-बाप के घर पर ही बूढ़ी होती जाती है।[६]

सगाई पक्की हो जाने के बाद नियत तिथि पर दूलह अपने सम्बन्धियों और मित्रों की बरात लेकर बेटी वाले के यहाँ जाता था। यहाँ दुलहिन के सम्बन्धी और मित्र उन सब की आवभगत करते थे। नियत मुहूर्त्त पर दूलह दूलहिन को एक पत्थर पर चढ़ाकर उसका पाणिग्रहण करता था। तब दोनों अग्नि की परिक्रमा करते थे। ब्याह की इस रस्म के बाद बड़ा उत्सव होता था, जिसमें लड़की-लड़के, स्त्री-पुरुष अच्छे-से-अच्छे कपड़े और जेवर पहिन कर शामिल होते थे।[७] कभी-कभी ब्याह में दहेज भी दिया जाता था। उत्सव इत्यादि के बाद बरात विदा हो जाती थी।

ब्याह की रस्म

---

[१] ऋग्० १।११२।१० ॥ १।११६।१५ ॥ १।११७।११ ॥ १।११८।८ ॥ [२] ऋग्० १।११५।२ ॥ ६।३२।५ ॥ ६।५६।३ ॥ [३] ऋग्० १।१२३।१० ॥ [४] ऋग्० ७।५५।५-६, ८ ॥ [५] ऋग्०।१ १७ १।७ ॥ [६] ऋग्० २।१७।७ ॥ [७] ऋग्० ४।५८।६ ॥

दूलह दुलहिन को रथ पर बैठाता था। मन्त्र गाते हुए सब लोग बेटेवाले के यहाँ वापिस चले आते थे। शादी की यह रस्में बहुत दिन तक ऐसी ही जारी रहीं और आजकल भी बहुत-कुछ वैसी ही हैं।

ऋग्वेद के समय में कुछ इनेगिने आदमी—विशेषकर राजा महाराजा या बड़े पुरोहित अनेक ब्याह करते थे।[1] परिमित क्षेत्र में अनेक-ब्याह की प्रथा हिन्दुस्तान में अब तक जारी रही है, पर याद रखना चाहिये कि प्रकृति स्त्रियों और पुरुषों की संख्या को लगभग बराबर बनाती है। थोड़े से आदमी ही एक से ज़्यादा शादी कर सकते हैं। आर्थिक कारणों से और साधारण कौटुम्बिक सुख के कारणों से भी अनेक ब्याह परिमित ही रहते हैं। तथापि यह मानना पड़ेगा कि अनेक ब्याह की प्रथा की स्वीकृति ही स्त्रियों के पद को कुछ हल्का कर देती है, क्योंकि उससे यह ध्वनि निकलती है कि स्त्री केवल मनोरञ्जन की सामग्री है। बहुविवाह स्त्री के अन्तःकरण पर ऐसी चोट पहुँचाता है और उनके मानसिक जीवन में ऐसी विपत्ति डालता है कि सौतों में दिन-रात झगड़े होना एक स्वाभाविक बात है। ऋग्वेद से प्रगट है कि अनेक ब्याह करने वाले महापुरुष कभी-कभी घरेलू संग्रामों को चिन्ताओं से बेतरह परेशान रहते थे।[2]

अनेक ब्याह

ऋग्वेद में विधवा ब्याह का कोई निषेध नहीं है पर यह ठीक-ठीक नहीं मालूम होता कि विधवाएँ अपने देवरों से ही ब्याह करती थीं या और किसी से भी कर सकती थीं। दसवें मण्डल में एक ऋचा है जो आर्य-सभ्यता में विधवाओं के स्थान पर कुछ प्रकाश डालती है। मरघट में अपने पति के शव के पास लेटी हुई विधवा से कहते हैं कि "उठो, स्त्री! तुम उसके पास पड़ी हो जिसका जीवन समाप्त हो गया है। अपने पति से दूर हटकर जीवितों के संसार में आओ और उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे ब्याह करने को राज़ी है"।[3] इसी तरह अथर्ववेद कहता है कि "यह स्त्री (अर्थात् विधवा) पुराने धर्म का पालन करती हुई, अपने

विधवा ब्याह

---

[1] ऋग्० १। ६१। ११॥ १। ७१। १॥ ७॥ १८। २॥ ७। १। ६। ३॥ [2] ऋग्० १। १०४। ३॥ १। १०५। ८॥ [3] ऋग्० १०। १८। ८॥

पति के लोक को पसन्द करती हुई, तुम्हारे पास जो मर गये हो, पड़ी है (पर) इसको यहीं सन्तान और सम्पत्ति दो। उठो स्त्री ! जीवितों के संसार में आओ... (पूर्ववत्)"।[१] अनेक शताब्दियों के बाद पण्डितों ने वैदिक ऋचा के अर्थ का अनर्थ कर के इससे सती का विधान निकाला, पर यह स्पष्ट है कि इस काल में पति के साथ जलाई नहीं जाती थी। तो भी एक प्रश्न उत्पन्न होता है। आखिर विधवा मरघट में पति के उस शव के पास क्यों लेटती है जिसके जलाने की तैयारी हो रही है? ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में इस प्रश्न का कोई पक्का उत्तर नहीं दिया जा सकता। पर एक अनुमान होता है। संसार की बहुतेरी प्राचीन जातियों में पुरुषों के, और विशेष कर, बड़े आदमियों के, शव के साथ उनकी प्यारी चीजें गाड़ने की या जलाने की चाल थी। उनका ख्याल था कि उस पार भी आत्म को इन चीजों की ज़रूरत पड़ेगी, किसी तरह यह उनके पास पहुँच जायँगी और इनको पाकर उन्हें सन्तोष और आनन्द होगा। कई जतियों में स्त्रियों की गिनती भी इन आवश्यक चीजों में कर ली गई और वह पतियों के साथ दफ़न होने लगीं या जलाई जाने लगीं। सम्भव है कि किसी दूरवर्ती भूतकाल में आर्यों में भी यह प्रथा रही हो। कह चुके हैं कि ऋग्वेद की सभ्यता के पीछे अनेक शताब्दियों का विकास है। अगर किसी बहुत पुराने युग में आर्यों में सती की प्रथा प्रचलित थी तो धीरे-धीरे सभ्यता की प्रगति ने उसको मिटा दिया। विधवाओं का जलाना तो बन्द हो गया पर पुरानी प्रथा की एक लकीर; एक रस्म, बाकी रह गई जैसा कि बहुधा हुआ करता है। लुप्त प्रथा की इस रस्म के अनुसार ही विधवा मरघट जाती थी। और जरा देर के लिए पति के शव के पास लेट जाती थी। भविष्य में अर्थात् ई० पू० चौथी सदी के लगभग फिर कुछ भारतीय समुदायों में सती प्रथा कैसे चल पड़ी—यह हम आगे बतायेंगे। यहाँ केवल इस बात पर जोर देना ज़रूरी है कि बहुत पुराने काल में आर्यों में यह प्रथा भले ही रही हो पर ऋग्वेद के समय में बिल्कुल न थी। इसके विपरीत विधवाओं का ब्याह हो सकता था। देवर के साथ ब्याह की सम्भावना तो सिद्ध है, पर अगर देवर पहिले से ही विवाहित हो या भाभी से ब्याह करने को राज़ी न हो तो क्या होता

[१] अथर्व० १८। ३। १-२॥

था ? ऋग्वेद इस मामले में चुप है, पर उस काल के साधारण सामाजिक सङ्गठन और जीवन से यह सम्भव मालूम होता है कि विधवा और किसी से ब्याह कर लेती होगी । एक मन्त्र के[1] आधार पर जर्मन विद्वान् पिशेल ने यह नतीजा निकाला है कि जिस स्त्री का पति ग़ायब हो गया हो वह दूसरा ब्याह कर सकती थी, पर वैदिक साहित्य से इसका पूरा-पूरा सबूत नहीं मिलता ।

कुटुम्ब

आर्य कुटुम्ब का जीवन पैत्रिक सत्ता और स्त्री सम्मान के सिद्धान्तों के आधार पर अवलम्बित था । पिता या पितामह एक तरह का गृहपति होता था, जिसकी प्रधानता घर के और लोग मानते थे ।[2] गृहपति से वीरता और उदारता की आशा की जाती थी ।[3] पिता के मरने पर बड़ा लड़का गृहपति होता था, साधारणतया वह कुटुम्ब की सम्पत्ति का स्वामी समझा जाता था; मकान, घोड़े, गाय-बैल, द्रव्य, ज़ेवर, हथियार, दास इत्यादि सब पर उसकी प्रभुता रहती थी । पर कभी-कभी भाइयों में बँटवारा भी हो जाता था ।[4] भाइयों का एक बड़ा कर्तव्य यह था कि शादी होने तक बहिनों का पालन-पोषण करें । इसीसे संस्कृत में भाई के लिये शब्द है 'भ्रातृ' अर्थात् भरण करने वाला । जिन लड़कियों के भाई न थे उनको कभी-कभी बड़ी मुसीबत उठानी पड़ती थी । एक ऋचा में निर्धन भ्रातृहीन लड़की का उल्लेख है जो दुराचार से अपना पेट भरती थी ।[5]

गृहपति

स्त्री

ऋग्वेद के समय से लेकर आज तक हिन्दुस्तान में सम्मिलित-कुटुम्ब प्रथा चली आती है । इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम हो जाती है और स्त्रियों की पदवी भी कुछ नीची हो जाती है, पर कम-से-कम ऋग्वेद के समय में स्त्रियों का पद गिरने न पाया । सास-ससुर, देवर-नन्द के साथ रहते हुए भी बहू का प्रभाव बहुत था । अपने पति के साथ वह मन्त्र पढ़ती थी, यज्ञ करती थी, दान देती थी, सोमरस बनाती और पीती थी ।[6]

---

[1] ऋग्० १ । १८५ । ८ ॥ [2] ऋग्० ६ । ५३ । २ ॥ [3] ऋग्० ६ । ४६ । ८ ॥ [4] ऋग्० १ । ७० । ५ ॥ [5] ऋग्० १ । १२४ । ७ ॥ [6] ऋग्० १ । १३१ । ३ ॥ ५ । ४३ । १५ ॥

एक वैदिक मन्त्र में ऋषि कहता है कि पति पत्नी प्रेमपूर्वक साथ-साथ अनेक धार्मिक कार्य करते हैं, सुनहरे ज़ेवर पहिने हुए बेटी-बेटों के साथ आनन्द करते हैं, और पूरी आयु पाते है।[1] स्त्री घर का प्रबन्ध करती थी, और बहुत से कामों के अलावा ताने बुनने का काम भी करती थी।[2] इसमें आश्चर्य नहीं है कि कहीं-कहीं अग्निदेवता की उपमा गृहपत्नी से दी है जो घर के सब लोगों की ख़बरदारी रखती है।[3] अन्यत्र उषादेवी के बारे में ऋषि कहता है कि वह गृहपत्नी की तरह सोने वालों को जगाती हुई आती है।[4] पत्नी के बिना घर घर नहीं है। एक़ मन्त्र में ऋषि कहता है कि 'हे मघवन्, पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है'।[5] यह भी कहा है कि 'हे इन्द्र ? तुम सोम पी चुके, अब अपने घर की ओर जाओ, घर में तुम्हारी प्यारी पत्नी है, तुम्हारे लिये वही आनन्द है'।[6] एक मन्त्र में इन्द्र के मुंह से यह ज़रूर कहलाया है कि स्त्रियों की बुद्धि कमज़ोर होती है और उनका चित्त बहुत संयम नहीं पसन्द करता।[7] पर साधारणतया स्त्रियों का बहुत आदर सम्मान था।

सन्तान की लालसा

पुराने ईरानी, ग्रीक और रोमनों की तरह वैदिक आर्यों में भी सन्तान की लालसा बहुत थी। अग्नि से प्रार्थना करते हुए एक ऋषि कहता है कि 'हम तुम्हारे पास अकेले ही बैठे न रह जायँ, हमारे वीर सन्तान हो, हमारे घर सन्तान से भरे-पूरे हों'।[8] इसी मन्त्र में फिर पूरी आयु और वीर सन्तान की प्रार्थना की है।[9] एक दूसरा ऋषि प्रार्थना करता है कि 'हम निर्धन न हों, हमें वीर पुत्रों की कमी न हो, न पशुओं की कमी हो, न हमारी निन्दा हो।[10] एक तीसरे ऋषि का विश्वास है कि सोमदेवता पूजा करने वाले को दुधारी गाय और तेज घोड़ा देता है और ऐसा वीर पुत्र देता है जो विद्या में, घर के काम में, और सभा

---

[1]ऋग्० ७ । ३१ । ५-८ ॥ पतिपत्नी के प्रेम के लिये ऋग्० १ । १०२ । २ । भी देखिये । [2]ऋग्० २ । ३ । ६ ॥ २ । ३८ । ४ ॥ [3]ऋग्० १ । ६६ । ३ ॥ [4]ऋग्० १ । १२४ । ४ ॥ [5]ऋग्० ३ । ५३ । ४ ॥ [6]ऋग्० ३ । ५३ । ६ ॥ [7]ऋग्० ८ । ३३ । १७ ॥ [8]ऋग्० ७ । १ । ११, १२, १९ ॥ [9]ऋग्० ७ । १ । २४ ॥ [10]ऋग्० ३ । १६ । ५-६ ॥

तथा समिति में निपुण हो और पिता के लिये गर्व का कारण हो।[1] पुत्रों की कामना एक स्वाभाविक कामना है, जिसे प्रकृति ने जाति की रक्षा के लिये अत्यन्त दृढ़ बनाया है। पर इसके कुछ और विशेष कारण भी थे। एक तो सम्मिलित कुटुम्ब में माँ-बाप को पुत्रों से बड़ा सहारा हो जाता था। दूसरे, मरने के बाद आत्मा की शान्ति के लिये पुत्र श्राद्ध करता था। अगर कोई श्राद्ध करने वाला न हो तो बड़ी विपत्ति का सामना था। तीसरे, पुत्र से वंश बना रहता था। पैतृक सत्ता के युग में सभी जातियों में वंश के मिटने की सम्भावना बड़ी भयङ्कर समस्या मानी जाती थी और सन्तान-हीनता सबसे बड़ी दुर्घटना गिनी जाती थी। चौथे, शायद आर्यों को अपनी संख्या बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता थी। अनार्यों से या आपस में ही संग्राम के लिये नई जीती हुई ज़मीन को आबाद करने के लिये, और यों भी समाज में अनार्यों से गिनती में अधिक होकर उन्हें दबाने के लिये बड़ी जनसंख्या की ज़रूरत थी। जब एक बार सन्तान का आदर्श बन गया तब वह स्वयं सन्तान-लालसा का एक कारण हो गया जिनको किसी तरह लड़के न होते थे वह कभी-कभी दूसरों के लड़के गोद ले लिया करते थे। गोद लिये लड़के बड़े लाड़-प्यार से पाले जाते थे, चिरवञ्छित मातृस्नेह और पितृस्नेह उन्हीं पर स्थिर हो जाता था, पर जैसा कि एक वैदिक मन्त्र से प्रगट है, गोद के लड़के असली लड़कों के बराबर नहीं होते थे।[2]

कारण

गोद

आर्य-कुटुम्ब का वर्णन दासों के कुछ उल्लेख के बिना पूरा नहीं हो सकता। पुराने हिन्दुस्तान में दासता की प्रथा उतनी प्रचलित नहीं थी और न उस तरह समाज-सङ्गठन का आधार थी जैसे कि पुराने ग्रीस या रोम में। तो भी यहाँ, विशेषकर अमीरों के यहाँ, बहुत से दास और दासियाँ थीं। एक ऋषि उषा से पुत्रों के साथ दासों के लिए भी प्रार्थना करता है।[3] दासों को कड़ी मिहनत करनी पड़ती थी।[4] वह एक प्रकार की सम्पत्ति समझे जाते थे और दान में दिये जा सकते थे। एक ऋषि

दास

---

[1]ऋग्० १।९१।२०॥ [2]ऋग्० ७।४।७८॥ [3]ऋग्० १।९२।८॥ [4]ऋग्० १।८६।७॥

कहता है कि 'हे अग्नि ! अभ्यावर्तिनि चायमान ने मुझे बीस बैल इत्यादि के साथ-साथ बहुत सी लड़कियाँ भी दीं'।[१] अन्यत्र कहा है कि राजा त्रसदस्यु ने पचास बधुएँ अर्थात् दासियाँ दान में दीं।[२]

इतिहास के और बहुतेरे समुदायों की तरह प्राचीन आर्य सभ्यता पर दासत्व-से जो कलङ्क लगता है उसको धोने की चेष्टा करना व्यर्थ है पर यह न समझना चाहिये कि वह लोग दया के भावों से बिल्कुल शून्य थे। उदाहरणार्थ, उस समाज में आतिथ्य एक बड़ा गुण समझा जाता था। ऋग्वेद में अग्निदेव को अतिथि के नाम से पुकारा है।[3] राजा दिवोदास अतिथियों का ऐसा स्वागत करता था कि उसे 'अतिथिग्व' की उपाधि दी गई थी।[४] साधारणजन भी आतिथ्य में कम न थे। घर का सबसे अच्छा कमरा अतिथि को रहने के लिये दिया जाता था।[५] इसके अलावा आर्यों का कर्तव्य माना जाता था कि सब के साथ सज्जनता का व्यवहार करें। एक ऋषि प्रार्थना करता है कि 'हे वरुण ! अगर हमने भाई, मित्र, साथी-पड़ोसी या अजनबी का कुछ बिगाड़ा हो तो हमारा पाप दूर करो'।[६]

आतिथ्य

लगभग प्रत्येक समाज बच्चों और युवकों को अपने आदर्शों और रीति-रिवाज में दीक्षित करने का अर्थात् अपनी सभ्यता को जारी रखने और बढ़ाने का प्रबन्ध कर लेता है। ऋग्वेद में लिखने की प्रथा का उल्लेख कहीं नहीं है। ऋषि तथा और लोग भी मन्त्र याद रखते थे और मौखिक शिक्षा के द्वारा अपनी सन्तान को सिखा देते थे। जान पड़ता है कि इसके अलावा एक तरह की पाठशालाएँ भी थीं जहाँ गुरु विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। एक मन्त्र में शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की तुलना बरसात में बोलने वाले मेंढकों से की है।[७] और बहुत से वैदिक वाक्यों की तरह यह उपमा भी आगामी हिन्दू साहित्य में बार-बार मिलती है।

शिक्षा

[१] ऋग्० ६। २७। ८॥ [२] ऋग्० ८। १९। ३६॥ [3] ऋग्० ७। ३। ५॥ [४] ऋग्० १। ५१। ६॥ १। ११२। १४॥ ४। २६। ३॥ ६। ४७। २२॥ [५] ऋग्० १। ७३। १॥ [६] ऋग्० ५। ८५। ७॥ [७] ऋग्० ७। १०३। ५॥ इसी मण्डल में ७। ८७। ४ भी देखिये।

ऋग्वेद में समाज के नैतिक आदर्श की बड़ी ऊँची कल्पना की गई है। उस आदर्श के अनुसार सब लोगों को चाहिये कि हेल-मेल से रहें और ऋत अर्थात् सत्य अथवा यों कहिये धर्म को अपने जीवन का अवलम्बन समझें। आदमी क्या देवता भी धर्म का पालन करते हैं। स्वयं देवताओं ने अपने लिये कड़े नियम बना रक्खे हैं।[१] इसके अलावा देवता कभी इन्द्र के नियमों का उल्लङ्घन नहीं करते।[२] विश्व में जो कुछ है उस सबका आधार ऋत है। देवता मित्र-वरुण अमृत को जीत कर ऋत की पालना करते हैं।[३] देवता वरुण के नियम सदा सत्य हैं।[४] वरुण तो अनृत से स्वभावतः घृणा करता है और ऋत को बढ़ाता है।[५] इसी मन्त्र में ऋषि कहता है कि देवता ऋत में पैदा होते हैं, ऋत को पालते हैं और बढ़ाते हैं, अनृत से बड़ी घृणा करते हैं; वही देवता राजाओं की और साधारण मनुष्यों को रक्षा करें।[६] ऋत को बढ़ाने के अभिप्राय से मित्र-वरुण आदमियों पर उसी तरह नज़र रखते हैं जैसे गड़रिये अपनी भेड़ों पर।[७] सूरज भी चरवाहे की तरह जीवों के कर्मों का निरीक्षण करता है और मित्र वरुण को बतलाता है।[८] चरित्र-निरीक्षण के अभिप्राय से देवताओं ने निरीक्षक भी तैनात कर रक्खे हैं।[९] अनेक मन्त्रों में झूठ की बड़ी निन्दा की है[१०] और झूठा अपराध लगाने वाले को शाप दिया।[११] बहुतेरे मन्त्रों में ऋषियों ने देवताओं से प्रार्थना की है कि हमें अच्छे मार्ग पर चलाओ।

आदर्श और समाज के वर्णन में प्रसङ्गवश ऋग्वेद के धार्मिक विश्वासों का बहुत-सा हाल आ गया है। पर विषय को पूरा करने के लिये कुछ और बताना

---

[१]ऋग्० १। ३६। ५॥ [२]ऋग्० ७। ४७। ६॥ [३]ऋग्० १। १५२। १॥ [४]ऋग्० ५। ६३। १॥ [५]ऋग्० ७। ६६। १३॥ [६]ऋग्० ७। ६६। १०॥ [७]ऋग्० ४। २५। ४३॥ इत्यादि॥ [८]ऋग्० ४। ३०। १-३॥ ६। ६७। ५॥ ८। ४१। ७॥ इनके अलावा ऋग्० ८। २५। ७-८॥ १०। ६३। ४, ८॥ इत्यादि भी देखिये। [९]ऋग्० ५। ४४। ३॥ ५। ६३। १॥ [१०]उदाहरणार्थ, ऋग्० १। १४७। ५॥ १०। ६। ८॥ [११]ऋग्० ७। १०४। ८-९॥

धार्मिक विश्वास

भी आवश्यक है। ऋग्वेद में ३३ देवता माने गये हैं, पर वह सब एक श्रेणी के नहीं हैं, कोई अधिक महत्त्व और प्रभाव रखते हैं, कोई कम।

सबसे बड़े देवता तीन मालूम होते हैं—इन्द्र, जिसके लिये कोई २५० मन्त्र हैं, अग्नि, जिसके लिये कोई २०० मन्त्र हैं, और सोम, जिसके लिये १०० से अधिक मन्त्र हैं। द्यौः और पृथिवी ६ मन्त्रों में सब के माता-पिता कहे गये हैं। मेह के देवता पर्जन्य के लिये और परलोक के देवता यम के लिये तीन-तीन मन्त्र हैं। सूर्य स्वयं एक बड़ा देवता है और उसके रूपान्तर भी अनेक हैं। उसके एक अंश सवितृ की प्रार्थना में वह सुप्रसिद्ध सावित्री या गायत्री मन्त्र है जो हिन्दुओं में आज तक पढ़ा जाता है।[1] पूषन् भी सूर्य का एक अंश है, वह सब को बढ़ाता है। विष्णु के बारे में कहा है कि वह तीन छलाङ्ग भरता है, जिससे अनुमान होता है कि वह भी सूर्य का रूपान्तर है। ऋग्वेद में वह बहुत छोटे दर्जे का देवता है, पर भविष्य में जब पुराणों ने उसे परमेश्वर बना दिया तब उसकी छलाङ्गों के आधार पर बलि वामन की कथा बनी। ऋग्वेद में द्यौः की पुत्री और प्रभात की देवी उषा के सौन्दर्य की प्रशंसा हृदयग्राही कविता में की गई है। संसार के प्रकृति काव्य और प्रीति-काव्य का यह पहिला नमूना है और बड़े ही मार्के का है। आश्विन् भी द्यौः के लड़के हैं, वह सदा जवान और सुन्दर रहते हैं। अब तक जितने देवता गिनाए हैं उनमें से इन्द्र, अग्नि और पृथ्वी को छोड़ कर बाक़ी सब आकाश के हैं। वहीं ऊपर वह रहते या विचरण करते हैं। उनके अलावा अनेक देवता हवा के भी हैं। इनमें इन्द्र प्रधान है। ऋग्वेद में बार-बार कहा है कि इन्द्र वृत्र से लड़ाई कर के उसे परास्त करता है। अनेक धार्मिक कथाओं की तरह यह भी प्रकृति के आधार पर है। वृत्र के परास्त करने का तत्त्व इतना ही है कि इन्द्र बादलों को बार-बार भेद कर पानी बरसाता है। रुद्र या शिव का नाम केवल तीन-चार मन्त्रों में आया है। वह जीवन को बढ़ाता है पर अभी उसका महत्त्व बहुत कम है। रुद्र के पुत्र मरुत् बड़े भयङ्कर और मतवाले थे। वायु या वात भी रुद्र की तरह

देवता

---

[1] ऋग्० ३। ६२। १०॥

जीवन को बढ़ाने वाला देवता है। पृथ्वी के देवताओं में स्वयं पृथ्वी ही देवता है; अग्नि प्रधानतः घर का देवता है। सोम सोमरस का देवता है पर आगे चलकर सोम का अर्थ चन्द्रमा हो गया। नवें मण्डल के सब मन्त्र और बाकी मण्डलों के भी थोड़े से मन्त्र सोम की प्रशंसा में कहे गये हैं। देवताओं के अलावा सिन्धु, सरस्वती इत्यादि नदियों की और वनस्पति, पर्वत इत्यादि की प्रशंसा भी कभी-कभी देवताओं की तरह की गई है।[1]

ऋग्वेद में यह माना है कि धर्मात्मा देवलोक को जाते हैं और पापी नरक में पड़ते हैं।[2] पर जैसा कि कह चुके हैं आवागमन का सिद्धान्त ऋग्वेद के पहिले ९ मण्डलों में नहीं है। अभी तप का भी कोई जिक्र नहीं है।

देवताओं से सम्बन्ध

देवताओं के लिए प्रार्थना, पूजा और यज्ञ का विधान था; पर जीवन का भाव ऐसा आनन्दमय था कि अभी किसी को तप करना न सूझा था। देवताओं की ओर भाव अभी उतना डर-दसहत का नहीं है जितना कि प्रेम और मित्रता का है। उदाहरणार्थ, एक ऋषि अग्नि को प्यारा मित्र और पिता कहता है।[3] दूसरा ऋषि कहता है कि पञ्चजनों के हित के लिए अग्नि प्रत्येक घर में निवास करता है। वह जवान है, बुद्धिमान है, घर का मालिक हैं, हमारा बहुत निकट सम्बन्धी है।[4] अन्यत्र कहा है कि अग्नि बड़ा कृपाशील मित्र है, पिता है, भाई है, पुत्र है, सबका पालने वाला है।[5] और मन्त्रों में अग्नि को गृहपति कहा है।[6] एक ऋषि कहता है कि अब हम मन्त्र गा चुके; हमारे प्रत्येक घर में अग्नि दूत की तरह निवास करे।[7] और देवताओं के बारे में भी ऐसे ही भाव व्यक्त किये गये हैं। एक ऋषि कहता है कि हे इन्द्र ! पिता की तरह तुम हमारी बात सुनो'।[8] कोई-कोई ऋषि देवताओं को

---

[1]देवताओं के लिए ऋग्वेद का कोई भी मन्त्र देखिये। [2]ऋग्० ४। १२ ५ ॥ ४। ५। ५ ॥ ७। १०४। ३ ॥ इत्यादि [3]ऋग्० १। ३१। १६ ॥ [4]ऋग्० ७। १५। १-२। ७ ॥ [5]ऋग्० १। ९४। १५ ॥ २। १। ९ ॥ ६। १। ५ ॥ [6]ऋग्० ५। १। ५ ॥ ५। ६। ८ ॥ ८। ४९। १९ ॥ [7]ऋग्० ५। ६। ८ ॥ [8]ऋग्० १। १०४। ९ ॥

अपना प्रेमी मानते हैं ।[१] एक ऋषि सोम को बड़ा प्रेमी मानता है ।[२] एक मन्त्र में यह भाव है कि जो देवताओं से प्रेम करता है, उससे देवता भी प्रेम करते हैं ।[३] अन्यत्र आदित्यों को या सभी देवताओं को सम्बोधन करके कहा है कि तुम सचमुच हमारे सम्बन्धी हो, हमारे ऊपर कृपा करो ।[४]

प्रेम और प्रसन्नता के भाव में आर्य लोग आनन्द से जीवन बिताते थे, परलोक की बहुत चिन्ता न थी, तप का कोई विचार न था, खान-पान की कोई रोक-टोक न थी । माँस भोजन की प्रथा सब लोगों में प्रचलित थी । सुरा और सोम खूब पिये जाते थे । जर्मनों की तरह हिन्दू आर्य भी जुआ बहुत खेलते थे ।[५] नाच और गाने का शौक बहुत था । खुले मैदान में स्त्री और पुरुष बड़े चाव से नाचा करते थे । गान विद्या की बहुत उन्नति हो चुकी थी । सितार, बाँसुरी, ढोल वगैरह प्रचलित थे ।[६] और भी अनेक विनोद थे । उदाहरणार्थं, रथों की दौड़ अक्सर होती थी और बड़े आनन्द का कारण होती थी ।[७] सब लोगों को और खासकर स्त्रियों को नदियों और तालाबों में नहाने का बहुत शौक था ।[८] ऋग्वेद के समय में जैसा उल्लास और सामाजिक स्वातन्त्र्य था वैसा हिन्दुस्तान में फिर कभी नहीं देखा गया । इस मामले में आर्यों ने आगे चल कर दूसरा मार्ग अङ्गीकार किया, पर वर्ग और सङ्गठन के मामले में वह ऋग्वेद की लकीरों पर ही चलते रहे । राजनैतिक सङ्गठन में भी वह बहुत-कुछ उसी मार्ग पर रहे जिसको पहिले वैदिक आर्यों ने निकाला था ।

विनोद

राज-प्रबन्ध का पूरा हाल लिखने के लिए ऋग्वेद में काफ़ी सामग्री नहीं है ।

---

[१] ऋग्० ६ । २५ । १ ॥ ८ । ४७ । २ ॥ [२] ऋग्० ८ । ६८ । ७ ॥ [३] ऋग्० ४ । २३ । ५-६ ॥ [४] ऋग्० ८ । ४७ । २ ॥ २ । २९ । ४ ॥ इनके अलावा देखिये ऋग्० ३ । ५३ । ५ ॥ ४ । २५ । २ ॥ ८ । ४५ । १८ ॥ इत्यादि ॥ [५] ऋग्० २ । १२ । ४ ॥ १० । ३४ । १८ ॥ [६] ऋग्० १ । १९२ । ४ ॥ ६ । २९ । ३ ॥ ७ । ५८-९ ॥ ८ । २० । २२ ॥ ९ । १ । ८ ॥ ५ । २२ । १२ ॥ [७] ऋग्० ८ । ६९ । ४ ॥ १ । ६० । ५ ॥ ९ । ३२ । ५ ॥ [८] ऋग्० ५ । ८० । ५ ॥ ९ । ६९ । ४ ॥

पर इधर-उधर के उल्लेखों को इकट्ठा करके थोड़ा-सा वृत्तान्त लिखा जा सकता है। ऋग्वेद में बहुधा राजा का ज़िक्र आया है। मालूम होता है कि राजा अक्सर मौरूसी होता था अर्थात् एक ही वंश से राजा चुना जाता था।[1] राजत्व की प्रथा कैसे उत्पन्न हुई—

राजप्रबन्ध

इस पर ऋग्वेद कुछ नहीं कहता है, पर ऐतरेयब्राह्मण और तैत्तिरीयब्राह्मण में दो पुरानी कथाएँ हैं जो इतिहास पर बहुत प्रकाश डालती हैं। ऐतरेयब्राह्मण में कहा है कि एक बार देवों में और असुरों में लड़ाई हुई।...असुरों ने देवों को हरा दिया... देवों ने कहा कि हम लोग 'अराजतया' अर्थात् राजा न रखने के कारण हारे हैं। हमको राजा बनाना चाहिये (राजानम् करवामहे)।

राजा

राजत्व की उत्पत्ति

इस प्रस्ताव पर सब राज़ी हो गये।[2] तैत्तिरीयब्राह्मण कहता है, कि एक बार देवों और असुर में युद्ध हुआ। प्रजापति ने अपने बड़े लड़के इन्द्र को छिपा दिया कि कहीं बलवान असुर उसे मार न डालें। इसी तरह कयधु के पुत्र प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को छिपा दिया कि कहीं देव उसे मार न डालें। देव प्रजापति के पास जाकर बोले कि "राजा के बिना युद्ध करना असम्भव है"। यज्ञ करके उन्होंने इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की।[3] इन दोनों कल्पनाओं से अनुमान होता है कि आर्यों में परम्परा से यह विश्वास था कि युद्ध की आवश्यकताओं से राजा की सृष्टि हुई थी। आजकल के वैज्ञानिक अनुसन्धान से भी यही नतीजा निकला है कि युद्ध में अधिकार को एकत्र करने की, एक नेता रखने की आवश्यकता से ही संसार में शासन या राजत्व का प्रारम्भ हुआ था। जान पड़ता है कि आपस में अनार्यों से लड़ाई होने के कारण राजा की उत्पत्ति हुई थी और लगातार युद्ध के कारण यह प्रथा दृढ़ हो गई थी। दूसरे, आपस के झगड़ों का फ़ैसला करने के लिये भी राजा की आवश्यकता थी। तीसरे, समाज के उन कामों के प्रबन्ध के लिये भी राजा चाहिये था जिनमें बहुत से आदमियों के योग की आवश्यकता थी। ऋग्वेद में मित्र, वरुण, और

[1]ऋग्० १। ११४। १॥ [2]ऐत० ब्रा० १। १४॥ [3]तैत्ति० ब्रा० १। ५। ९॥

अग्नि देवताओं ने अपने राजत्व के विषय में जो बातें कही हैं, उनसे अनुमान होता है कि इस लोक के राजा बड़े शानदार होते थे, शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखते थे और लोग उनकी आज्ञा का पालन करते थे।[१]

राजा का रहनसहन और कर्त्तव्य

पुरुषों का राजा त्रसदस्यु कहता है कि "देवता मुझे वरुण के कार्यों में सम्मिलित करते हैं।...मैं राजा वरुण हूँ। देवता मुझे वह शक्तियाँ देते हैं जिनसे असुरों का नाश होता है...मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण हूँ।[२]...इससे भी प्रगट है कि राजाओं का पद बहुत ऊँचा था और वह अपने को देवताओं के बराबर समझते थे। जो लोग आज्ञा नहीं मानते थे उनके साथ बल-प्रयोग होता था।[३] पर ज़्यादातर लोग आप ही राजा का आदेश मान लेते थे। एक राजा का उल्लेख है जो सुख और शान्ति से अपने महल में रहता था और जिससे जनता भक्ति करती थी।[४] राजा का कर्तव्य था कि प्रजा पर कृपा रक्खे। उदाहरणार्थ, राजा लोगों को उपहार देते थे।[५] जहाँ अग्नि को ग्रामों का रक्षक कहा है, यह ध्वनि निकलती है कि ग्रामों की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य था।[६] एक ऋषि कहता है कि देवता उस राजा की रक्षा करते हैं जो रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण की सहायता करता है।[७] अन्यत्र कहा है कि सोम पवमान राजा की तरह सेनाओं के ऊपर बैठता है[८], जिससे प्रगट है कि सेना का नेतृत्व राजा का धर्म था। इन्द्र एक-के-बाद दूसरी लड़ाई लड़ता है और एक-के-बाद दूसरे पुर (मिट्टी के क़िले) को तोड़ता है।[९] अग्नि भी पुर और ख़ज़ाने जीतता है।[१०] ऐसा ही राजा का कर्तव्य था। राजा बड़ी शान से रहते थे, यह

---

[१] ऋग्० ३।४३॥ ५।६६।१॥ ७।६४।२॥ ८।५६।१॥ ६७।१॥ इत्यादि॥ ऋग्० २।२७।१०॥ २।२८।१॥ ५।६२।३॥ ५।८५।३॥ ६।७०।१॥ ७।८६।१॥ १।७।८७॥ भी देखिये।
[२] ऋग्० ४।४२॥ [३] ऋग्० ७।६।५॥ ६।७।५॥ [४] ऋग्० ४।५०।८॥ [५] ऋग्० १।६७॥१॥ [६] ऋग्० १।१४४।१॥ [७] ऋग्० ४।५०।८-६॥ [८] ऋग्०।७।४॥ [९] ऋग्० १।५३।७॥ ७।१८॥ इत्यादि। [१०] ऋग्० ३।५।४॥ ४।२७।१॥ इत्यादि।

अनुमान ऋग्वेद के उन मन्त्रों से होता है जहाँ राजा मित्र और वरुण के हजार खम्भे वाले मजबूत ऊँचे महल की कल्पना की है।[1] यह भी कहा है कि राजाओं की ओर देखना कठिन है, वह सुवर्ण से मालूम होते हैं।[2] अनुमान होता है कि वह सुनहरे और बहुत चमकीले कपड़े पहिनते थे। जैसाकि आवश्यक था, शासन-कार्य में राजा को बहुत से कर्मचारियों से सहायता मिलती थी।

कह चुके हैं कि पुरोहित राजा के साथ रहता था और बड़ा प्रभाव रखता था। ऋग्वेद में अग्नि को बड़ा पुरोहित और युद्ध में सहायक माना है।[3] अन्यत्र मित्र, वरुण, अग्नि और आदित्यों के दूतों और हरकारों का ज़िक्र है जो सच्चे, बुद्धिमान् और कुशल थे और जो चारों ओर देख-भाल करते थे, समाचार लाते थे और रक्षा का प्रबन्ध करते थे।[4] इस कल्पना के आधार पर वह राज्यकर्मचारी मालूम होते हैं जिनसे राजा इस तरह के काम लेते थे। कई जगह सेनानी का उल्लेख है[5] जो सेना का नायक था और जिसकी नियुक्ति राजा करता था। वैदिक साहित्य में ग्रामणी का उल्लेख भी बहुत आया है। 'ग्राम' शब्द का मौलिक अर्थ था 'समूह' जो संस्कृत-साहित्य में भी अक्सर मिलता है। शायद बहुत पहले जब आर्य अपने पशुओं को लेकर इधर-उधर घूमा करते थे और किसी एक स्थान पर बहुत दिन न रहते थे तब हरएक घूमनेवाले गिरोह को ग्राम कहते थे। जब खेती की प्रथा बढ़ने पर यह ग्राम एक विशेष स्थान पर बस गया, तब यह बस्ती भी ग्राम कहलाने लगी। बस्ती के इस अर्थ में ग्राम या गाँव का प्रयोग अब तक होता है। ग्राम का मुखिया या नेता ग्रामणी कहलाता था। वह मौरूसी अधिकारी था, या ग्राम के निवासियों के द्वारा चुना जाता था या राजा से नियुक्त होता था

पुरोहित

हरकारे

सेनानी

ग्राम

ग्रामणी

---

[1]ऋग्० २। ४१। ५॥ ७। ८८। ५॥ [2]ऋग्० १। १८५। ८॥ ८। ६। ३८॥ [3]ऋग्० १। ४४। १०॥ ३। २। ८॥ [4]ऋग्० ७। ६१। ३॥ १। २५। ३॥ ६। ६७। ५॥ ७। ६३। ३॥ ४। ४। ३॥ ८। ४७। ११॥ [5]ऋग्० ७। २०। ५॥ ६। ६६। १॥

—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। शायद तीनों रीतियाँ थोड़ी-थोड़ी प्रचलित थीं। कुछ भी हो, ग्रामणी का पद ऊँचा था। वह राज्य के मुख्य अधिकारियों में गिना जाता था। ऋग्वेद में कहीं-कहीं व्रजपति शब्द भी आया है पर उसका अर्थ ग्रामणी ही जान पड़ता है।

व्रजपति

ऋग्वेद के समय में राजा या उसके अधिकारी निरङ्कुश नहीं थे। उनको धर्म के अनुसार प्रबन्ध करना पड़ता था। इसके अलावा जनता के भी बड़े राजनैतिक अधिकार थे। वैदिक साहित्य में सभा और समिति का उल्लेख बहुत जगह आया है। इनके असली रूप के बारे में विद्वानों में अभी तक बहुत मतभेद है। लुड्विग् की राय है कि समिति में सब लोग रहते थे पर सभा में केवल बड़े आदमी, अर्थात् मघवन और ब्राह्मण ही बैठते थे। सिमर की राय है कि सभा तो गाँव के लोगों की थी और समिति सारी जनता की। हिलीब्राण्ट मैक्डानेल और कीथ की राय है कि दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है, समिति का अर्थ जनता से है, सभा का बैठने की जगह से। पर अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा है[1] जिससे जान पड़ता है कि यह दोनों संस्थाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं, पर थीं अलग-अलग। ऋग्वेद में एक तीसरा शब्द 'विदथ' भी अनेक बार आया है, जिसका अर्थ कहीं तो धार्मिक, साधारण, सामरिक जत्था है, कहीं मकान, कहीं यज्ञ और बुद्धि इत्यादि है। विदथ शब्द के प्रयोगों से तो संस्थाओं के विषय में कोई खास बात नहीं मालूम होती, पर सभा और समिति से अच्छी तरह साबित होता है कि यहाँ लोग मिलकर सब जरूरी मामलों पर विचार करते थे, नियम बनाते थे, नीतिस्थापन करते थे और पेचीदा मुकदमों का फैसला करते थे। सब लोग यहाँ बहस कर सकते थे और राजकार्य में अपनी बुद्धि के अनुसार भाग ले सकते थे। यहाँ राजा भी आता था और सभापति का आसन ग्रहण करता था। सम्भव है कि एक राजा के मरने पर दूसरे का चुनाव सभा या समिति में होता हो, पर सब

सभा या समिति

कर्त्तव्य

[1] अथर्व० ७। १२। १॥

उल्लेखों को मिलाने से यह अधिक सम्भव मालूम होता है कि राजा तो सधारणतया मौरूसी होता था, पर जनता के सामने नियम के अनुसार उसकी स्वीकृति होती थी। ऋग्वेद की समिति पुराने ग्रीक, रोमन और जर्मनों की सभाओं से मिलती-जुलती है।

कर

ऋग्वेद के समय में राज्य की ओर से कौन-कौन से कर लिये जाते थे, इसका ब्यौरा बहुत कम मिलता है। मालूम होता है कि कर बहुत कम थे। शायद राजा के पास बहुत-सी ज़मीन थी जिसकी आमदनी से शासन-का बहुत-सा खर्च चलता था। शायद अपनी आमदनी में से कुछ हिस्सा लोग राजा को देते थे। एक स्थान पर कहा है कि जैसे राजा अमीरों को खाता है वैसे ही अग्नि जङ्गलों को खाता है।[1] इससे अनुमान होता है कि अमीर आदमियों से ज़्यादा कर लिया जाता था।

न्याय

न्याय के विषय में भी ऋग्वेद से बहुत कम पता लगता है। शायद बहुत से झगड़ों का फ़ैसला कुटुम्ब के मुखिया ही कर देते थे। ऋग्वेद में जो शातदाय वैरदेय शब्द आये हैं[2] उनसे मालूम होता है कि न्याय के नियमों में भिन्न-भिन्न वर्गों के जीवन का मूल्य निश्चित था। आगे चलकर धर्मसूत्रों में ब्यौरेवार कहा है कि फ़लाने को मारने से इतनी गाय देनी पड़ेगी और फ़लाने के लिये इतनी। इससे धारणा होती है कि ऋग्वेद के समय में भी कुछ ऐसा ही क्रम प्रचलित था। पर कुछ अपराधों के लिये और तरह का दण्ड भी दिया जाता था। ऋग्वेद में देवता और

दण्ड

आदमियों के जेलखाने का उल्लेख है[3], जिससे अनुमान होता है कि कुछ अपराधों के लिये इस समय भी जेल का दण्ड दिया जाता था। दो मन्त्रों में कहा है कि गाँव वालों के सौ भेड़ मार डालने के अपराध में ऋज्राश्व को उसके पिता ने अन्धा कर दिया।[4] इस कथन से कौटुम्बिक दण्ड-प्रथा का समर्थन होता है और यह भी मालूम होता है कि कभी-कभी शारीरिक दण्ड दिया जाता था। दीर्घतमस् की कथा से

---

[1] ऋग्० १। ६५। ४॥ [2] ऋग्० २। ३२४॥ इत्यादि। [3] ऋग्० ४। १२। ५॥ [4] ऋग्० १। ११६। १६॥ १। ११७। १७॥

अनुमान होता है, पर पूरा प्रमाण नहीं मिलता कि अपराध साबित करने के लिये पानी और आग की परीक्षाओं का प्रयोग भी किया जाता था।[१] कई जगह 'मध्यमशी' शब्द आया है जिससे जान पड़ता है कि बहुत से झगड़ों का निपटारा पञ्च नियत करके ही हो जाता था। कभी-कभी चोर अन्न, वस्त्र, द्रव्य, या गाय, चुरा ले जाते थे। पता लगने पर उनकी दुर्दशा की जाती थी।[२]

राजन्य

ऋग्वेद में 'राजन्य' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—एक तो राजा और दूसरे ज़मीन्दार। जान पड़ता है कि राजा के चारों ओर बहुत से ज़मीन्दार थे जो राजा की प्रभुता मानते थे, पर जो कुल में अपने को राजा से कम नहीं समझते थे और जो राज्य के कुछ अधिकारों का उपभोग करते थे। कई जगह 'सम्राट्' शब्द भी आया है, जिससे मालूम होता है कि कई साधारण राजा किसी एक राजा को प्रधानता मान लेते थे और तब यह राजा सम्राट् कहलाता था।[3]

सम्राट्

---

[१] ऋग्० १। १५८। ४॥ इत्यादि॥ [२] ऋग्० १। ६५। १॥ १। ४२। २-३॥ ८। २९। ६॥ ४। ३८। ५॥ [3] मैक्डानेल और कीथ, वैदिक इण्डेक्स, २, पृ० ४३३॥

उत्तर-वैदिक समय

३

ऋग्वेद के पहिले ९ मण्डलों के बाद १०वें मण्डल की रचना हुई जो भाषा, शैली और भाव में उनसे भिन्न है। इसी समय के लगभग कुल मन्त्रों को चुनकर दूसरा वेद—सामवेद बनाया गया जिससे केवल एक ही ऐतिहासिक नतीजा निकलता है—अर्थात् यह कि धार्मिकता बढ़ रही थी। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में कुछ गद्य-रचनाएँ मिलाकर तीसरा वेद—यजुर्वेद बना जिसे यज्ञों के समय अध्वर्यु पढ़ते थे। इसके दो संस्करण हैं—कृष्ण और शुक्ल। पहिले की तीन पूरी संहिताएँ हैं—तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी और एक चौथी अधूरी कपिष्ठलसंहिता भी है। शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता है। शायद इसी समय के लगभग अथर्ववेद की रचना हुई जो आगे चलकर चौथा वेद माना गया। अर्वाचीन विद्वान् अब तक यह समझा करते थे कि अथर्ववेद के जादू-टोना, जन्त्र-मन्त्र अनार्य हैं, जिसे धीरे-धीरे आर्यों ने अपना लिये। पर वास्तव में अथर्ववेद भी उतना ही आर्य है जितना कि ऋग्वेद। भेद यह है कि ऋग्वेद में आर्य-जीवन का एक अङ्ग है, अथर्ववेद में दूसरा। अथर्ववेद के कुछ अंश शायद ऋग्वेद के बराबर पुराने हैं, पर कुछ अंश अवश्य ही बाद के हैं। इसके २० भाग हैं, जिनमें ७३० मन्त्र हैं। इसी समय के लगभग या ज़रा पीछे वैदिक सिद्धान्तों को विस्तार से समझने के लिये और वैदिक यज्ञों की रीतियों के काण्ड को फैलाने के लिये गद्य में ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। शतपथ इत्यादि कुछ ब्राह्मण तो पीछे लिखे गये थे पर आखिरी तीन वेदों के समय के आसपास सामवेद का पञ्चविंशब्राह्मण, और ऋग्वेद के ऐतरेयब्राह्मण के पहिले पाँच भाग और कौषीतकि या शाखायनब्राह्मण बने। इस सारे साहित्य का समय अन्दाज़ से १००० ई० पू० से लेकर ७०० तक होगा। पर यह केवल अनुमान है। सम्भव है कि यह काल १५०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक या ऐसा ही कुछ हो। पर जहाँ निश्चय न हो वहाँ इतिहास में नीची तारीख के

साहित्य

वेद

ब्राह्मण

आधार पर निष्कर्ष निकालना उचित होता है।

इन संहिताओं और ब्राह्मणों के समय में आर्य सारे उत्तर-हिन्दुस्तान में फैल गये थे, मध्य-हिन्दुस्तान की ओर भी चले गये थे और कुछ आर्य दक्षिण की ओर निकल गये थे। ऐतरेयब्राह्मण में आन्ध्रजाति का जिक्र है[1] पर आन्ध्र लोग आर्य नहीं थे। पुण्ड्र, मूतिव, पुलिन्द और शबर भी अनार्य थे। उनसे भी दक्षिण में अनार्य नैषध थे।

आर्यों का विस्तार

इस समय के प्रधान आर्य-समूहों में थे—शिवि, मत्स्य, वैतहव्य, विदर्भ। कुरुसमूह से सम्बन्ध रखता हुआ थ्रिजय-समूह था; हिमालय के पार शायद काश्मीर में कुरुओं के पास उत्तर मद्र थे। मध्यदेश में कुरुओं और पाञ्चालों के अलावा वश और उशीनर भी थे। उनके दक्षिण में सत्वन्त थे। कौशल वर्तमान अवध में थे; विदेह उत्तर-बिहार में; और अङ्ग पूरबी विहार में थे, काशी बनारस के आसपास थे। जमुना के किनारे पारावत रहते थे और उनसे बहुत उत्तर में केकय और बल्हीक, कीकट शायद मगध में थे। मगध में ब्राह्मणों की प्रभुता कभी बहुत न जमने पाई, इसीसे ब्राह्मण-साहित्य में मगध को बुरा देश माना है और इसी से मगध में ब्राह्मणों के विरोधी बौद्ध और जैन-धर्मों को उत्पन्न होने और फैलने में सुविधा हुई।

आर्य-समूह

मगध

कोई भी समाज जिसमें मानसिक जीवन है, एक ही अवस्था में स्थिर नहीं रह सकता। विचार में क्रान्तिकारी शक्ति है, जहाँ विचार होगा वहाँ परिवर्तन अवश्य होगा। इसके अलावा वैदिक काल के जीवन के बदलने के और भी कारण थे। आर्य लोग चारों ओर फैल रहे थे, दो अथवा यों कहिये अनेक सभ्यताओं का सङ्घर्षण हो रहा था, जिससे हर तरह का परिवर्तन अवश्यम्भावी था; नई जमीन के जोतने से आर्थिक जीवन बदल रहा था, कृषि, उद्योग, व्यापार का स्वाभाविक प्रसार जारी था, आर्थिक और राजनैतिक उथल-पुथल से सामाजिक सङ्गठन भी स्वभावतः बदल

आर्थिक जीवन

---

[1] ऐत० ब्रा० ८। २॥

रहा था। हिन्दुस्तान के जल, वायु और विशेष परिस्थितियों से भी आर्यों के विचार और संस्था अछूती न रह सकती थीं। इन कारणों से उत्तर-वैदिक काल में हर तरफ़ कुछ-न-कुछ परिवर्तन नज़र आता है।

ऋग्वेद के समय से अब खेती की अधिक उन्नति हो रही थी, और आबपाशी ज़्यादा अच्छी होती थी। पूरब की ओर बढ़ने के कारण आर्यों में चावल का प्रयोग होने लगा था और बढ़ रहा था। जौ और तिल का प्रचार भी बढ़ रहा था। मांस खाना और सोम या सुरा पीना पहिले की तरह जारी थे पर शायद कुछ लोग अब इन पर आपत्ति करने लगे थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में इनको पाप बताया है। पहिले की अपेक्षा उद्योग-धन्धे बढ़ गये थे। यजुर्वेद के पुरुषमेध सूक्तों में किसान,

खान-पान

चरवाहे, गड़रिये, मछुए, रथवाले, नाई, धोबी, जुलाहे, लकड़िहारे, कुम्हार, लुहार, रँगरेज, द्वारपाल, दूत, रस्सी, टोकरी, रथ वग़ैरह बनानेवालों का उल्लेख है। उद्योग के साथ-साथ व्यापार भी बढ़ रहा था। बड़े-बड़े व्यापारी श्रेष्ठिन् कहलाते थे, जो शब्द, व्यापारी सङ्घ के मुखिया के अर्थ में, आगामी साहित्य में भी बहुत

उद्योग-धन्धा

मिलता है, और जिसका अपभ्रंश सेठ अब तक प्रचलित है। व्यापार की बढ़ती से सिक्कों का चलन भी हो गया था। 'निष्क' शब्द जिसका अर्थ पहिले ज़ेवर था अब सिक्के का द्योतक हो गया है। 'कृष्णाल' शब्द के प्रयोगों से भी सिक्के की वृद्धि का समर्थन होता है। पहिनावे में ऊन, रेशम और केशरी रंग के कपड़ों का इस्तेमाल बढ़ गया था। सवारी के लिये घोड़ों का इस्तेमाल बढ़ गया था, और हाथी भी बहुतायत से पाले जाते थे। वैद्यक की बहुत उन्नति हो गई थी; इस समय के साहित्य में बहुत से नये इलाजों का उल्लेख है।[1] पर यजुर्वेद में वैद्यों की वह प्रतिष्ठा नहीं है जो पहिले थी। यह शायद जातपाँत के बढ़ते हुए भेदों के कारण हुआ था।[2]

---

[1] ऋग्० १० । ९७ । ६ ॥ अथर्व० ४ । ९ । ३ ॥ ६ । २५ । ४ ॥ २ । १० । ६ ॥ ६ । २५ । १ ॥ ६ । १२७ । १ । ५ । २२ । १० ॥ [2] इस काल की

उधर विद्या में भी आर्य लोग आगे बढ़ रहे थे। लिखने की कला प्रारम्भ हो गई थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि लिपि हिन्दुस्तान में ई० पू० ८०० के लगभग मेसोपोटामिया से आई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यापार के कारण हिन्दुस्तान और पच्छिम-एशिया में बहुत सम्पर्क था; इधर-से-उधर विचार और कलाएँ आती-जाती होंगी। यह सम्पर्क एशिया के इन सब देशों की प्रगति का एक कारण था पर अभी तक इसका कोई सबूत नहीं मिला है कि हिन्दुस्तान ने मेसोपोटामिया से लिपि की नकल की। हिन्दुस्तान की लिपियों के पुराने अक्षर तो शरीर के अङ्गों के आकार से और वैदिक क्रियाकाण्ड की रचनाओं से ही निकल आते हैं, और यही उनके स्वाभाविक स्रोत मालूम होते हैं।[1] यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रारम्भ से ही भारतीय लिपि इतनी वैज्ञानिक रही है, जितनी संसार की और कोई लिपि नहीं है।

विद्या

लिपि

ज्योतिष् में भी इधर बहुत उन्नति हुई। सूरज और चन्द्रमा की गति की गणनाओं के अनुसार बरस का हिसाब ठीक रखने के लिये मलमास तो ऋग्वेद के समय में ही शुरू हो गया था।[2] पर नक्षत्रों की विद्या की वास्तविक उन्नति इसी काल में हुई। धार्मिक विचारों और तत्त्वज्ञान की प्रगति का उल्लेख आगे किया जायगा। यहाँ केवल यह बताना आवश्यक है कि साधारण मानसिक हलचल और लेखन-परिपाटी की सुविधाओं से चारों ओर विद्या की उन्नति हुई और प्रसार हुआ।

ज्योतिष्

सारी सभ्यता के लिये देखिये, कीथ, 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया,' १, पृ० १३५ इत्यादि और उसके निर्दिष्ट उल्लेख।

[1] गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, 'प्राचीन लिपिमाला' इत्यादि। इसके अलावा भारतीय लिपि के लिये देखिये बुह्लर, इण्डिश पैलियोग्राफ़ी, अँग्रेज़ी अनुवाद, इण्डियन एण्टिक्वैरी, १९०४, परिशिष्ट; बुह्लर 'ऑरिजिन ऑफ़ दि इण्डियन ब्राह्मी एल्फ़ाबेट', इण्डियन स्टडीज नं० ३, भाण्डारकर, 'जर्नल ऑफ़ दि डिपार्टमेण्ट आफ़ लेटर्स, कलकत्ता यूनीवर्सिटी, जिल्द १२; तारापुरवाला, 'प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि फ़ोर्थ ओरियण्टल कान्फ़रेंस,' जिल्द २। [2] ऋग्० १। १६४॥

जीवन का भाव इस काल में बहुत-कुछ ऋग्वेद का-सा ही था, पर थोड़ा-सा परिवर्तन हो रहा था। एक ओर तो बहुत-सा उल्लास दिखाई पड़ता है। अभी आवागमन का सिद्धान्त नहीं निकला था, अहिंसा की चर्चा बहुत कम थी। अथर्ववेद की प्रार्थनाएँ बहुधा आयु, सन्तान, धन और प्रभुता के लिये ही हैं। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर प्रार्थना है कि "अग्नि और सूर्य इस मनुष्य को लम्बी आयु दें। बृहस्पति इसे शान-शौकत दें। हे जातवेदस्! इसको लम्बी आयु दो। हे त्वष्टर्! इसको सन्तान दो, हे सवितर्! इसको बहुत-सा द्रव्य दो।...हे इन्द्र! अपने बल से यह मैदान जीते और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को नीचा दिखाये।"[१] एक दूसरा प्रार्थी कहता है कि "हे काम! मेरे प्रतिद्वन्द्वियों का नाश करो... हे अग्नि! उनके मकान भस्म कर दो...काम, इन्द्र, वरुण और विष्णु के बल से, सवितर की प्रेरणा से और अग्नि की पुरोहिती से मैं अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हराता हूँ...हे काम! प्रतिद्वन्द्वियों को मार डालो; अन्धे-अँधेरे में उन्हें गिरा दो। वह बेहोश हो जाँय, बेजान हो जाँय, एक दिन भी और ज़िन्दा न रहें......"।[२] एक जगह शरीर के अङ्गों के रूप और उपयोगिता की बड़ी प्रशंसा की गई है।[३] यजुर्वेद की लगभग सारी स्तुति और क्रिया इसी संसार के सुख के वास्ते हैं। इस काल में भी पहिले के-से आनन्द-विनोद थे। जुए के तो क़ायदे बन गये थे, जिनको तोड़ने से प्रायश्चित्त करना पड़ता था।[४] जुए का ऐसा नशा था कि कभी-कभी जुआरी अपना सत्यानाश कर बैठते थे और माँ-बाप, भाई, स्त्री आदि के अपमान के पात्र होते थे।[५]

जीवन का भाव

पर जीवन के उल्लास के विषय में इस काल में थोड़ा-सा परिवर्तन भी नज़र

---

[१] अथर्व० २। २६। १३॥ अथर्व० ८। १ भी देखिये। [२] अथर्व० ८। २। ४, ६, १०, १२॥ अथर्व० ८। ५। १७ भी देखिये। बल, शक्ति, रक्षा तथा देखने और सुनने की शक्ति की तरह-तरह की प्रार्थनाओं के लिये देखिये अथर्व० २। १७। १-७॥ १६। ७-८, १०, १२, १४-१६, २६, ३१-३२, ५८, ६७, ६९-७०॥ [३] अथर्व० १०।२॥ [४] अथर्व० ६। ११८॥ [५] ऋग्० १०। ३४॥

आता है। अब परलोक की ओर दृष्टि अधिक जाती है। विश्वास था कि मरने के बाद सब बाप-दादे एक ही मार्ग से एक ही यमलोक में निवास करने के लिये गये हैं। ऋग्वेद के १० वें मण्डल के एक मन्त्र में मरनेवाले से कहा है कि तुम वहीं जाओ जहाँ पूर्वज गये हैं, उसी मार्ग से जाना जिससे वह गये थे। उसी सुखमय स्वर्ग को जाओ, अपने पूर्वजों से भेंट करो।[1] अथर्ववेद में कहा है कि स्वर्ग में हम अपने सम्बन्धियों से मिलें, फिर उस लोक से न गिरें; वहाँ अपने माँ-बाप और लड़कों से मिलें; मरने पर अग्नि से पवित्र होकर लोग वहाँ जाते हैं; अच्छे काम करनेवाले आदमी देवताओं के पास जाते हैं और यम के साथ रहते हैं; सोम पीनेवाले गन्धर्वों के साथ आनन्द करते हैं।[2] स्वर्ग में घी, शहद, दूध, दही और सुरा की भरमार है।[3] स्वर्ग से उल्टा है नरक जो नीचे है, जहाँ टोना करनेवाली जाती हैं और दूसरे पापी भी जाते हैं। पापी लोग वहाँ लोहू में बैठे हुये बाल चबाते हैं।[4] संसार और स्वर्ग-नरक की अधिक चिन्ता करने से स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन सब का तात्पर्य क्या है? यह विश्व क्या है और कहाँ से आया? एक ऋषि पूछता है कि कौन जानता है, कौन बता सकता है कि यह सारा विश्व कहाँ से पैदा हुआ? देवता तो विश्व की उत्पत्ति के बाद पैदा हुए, यह विश्व कैसे अस्तित्व में आया?[5] इससे गम्भीर समस्या और कोई नहीं हो सकती। इस पर मनन करते-करते विश्व के आदिकारण की कल्पना हुई। तत्त्वज्ञान के जो विचार उत्पन्न हुए उनका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ केवल एक विचार का उल्लेख करना आवश्यक है। विश्वचक्र में संसार क्षणभङ्गुर मालूम होता है; अतएव इसमें स्थायी सुख नहीं हो सकता; दुःख तो बहुत-सा

परिवर्तन

परलोक

स्वर्ग

विश्व की समस्या

---

[1] ऋग्० १० । १४ । ७-८ ॥ अथर्व० १८ । २ । ४ ॥ भी देखिये।
[2] अथर्व० ६ । १२० । २-३ ॥ मरने के बाद स्त्री और पुत्रों से मिलने की आकांक्षा के लिये अथर्व० १२ । ३ । १७ ॥ भी देखिये। [3] अथर्व० ४ । ३४ । २-६ ॥
[4] अथर्व० ५ । १९ । ३ ॥ २ । १४ । ३ ॥ [5] ऋग्० १० । १२९ । ६-७ ॥

है; इस सारे जञ्जाल को छोड़कर शान्ति पाने की चेष्टा करनी चाहिये, यह भावनाएँ कुछ लोगों के मन में पैदा हुईं। शान्ति पाने के प्रयोजन से उन्होंने संसार के नश्वर सुखों को लात मारकर तप करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार तप की परिपाटी चली, जो हिन्दुओं में आज तक प्रचलित रही है और जो समय-समय पर हिन्दू-सभ्यता के साथ और देशों में भी फैली।

शान्ति

ऋग्वेद के ९ मण्डलों में कहीं तप का नाम नहीं है पर १०वें मण्डल के काल में इसका उल्लेख बार-बार मिलता है। एक जगह सात ऋषियों का ज़िक्र है जो तपस्या करने बैठे हैं।[1] अन्यत्र कहा है कि गेरुए वस्त्र पहिनकर मुनि हवा में उड़ते हैं।[2] अब तप की महिमा बढ़ती ही जाती थी। तपस्या में ऐसा स्वार्थत्याग है, वासनाओं का ऐसा दमन है, चिन्ता का ऐसा अभाव है और उससे कुछ ऐसे मानसिक परिवर्तन हो जाते हैं, तथा तपस्वी लोग साधारण जनों से आत्मबल में इतने ऊँचे मालूम होते हैं कि तप का माहात्म्य बढ़ता ही जाता है। ऋग्वेद का १०वाँ मण्डल और अथर्ववेद दोनों ही कहते हैं कि ऋत तप से उत्पन्न हुआ है, सत्य तप से उत्पन्न हुआ है।[3] परलोक में जीव की क्या दशा होगी?—यह बहुत-कुछ तप पर निर्भर है।[4] तप से मुनियों को अलौकिक शक्तियाँ हो जाती हैं।[5] विद्यार्थी तप करते हैं; मनुष्य क्या, स्वयं देवता तप करते हैं।[6] ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है कि ऋषियों ने सोम पीने का अधिकार तप के द्वारा प्राप्त किया था।[7] तप और यज्ञ के द्वारा देवताओं ने स्वर्ग जीता था।[8] और तो और, स्वयं प्रजापति ने सृष्टि पैदा करने के लिए तप किया था।[9] अथर्ववेद में कहा है कि तप, यज्ञ, ऋत और ब्रह्म आदि के आधार पर ही यह विश्व स्थिर है।[10]

तप

तप की यह गगनभेदी प्रशंसा इस बात का चिह्न है कि आर्यों के दृष्टिकोण में

---

[1] ऋग्० १०। १०९। ३॥ [2] ऋग्० १०। १३६। १४॥ [3] ऋग्० १०। १९१। १॥ अथर्व० १७। ७॥ [4] ऋग्० १०। १५४। २॥ तप की महिमा के लिए अथर्व० १७। १॥ भी देखिये। [5] अथर्व० ७। ७४। १॥ [6] अथर्व० ११। ५। ६, १९॥ [7] ऐत० ब्रा० ३। ३०॥ [8] ऐत० ब्रा० २। १३॥ [9] ऐत० ब्रा० २। ३३॥ [10] अथर्व० १२। १। १॥

परिवर्तन के कारण

कुछ परिवर्तन हो रहा था। जो लोग पहिले इस जीवन के सुखों को सब-कुछ मानते थे वह अब उनसे ज़रा उदासीन क्यों हो रहे थे? वह तप की चिन्ता क्यों कर रहे थे?—ऐतिहासिक सामग्री की कमी के कारण यह प्रश्न भी और बहुतेरे प्रश्नों की तरह उलझा ही रह जाता है। पर दो-एक अनुमान किये जा सकते हैं। अब शायद हिन्दुस्तान की आबहवा और कृषि इत्यादि आर्यों के मन पर वह प्रभाव डाल रहे थे जिसका वर्णन इस पुस्तक के प्रारम्भ में किया है। गरमी में और प्रकृति की पराधीनता में आशावाद कम हो रहा था, उल्लास घट रहा था, परलोक की ओर दृष्टि अधिक जा रही थी और तपस्या सूझने लगी थी। शायद अनार्यों के सहवास से और उनकी सभ्यता के प्रभाव से भी चित्त की प्रसन्नता कुछ कम हो रही थी। बहुत से लोगों का जीवन वास्तव में दुखमय था और वह परलोक के कल्पित सुख से संसार की कमी पूरी कर रहे थे। पर भविष्य के अलौकिक सुख का मार्ग बहुत आसान न था, त्याग और तप से ही वहाँ तक पहुँच हो सकती थी। ऐसी विचार-परम्परा संसार के अनेक युगों में बहुत से वर्गों में देखी गई है। प्राचीन भारत में भी शायद इसी तरह का मानसिक परिवर्तन हो रहा था। जो कोई परलोक की अधिक चिन्ता करेगा, उसकी नज़रों में यह संसार तुच्छ मालूम होने लगेगा। प्राचीन हिन्दुओं में तर्क की मात्रा बहुत थी; प्रत्येक विचार को वह तर्क के अन्त तक पहुँचा देते थे और उस पर बहुत-कुछ व्यवहार भी करते थे। अस्तु, परलोक की चिन्ता ने उनको आसानी से तपस्या में पटक दिया।

वर्णव्यवस्था

दृष्टिकोण का यह परिवर्तन जो धीरे-धीरे हो रहा था, आर्यों के सारे साहित्य और सामाजिक सङ्गठन पर असर डाल रहा था। इससे पुरोहितों अर्थात् ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ रहा था और सङ्गठन के नये सिद्धान्त और व्यवहार निकालने का द्वार उनके लिये खुल रहा था। कह चुके हैं कि ऋग्वेद के पहिले ६ मण्डलों के समय में वर्णव्यवस्था बन चुकी थी। वर्णव्यवस्था कोई अनोखी चीज़ नहीं है, अच्छी हो या बुरी हो, वह सब देशों और सब युगों में पाई जाती है। पर उत्तरवैदिक-काल में जो चातुर्वर्ण्य बना अर्थात् जात-पाँत की जो व्यवस्था दृष्टिगोचर हुई, वह एक विचित्र संस्था है और किसी देश में वह नहीं पाई जाती। प्राचीन ईरानी, मीड,

मिस्र, कोल्चियन, आइबीरियन और एट्रूरियन जातियों में और दूरवर्ती अमरीका के पेरू और मेक्सिको देशों के पुराने निवासियों में हिन्दुओं का-सा सामाजिक सङ्गठन अवश्य था पर वर्णव्यवस्था के सब लक्षण उनमें भी नहीं मिलते। उत्तर वैदिककाल के बाद आगामी युगों में उसमें कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुए, थोड़ी-बहुत तो वह इस समय तक बदलती रही है, पर उसके मूल सिद्धान्त और मुख्य लक्षण गत तीन हजार बरस से एक से ही रहे हैं। हिन्दू राजनीति, सेना, आर्थिक अवस्था, साहित्य इत्यादि सब पर इनका ऐसा गहरा असर पड़ा है कि इनकी विशेष विवेचना की आवश्यकता है। हमें यह पता लगाना है कि इसका विकास कैसे हुआ और किन कारणों से हुआ ?

सिन्ध और जमुना के बीच के प्रदेश में आर्यों और अनार्यों का संग्राम ऋग्वेद के ९ मण्डलों के समय में ही लगभग समाप्त हो गया। पर पूरब की ओर आगे बढ़ने पर फिर संग्राम प्रारम्भ हुआ। दसवें मण्डल में भी आर्य और अनार्य युद्ध की झङ्कार पहिले की-सी गूँज रही है। एक ऋषि कहता है कि "हम चारों ओर दस्युओं से घिरे हुए हैं। वह यज्ञ नहीं करते, किसी बात में विश्वास नहीं करते, उनके व्रत और हैं, वह मनुष्य नहीं हैं; हे शत्रुनाशक ! उन्हें मार डालो। दास-जाति को नाश कर दो।"[1] अन्यत्र स्वयं इन्द्र कहता है कि "मैंने दस्युओं को आर्य नाम से वञ्चित कर दिया है...मैंने दासों के दो टुकड़े कर दिये हैं, इसी के लिये वह पैदा हुए थे"।[2] इसका अभिप्राय यह है कि अनार्य कभी आर्य नहीं हो सकते थे। तथापि पराधीनता में वह आर्यों के साथ रहने लगे। अब वह सब शूद्र कहलाने लगे जो शायद किसी बड़ी अनार्य जाति का नाम था। शूद्रों ने आर्य सभ्यता को बहुत-कुछ अङ्गीकार कर लिया, पर रङ्ग और पराजय के कारण वह आर्यों के सामाजिक जीवन से

शूद्र

अलग ही रहे। तथापि कुछ सम्मिश्रण अवश्यम्भावी था। साथ रहनेवालों में यह किसी-न-किसी तरह हो ही जाता है। इसके अलावा यह भी जान पड़ता है कि कुछ शूद्र बहुत धनी थे।[3] जिसके

---

[1]ऋग्० १० । १२ । ८ ॥ [2]ऋग्० १० । ४१ । ३, ६७ ॥ [3]मैत्रा० सं० ४ । २ । ७ । १० ॥ पञ्च०ब्रा० ६ । ७ । ११ ॥

पास धन है वह जाति में नीचा होने पर भी कुछ-न-कुछ आदर पाता ही है। जैसे-जैसे समय बीता शूद्र भी समाज के अङ्ग—यद्यपि नीचे दर्जे के अङ्ग—माने गये। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के पुरुषसूक्त में शूद्रों की उत्पत्ति पुरुष के अङ्ग से मानी गई है।[१] वाजसनेयिसंहिता में आर्यों के साथ शूद्रों के लिये भी प्रार्थना की गई है और अमीर शूद्रों का भी उल्लेख किया गया है।[२] तैत्तिरीयसंहिता और काठकसंहिता से भी प्रगट होता है कि शूद्रों की गणना भी समाज के अङ्गों में होती थी।[३] अथर्ववेद में एक बनस्पति के प्रभाव के बारे में कवि कहता है कि "अब मैं हर एक को देख सकता हूं—आर्य को और शूद्र को भी"।[४] एक प्रार्थना है कि "मुझे...ब्राह्मण और क्षत्रिय, आर्य और शूद्र...दोनों का प्यारा बनाओ"।[५] अन्यत्र प्रार्थना है कि "मुझे देवताओं का प्यारा बनाओ, राजाओं का प्यारा बनाओ।"[६] अनार्यों की सामाजिक स्वीकृति हो गई, इससे सम्मिश्रण अवश्य ही बढ़ गया। पर यह न समझना चाहिये कि इस सम्मिश्रण को आर्य जाति के अगुआ अच्छा समझते थे। अपने रुधिर, चरित्र, मस्तिष्क और सभ्यता की पवित्रता के विचार से वह सम्मिश्रण को बुरा ही समझते रहे।

सम्मिश्रण

सम्मिश्रण की बढ़ती हुई सुगमता को देखकर उन्होंने उसके विरुद्ध नियम और भी कड़े कर दिये। वर्णव्यवस्था की नींव और मजबूत होने लगी। आगामी सूत्रों में तो इस कड़े नियम पर बहुत जोर दिया है कि कोई आर्य कन्या किसी हालत में किसी शूद्र से ब्याह नहीं कर सकती।[७] शायद संहिताओं के समय में भी ऐसी ही व्यवस्था होगी। आर्य पुरुषों के लिये शूद्र कन्या ब्याहने को एकदम मनाही नहीं है, पर न तो उत्तर-वैदिक-काल में और न आगे ही ऐसे सम्बन्ध अच्छे समझे जाते थे। आर्यों और अनार्यों के बीच में न तो ब्याह ही लोकमत को ग्राह्य था और न अनुचित सम्बन्ध ही

---

[१]ऋग्० १० । ९० । १२ ॥ पुरुषसूक्त के लिये आगे भी देखिये। [२]वाजस० सं० २४ । ३० । ३१ ॥ देखिये, कीथ, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया', १, पृ० १२८. २९। [३]तैत्ति० सं० ७ । ४ । १९ । '३ ४ का० सं०, अश्वमेध, ४ । १७ ॥ [४]अथर्व० ४ । २० । ४ ॥ [५]अथर्व० १९, ३२ । ८ ॥ [६]अथर्व० १९ । ६२ ॥ १ ॥ [७]आगे पाँचवाँ अध्याय देखिये।

पञ्चविंशब्राह्मण में वत्स पर यह दोष लगाया है कि वह शूद्र स्त्री का लड़का है।[1] ऐतरेयब्राह्मण और कौषीतकिब्राह्मण में कवष ऐलूस को दासी का पुत्र होने का ताना दिया है।[2] इस प्रकार जहाँ तक ब्याह का सम्बन्ध था, आर्य और शूद्रों की अलग जातियाँ बन गईं। यों तो निषिद्ध सम्बन्ध कभी-कभी होते ही थे पर उनसे पैदा होने वाली सन्तान थोड़ी बहुत नीच मानी जाती थी। अगर ऐसी सन्तान बढ़ते-बढ़ते संख्या में ज्यादा हो गई तो उसकी एक नई जाति बन जाती थी। आगामी धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों में वर्णसङ्कर के अनुसार ही उपजातियों की उत्पति बताई है। उनके कथनों में बहुत-सी असम्भव और निरर्थक बातें हैं, जैसा कि आगे दिखाया जायगा, पर उनमें ऐतिहासिक सत्य का इतना अंश अवश्य मालूम होता है कि सम्मिश्रित समुदाय कभी-कभी अलग अपनी एक छोटी-सी जाति बना लेते थे।

यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह सारा पार्थक्य क्यों हुआ? आर्यों ने अनार्यों को बिल्कुल अपने में मिला क्यों नहीं लिया? और देशों में भी भिन्न-भिन्न जातियों के सम्पर्क हुए, जय-पराजय हुई, पर अन्त में सबका रुधिर मिलकर एक हो गया, समाज के टुकड़े-टुकड़े नहीं हुए। इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, इटली, ग्रीस, इत्यादि बहुत-से देशों में सङ्घर्षण के बाद पूरा सम्मिश्रण हुआ। हिन्दू समाज का इतिहास ही निराले मार्ग पर क्यों चला? एक कारण तो यह था कि यहाँ पर सम्पर्क वाली जातियों में जितना रङ्ग का भेद था उतना और देशों की जातियों में न था। इङ्गलैण्ड, फ्रान्स इत्यादि देशों में आने-वाली जातियाँ आदिम-निवासियों के ही रङ्ग की थीं। वर्तमान समय में जहाँ भिन्न-भिन्न रङ्ग की जातियों का सम्पर्क हुआ है, वहाँ या तो अधूरा सम्मिश्रण हुआ है, जैसे मध्य-अमरीका और दक्षिण-अमरीका में या अनुचित सम्बन्धों से सम्मिश्रण हुआ है और उनको रोकने की पुरी कोशिश की गई है,

पार्थक्य के कारण

रङ्ग

---

[1] पञ्च० ब्रा० १४। ६। ६॥ [2] ऐत० ब्रा० २। १६। १॥ कौषी० ब्रा० १२। ३॥

जैसे दक्षिण-अफ्रीका में या अफ्रीका के और हिस्सों में और अमरीकन संयुक्तराज्य की दक्खिनी रियासतों में। स्वयं हिन्दू आर्यों ने रङ्ग अर्थात् वर्ण के इस महत्त्व को समझ लिया था और नये सामाजिक सङ्गठन को वर्ण-व्यवस्था का नाम दिया था। दूसरा कारण यह मालूम होता है कि आर्यों की संख्या अनार्यों से कम थी और इसलिये उन्हें डर था कि सम्मिश्रण में हमारी सभ्यता लोप न हो जाय। संसार में बहुत से लोगों का विश्वास रहा है, और आजकल भी कुछ लोगों का विश्वास है कि ऊँची श्रेणी की सभ्यता का अस्तित्व ऊँचे मस्तिष्क और चरित्र पर ही निर्भर है, ऊँचा मस्तिष्क और चरित्र कर्म से नहीं किन्तु जन्म से मिलता है, नीची सभ्यता वालों का खून आया नहीं कि सब कुछ गिर जायगा, अतएव ऊँची सभ्यता वालों को आपस में ही ब्याह करना चाहिये। यहाँ पर हमें इस विश्वास की सहायता या असत्यता से कई प्रयोजन नहीं हैं, पर इतिहास के लिये इस विश्वास का अस्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था हिन्दू आर्य गुणों को कुछ ऐसा जन्मसिद्ध मानते थे कि ब्याह की सीमाएँ बाँधने में उन्होंने अपना कल्याण समझा। पर इससे उनकी एक निर्बलता का भी अनुमान होता है। संख्या की कमी के कारण या और किसी कारण आर्यों में यह आत्मविश्वास नहीं था कि सम्मिश्रण होने पर भी हमारी सभ्यता की जय होगी। हिन्दू सभ्यता में दूसरों पर प्रभाव डालने की आश्चर्यजनक शक्ति थी; हिन्दुस्तान में उसने धीरे-धीरे सब आदिम निवासियों को बस में कर लिया और बाहर चारों ओर के देशों पर अपनी छाप लगा दी, भूमध्य सागर से लेकर जापान तक, और साइबीरिया से लेकर जावा-सुमात्रा तक, कोई देश नहीं है जिस पर हिन्दू धर्म या साहित्य या कला का प्रभाव न पड़ा हो। पर दूसरे समुदायों को बिल्कुल हज्म कर जाने की, अपना रुधिर मिलाकर उनको अपना-सा ही बना लेने की और इस तरह भिन्न-भिन्न तत्त्वों को मिला कर सामाजिक एकता पैदा करने की शक्ति हिन्दू सभ्यता में जरा कम थी। भविष्य में जो-कोई समुदाय हिन्दू सभ्यता के दायरे में आया उसकी एक नई उपजाति बन गई। जिस सामाजिक पार्थक्य की

संख्या की कमी

जन्म में विश्वास

एक निर्बलता

तर्कशीलता

विवेचना कर रहे हैं, उसका एक और मानसिक कारण भी था। प्राचीन हिन्दू बड़े तर्कशील थे, तर्क करते-करते प्रत्येक सिद्धान्त को हद तक पहुँचा देते थे। हिन्दू-धर्म में, तत्त्व-ज्ञान में, जैसा तीक्ष्ण तर्क है वैसा संसार में कहीं नहीं मिलता। जैसा कि हम आगे दिखायेंगे, सांख्य या वेदान्तदर्शन में या जैन-मत के कर्म-सिद्धान्त में तर्क की ऐसी पराकाष्ठा है कि असाधारण मस्तिष्क को भी उन तत्वज्ञानियों के साथ चलने में कठिनाई होती है। इस तर्कशीलता का प्रभाव स्वभावतः सामाजिक विचारों पर भी दृष्टिगोचर है। सामाजिक जीवन के जो सिद्धान्त निकले उनको पुराने हिन्दुओं ने धीरे-धीरे हद तक पहुँचा दिया। वर्ग-व्यवस्था यहाँ भी और देशों की तरह पैदा हुई थी। यह तो स्पष्ट ही है कि वर्ग का भी आधार किसी न किसी दर्जे का सामाजिक पार्थक्य है। पर जहाँ और देश वर्ग-व्यवस्था से ही सन्तुष्ट हो गये वहाँ हिन्दुओं ने सामाजिक पार्थक्य के सिद्धान्त की हद करके वर्ग-व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था में परिणत कर दिया।

अनार्यों में भेद

इस प्रकार आर्यों की ओर से कई कारण थे जिन्होंने उनको अनार्यों से प्रथक् रक्खा, पर क्या अनार्यों की ओर से भी ऐसे कोई कारण नहीं थे? सम्भव है कि उनमें भी कुछ समुदाय रहे हों जो आर्यों से या दूसरे अनार्यों से मिल कर अपने रुधिर को अपवित्र न करना चाहते हों। सम्भव है कि किसी तरह उनका वर्ग पार्थक्य भी और दृढ़ हो रहा हो। भौगोलिक कारणों से तो वह अवश्य ही भिन्न-भिन्न जातियों में विभक्त रहे होंगे। वह सारे हिन्दुस्तान में फैले हुए थे, एक प्रदेश के अनार्य दूरवर्ती प्रदेशों के अनार्यों से अवश्य ही प्रथक् रहे होंगे। इस तरह अनार्यों में पहिले से ही बहुत भेद थे; अर्थात् बहुत सी जातियाँ थीं। आर्थिक कारणों से अन्य भेद अवश्य ही उत्पन्न हुए होंगे। शूद्र लोग स्वभावतः बहुत से उद्योग करते थे—पशु-पालन, खेती, तरह-तरह की दस्तकारी इत्यादि, प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येक व्यवसाय के अनुयायियों के लिये पृथक्-पृथक् वर्ग बनाना स्वाभाविक था। हिन्दू समाज के सम्बन्ध में सदा यह याद रखना चाहिये कि चातुर्वर्ण्य कोरा सिद्धान्त ही था; वास्तव में प्रारम्भ से ही बहुत से वर्ग थे और

जब वर्ण-व्यवस्था शुरू हुई तब एकसाथ ही चार नहीं किन्तु बहुत अधिक जातियाँ बनीं।

हिन्दू समाज में शूद्रों और ऊँची जातियों का बड़ा भारी भेद कभी-कभी सुधारकों के प्रभाव से और परिवर्तनशील आर्थिक अवस्था से कम जरूर हो गया और दूसरे नये वर्गों के आने से उसमें कुछ उलटफेर भी हुआ, पर वह कभी मिटा नहीं। उत्तर-वैदिककाल में और उसके बाद के युग में वह भेद सबसे गहरा भेद था। मुख्यतः समाज दो भागों में विभक्त था—एक तो शूद्र और दूसरे अन्य लोग जो अब कुछ धार्मिक संस्कारों के बल पर अपने को द्विज कहने लगे। पर स्वयं इन द्विजों में भेद बढ़ने लगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग तो ऋग्वेद के पहिले नौ मण्डलों में ही मौजूद थे। उत्तर-वैदिककाल में यह वर्ग भी वर्ण हो गए और प्रत्येक वर्ण के भीतर उपजातियाँ बनने लगीं। यहाँ रङ्ग का भेद नहीं था और इसलिये पार्थक्य उतना कड़ा नहीं हुआ, पर इस परिवर्तन के मुख्य कारण वही थे जिनकी मीमांसा ऊपर कर चुके हैं। जन्मसिद्ध गुणों में विश्वास, वर्गीय अभिमान, तर्कशीलता, भौगोलिक विस्तार, उद्योग भेद—इन कारणों से द्विज लोग भी नाम के लिये तीन वर्णों में और वास्तव में बहुत-सी जातियों में विभक्त होने लगे।

द्विज

उत्तर-वैदिककाल में ब्राह्मणों का पद और प्रभाव बहुत बढ़ गया था। जिस-किसी देश या युग में धार्मिकता अधिक होती है उसमें पुरोहितों का दौर-दौरा होता है। ज्यों-ज्यों आर्यों की दृष्टि परलोक की ओर अधिक जाने लगी और यज्ञविधान बढ़ने लगा त्यों-त्यों ब्रह्मणों का महत्त्व बढ़ा और उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ी। ब्राह्मणों को विद्या का बल था। ऐतरेयब्राह्मण कहता है कि विद्या बड़ा पुण्य है, जिसके पास विद्या है वह इस लोक और परलोक दोनों में सुख पाता है।[1] सारे इतिहास में मस्तिष्क का बल एक प्रधान सामाजिक शक्ति

ब्राह्मण

---

[1] ऐत०ब्रा० ३। २३॥

रहा है। पढ़ने-लिखने, उपदेश और यज्ञ में लगे रहने से ब्राह्मण समाज के सिरताज हो गये थे। पञ्चविंशब्राह्मण के एक वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण स्वयं ही ऐसी पवित्र वस्तु है कि उसके विषय में बहुत पूछताछ न करनी चाहिये।[1] निस्सन्देह मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में लिखा है कि जन्म नहीं किन्तु विद्या ही ऋषिपने की सच्ची कसौटी है।[2] पर व्यवहार में ब्राह्मण ही सबसे अधिक विद्या प्राप्त करते थे। इस समय के लगभग बहुत से ब्राह्मण दूसरों को शिक्षा देने के लिये देश भर में घूमा करते थे, वादविवाद किया करते थे और राजाओं से द्रव्य तथा सम्मान पाया करते थे।[3] प्राचीन संसार की सब जातियों में कानून भी धर्म का एक भाग था। आजकल कानून जानने वालों का जो प्रभाव है, वह उन दिनों बहुत करके पुरोहितों की बपौती था। विद्या और धर्म के बड़प्पन ने ब्राह्मणों को समाज में इतना ऊँचा स्थान दिया कि वह दूसरों को नीचा समझने लगे, उनके वर्ग में पार्थक्य की मात्रा बढ़ने लगी। अभी हिन्दू समाज में खाने-पीने के मामले में कोई रोकटोक नहीं शुरू हुई थी, पर अब ब्राह्मण दूसरों को अपनी बेटी देना पसन्द नहीं करते थे। धर्मसूत्रों से प्रगट है कि ब्राह्मण अन्य वर्णों की कन्याओं से ब्याह कर सकते थे। उदाहरणार्थ, ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजा शर्यात की बेटी सुकन्या से ब्याह किया था। इस तरह के थोड़े बहुत सम्बन्ध प्राचीन भारत के इतिहास में बराबर होते रहे, पर इनकी संख्या घटती गई। धर्मसूत्रों में विधान है कि ब्राह्मण पहिले एक सजातीय कन्या से ब्याह करने के बाद क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य, उसके बाद शूद्र कन्या से ब्याह कर सकता है। अगर संहिताओं के समय में भी ऐसा नियम था तो अमीर ब्राह्मण ही इससे लाभ उठा सकते थे। गरीब आदमी कभी एक से अधिक ब्याह नहीं कर सकता। जैसा कह चुके हैं, स्त्री-पुरुषों की संख्या की प्राकृतिक समता भी बहुविवाह के चलन को रोकती है जो

---

[1] प० ब्रा० ६।५।८॥ [2] मैत्रा० सं० ४।८।१॥ तैत्ति० सं० ६।६।१।४॥ का० सं० ३०।१॥ [3] मैकडानेल और कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स', २, पृ० ८५-८७

अमीर ब्राह्मण बहुविवाह करते होंगे, वह भी ज्यादातर अपने ही वर्ण की कन्याएँ खोजते होंगे, दूसरे वर्णों से ब्याह करने वाले ब्राह्मणों की संख्या बहुत नहीं हो सकती थी। यह भी सम्भव न था कि एक ब्याह करने वाले ब्राह्मण ही क्षत्रिय वैश्य या शूद्र कन्या का पाणिग्रहण करें, अगर ऐसा अकसर होता तो बहुत सी ब्राह्मण कन्याएँ कुआँरी रह जातीं, क्योंकि वह तो और वर्णों में ब्याह नहीं कर सकती थीं। इन सब प्रवृत्तियों ने जन्मसिद्धान्त और तर्कशीलता आदि और कारणों से मिलकर यह परिणाम उत्पन्न किया कि कभी-कभी ब्राह्मण और वर्णों की कन्याओं से तो ब्याह कर लेते थे पर बाकी सब ब्याह-सम्बन्ध धीरे-धीरे बन्द हो गया। इधर स्वयं ब्राह्मणवर्ण में भौगोलिक कारणों से बहुत से भाग हो गये, प्रत्येक विभाग स्वभावत: ब्याह-सम्बन्ध बहुधा आपस में ही करता था, धीरे-धीरे यह व्यवहार भी एक नियम-सा हो गया, ब्राह्मणों की अनेक जातियाँ हो गईं। आज भी ब्राह्मणों की बहुत सी उपजातियाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन भारत में विद्या और धर्म की इतनी प्रतिष्ठा थी कि ब्राह्मणों का पद सब से ऊँचा रहा। पदवी में दूसरा नम्बर क्षत्रियों का था। क्षत्रिय-वर्ग उन्हीं कारणों से क्षत्रिय वर्ण हो गया जिनका उल्लेख ब्राह्मणों के विषय में कर चुके हैं। क्षत्रियों के पास सैन्यबल था, राजनैतिक प्रभुता थी, विद्याव्यसन भी था, उनका पद ब्राह्मणों से कुछ ही कम था। हिन्दू-साहित्य में बार-बार यह कथन आता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल कर संसार का भार उठाते हैं। राजनैतिक प्रभुता के कारण क्षत्रियों को अपने पद का और भी अधिक गर्व था। उन्होंने भी अनुलोम ब्याह-की परिपाटी स्वीकार की, अर्थात् अपनी कन्या नीचे वर्ण वालों को न देते थे; क्षत्रिय सरदारों और राजाओं में बहुविवाह की प्रथा औरों से अधिक थी; इसलिये वह नीचे वर्णों से लड़कियाँ भी ज्यादा लेते थे, पर यहाँ भी अपने ही वर्ण में ब्याह करने की टेव धीरे-धीरे बढ़ती गई। भौगोलिक कारणों ने क्षत्रियों में भी उपजातियाँ बना दीं। शायद एक ही प्रदेश के क्षत्रियों में भी भेद थे। वैदिक साहित्य में कभी-कभी क्षत्रिय या राजन्य शब्द का ऐसा प्रयोग किया है कि

क्षत्रिय

मानो राजवंशों के लोग ही इस नाम से पुकारे जाते हों।[1] सम्भव है कि इन ऊँचे वंशों का एक वर्ग रहा हो और पहिले वही क्षत्रिय नाम से पुकारा जाता हो। आगे चलकर क्षत्रिय शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है पर तब भी शायद भिन्न-भिन्न वर्ग रहे हों।

बाकी आर्य जो विश् वर्ग के थे अब विश्य या साधारणतः वैश्य कहलाने लगे।[2] इनका अलग वर्ण बन गया और भौगोलिक कारणों से अनेक उपजातियाँ भी बन गईं। उपजातियों की प्रवृत्ति यहाँ औरों से भी ज्यादा थी, क्योंकि वैश्य लोग बहुत से व्यवसाय करते थे। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीयब्राह्मण में रथकारों की एक अलग जाति बन गई।[3]

वैश्य

चातुर्वर्ण्य की इस कल्पना के क्षेत्र में सब आर्य और अधिकांश अनार्य एवं सम्मिश्रित वर्ग आ गये। पर कुछ अनार्य जातियाँ इतनी नीची थीं या कम से कम इतनी नीची मानी जाती थीं कि वह इस कल्पना के बाहर ही रह गईं। शायद कुछ ऐसे अनार्य समुदाय थे जो दूसरे अनार्यों की पराधीनता में रहते थे और जो आर्य विजय के बाद पराजितों के पराधीन अर्थात् बहुत ही नीचे मालूम होते थे। कुछ भी हो, चण्डाल, पौल्कस आदि वर्ग-व्यवस्था के बाहर थे। गुलाम व्यवस्था के भीतर थे या बाहर यह नहीं कहा जा सकता। अब भी वह मालिक की सम्पत्ति समझे जाते थे और जिसे चाहे दान में दिये जा सकते थे। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में उल्लेख है कि यदु और तुर्व ने बहुत से पशुओं के साथ दो दास...दिये।[4]

व्यवस्था के बाहर

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्वयं वैदिक साहित्य में वर्ण-व्यवस्था

---

[1] मैकडानेल और कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स', १, पृ० २०३। [2] 'विश्य' शब्द वाजस० सं० १८। ४८॥ और अथर्व० ६। १३। १ इत्यादि में आया है। 'वैश्य' शब्द सबसे पहिले 'पुरुषसूक्त' अर्थात् ऋग्० १०। ९० में आया है। [3] कीथ, 'केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया १, पृ० १२६-२९॥ [4] ऋग्० १०। ६२। १०॥

की उत्पत्ति ईश्वर से मानी है। ऋग्वेद में कहा है कि सृष्टि के बिलकुल प्रारम्भ में पुरुष प्रगट हुआ। उसके सौ सिर थे, सौ आँखें थीं और सौ पैर थे। चारों ओर उसने पृथ्वी को ढक लिया और उसके बाहर भी दस अङ्गुल फैल गया। जो कुछ रहा है और जो कुछ होने को है वह सब पुरुष ही है......उसके चौथाई में सब प्राणी हैं, तीन-चौथाई में स्वर्ग का अमर जीवन है। सारी प्रकृति पुरुष से ही पैदा हुई है। ......जब पुरुष के भाग किये तब कितने भाग हो गये? उसके मुँह को और बाहों को क्या कहते हैं? उसकी जाँघों और पैरों को क्या कहते हैं? ब्राह्मण उसका मुँह था, उसकी दोनों बाहों से राजन्य बना था। उसकी जाँघें वैश्य बन गईं और उसके पैरों से शूद्र पैदा हुआ।[1] यह कल्पना आगे के सारे साहित्य में पाई जाती है। इस प्रकार ईश्वरीय बन जाने से व्यवस्था और भी अधिक मान्य हो गई।

पुरुषसूक्त

संहिताओं और ब्राह्मणों में जातियों के परस्पर सम्बन्धों के बारे में जो विचार हैं वह क्षत्रियों को प्रधान और वैश्यों को और खास कर शूद्रों को बहुत परतन्त्र मानते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में, जान पड़ता है क्षत्रिय की दृष्टि से, ब्राह्मण को कहा है—आदायी अर्थात् दान लेनेवाला आपायी अर्थात् सोम पीने वाला, आवसायी अर्थात् भोजन ढूँढ़ने वाला, पर उसे यथाकामप्राप्य भी कहा है, जिससे मालूम होता है कि राजा जब चाहे उसे हटा सकता था। वैश्य को कहा है अन्यस्यबलिकृत् अर्थात् दूसरों को कर देनेवाला; अन्यस्याद्य अथात् दूसरे से भोग किया जाने वाला और यथाकामज्येय अर्थात् जैसे चाहे वैसे रक्खा जाने वाला। शूद्र को कहा है अन्यस्यप्रेष्य अर्थात् दूसरे का नौकर, कामोत्त्थाप्य अर्थात् जब चाहे निकाल दिया जाने वाला; यथाकामवध्य अर्थात् जब चाहे मार दिया जाने वाला।[2] नहीं कहा जा सकता कि यह कल्पना कहाँ तक व्यवहार के आधार

जातियों के परस्पर सम्बन्ध

---

[1] देखिये ऋग्० १० । ९० । १-३, ११-१२ ॥ वाजस० सँ० ३१ । ११ । अथर्व १९ । ६ । तैत्ति० आ० ३ । १२ । ५ ॥ [2] ऐत० ब्रा० ७ । ३९ ॥

पर थी। काठकसंहिता और मैत्रायणीसंहिता में कोई शूद्र अग्निहोत्र के लिये गाय को दुहने का अधिकारी नहीं है।[1]

जैसे जैसे जाति के बन्धन कड़े होते गये वैसे-वैसे स्त्रियों का पद गिरता गया। अगर जवान स्त्री-पुरुष स्वतन्त्रता से मिलें तो आपस में प्रेम और ब्याह किसी तरह रुक नहीं सकते। प्रेम अवसर पाते ही जातपाँत को उल्लङ्घन कर जाता है। अगर प्रेम और ब्याह की सीमा बाँध दी जाय तो उसी परिमाण से स्त्रियों की स्वतन्त्रता भी बाँधनी पड़ेगी। इस तरह वर्ण-व्यवस्था के कारण और खास कर अनार्यों की उपस्थिति के कारण स्त्रियों का पुरुषों से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलना कम होने लगा। अभी पर्दा नहीं शुरू हुआ है पर स्त्रियाँ पुरुषों की गोष्ठियों से कुछ अलग रहने लगी हैं। इस पार्थक्य से उनका ज्ञान और अनुभव परिमित होने लगा और इसलिये उनका आदर कुछ कम होने लगा। ब्याह की स्वतन्त्रता, जो ऋग्वेद में उनको थी, घटने लगी; माता-पिता उनके ब्याह का प्रबन्ध करने लगे। अनुलोम प्रथा से भी स्त्रियों की पदवी को हानि पहुँची। जो वैश्यकन्या क्षत्रिय या ब्राह्मण घर में जाती थीं या जो शूद्र-कन्या ऊँचे वर्ण के कुटुम्ब में जाती थीं उसका आदर उतना नहीं हो सकता था जितना कि कुलीन कन्याओं का। इस प्रकार बहुत सी स्त्रियों का पद नीचा हो जाने से स्त्री मात्र के पद पर बुरा प्रभाव पड़ा। एक और कारण भी था जिसने इस पतन को भयङ्कर बना दिया। कह चुके हैं कि ऋग्वेद की अपेक्षा अब जीवन का आनन्द कम हो गया था और तपस्या की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। जब संसार-त्याग एक आदर्श होने लगा तो स्त्री, जो इस त्याग में सबसे बड़ी बाधा है, अनादर की दृष्टि से देखी जाने लगी। कामप्रवृत्ति मनुष्य-प्रकृति की सबसे बलवान प्रवृत्ति है, इसका जीतना सबसे कठिन है, पर जब तक यह न जीती जाय तब तक त्याग असम्भव है। इसलिये काम-प्रवृत्ति की निन्दा शुरू हुई और साथ-ही-साथ इस प्रवृत्ति की ध्येय स्त्री की भी निन्दा होने लगी। इतिहास में अन्य समाजों में,

स्त्रियों के पद का ह्रास

कारण

---

१ का० सं० ३१। २॥ मैत्रा० सं० ४। १। ३॥

उदाहरणार्थ, मध्यकालीन यूरूप में भी यही दृष्टिगोचर है। उत्तर वैदिक-काल में मैत्रायणीसंहिता स्त्रियों को जुआ और शराब की तरह खराब मानती है।[१] एक दूसरे स्थान पर यह संहिता स्त्री को अनृत समझती है और उसे निर्ऋति या आपत्ति से जोड़ती है।[२] तैत्तिरीयसंहिता में एक वाक्य है कि स्त्री एक बुरे शूद्र से भी नीची है।[३] ऐतरेयब्राह्मण का एक पद पुत्र को स्वर्गतुल्य सुख और कन्या को कृपणम् अर्थात् विपत्ति मानता है।[४] ऐतेरयब्राह्मण यह भी आशा करता है कि स्त्री अपने पति को कभी उत्तर न दे अर्थात् केवल आज्ञापालन करती रहे।[५]

स्त्रियों का सम्मान

स्त्रियों की निन्दा और परतन्त्रता की प्रवृत्ति संहिताओं और ब्राह्मणों में आरम्भ हो गई है पर यह न समझना चाहिये कि उनका पद एकदम गिर गया। इस तरह के परिवर्तनों में सदियाँ लग जाती हैं और एक तरह की प्रवृत्तियाँ दूसरी तरह की प्रवृत्तियों से कुछ कटती रहती हैं। स्वयं संहिताओं और ब्राह्मणों में बहुत से कथन हैं जिनसे स्त्रियों का पद आदर-सम्मान का मालूम होता है। बहुत सी स्त्रियाँ थीं जो तत्त्वज्ञान की बहस में पुरुषों की बराबरी करती थीं। ऐतरेयब्राह्मण और कौषीतकिब्राह्मण में विदुषी स्त्रियों का जिक्र आया है।[६] जैसा कि आगे बताया जायगा उपनिषदों में भी बहुत सी विदुषी स्त्रियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ, वृहदारण्यक उपनिषद् में स्त्री-शिक्षकों का उल्लेख हैं।[७] याज्ञवल्क्य की एक स्त्री को ब्रह्म-विद्या का शौक था।[८] ऐसी स्त्रियाँ भी थीं जो लड़ाई-

विद्याव्यसन

झगड़े के बीच अपने पतियों की सहायक होती थीं। ऋग्वेद में जब ऋषि मुद्गल ने हथियार लेकर गाय चुराने वाले डाकुओं

---

[१]मैत्रा० सं० ३। ६। ३ ॥ [२]मैत्रा० सं० १। १०। ११ ॥ तैत्ति० सं० ६। ५। ८। २ [४]ऐत० ब्रा० ७। १५ ॥ [५]ऐत० ब्रा० ३। २४। ७ ॥ [६]ऐत० ब्रा० ५। २६ ॥ कौषी० ब्रा० २। ६ ॥ [७]वृह० उ० ३। ३। १ ॥ ३। ७ १ ॥ [८]वृह० उ० ३। ४। १ ॥ ४। ५। १ ॥

का पीछा किया तब उसकी स्त्री भी उसकी मदद कर रही थी।[1] बहुत से वाक्यों से यह प्रगट होता है कि प्रेम और ब्याह की स्वतन्त्रता, यद्यपि कम हो रही थी, तो भी आगामी समय की अपेक्षा बहुत थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में भी युवक और युवतियों के मिलने और प्रेम करने की बात है।[2] एक

ब्याह की स्वतन्त्रता

मन्त्र में कहा है कि अमीर लड़कियों से शादी करना लोग बहुत पसन्द करते हैं। अगर कोई अमीर लड़की अच्छी और सुन्दर न भी हो तो बहुत से आदमी उसके मित्र बन जाते हैं।[3] पर ऋग्वेद से मालूम होता है कि कुरूप, यहाँ तक कि अन्धी लड़कियों को भी अपने और गुणों के सहारे ब्याह करने का अवसर रहता था।[4] अथववेद से साफ जाहिर हैं कि युवक और युवतियाँ अपने प्रेम-प्रयासों में जन्त्रमन्त्र और जादू का सहारा भी ढूँढ़ते थे। अथर्ववेद में प्रेमी कहता हैं "......तुम मेरे वश में आ जाओ, ...मैं शहद से भी ज्यादा मीठा हूँ .....शहद की शाखा की तरह तुम मुझसे जरूर प्रेम करोगी......घेरने वाला गन्ना लेकर मैं तुम्हारे पास आता हूँ जिसमें कि हमारे बीच कोई ग्लानि न रहे, जिसमें कि तुम मुझ से प्रेम करो और मुझसे दूर न जाओ।"[5] अन्यत्र प्रेमी कहता है "जैसे हवा ज़मीनपर घास को हिला देती है वैसे ही मैं तुम्हारे मन को हिला दूँ, जिसमें कि तुम मुझसे प्रेम करो और दूर न जाओ; हे अश्विन्! तुम दोनों ला कर उसे अपने प्रेमी से मिला दो......यहाँ यह स्त्री पति की आकांक्षा करती हुई आई है, और मैं पत्नी की आकांक्षा करता आया हूँ।[6]......एक मन्त्र में प्रेमी अपनी प्रेयसी के हृदय को तीर की तरह भेदना चाहता है।[7] एक जगह में प्रेमी कहता है "जैसे बेल पेड़ से बिल्कुल लिपट जाती है वैसे ही तुम मुझ से लिपट जाओ।"[8] अन्यत्र वह कहता है, "मैं तुम्हें अपनी भुजा से चिपटाता हूँ; मेरे हृदय से चिपट जाओ[9]

---

[1]ऋग्० १०। १०२ ॥ [2]ऋग्० १०। ३०। ६ ॥ [3]ऋग्० १०। २७। १२ ॥ [4]ऋग्० १०। ३१। ११ ॥ [5]अथर्व० १। ३४। २, ४, ५ ॥ [6]अथर्व० २। ३०। १५ ॥ [7]अथर्व० ३। २५ ॥ [8]अथर्व० ६। ८। १ ॥ [9]अथर्व० ६। २ ॥ ६। १२२ भी देखिये।

......।" फिर अथर्ववेद में प्रीति पैदा करने वाली एक वनस्पति को लेकर प्रेमी कहता है—"उस स्त्री को और मुझे मिला दो; उसके और मेरे हृदय को एक कर दो।"[1] इसी तरह एक युवती कहती है "......हे देवताओं! प्रेम भेजो; वह पुरुष मुझ पर मरे......वह मुझे प्यार करे, प्यारा, वह मुझसे प्रेम करे, वह मेरे लिये पागल हो जाय, हे मरुत्! वह मेरे लिये पागल हो जाय। हे अग्नि! वह मुझपर पागल हो, मुझ पर मरे।"[2] अन्यत्र एक युवती अपना विश्वास प्रगट करती है कि प्रेमी चाहे जितनी दूर चला जाय पर जरूर लौट आयेगा, उससे ब्याह करेगा।[3] इन अंशों से प्रगट है कि अभी बालविवाह का नामनिशान भी न था और आयु पाने पर बहुत से स्त्री-पुरुष अपनी इच्छा से ब्याह करते थे। ऋग्वेद इत्यादि में ब्याह के बाद ही जो कर्म होता है वह भी छोटी उम्र के लड़के-लड़कियों में सम्भव नहीं है।[4] कुटुम्ब में भी बहुत सी स्त्रियाँ बड़ा आदर और प्रभुत्व रखती थीं और अपने पतियों तक को डाट देती थीं। ऋग्वेद में एक जुआरी अफसोस करता है कि मेरी स्त्री मुझ को दूर रखती है और उसकी माँ मुझसे घृणा करती है।[5]

कुटुम्ब का जीवन इस समय आमतौर से शान्त और मधुर मालूम होता है, पर जो बड़े आदमी एक से ज्यादा ब्याह कर लेते थे वह कभी-कभी आप बड़ी परेशानी उठाते थे और पत्नियों का जीवन मिट्टी कर देते थे। कितने तक ब्याह एक आदमी कर सकता था—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। वैदिक साहित्य में बहुत जगह राजा के चार स्त्रियाँ हैं। मैत्रायणीसंहिता में मनु के दस पत्नियाँ हैं।[6] सौतों के देवासुर-सङ्ग्रामों का उल्लेख साहित्य में कई जगह आया है। एक बनस्पति के द्वारा एक पत्नी अपने पति को बिल्कुल अपने वश में करना चाहती है और सौत को मिटाना चाहती है। "सौत को उड़ा दो, मेरे पति को सिर्फ मेरा ही बना

बहुविवाह

---

[1] अथर्व० ६।१३१।३॥ [2] अथर्व० ६।१३९।३॥ ६।८२ और ६।८९ भी देखिये। [3] अथर्व० ६।१३०।१-२, ४॥ [4] ऋग्० १०।८२।२९॥ [5] ऋग्० १०।३४।३॥ [6] मैत्रा० सं० १।५।८॥

दो।......मैं उस सौत का नाम भी नहीं लेती......सौत को दूर से दूर भाग दो.........!"[1] अन्यत्र एक पत्नी देवताओं को बलि देती है और सौतों से पीछा छुटाना चाहती है; उनकी सारी शान मिटाना चाहती है; जिनमें कि अकेली वह प्रभुता कर सके।[2] अथर्ववेद में एक पत्नी सौत को शाप देती है कि कभी सन्तान न हो; तू बांझ हो जाय।"[3]

सौतों के झगड़े

एक पुरुष के एक ही समय अनेक पत्नियाँ हो सकती थीं, पर हिन्दू साहित्य में एक स्त्री के एक ही समय अनेक पति होने का एकमात्र उल्लेख महाभारत में द्रौपदी का है। द्रौपदी की समस्या हल करना बड़ा कठिन है, पर कुछ अर्वाचीन रचनाओं के बाद इस पर जोर देना जरूरी है कि अनेक पति प्रथा का नाम निशान वैदिक-साहित्य में कहीं नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि एक पुरुष अनेक पत्नियाँ रख सकता है, पर एक स्त्री एक ही समय अनेक पति नहीं रख सकती।[4] पर 'एक ही समय' इन शब्दों से यह भी प्रगट होता है कि भिन्न-भिन्न समयों पर एक ही स्त्री के कई पति हो सकते थे—अर्थात् विधवाओं का ब्याह होता था। इसके प्रमाण वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी मिलते हैं। कह चुके हैं कि ऋग्वेद और अथर्ववेद के जिन मन्त्रों में पीछे सती का विधान देखा गया वह वास्तव में विधवा ब्याह का समर्थन करते हैं।[5]

विधवा-ब्याह

अथर्ववेद में तथा अन्यत्र 'दिधुषू' शब्द के प्रयोगों से जान पड़ता है कि विधवा अपने देवर से ब्याह करती थी।[6] और मन्त्रों से भी विधवा-ब्याह के प्रचार का पता लगता है।[7] 'परपूर्वा' शब्द से भी मालूम होता है कि स्त्री दूसरा पति कर सकती थी। पौनर्भव शब्द स्त्री के दूसरे पति से पुत्र का द्योतक है।

---

[1] ऋग्० १०। १४५। १-६ ॥ अथर्व० ३। १८। १-५ भी देखिये। [2] ऋग्० १०। १५९। ४-६ ॥ [3] अथर्व० ७। ३५। ३ ॥ [4] ऐत० ब्रा० ३। २३ ॥ [5] अथर्व० १८। ३। १-२ ॥ ऋग्० १०। १८। ८ ॥ [6] मैकडानेल और कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स', १, पृ० ३५१-६०। [7] अथर्व० ९। ५ ॥२७-२८॥

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक मन्त्र में उर्वशी की कथा है, जिसने कुछ शर्तें लगाकर पुरूरवा से ब्याह किया था। शर्तों के टूटने पर उसने अपने पति का त्याग कर दिया। पुरूरवा ने बहुत प्रार्थना की पर उर्वशी ने एक न मानी। इससे कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि शायद किसी समय किसी समुदाय में शर्तों पर ब्याह होता हो।[1]

स्त्री धन का अभाव

वैदिक साहित्य में स्त्री धन का उल्लेख नहीं है, जो आगे के धर्मशास्त्रों में बहुत पाया जाता है। इसका कारण शायद यह हो कि अभी स्त्रियाँ इतनी अबला नहीं हुई थीं कि धर्मविधायकों को उनके अधिकारों की विशेष चिन्ता हो। कुछ भी हो, ऋग्वेद की तरह अथर्ववेद में भी लड़कियों को पिता की जायदाद का कोई हिस्सा नहीं मिलता और उनके पालन का भार भाइयों पर पड़ता है। अथर्ववेद में और शापों के साथ-साथ बहिन के शाप का भी जिक्र आया है, जिससे मालूम होता है कि लड़कियाँ परवरिश न करने वाले भाइयों से बहुत नाराज होती थीं।[2]

ब्याह

ब्याह में गोत्रों के निषेध अभी उतने नहीं हुए हैं जितने कि आगे हुए। शतपथब्राह्मण, जो इस समय के जरा ही पीछे रचा गया था, तीसरी या चौथी पीढ़ी में ब्याह की इजाजत देता है।[3] इसके आधार पर टीकाकार हरिस्वामी कहता है कि कण्व तीसरी पीढ़ी में और सौराष्ट्र चौथी पीढ़ी में ब्याह की इजाजत देते हैं; दाक्षिणात्य मामा की लड़की से या फूआ के लड़के से भी ब्याह ठीक बताते हैं। मौसी की लड़की या चाचा के लड़के से ब्याह तो शायद कोई ठीक नहीं बताता। गोत्र के भीतर ब्याह करना अभी शायद सब वर्गों में पूरे तौर से मना न हुआ था।[4] ब्याह की रीतियाँ वैसी ही थीं जैसा कि पहिले लिख चुके हैं। कभी-कभी दहेज दिया जाता था और इसके विपरीत कभी-कभी दामाद ससुर को द्रव्य देता था।

---

[1] ऋग्० १०।९५।१-२, १३॥ [2] अथर्व० २।७।२।२।१०।१॥ [3] शत० ब्रा० १।८।३।६॥ [4] मैक्डानेल और कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स', १, पृ० ४७५।

सदा की तरह इस काल में ब्याह एक बहुत बड़ी चीज थी। इसमें स्वयं देवता आकर भाग लेते थे।[1] अनुमान है कि ब्याह से स्त्री का पद बढ़ जाता था। अथर्ववेद में एक जगह अर्यमन् से कहा है कि ब्याह के पहिले यह कन्या दूसरी स्त्रियों की समाजों में जाती थी; अब ब्याह के बाद दूसरी स्त्रियाँ इसकी समाज में आयेंगी![2]

कुटुम्ब

उत्तर-वैदिककाल में कुटुम्ब का जीवन ऋग्वेद के लगभग समान ही था। सम्मिलित परिवार वैसा ही था जैसा ऋगवेद के समय में था अथवा जैसा आगामी युगों में रहा। इस मामले में यूरूप और हिन्दुस्तान का सामाजिक विकास एक-दूसरे से उल्टा हुआ। यूरूप में सम्मिलित परिवार टूट गया अर्थात् ब्याह होते ही पुत्र अपने माँ-बाप से अलग रहने लगा और भाई भी अलग-अलग रहने लगे। हिन्दुस्तान में शायद कौटुम्बिक स्नेह विशेष प्रबल था। और व्यक्तित्व का भाव कुछ निर्बल था। सम्मिलित परिवार से शायद खेतीबारी में भी मदद मिलती थी। पर सम्मिलित परिवार में सदा मनमुटाव का डर रहता है। घर के कलह से दुखी होकर कोई-कोई स्त्रियाँ ससुराल छोड़कर मायके भाग जाती थीं।[3] शायद इसीलिये अथर्ववेद में कौटुम्बिक शान्ति के लिये बड़ी भावुकता से प्रार्थनाएँ की हैं।[4] सदा की तरह कुटुम्ब में पूरखे का बड़ा सम्मान होता था।[5] माता का भी बहुत आदर था।[6] पति और पत्नी जन्म भर के लिये धर्म और लोक के साथी माने जाते थे। कई मन्त्रों में पति पत्नी के प्रेम का चित्ताकर्षक चित्र खींचा हैं।[7] पत्नी घर की देख-रेख करती थी सुव्यवस्थित परिवारों में सास-ससुर, देवर-ननद सब उसका प्रभाव मानते थे। भोजन, वस्त्र, सम्पत्ति और सन्तान के सुख में परिवार मग्न रहता था। घर सत्य और धर्म का पवित्र स्थान माना जाता था।[8]

---

[1]अथर्व० १४।१।४८-५२॥ १४।२॥ [2]अथर्व० ६।६०।१-३॥ [3]अथर्व० १०।१।३॥ [4]अथर्व० ३।३०।१, ३, ५, ७॥ ७।३६॥ ७।३७ आदि। [5]ऋग्० १०।१७९।२॥ इत्यादि। [6]ऋग्० १०।८६।१०॥ [7]ऋग्० १०।१४९।४॥ इत्यादि [8]ऋग्० १०।८५।२३-२४,२६-२७,४२-४७ जहाँ दूलह-दुलहिन की बात-चीत है।

हिन्दू सभ्यता के और युगों की तरह इस समय भी आतिथ्य बड़ा धर्म माना जाता था। अथर्ववेद में आतिथ्य को यज्ञ के बराबर माना है और आतिथ्य की भिन्न-भिन्न क्रियाओं की तुलना यज्ञ की भिन्न-भिन्न रीतियों से की है।[१] सामाजिक शान्ति; व्यवस्था, और सहयोग का आदर्श स्पष्टतः वर्णन किया गया है। अथर्ववेद में इसके लिये बहुत-ही प्रार्थनाएँ हैं।[२] सारे वैदिक साहित्य में ऋत अर्थात् सत्य या धर्म पर बहुत ज़ोर दिया है। देवताओं से या मनुष्यों से जो प्रतिज्ञाएँ की हों उनको अवश्य पूरा करना चाहिये; नहीं तो प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।[३] ऋण चुकाना भी बहुत आवश्यक है; न चुकाना बड़ा पाप है जिसके लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये।[४]

आतिथ्य

नीति

उत्तर-वैदिक काल में राजनैतिक परिस्थिति भी पहले की अपेक्षा कुछ बदल गई थी। अब भी संग्राम बहुत हो रहे थे; अथर्ववेद में लड़ाई का जोश बहुत है पर जैसे-जैसे आर्य लोग पूरब और दक्खिन की ओर फैले और बड़े-बड़े मैदान उनके अधिकार में आये वैसे-वेसे राज्यों के क्षेत्र भी बढ़ते गये। उत्तरी-हिन्दुस्तान में नदियाँ आसानी से पार की जा सकती हैं। अन्य कोई प्राकृतिक रुकावट भी नहीं है। इसलिये यहाँ बड़े राज्यों की स्थापना की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। पर रेल-तार इत्यादि के युग के पहिले कहीं भी बड़े राज्यों के दूरवर्ती प्रदेशों पर शासन करना आसान नहीं था। इसलिये प्रदेशों को बहुत-सी स्वाधीनता देना भी आवश्यक था। इस तरह हिन्दू राजनीति में दो विरोधी शक्तियों का सङ्घर्षण बराबर होता रहा—एक तो योजक शक्ति थी जो विशाल राज्य की प्रेरणा करती थी, दूसरी विभाजक शक्ति थी जो प्रादेशिक स्वाधीनता की

राजनीति

योजक शक्ति

विभाजक शक्ति

---

[१]अथर्व० ९।६।३, ४, ६, ७, ९, १८, १९,३१,३८; ५४॥ [२]अथर्व १२।५२॥ इत्यादि॥ [३]अथर्व० ६।११९॥ [४]अथर्व० ६।११७॥

प्रेरणा करती थी। सङ्घर्षण से एक अनोखे राजनैतिक सङ्गठन की उत्पत्ति हुई जिसमें राज्य तो बड़े-बड़े थे पर राज्य के भीतर बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे और कभी-कभी तो इनके भीतर और भी छोटे राज्य थे। यह एक तरह का सङ्घशासन था। बड़े राज्य को साम्राज्य इत्यादि शब्दों से सम्बोधन करते थे और उसके स्वमी को सम्राट्, अधिराज इत्यादि उपाधियाँ मिलती थीं। बाजसनेयिसंहिता में 'सम्राज' शब्द आया है।[1] बहुत से ग्रन्थों में 'अधिराज' शब्द आया है।[2] पञ्चविंशब्राह्मण में 'आधिपत्य' शब्द का प्रयोग किया गया है[3]। एकराज शब्द जो ऋग्वेद में रूपक की तरह आया है,[4] अथर्ववेद में राजनैतिक अर्थ में प्रयोग किया गया है।[5]

सङ्घर्षण

सङ्घशासन

शुक्लयजुर्वेद में राजाओं की प्रधानता के लिये देवताओं से बहुत-सी प्रार्थनाएँ हैं।[6] पर काठकसंहिता और मैत्रायणीसंहिता में 'स्वाराज्य' का भी उल्लेख है।[7] कोई-कोई राज्य बहुत छोटे थे। कहीं-कहीं केवल एक गाँव जीतने के लिये बड़ी-बड़ी प्रार्थनाएँ हैं।[8] बड़े-बड़े सङ्घशासनमूलक साम्राज्य में छोटे-छोटे शासक होते थे, यह राजा या राजन्य कहलाते थे और वास्तव में राजनैतिक अधिकार रखने वाले ज़मींदार थे। इस समय के ग्रन्थों से जान पड़ता है कि सैकड़ों क्या हज़ारों छोटे-छोटे राजा उत्तरी हिन्दुस्तान में मौजूद थे।[9] सम्राट् और आधीन राजाओं के सम्बन्धों का ब्यौरेवार पता नहीं

---

[1]वाजस० सं० ५। ३२ ॥ १३ ॥ ३५ ॥ २० । ५ ॥ आदि। [2]देखिये, ऋग्० १० । २८ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ९८ । १ ॥ ९ । १० । २४ ॥ तैत्ति० सं० ११ । ४ । १४ । २ ॥ मैत्रा० सं० ४ । १२ । ३ ॥ का० सं० ८ । १७ ॥ तैत्ति० ब्रा० ३ । १ । २ । ९ ॥ [3]पञ्च० ब्रा० १५ । ३ । ३५ ॥ [4]ऋग्० ८ । १७ । ३ ॥ । [5]अथर्व० ३ । १ ॥ [6]शु० यजु० ९ । ३९ ॥ [7]का० सं० १४ । ५ । ॥ मैत्रा० सं० १ । ११ । ५ ॥ [8]कृ० यजु० २ । ३ । १० ॥ ३ । ४ । ८ ॥ [9]देखिये, ऋग्० १० । ९ । १६ ॥ १० । ४२ । १० ॥ १० । ९७ । ६ ॥ अथर्व० ५ । १८ । १० ॥ २ । ६ । ४ ॥ १९ । ६२ । १ ॥ वाजस०

लगता। शायद समर-नीति में और परराज्य-नीति में अर्थात् घरेलू मामलों को छोड़कर बाहरी मामलों में सम्राट् की आज्ञा सबको पालन करनी पड़ती थी। पर शायद कभी-कभी सम्राट् और राजाओं के बीच में विद्वेष भी हो जाता था। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद और तैत्तिरीयसंहिता में राजनैतिक उपद्रवों का उल्लेख है, यह शायद ऐसे ही विद्वेषों के कारण होते थे।[१]

सम्राट् या राजा बहुधा मौरूसी होते थे पर नये राजा के आरोहण के लिये जनता की स्वीकृति आवश्यक थी।[२] स्वीकृति के बाद अभिषेक होता था जिसके लिये दूर-दूर से तरह-तरह के जल मँगाये जाते थे। अभिषेक के जरा पहिले राजा चमकीले कपड़े पहिन कर शेर के चमड़े पर चढ़कर दिशाओं की ओर जाता था जो प्रभुता का एक चिह्न था। इसी तरह की और रस्में भी होती थीं।[3] इसके बाद शक्ति, प्रभुता और प्रधानता की प्रार्थना के मन्त्र पढ़ते-पढ़ते पुरोहित जलों से अभिषेचन करते थे।[४] अभिषेक के समय बहुधा राजसूय-यज्ञ होता था; जिसकी रस्में बढ़ते-बढ़ते इतनी हो गई थीं कि पूरे साल भर चलती थीं[५] और आगामी युग में इससे भी अधिक देर तक होती रहती थीं। राजसूय के समय राजा को मित्र, वरुण आदि देवताओं के नाम से सम्बोधन करते थे।[६] वैदिक मन्त्रों में कहा है कि राजा को पृथिवी, पर्वत, आकाश और विश्व की तरह एवं वरुण, वृहस्पति, इन्द्र और अग्नि की तरह दृढ़ रहना चाहिये।[७]

राजा

अभिषेक

राजसूय

सं० १८। ४८ ॥ २६। २ ॥ तैत्ति० सं० २। ३। १ ॥ २। ७। १८ ॥

[१]अथर्व० १। ९ ॥ ३। ६ ॥ तैत्ति० सं० २। ३। १ ॥ २। ७। १८। २ ॥ [२]देखिये, अथर्व० ३। ४। १-२, ७ ॥ ३। ५। ६ ॥ [3]देखिए, अथर्व० ४। ८। ३-४ ॥ [४]अथर्व० ४। ८। ५-६ ॥ वाजस० सं० ९। ४० ॥ २५। १७-१८ ॥ [५]अथर्व० ४। ८। १ ॥ ९। ७। ७ ॥ ऐत० ब्रा० ५। १। १। १२ ॥ [६]तैत्ति० सं० १। ८। १६ ॥ [७]ऋग्० १०। १७३ ॥ अथर्व० ६। ८७-८८ ॥

निस्सन्देह राजा को बहुत अधिकार थे और बहुत शक्ति थी; पर वह निरङ्कुश नहीं था, मनमानी नहीं कर सकता था। समाज के धर्म और आदर्शों के अनुसार ही वह शासन कर सकता था। इसके अलावा

समिति

जनता की समिति थी जिसे शासन में बहुत अधिकार था और जो सब महत्त्वपूर्ण विषयों के निर्णय में भाग लेती थी। राजा के लिये आवश्यक था कि समिति को अपने अनुकूल रक्खे। अथर्ववेद में राजा प्रार्थना करता है कि प्रजापति की पुत्रियाँ, सभा और समिति मेरे ऊपर कृपा करें।[1] एक मन्त्र में राजा के लिये बहुत से अनुग्रहों की प्रार्थना की गई है; एक अनुग्रह यह भी है कि समिति अनुकूल रहे।[2] अन्य वैदिक वाक्यों से भी समिति पर प्रभाव जमाने की आवश्यकता प्रकट होती है।[3] अथर्ववेद में इस तरह की प्रार्थनाओं के अलावा बहुत से जादू-टोनों का भी उल्लेख है जो समिति को वश में करने के लिये प्रयोग किये जाते थे।[4] प्रत्येक जनसभा में मतभेद के कारण कभी-कभी बहुत वैमनस्य हो जाता है और गड़बड़ होती है। शायद वैदिक समिति भी इस साधारण दोष से मुक्त न थी। ऋग्वेद में समिति की शान्ति, सहयोग और एकता के लिये बड़ी ओजस्विनी प्रार्थना की गई है।[5] अथर्ववेद में एक बार समिति को नरिष्टा कहा गया है।[6] समिति तरह-तरह के मामलों पर विचार करती थी। समर, सन्धि, आय-व्यय और साधारण अभ्युदय—यह सब समिति के सामने आते थे।[7] इसके अलावा वह न्याय का भी कुछ काम करती थी। अनुमान है कि ज़मीन, जूआ, ऋण, दायभाग, चोरी, चोट, और हत्या के मामलों का फ़ैसला समिति के द्वारा होता था।[8] पर बड़े राज्यों की स्थापना से समिति को अवश्य ही एक बड़ी कठिनाई पड़ी होगी। प्राचीन समय में न तो

---

[1]अथर्व० ७। २। १॥ [2]अथर्व० ६। ८८॥ [3]ऋग्० १०। १६६। ४॥ अथर्व० ७। १२। २-३॥ [4]अथर्व० २। २७॥ ६। ६९॥ ४। ३११॥ इत्यादि। [5]ऋग्० १०। १९१। २-४॥ [6]अथर्व० ७। १२। २॥ [7]अथर्व० ६। ७५। १०३॥ ७। ५२॥ ३। २९॥ ६। १०७॥ [8]कृ० यजु० २। २। १॥ २। ६। १॥ अथर्व० ६। ११७-१९॥ वाजस०सं० ३०। ५॥

यूरुप में और न एशिया में राजनैतिक प्रतिनिधित्व की चाल थी। जनता को जो अधिकार थे, वह जनता के इकट्ठे होने पर ही व्यवहार में आ सकते थे। छोटे राज्यों में समिति का अधिवेशन सुगम था, पर बड़े राज्यों में जनसंख्या के कारण और दूरी के कारण असम्भव था। अतएव जैसे-जैसे बड़े राज्य अर्थात् साम्राज्य बनते गये, वैसे-वैसे समिति की प्रथा टूटती गई।

साधारण शासन में राजा को स्वभावतः बहुत-से लोगों के सहयोग की आवश्यकता थी। जान पड़ता है कि राजा के कुछ सम्बन्धी भी शासन में योग देते थे और राज्य के वीर या रत्नियों में गिने जाते थे। इनके अलावा अनेक कर्मचारी थे जिनमें से विशेष महत्त्व वालों की गणना भी वीर या रत्नियों में होती थी।[1] पञ्चविंशब्राह्मण में आठ वीर गिनाये गये हैं—(१) राजा का भाई (२) राजा का पुत्र (३) राजा का पुरोहित (४) राजा की महिषी (५) सूत (६) ग्रामणी (७) क्षत्र अर्थात् रक्षा-करने वाला और (८) संग्रहीतृ अर्थात् कर जमा करनेवाला या कोषाध्यक्ष।[2] अन्यत्र वीरों में राजन्य, सेनानी, भागदुघ (कर वसूल करने वाला) और अक्षावाप (जूए का अध्यक्ष) की भी गिनती की गई है।[3] इनके साथ-साथ मैत्रायणीसंहिता में तक्ष (बढ़ई), रथकार और गोविकर्त्त (शिकारी या पशुओं को मारने वाला) भी गिनाए गये हैं।[4] गाँवों में ग्रामणी राज का काम करते थे। वैदिक ग्रन्थों में दूतों या प्रहितों का उल्लेख है जो राज्य की ओर से जासूस या पुलिस का काम करते थे।[5]

अधिकारी

न्याय के मामले में, सभा के अलावा राजा भी कुछ मुक़दमों का फ़ैसला करता था।[6] शुक्लयजुर्वेद में न्याय को बहुत आवश्यक माना गया है।[7] काठक-संहिता में एक राजन्य भी अध्यक्ष की हैसियत से दण्ड का काम

---

[1] अथर्व० ३। ५। ७॥ [2] पं० ब्रा० १६। १। ४॥ [3] तैत्ति० सं० १। ८। ९१॥ तैत्ति० ब्रा० १। ७। ३। १॥ [4] मैत्रा० सं० २। ६। ५॥ ४। ३। ८॥ [5] अथर्व० ४। १६। ४॥ ऋग्० १०। १०। १-६॥ तैत्ति० सं० ४। ७। १॥ [6] अथर्व० ४। ८। २॥ [7] शु० यजु० १०। २७॥

न्याय

कर रहा है।[१] तैत्तिरीयसंहिता में और अन्यत्र भी ग्राम्यवादिन् गाँव का न्यायाधीश मालूम होता है।[२] वाजसनेयिसंहिता और तैत्तिरीयब्राह्मण में पुरुषमेध या अश्वमेध के सम्बन्ध में प्रश्निन्, अभिप्रश्निन्, और प्रश्नविवाक का ज़िक्र है।[3] जो मुद्दई, मुद्दाअलय और पञ्च मालूम होते हैं। कई ग्रन्थों में 'मध्यमशी' शब्द आया है।[४] उसका अर्थ भी पञ्च मालूम होता है। जान पड़ता है कि बहुत-से झगड़े पञ्चायत से फ़ैसल हो जाते थे।

पञ्चायत

दण्ड के विषय में पञ्चविंश-ब्राह्मण-से मालूम होता है कि राजद्रोह बहुत भीषण अपराध माना जाता था। उसके लिये पुरोहित तक को प्राण-दण्ड दिया जाता था।[५]

दण्ड

जुए में हार कर ऋणी हो जाने पर आदमी ग़ुलाम बनाया जा सकता था।[६] राज्य का खर्च चलाने के लिये राजा प्रजा से, खास कर अमीर आदमियों से, और बहुत कर के जमीन पर, कर लेता था।[७]

कर

---

[१]काठ० सं० २७।४॥ [२]मैक्डानेल और कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स', १, पृ० २४८। [3]वाजस० सं० ३०।१०॥ तैत्ति० ब्रा० ३।४।६।१॥ [४]ऋग्० १०।९७।१२॥ अथर्व० ४।९।४॥ वाजस० सँ० १२।८६॥ [५]मैक्डानेल और कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स', २, पृ० ८४। [६]ऋग्० १०।३४॥ [७]ऋग्० १०।१७३।६॥ अथर्व ४।२२।

चौथा अध्याय : वैदिक काल का अन्तिम युग

साहित्य

वैदिक काल का तीसरा भाग अर्थात् अन्तिम युग ई० पू० ८-७ वीं सदी में या उसके भी पहिले माना जा सकता है। संहिताओं का ससय अनिश्चित होने से आगामी वैदिक साहित्य का समय भी अनिश्चित है। हम ई० पू० ८—७ सदी को ऐतिहासिक समालोचना के इस सिद्धान्त के अनुसार स्वीकार करते हैं कि सन्देह में नीची तारीख को मानकर निष्कर्ष निकालने चाहिये। वैदिक काल के अन्तिम युग में भी बहुत-सा साहित्य रचा गया। हिन्दुओं की वर्ग-व्यवस्था या वर्ण-व्यवस्था ने ब्राह्मण-समुदाय को धर्म और विद्या-व्यसन के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया। वह प्राचीन समय में ही नहीं किन्तु भारतीय इतिहास के मध्यकाल में भी अर्थात् १३ वीं ईस्वीं सदी की मुसलमानी विजय के बाद भी बराबर ग्रन्थ रचते रहे। क्षत्रियों में भी विद्याध्ययन की प्रवृत्ति जारी रही और वह भी धार्मिक विचारों में और धार्मिक एवं साधारण साहित्य की रचना में भाग लेते रहे। इनके अलावा कभी-कभी और लोग भी लिखने-पढ़ने में यश प्राप्त करते थे। अस्तु, हिन्दुस्तान में हज़ारों ही ग्रन्थ लिखे गये। बहुत से नष्ट हो गये पर जो बचे हैं वह पुस्तकालय के पुस्तकालय हैं। वैदिक काल के अन्तिम युग में ऐतरेयब्राह्मण का उत्तर भाग रचा गया। इसी समय विशाल शतपथब्राह्मण बना जिसमें बहुत से यज्ञो के सूक्ष्म वृत्तान्त हैं और जिससे यज्ञों की परिपाटी का और प्रचार का पता लगता है। पर दूसरे ग्रन्थों से यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दू मस्तिष्क को कोरे यज्ञ-विधान से सन्तोष नहीं था; वह विश्व के रहस्य को, जीवव के अन्तिम रहस्य को, उद्घाटन करने का भी ऐसा घोर प्रयत्न कर रहा था जैसा आजकल संसार में कहीं नहीं हुआ है। आरण्यकों में और उपनिषदों में इस प्रतिभाशाली विचार-परम्परा का संग्रह अथवा यों कहिए संक्षेप है। कुछ उपनिषद् तो आगामी युगों के हैं पर छान्दोग्यबृहदारण्यक इत्यादि वैदिक काल में ही बन चुके थे। इस युग में या इसके आस-पास कुछ रचनाएँ भी हुईं जिनसे समाज या राजनीति की कुछ बातें

मालूम होती हैं। बृहद्देवता जो शौनक का रचा हुआ समझा जाता है, ई० पू० पाँचवी सदी के लगभग बना था; इसमें वैदिक देवताओं का हाल है। इ० पू० छठी या पाँचवों सदी के लगभग निरुक्त रचा गया, जिसमें वैदिक शब्दों की समीक्षा है।

इस काल में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बात तत्त्वज्ञान की चर्चा है। ई० पू० सातवीं - छठी सदी के लगभग देश में तत्त्वज्ञान की प्रबल लहरें उठीं, जिनमें पुरानी विचार-परम्पराओं का समावेश हो गया और जिनसे आगामी सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई। हिन्दुस्तान के प्राकृतिक दृश्यों के कारण, जीवन की सुगमता और सादगी के कारण तथा मानसिक चरित्र के कारण तत्त्वज्ञान का ऐसा दौर-दौरा हुआ जैसा कि आज तक किसी देश ने नहीं दिखाया। हजारों आदमियों ने अपना सारा जीवन इसी में लगा दिया; लाखों ने इस पर बहुत मनन किया और करोड़ों ने इसकी ओर कुछ-न-कुछ ध्यान दिया। तत्त्वज्ञान के दो मुख्य प्रयोजन थे—एक तो स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा को शान्त करना, यह बताना कि संसार, आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि, इत्यादि क्या हैं ? दूसरे, मनुष्य को लोक और परलोक का ठीक-ठीक रास्ता बताना, दुःख दूर कर परम सुख दिलाना, आत्मा की उन्नति करना, मोक्ष का द्वार खोलना। इन दो प्रयोजनों के कारण हिन्दू-तत्त्वज्ञान मुख्यतः आध्यात्मिक है, सामाजिक नहीं, पर इसमें कट्टरता नहीं है, विचार की पूरी स्वतन्त्रता है, तर्क की प्रधानता है, नये सिद्धान्त प्रकट होते हैं, नये-पुराने विचारों के संयोग से तरह-तरह की पद्धतियाँ निकलती हैं। तत्त्वज्ञान की ऐसी प्रधानता थी कि उसने धर्म पर अधिकार जमा लिया और उसका आवश्यक अङ्ग हो गया। हिन्दुस्तान में धर्म और तत्त्वज्ञान एक-दूसरे से ऐसे गुँथे हुए हैं कि अलग नहीं किये जा सकते। इस लिये तत्त्वज्ञान की बहुत-सी पद्धतियों का आदि स्रोत ईश्वर या और कोई आप्त माना गया है और लगभग सभी पद्धतियाँ देवता या ऋषियों के नामों से संयुक्त हैं।

तत्त्वज्ञान

कह चुके हैं कि ऋग्वेद के समय में धार्मिकभाव बहुत प्रबल नहीं था और न तत्त्वज्ञान की ही बहुत चर्चा थी। तो भी कहीं-कहीं ऋषियों को चिन्ता होती है

ईश्वर

कि विश्व क्या है ? इसका प्राण क्या है ? कौन जानता है ?[1] देवता बहुत थे पर सबसे पहिले कौन पैदा हुआ था ? इस तरह एक परमेश्वर का सिद्धान्त उत्पन्न होता है। वैदिक साहित्य में बहुधा एक-एक देवता की स्तुति इस तरह की है कि मानो वही परमेश्वर है। जैसा कि पहिले कह चुके हैं, इस समय ऋत का सिद्धान्त भी निकला।

ऋत

ईश्वर और ऋत—इन दो विचारों के आधार पर बहुत-सा आगामी तत्त्वज्ञान स्थिर है। पिछली संहिताओं और ब्राह्मणों के काल में वेद स्वतः प्रमाण माने गये और उनके वाक्यों को तत्त्वज्ञानियों ने अपने-अपने अर्थ में प्रयोग करना शुरू किया। यज्ञ और कर्म की प्रधानता के इस युग में मनुष्य का जीवन कर्तव्यों का एक चक्र माना गया—देवता, ऋषि, पितृ, मनुष्य, जन्तु, सब की ओर कर्तव्य हैं जिनका पालन सदा करना चाहिये। कर्तव्य के एक बहुत बड़े भाग का समावेश यज्ञ में था। ब्राह्मण-ग्रन्थ बार-बार कहते हैं कि जो अच्छी तरह यज्ञ करता है, वह स्वर्ग में देवताओं के साथ मिलकर अमर हो जाता है।

यज्ञ

तत्वज्ञान की पराकाष्ठा उपनिषदों के समय में हुई। इस समय जो सिद्धान्त निकले उनको ही लेकर जैन, बौद्ध आदि धर्मों की स्थापना हुई और बाकी हिन्दुओं में भी बहुत से सम्प्रदाय चले। याद रखना चाहिये कि उपनिषदों में कोई एक विचार-शृङ्खला या सिद्धान्त नहीं है; बहुत से विचार है, जो कहीं-कहीं तो आपस में मिलते-जुलते हैं और कहीं-कहीं प्रतिकूल हैं। यहाँ मानवी मस्तिष्क सत्य की तह पर पहुँचने की कोशिश कर रहा है, और चारों ओर तर्क और कल्पना के घोड़े दौड़ा रहा है। उपनिषदों की गहरी छानबीन से नतीजा निकलता है कि मानवी-जीवन का मूलतत्त्व है आत्मा, जिसका नाश नहीं होता, जो मरता नहीं है, न बूढ़ा होता है। आत्मा सब जड़ पदार्थों से भिन्न है और न उनके किसी तरह के मेल-जोल से कभी पैदा हो सकता है। जगत् में सैकड़ों आत्मा प्रतीत होते

उपनिषद्

---

[1] ऋग्० १।४।१६४॥

आत्मा

हैं—यह सब एक ही ब्रह्म के रूपान्तर हैं; एक ही ब्रह्म के भाग हैं। चिदानन्द ब्रह्म विराट् है, जिसमें सब कुछ शामिल है। ब्रह्म अनादि है, अनन्त है, अकारण है, समय और स्थान से परे हैं। इस ब्रह्म का पता पुस्तकों से नहीं लगता, ज्ञान से नहीं लगता; आत्मा के प्रकाश से इसका पता लगता है। ब्रह्म को जानना जीवन का परम ध्येय है, ब्रह्म में मिल जाना ही मोक्ष है। ब्रह्म स्वयं सिद्ध है, किसी ने उसे नहीं बनाया है, वह आप ही बना हुआ है। सारा संसार, सारा जीवन ब्रह्म से निकला है; ब्रह्म का विकास ही सृष्टि है, ब्रह्म का प्रकट होना ही विश्व का निर्माण है। ब्रह्म विश्व में है, पर विश्व का नहीं है; उससे परे है। ब्रह्म के कारण ही आत्मा में शक्ति है; इस शक्ति को बढ़ा कर ब्रह्म के पास पहुँचना नीति और सदाचार है। मनुष्य को साधारण भौतिक कामनाओं में जीवन नष्ट न करना चाहिये; साधारण स्वार्थ, इन्द्रिय-सुख में लीन न हो जाना चाहिये; यह सब नश्वर है, क्षणभङ्गुर है; अनादि अनन्त, सनातन ब्रह्म का चिन्तन करो, ध्यान करो, उसे जानो। जो ब्रह्म को जानता है अथवा यों कहिये कि आत्मा को ठीक-ठीक पहचानता है, वह सब स्वार्थ छोड़ देता है; संन्यासी हो जाता है। आत्मा को जानने वाला सब शोक को पार कर जाता है; ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। पर अन्यत्र उपनिषदों में कहा है कि वेद पढ़ने से, या विद्या से, या ज्ञान से, सिद्धि नहीं हो सकती; सदाचार भी होना चाहिये, धर्म का पालन करना चाहिये; हृदय को पवित्र करना चाहिये, ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये। अन्यत्र कहा है कि ज्ञान और आचार एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं—जब तक आचार ठीक नहीं है, हृदय में शान्ति नहीं है, चित्त में स्थिरता नहीं है। तब तक आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता, आध्यात्मिक सत्य की पकड़ नहीं हो सकती। उपनिषदों के अन्य भागों में इसको भी काफ़ी नहीं माना है; कोरे सदाचार से उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती; केवल यज्ञ, दान, इत्यादि से मुक्ति नहीं हो सकती; परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिये, अपने को परमेश्वर से मिला देना चाहिये, परमेश्वर को आत्मसमर्पण कर देना चाहिये। अहङ्कार जीव को हर तरह से नीचे गिराता

ब्रह्म

मोक्ष

है; अहङ्कार छोड़कर ब्रह्म की ओर बढ़ना चाहिये। बहुत जगह उपनिषदों में कहा है कि जीव, आत्मा, और ब्रह्म वास्तव में एक है। मोक्ष पाने पर आत्मा का अन्त नहीं होता। जैसे नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं वैसे ही आत्माएँ ब्रह्म में मिल जाती हैं।

यदि आत्मा चिदानन्दपूर्ण ब्रह्म है तो संसार में दुःख और पाप क्यों हैं? इस जटिल प्रश्न के उत्तर में उपनिषद् कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

पुनर्जन्म

ऐतरेय, शतपथब्राह्मण इत्यादि में कर्म का थोड़ा-सा उल्लेख अवश्य है[1] पर इसका पूरा ब्योरा सबसे पहिले उपनिषदों में मिलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार देवता, मनुष्य, जन्तु, वनस्पति, सब की आत्मा कर्म के कठोर नियम के अधीन हैं। प्रत्येक अभिलाषा, आकांक्षा या क्रिया का प्रभाव—अच्छा या बुरा—आत्मा पर पड़ता है, यह प्रभाव एक जीवन तक परिमित नहीं है; मरने के बाद फिर कर्मानुसार जन्म होता है और कर्म का फल भोगना पड़ता है; इस दूसरे जीवन के कर्मों का फल तीसरे जीवन में होता है और इस तरह चक्र चलता रहता है। किसी भी जन्म के पहिले अनगिनत जन्म हो चुके हैं। यह कर्मसंसार-चक्र ब्रह्म में लीन होने तक चलता रहता है। इसलिये जीव को चाहिये कि अच्छे कर्म करे और सबसे बड़ी बात तो यह है कि ब्रह्म प्राप्त करने की चेष्टा करे।

उपनिषदों में सबसे पहिले योग का ज़िक्र आया है। योग की क्रियाओं से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, मन स्थिर होता है, हृदय पवित्र होता है, आत्मा भौतिक जीवन के ऊपर उठ जाता है, ब्रह्म को समझने में सुगमता होती है।

योग

कौषीतकि उपनिषद् कहता है कि प्रतर्दन ने संयमन का एक नया मार्ग चलाया था जो अन्तर अग्निहोत्र अर्थात् आभ्यन्तरिक यज्ञ है। अभिप्राय यह है कि रागद्वेष-भावना वृत्ति को पूरी तरह दमन करना चाहिये। प्राणवायु को रोकने से भी

---

[1] ऐत० ब्रा० ८। १५॥ शत० ब्रा० ६। २। ७। ३३॥ ६। २। २। २७॥

चित्त को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। ओम्, तद्वनम् तज्जलान्, आदि शब्दों पर चित्त को एकाग्र करना चाहिये। सब कुछ छोड़ कर एक पदार्थ पर मन को एकाग्र करने से चित्त में स्थिरता आती है। इस तरह योग का अभ्यास करते-करते पूर्ण एकाग्रता और पूर्ण स्थिरता प्राप्त होती है। मुण्डकोपनिषद् में एक जगह न्याय का उल्लेख किया है पर न्याय की पूरी पद्धति अभी नहीं बनी थी।

उपनिषदों में सत्य की टटोल हो रही है, विश्व का रहस्य जानने का उद्योग हो रहा है और परम सुख का मार्ग ढूँढ़ा जा रहा है। तरह-तरह के विचार पैदा हो रहे हैं, चारों ओर स्वतन्त्रतापूर्वक बहस हो रही है, बिना किसी डर के नये-नये सिद्धान्त निकाले जा रहे हैं। इसलिये उपनिषदों में बहुत मतभेद है, पर अन्त में कुछ बातों पर सब एक हो गये हैं। ब्रह्म ही सत्य है; विद्या और योग से वह जाना जाता है। विद्या से मुक्ति होती है।[1] ब्रह्म-विद्या सब पापों का नाश कर देती है।[2] विश्व-व्यापी परमात्मा से पैदा हो कर यह जीवात्मा शरीर धारण करता है, अपने कर्म के अनुसार अपना संसार बनाता है और एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता रहता है। इस आवागमन में बहुत से दुःख होते हैं। इनसे छुटकारा तभी मिल सकता है जब आत्मा फिर ब्रह्म में लीन हो जाय। यही मुक्ति है; विद्या और योग इसका उपाय है। आवागमन और मोक्ष का सिद्धान्त जो इस समय निकले वह आगे बौद्धों और जैनों ने भी माने और आज तक सब हिन्दुओं में प्रचलित हैं। ब्रह्म, विद्या और योग के सिद्धान्त भी किसी-न-किसी रूप में लगभग सब हिन्दू-सम्प्रदायों ने माने हैं।

ब्रह्म-विद्या

कर्म और संसार का सिद्धान्त जीवन पर कई, और कभी-कभी विपरीत, प्रभाव डालता है। यह कर्म को प्रधान मानता है और अच्छे कर्म करने का आदेश करता है। जो जैसा कर्म करेगा वह वैसा ही फल पायेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये उत्तरदायी है। उपनिषदों का सिद्धान्त विद्या पर भी पूरा जोर देता है और सबको

कर्मसिद्धान्त का प्रभाव

---

[1] छा० उ० ६। ८॥ [2] छा० उ० ८। १२। ३॥ कौषी० उ० ३। १॥

ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा करता है। पर आवागमन के सामने इस जीवन की महिमा कम हो जाती है; एक बड़ी लम्बी यात्रा में यह केवल एक सराय है, या केवल एक क़दम है। इस संसार की सारी सुख-सम्पत्ति क्षणभङ्गुर है, असार है। बृहदारण्यकोपनिषद्[१] भूख-प्यास, पुत्र की कामना, सम्पत्ति की कामना—इन सबको बुरा समझता है और एकमात्र ब्रह्म को ही सब कुछ मानता है। सीधे-सादे आदमी इन सिद्धान्तों से बहक सकते थे और संसार का जीवन अस्त-व्यस्त हो सकता था। शायद इसीलिए ऐतरेय, आरण्यक, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि उपनिषद् आदि में कहा है कि यह विद्या गुह्य है, हर किसी को बताने की नहीं है, पक्के शिष्यों और पूरे अधिकारियों को ही बतानी चाहिये।[२] पर जब किसी-न-किसी तरह यह नये सिद्धान्त चारों ओर फैल गये तब जीवन के लिये उनके अनुसार मार्ग निश्चित करना आवश्यक हो गया। इस लोक के और परलोक के अभ्युदय को मिलाने से अर्थात् मनुष्य के लौकिक और आध्यात्मिक हितों को मिलाने की चेष्टा से आश्रमों के सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई।

आश्रम

कह चुके हैं कि ऋग्वेद के १०वें मण्डल के समय में ही कुछ मुनि पैदा हो गये थे जो तप किया करते थे। उपनिषदों के समय में मुनियों की संख्या बढ़ गई थी। यह भी कह चुके हैं कि विद्या पढ़ने की परिपाटी ऋग्वेद के समय में शुरू हो गई थी। जैसे-जैसे साहित्य और विद्या की उन्नति होती गई वैसे-वैसे पठन-पाठन की रीति भी बढ़ती गई। तैत्तिरीयसंहिता कहती है कि ब्रह्मचारी होकर पढ़ना ब्राह्मण का कर्तव्य है।[३] ऐतरेयब्राह्मण में नाभानेदिष्ट ब्रह्मचारी होकर अपने गुरु के घर में रहता है। छान्दोग्योपनिषद् में बालपन १६ बरस तक माना है पर ब्रह्मचर्य का समय इससे ज़्यादा होता था।[४] इस तरह ब्रह्मचर्य और तपस्या के प्रचार से

---

[१]बृह० उ० ३।५।२॥ ४।२३॥ [२]ऐत० आ० ३।२।६।६॥ बृह० उ० ६।३।१२॥ २।१।४॥ छा० उ० ३।११।५॥ ८।११।३॥ कौषी० उ० १।७।४।१६॥ [३]तैत्ति० सं० ६।३।१०।५। [४]ऐत० ब्रा० १२।६॥ [५]छा० उ० ५।१।११।५।२४।५॥

जीवन की दो अवस्थाएँ स्पष्ट हो गईं। तीसरी अवस्था गृहस्थ जीवन की थी जो तप इत्यादि की प्रशंसा होते हुये भी हमेशा जरूरी थी। उपनिषदों में मुनि और गृहस्थ का भेद बताया है।[१] इसके बाद परमार्थ अवस्था के दो भाग कर दिये गये। उपनिषदों में ही श्रमण और तापसों का भेद कर दिया है; अन्यत्र मुनियों और प्रव्राजिनों का अलग-अलग उल्लेख किया है और आत्मा के ज्ञान को यज्ञ और तप से जुदा बताया है।[२] इस तरह चार अवस्थाएँ अर्थात् चार आश्रम हुए, जिनका सिद्धान्त पहिले-पहल उपनिषदों में ही पाया जाता है। मालूम होता है कि बहुत दिन तक तीसरा और चौथा आश्रम एक ही माना जाता था।[३] छान्दोग्योपनिषद् से ध्वनि निकलती है कि आदमी चाहे तो ब्रह्मचर्य के बाद जीवन भर गृहस्थ बना रहे।[४] पर इसी उपनिषद् में दूसरी जगह तप को तीसरा आश्रम माना है।[५] इस तरह उपनिषदों में सिद्धान्त कुछ अनिश्चित हैं, पर अन्त में नतीजा यही निकलता है कि द्विज का जीवन चार भागों में बटना चाहिये।

आरुणेयोपनिषद्, आश्रमोपनिषद् और संन्यास उपनिषद् में चार आश्रम बहुत साफ तौर से बयान किये हैं।[६] इस प्रकार इस काल में आश्रमों का सिद्धान्त निकला जो फिर सदा हिन्दू शास्त्रों में माना गया। पर यह समझना भूल होगी कि आश्रमों के नियम का पालन सब लोग करते थे जैसा कि आगे बताया जायगा, जातकों से जाहिर है कि आश्रम धर्म सिद्धान्त में सबको मान्य था, पर व्यवहार में सबको ग्राह्य न था।

ब्रह्मचर्य-आश्रम में बालक विद्याध्ययन करते थे। इस काल में शिक्षा की चर्चा बहुत बढ़ गई थी। कह चुके हैं कि ऋग्वेद में वेद के पाठकों का जिक्र आया है।[७] अथर्ववेद में ब्रह्मचारी के पठन-पाठन की बड़ी महिमा गाई

---

[१] छा० उ० ५। १०। १॥ ६। २। १६॥ बृह० उ० ६। २। १५॥ इत्यादि। [२] बृह० उ० ४। ३। २२॥ ४। ४। २२॥ ३। ८। १०॥ [३] बृह० उ० ३। ५। १॥ [४] छा० उ० ८। १५॥ [५] छा० उ० २। २३। १॥ [६] आरु० उ० १। २। ५॥ आ० उ० ३-४॥ सं० उ० २। ७॥ [७] ऋग्० ७। १०३॥

शिक्षा

है।[१] शतपथब्राह्मण में कहा है कि वेदों के पढ़ने और पढ़ाने-से सुख, स्वाधीनता, धन, बुद्धि, यश इत्यादि सब-कुछ होता है।[२] बहुत से गुरुओं का उल्लेख है जो एक-दूसरे के बाद यज्ञों की विद्या-को चलाते रहे थे।[३] छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों से मालूम होता है कि बहुत-से ब्राह्मण अपने पुत्रों को घर पर ही पढ़ाते थे।[४] पर बहुत से लड़के गुरुओं के यहाँ जाकर विद्या प्राप्त करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में परिषदों का उल्लेख है जो विद्यापीठ थे और जिनमें बहुत-से छात्र इकट्ठे होते थे।[५] कभी-कभी गुरु बिना किसी रस्म के पढ़ाना शुरू कर देते थे।[६] पर शतपथब्राह्मण से सिद्ध है कि साधारणतः विद्याध्ययन के पहिले बहुत-सी रस्में होती थीं। ब्रह्मचारी गुरु के बहुत से प्रश्नों का उत्तर देता था और गुरु उसे प्रजापति, द्यौः, पृथिवी इत्यादि देवताओं के सुपुर्द करता था।[७] श्वेतकेतु आरुणेय १२ बरस की उम्र पर गुरु के यहाँ जाता है और २४ बरस की उम्र तक वेद पढ़ता है।[८] छान्दोग्योपनिषद् में नारद और सनत्कुमार की बातचीत से मालूम होता है कि इस समय और भी बहुत से विषयों का पठन-पाठन आरम्भ हो गया था, जैसे, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्र्य (श्राद्ध इत्यादि) राशी, दैव, निधि (समय का ज्ञान), वाकोवाक्य (तर्क), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, शिक्षा, कल्प, छन्दस्, भूतिविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या।[९] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इतिहास, पुराण विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान का ज़िक्र है।[१०] अन्य ग्रन्थों में भी इतिहास का उल्लेख है[११]। जान पड़ता है कि इस समय बहुत-सी धार्मिक और लौकिक विषयों की पढ़ाई होती थी और बहुत-से ग्रन्थ रचे गये थे, पर

---

[१] अथर्व० ६।५॥ [२] शत० ब्रा० ११। ५। ७। १॥ [३] शत० ब्रा० १०। ६। ५। ६॥ [४] छा० उ० ५। ३। १॥ बृह० उ० ६। २। १॥ [५] बृ० उ० ६। २॥ [६] छा० उ० ५। ११। ७॥ [७] शत० ब्रा० ११। ५। ४॥ [८] छा० उ० ६। १। २। ३॥ ६। ७। २॥ [९] छा० उ० ७। १। १। २॥ [१०] बृ० उ० २। ४। १०॥ [११] तैत्ति० ब्रा० ३। १२। ८। २॥ शत०

आगे चल कर वह बड़े ग्रन्थों में मिल कर लोप हो गये। वैदिक अध्ययन की सहायता के लिये धीरे-धीरे छः वेदाङ्गों ने स्पष्ट रूप ग्रहण किया—शिक्षा, छन्दस्, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष। पढ़ने वालों की संख्या बहुत थी। बहुत से कुटुम्ब थे, जैसे, छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु का कुटुम्ब जहाँ हर एक लड़का पढ़ता था।[1]

शतपथब्राह्मण से भी मालूम होता है कि बहुतेरे लड़कों को पढ़ने का शौक़ था।[2] छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम जाबाल जिसके पिता का पता न था, आप ही पढ़ने जाता है।[3] ब्राह्मणों और उपनिषदों में इन्द्र, भरद्वाज इत्यादि बहुत बरसों तक यहाँ तक कि जन्म-जन्मान्तर तक पढ़ते हैं।[4] कभी-कभी विद्यार्थी बहुत दूर-दूर से चल कर नामी गुरुओं के पास पढ़ने आते थे।[5] कुछ शिक्षक भी इधर-उधर घूमा करते थे।[6] बृहद्देवता कहता है कि पढ़ने-पढ़ाने से आदमी देवताओं के बराबर हो जाता है।[7]

हिन्दू-शिक्षा में ज्ञान से भी ज्यादा जोर चरित्र पर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य और संयम सबसे अधिक आवश्यक थे। ब्रह्मचारी गुरु के साथ रहते थे और इसलिये अन्तेवासी भी कहलाते थे। वह गुरु की सेवा करते थे, आज्ञापालन करते थे, उसके घर-द्वार की रक्षा करते थे, और उसके लिये तथा अपने लिये ईंधन, भोजन इत्यादि माँगकर लाते थे। कभी-कमी विद्यार्थी गुरु के साथ इधर-उधर जाया करते थे।[8] शिक्षा समाप्त होने पर गुरु, शिष्य को उपदेश देता था कि सच

गुरु के साथ जीवन

ब्रा० ११ । ५ । ६ । ४-८ ॥ १३ । ४ । ३ । ३ ॥ १४ । ५ । ४ । १० ॥

[1] छा॰ उ० ६ । १ । १ ॥ [2] शत० ब्रा० ११ । ४ । १ । ६ ॥ [3] छा० स० ४ । ४ । १ ॥ [4] छा० उ० ८ । २ । ३ ॥ बृह० उ० २ । २३ । २॥ तैत्ति० बा० ३ । १० । ११ । ३ ॥ [5] बृह० उ० ३ । ३ । १ ॥ ३ । ७ । १ ॥ तैत्ति० उ० १ । ४ । ३ ॥ [6] कौषी० उप० ४ । १ ॥ [7] बृह० १ । २१ ॥ [8] शत० बा० ११ । ३ । ३ ॥ ३ । २ । ६ । १५ ॥ ११ । ५ / ७ । १ ॥ बृह० उप० ३ ।१। २ ॥ ६ । ३ । ७ ॥ छा० उ० ४ । ३ । ५ ॥ ४ । ४ । ५ ॥ ४ । १० । १ ॥

बोलना, अपना कर्तव्य पालन करना, वेद पढ़ते रहना..................गृहस्थ बनाना।[१] पर छान्दोग्योपनिषद से मालूम होता है कि कोई-कोई नवयुवक गृहस्थ आश्रम से इन्कार कर देते थे और सीधे बन को चले जाते थे।[२]

ब्रह्म-विद्या के साथ तप की महिमा भी बढ़ती गई। तैत्तिरीयब्राह्मण कहता है कि देवताओं ने तप के द्वारा देवत्व पाया था।[३] तैत्तिरीयोपनिषद् में वरुण अपने पुत्र भृगु से कहता है, "तप से ब्रह्म को जानो क्योंकि तप ही ब्रह्म है।"[४] मैत्रायणी उपनिषद कहता है कि तप के बिना ज्ञान नहीं होता और कर्म का भी फल नहीं होता।[५] उपनिषदों में ही सबसे पहिले श्रमणों का जिक्र आता है।[६] अनेक स्थानों पर संसारी जीवन को दोषपूर्ण माना है।[७] पर इसके विपरीत ऐतरेय-ब्राह्मण में कहा है कि "बिना नहाये, दाढ़ी बढ़ाये, बकरी का चमड़ा पहन कर रहने से क्या लाभ है? तप करने में क्या रक्खा है? हे ब्राह्मण! पुत्र की कामना करो।"[८]

तप

अन्तिम वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था पहिले की अपेक्षा कुछ और कड़ी नहीं हुई है जितनी कि आगामी युगों में भेद भाव बढ़ रहे हैं; पर कभी-कभी उनका अनादर भी होता है। शतपथब्राह्मण में पुरुषमेध-यज्ञ में भिन्न-भिन्न वर्णों के लोगों ने भिन्न-भिन्न देवताओं को दीक्षित किया है। यों भी उनके लिये अलग-अलग सम्बोधन बनाये हैं और उनके लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के मृतस्मारकों का विधान किया है।[९] शतपथब्राह्मण में एक जगह तो सोमयज्ञ में शूद्र को स्थान दिया

वर्ण व्यवस्था

८।१५।१॥३।११।५॥

[१]तैत्ति० उ० १। ११॥ [२]छा० उ० २।२३।१॥ [३]तैत्ति० ब्रा० ३।१२।१३।१॥ [४]तैत्ति० उ० ३।५॥ [५]मैत्रा० उ० ४। ३॥ [६]तैत्ति० आ० २।७॥ बृह० उ० ४।३।२२॥ [७]उदाहरणार्थ, बृह० उ० ३।५॥ [८]ऐत० ब्रा० ७।१३॥ [९]शत० ब्रा० ३। १।१।१०॥ १३।८।३।११॥ 'वैदिक इण्डेक्स', २, पृ० १५३।

कड़ाई

है[१] पर अन्यत्र कहा है कि दीक्षित पुरुष को शूद्र से बात भी न करनी चाहिये।[२] अनेक बार यह भी कहा है कि संसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का है और शूद्रों को बिलकुल भुला दिया है।[३] शतपथब्राह्मण कहता है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों को मिल कर जनता पर शासन करना चाहिये।[४] श्रोत्रिय और राजा मिलकर धर्म की रक्षा करते हैं।[५] पर इस समय से लेकर हिन्दू-स्वतन्त्रता के अन्त तक ब्राह्मण-ग्रन्थों में पुरोहित या ब्राह्मण को राजा से भी बढ़ा देने की प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ, शतपथब्राह्मण स्वयं कहता है कि राजा की शक्ति पुरोहित की शक्ति से निकली है।[६] ऐतरेय-ब्राह्मण पुरोहित को राज-गोप अर्थात् राजा की रक्षा करने वाला कहता है।[७] इसी समय के लगभग ब्राह्मणों का यह दावा शुरू हुआ कि हमसे कर न लिया जाय। शतपथब्राह्मण इसका समर्थन करता है,[८] पर यह निश्चय नहीं है कि व्यवहार में ब्राह्मणों के साथ इस तरह की कृपा अभी होती थी या नहीं। पहिले-पहिल इसी समय में खान-पान की थोड़ी बहुत रोक-टोक प्रारम्भ होती है। ऐतरेयब्राह्मण कहता है कि जो क्षत्रिय दूसरे वर्णवालों के साथ खाये वह उनके ही दर्जे का हो जाता है।[९]

पर इसके विपरीत वर्णव्यवस्था की ढील के भी बहुत-से उल्लेख इस समय में मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण स्वयं यह मानता है कि राजा जनक क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये थे।[१०] साधारणतः राजा क्षत्रिय अवश्य होते थे[११] पर शायद कभी-कभी, वर्णव्यवस्था के प्रतिकूल, अन्य

ढील

---

[१]शत० ब्रा० ५। ५। ४। ६। [२]शत० ब्रा० ३। १। १। १०॥ [३]शत० ब्रा० २। १। ४। १२॥ ४। २। २। १४॥ [४]शत० ब्रा० ११। २। ७। ६॥ [५]शत० ब्रा० ५। ४। ४। ५॥ [६]शत० ब्रा० १२। ७। ३। १२॥ [७]ऐत० ब्रा० ७। २६। ८। २४-२७॥ [८]शत० ब्रा० १३। ६। २। १८॥ १३। ७। १। ३॥ [९]ऐत० ब्रा० ७। २९॥ [१०]शत० ब्रा० ९। ६। २। १०॥ [११]उदाहरणार्थ देखिये, शत० ब्रा० १। ५। २। ३, ५॥ १२। ८। ३। १९॥

वर्णों के भी होते थे। उदाहरणार्थ, शतपथब्राह्मण में राजा मरुत्त आविक्षित को आयोगव कहा है।[१] आगामी लेखक मनु, कौटिल्य और विष्णु के अनुसार, आयोगव एक मिश्रित जाति थी अर्थात क्षत्रिय नहीं थी।[२] अन्तर्जातीय ब्याह के भी कई उदाहरण मिलते हैं, यद्यपि यह सब अनुलोम ब्याह के हैं। वृहद्-देवता में क्षत्रिय रथवीति की कन्या ब्राह्मण श्यावाश्व से ब्याह करती है[३]; राजा स्वनय अपनी लड़की का ब्याह अङ्गिरा कुल के एक युवक से करता है[४], दीर्घतमस् की मा उषिज् एक दासी है।[५] इस प्रकार के अनुलोम सम्बन्ध तो साधारण से माने गये हैं।[६] समाज के मानसिक और आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से इस बात पर भी ज़ोर देना ज़रूरी है कि कम-से-कम क्षत्रियों में विद्या और तत्त्वज्ञान की चर्चा बहुत थी। क्षत्रियों ने बड़े-बड़े सिद्धान्त निकाले। बिना किसी सङ्कोच के ब्राह्मण लोग क्षत्रिय विद्वानों को गुरु मानते थे और उनसे शिक्षा पाते थे। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण गार्ग्य वालाकि का गुरु क्षत्रिय राजा अजातशत्रु था[७]; केकयराज अश्वपति प्राचीनशाल को तथा दूसरे ब्राह्मणों को शिक्षा देता था।[८] ऐसे और भी दृष्टान्त उपनिषदों में हैं।[९] छान्दोग्य-उपनिषद् में तो यहाँ तक दावा किया है कि ब्रह्मविद्या केवल क्षत्रियों की ही विद्या है।[१०] अन्यत्र यह मनोरञ्जक कथन है कि क्षत्रियों की राजनैतिक प्रधानता का कारण यही ब्रह्मविद्या है।[११]

वर्णव्यवस्था की कड़ाई और ढील के दृष्टान्तों से प्रगट होता है कि यह भी परिवर्त्तन का युग था और परस्परविरोधी शक्तियों का सङ्घर्षण हो रहा था। पर सब बातों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि पहिले की

---

[१]शत० ब्रा० १३। ५। ४। ६॥ [२]मनु० ६। १२॥ कौ० अर्थ० (सं० शामशास्त्री) पृ० १६५॥ विष्णु० १६। ४॥ [३]बृ० ५। ५०॥ [४]बृ० ३। १४२-४६॥ [५]बृ० ४। २४-२५॥ [६]बृ० ५। ७६॥ शत० ब्रा० ४। १। ५। ७॥ भी देखिये। [७]बृह० उ० २। १। १॥ कौषी उ० ४। १॥ [८]शत० ब्रा० १०। ६। १-२॥ छा० उ०। ५। ११। ४॥ [९]छा० उ० ५। ११॥ [१०]छा० उ० ५। ३॥ [११]बृह० उ० ६। २। ८॥ छा० उ० ५। ३। ७॥

अपेक्षा कुछ अधिक कड़ाई हो रही थी ।

आश्रमों की स्थापना और वर्ण की कड़ाई के सिवाय और कोई विशेष परिवर्तन समाज में नहीं हुआ । शतपथब्राह्मण से मालूम होता है कि पत्नी पति के साथ यज्ञ करती थी ।[1] बृहदारण्यक-उपनिषद् कहता है कि पत्नी से ही पुरुष की पूर्णता होती है ।[2] उपनिषदों और बृहद्देवता में ऋषि भी बहुधा ब्याह करते हैं । विधवाओं का भी ब्याह होता था, बहुधा देवरों के साथ ।[3] शतपथब्राह्मण से मालूम होता है कि राजा बहुधा चार ब्याह करता था ।[4] निरुक्त से प्रगट है कि सौतों में बहुत झगड़े-फ़साद होते थे और पति के नाक में दम हो जाता था ।[5] पुत्र की कामना प्रबल थी । बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है कि पुत्र वह है जो पवित्र करता है ।[6] जिसके पुत्र न हो वह अपनी कन्या को नियुक्त कर सकता था । अर्थात् ब्याह के बाद उसके पुत्र को श्राद्ध इत्यादि के लिये अपना मान सकता था । पर इससे लड़की के पति के श्राद्ध में बाधा पड़ सकती थी । इसलिये निरुक्त कहता है कि भ्रातृहीन कन्या से ब्याह नहीं करना चाहिये ।[7] बहुत सी स्त्रियाँ, जैसे गार्गी और मैत्रेयी, ऊँची शिक्षा पाती थीं और पुरुषों से ब्रह्मविद्या पर बराबर की बहस करती थीं ।[8] निरुक्त में स्त्रियों के दायभाग के अधिकार का पहिला उल्लेख मिलता है ।[9] इसके विपरीत शतपथब्राह्मण कहता है कि पति और पत्नी को अलग भोजन करना चाहिये; पत्नी को पति के बाद खाना चाहिये । स्त्रियों की बुद्धि दुर्बल होती है और वह विद्वानों की अपेक्षा नाचने-गानेवाले आदमियों को पसन्द करती हैं ।[10] जैसा कि शतपथब्राह्मण से प्रगट है, स्त्रियों के सच्चरित्र पर

साधारण सामाजिक अवस्था

---

[1] शत० ब्रा० ५ । २ । १ । १० ॥ [2] बृह० उ० १ । ४ । १७ ॥ [3] नि० ३ । १५ ॥ [4] शत० ब्रा० ६ । ५ । ३ । १ ॥ [5] नि० ४ । ५ ॥ [6] बृह० उ० १ । ५ । १७ ॥ [7] नि० ४ । ५ ॥ [8] उदाहरणार्थ देखिये, बृह० उ० ३ । ६ । ८ ॥ [9] नि० ३ । ४ ॥ [10] शत ब्रा० ३ । २ । ४ । ६ ॥ ४ । ४ । २ । १३ । १० । १० । ५ । २-६ ॥

समाज बहुत जोर देता था।[1] सामान्य नैतिक गुणों में संयम, उदारता, आतिथ्य, नम्रता, और सच्चाई बहुत बड़े माने जाते थे।[2]

राजनैतिक अवस्था में भी थोड़ा ही परिवर्त्तन हुआ है। इस काल में राज्यों का क्षेत्र बढ़ गया है और ज़मीन्दारी सङ्घप्रथा और भी दृढ़ हो गई है। ऐतरेय-ब्राह्मण में राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमस्थ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, स्वावाश्य शब्द आये हैं, जो तरह-तरह के अधिकारों के और सङ्घ-पद्धति के भिन्न-भिन्न दर्जों के द्योतक हैं।[3] यहाँ समुद्र तक फैले हुए राज्य की भी बात कही है, जिससे मालूम होता है कि बड़े राजा अपना आधिपत्य दूर-दूर फैला रहे थे।[4] आधिपत्य के सूचक थे चार महायज्ञ—राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध और ऐन्द्रमहाभिषेक जो बहुत से ब्राह्मणों के द्वारा बहुत दिन में किये जाते थे और जिनमें बहुत सी रस्में होती थीं और शक्ति, प्रभुता, धर्म इत्यादि के लिये बहुत से मन्त्र पढ़े जाते थे।[5] पुनरभिषेक और सर्वमेध भी बड़ी रस्में थी जो भारी विजय के बाद की जाती थीं।[6] ऐतरेयब्राह्मण में अभिषेक के समय राजा

राजनैतिक अवस्था

आधिपत्य

यज्ञ

---

[1]शत० ब्रा० २। ५॥ २०॥ [2]शत० ब्रा० ५। १॥ १। १॥ ६। ५। १। १३॥ ११। १। ८। १॥ १। १। १। ५॥ २। २। १॥ १६॥ ८। ३ २। १॥ नि० ३। ११॥ वृह० उ० ५। २। ३॥ ३। १७। ४॥ ४। ३। २२॥ छा० उ० ५। १०। ६॥ ८। ४॥ कठ० १। २। २४॥ १। ३। ७॥ ऐत० आ० १। १। १॥ तैत्ति० उ० १। ११। २॥ कौषी० उ० ३। १॥ ईश० १-२॥ [3]ऐत० ब्रा० ७। ३। ४॥ ८। १२। ४॥ [4]ऐत० ब्रा० ८। १४॥ [5]देखिये, शत० ब्रा० ६। ३। ४। ८॥ १३। ५। ४॥ ५। १। १। ३, १३-१४॥ १२। ८। ३। ४॥ ५। २। २। २, १४-१५॥ ५। १। १। १२॥ ५। ४। ३। ४॥ ५। २। २४॥ ५। १। १। ५। १४॥ ५। ३, ५, ३॥ ५। ४। ३। १०-२०॥ ५। ४। ४। ६-१३॥ [6]ऐत० ब्रा० ८। ५-११ : ५॥ शत० ब्रा० १३। ७। १॥

शपथ खाता है कि अगर मैं आप लोगों पर अत्याचार करूँ तो मेरा सारा पुण्य, मेरा लोक और परलोक, मेरी सन्तान सब कुछ खो जाय।[1]

शपथ

और जगह भी कहा है कि सब शासन धर्म के अनुसार होना चाहिये, धर्म ही सच्चा शासक है।[2] न्याय करना अब राजा-का एक प्रधान कर्त्तव्य था।[3] छान्दोग्य उपनिषद् हत्या, चोरी, व्यभिचार और मद्यपान को सबसे बड़ा अपराध मानता है। अग्नि और तराजू इत्यादि की परीक्षाएँ अपराध का निर्णय करने के लिये होने लगी थीं।[4] राजा पहिले की तरह जनता से कर लेता था।[5]

न्याय

समिति अब भी थी।[6] पर राज्य के बढ़ने से लोगों का इकट्ठा होना कठिन हो गया था और समिति का प्रभाव घटता जाता था।

समिति

---

[1] ऐत० ब्रा० ८ । १५ ॥ [2] शत० ब्रा० ५ । ४ । ४ । ५ ॥ बृह० उ० १ । ४ । ११-१५ ॥ छा० उ० २ । २३ । १-२ ॥ [3] शत० ब्रा० ५ । ३ । ३ । ६ ॥ [4] छा० उ० ६ । १६ ॥ शत० ब्रा० ११ । २ । ७ । ३३ ॥ [5] ऐत० ब्रा० ७ । २६ ॥ शत० ब्रा० १ । ८ । २ । १७ ॥ ४ । २ । ३ । १७ ॥ ५ । ३ । ३ । १२ ॥ १० । ६ । २ । २ ॥ १३ । २६ । ६ । ८ ॥ इत्यादि ॥ [6] शत० ब्रा० १२ । ७ । २ । १३ । १३ । १ । १ । ४७ ॥ छा० उ० ५ । ३ । १ ॥

इतिहास में युगों का विभाग अध्ययन की सुगमता के लिये किया जाता है। वास्तव में बड़े परिवर्त्तन किसी एक बरस में नहीं होते; वह बहुत बरसों में, कभी-कभी सदियों में होते हैं और किसी एक बरस का जीवन आगामी या पूर्ववर्ती बरस से बहुत भिन्न नहीं हो सकता। ऐतिहासिक परम्परा के इस सिद्धान्त को प्राचीन भारत के सम्बन्ध में याद रखने की विशेष आवश्यकता है क्योंकि यहाँ परिवर्तन धीरे-धीरे हुए और बहुत-सी पुरानी बातें सदा-ही बनी रहीं। उदाहरणार्थ वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का प्रभाव कभी मिटा ही नहीं। तथापि हम उस समय युग-परिवर्तन मान सकते हैं जब सभ्यता के कुछ महत्त्वपूर्ण अङ्गों पर नये प्रभाव पड़ने लगे और जब समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य या कला में कुछ नये लक्षणों का प्रदुर्भाव हुआ। इस कसौटी के अनुसार वैदिक काल का अन्त ई॰ पू॰ ७वीं सदी में या उसके भी पहिले मानना पड़ेगा।

ऐतिहासिक परिवर्तन

अब तक जिस धार्मिक साहित्य की रचना हो चुकी थी वह श्रुति कहलाता है। आगामी समय के धार्मिक ग्रन्थ, बहुत प्रभावशाली होने पर भी श्रुति के बराबर नहीं माने गये। साहित्य की शैली भी इस समय बहुत बदल गई। उपनिषद् अवश्य बनते रहे पर कोई नया वेद या ब्राह्मण नहीं रचा गया। कई अन्य शैलियों की प्रधानता हुई जो पहिले मौजूद तो थीं पर उतना महत्त्व न रखती थीं। अब एक तो बहुत से वीर काव्यों की रचना हुई जो अन्त में रामायण और महाभारत के रूप में प्रगट हुए। दूसरी ओर बहुत-सी कथाएँ लिखी गईं जो कुछ संस्करणों-के बाद बौद्धजातक इत्यादि के रूप में आईं। तीसरी ओर स्मरण की सुगमता के लिये पुराने सिद्धान्त बहुत-सी नई बातों के साथ अत्यन्त संक्षेप से पूर्वापर सम्बन्धी सूत्रों में प्रगट किये गये। अगर इन तमाम ग्रन्थों—रचना के काल ठीक-ठीक पता लग सकता तो हिन्दुस्तान का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक इतिहास

साहित्य

क्रमपूर्वक ब्यौरेवार लिखा जाता। पर अभाग्यवश किसी भी रचना का ठीक-ठीक समय निश्चित नहीं है। इसलिये वैज्ञानिक ऐतिहासिक समालोचना के सिद्धान्तों के अनुसार इन सब का प्रयोग एक साथ नहीं किया जा सकता। एक-एक करके इन रचनाओं से ऐतिहासिक सामग्री निकालनी चाहिये। समय के विषय में सामान्य रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विचारों का या संस्थाओं का प्रचार ई० पू० ७—६ सदी से तीन-चार सदियों तक था। इस विशाल साहित्य की समीक्षा से सिद्ध होता है कि समाज में बहुत से परिवर्त्तन हो रहे थे और कुल मिलाकर वह इतने महत्त्वपूर्ण थे कि ई० पू० ७-६ सदी से एक नये युग का प्रारम्भ अच्छी तरह मान सकते हैं।

पठन-पाठन की सुगमता से सूत्र-शैली का प्रचार सारे देश में हो गया और लगभग सभी विषयों के लिये उनका प्रयोग हुआ। बहुत से सूत्रग्रन्थ तो लोप हो गये हैं पर जो बचे हैं वह भी मात्रा में कम नहीं हैं। धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से कल्पसूत्र महत्त्वपूर्ण हैं। यह ई० पू० लगभग छठी सदी से ई० पू० लगभग दूसरी सदी तक रचे गये थे। प्रत्येक कल्पसूत्र किसी-न-किसी संहिता या ब्राह्मण को मुख्य कर के मानता है और इस प्रकार श्रुति पर अपनी निर्भरता प्रगट करता है। जान पड़ता है कि इस समय प्रधान ऋषियों या गुरुओं के अलग-अलग चरण चल गये थे और प्रत्येक मुख्य चरण या शाला में सिद्धान्त और कर्मकाण्ड अलग-अलग लिखे गये। पिछले सूत्रों में भी ज्यादातर पुरानी ही बातें हैं। मोटी तरह, वह जीवन, जिसकी झलक सूत्रों में है ई० पू० ६००-३०० का माना जा सकता है।

सूत्र

कल्पसूत्रों के तीन भाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। श्रौतसूत्र अनेक हैं, जैसे, शाङ्खायन, आश्वलायन, लाट्यायन, कात्यायन, आपस्तम्ब, बौद्धायन इत्यादि के। इन सब में केवल यज्ञों का विधान है। यहाँ ऐतरेय, शतपथ इत्यादि ब्राह्मणों के यज्ञों को सुलझाया है। अनगिनित छोटी-छोटी बातें व्यवस्थापूर्वक लिखी हैं। इनसे सिद्ध होता है कि अब धर्म में, सामाजिक जीवन में, यहाँ तक

श्रौतसूत्र

कि राजनैतिक जीवन में भी यज्ञों की मात्रा बढ़ रही थी, तरह-तरह की रस्में चल रही थीं और चारों ओर ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ रहा था।

इतिहास की दृष्टि में श्रौतसूत्रों की अपेक्षा गृह्यसूत्र अधिक महत्त्व के हैं। पाराशर, पारस्कर, गोभिल, हिरण्यकेशिन्, शाङ्खायन, बौद्धायन, आपस्तम्ब इत्यादि नामों के गृह्यसूत्रों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और संन्यास आश्रमों का वर्णन है और विशेषकर गृहस्थ जीवन के नियम सैकड़ों की तादाद में दिये हैं। याद रखना चाहिये कि सूत्र-ग्रन्थों में सिद्धान्त लिखा है, व्यवहार नहीं, पर सिद्धान्तों में व्यवहार की जो झलक आई है उससे प्रगट होता है कि ब्राह्मणों के नियम घर के जीवन को जकड़ रहे थे, रस्में बहुत होती थीं, और दान भी बहुत दिया जाता था। सिद्धान्त में तो वर्णाश्रम धर्म के नियम अब अटल माने जाते थे और व्यवहार में भी कुछ कड़े होते जाते थे। गौतम, बौद्धायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ के धर्मसूत्रों से भी यही नतीजा निकलता है। गृह्यसूत्रों में विशेषकर गाँव के जीवन का ही उल्लेख है, शहर का बहुत कम है। इनमें तथा धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और पुराणों में स्नान और शौच के जो नियम दिये हैं उनमें से कुछ तो स्वास्थ्य के आधार पर हैं और कुछ यों ही पवित्रता के आधार पर हैं। गृह्यसूत्रों में जन्म से मृत्युपर्यन्त घरेलू जीवन की सब रस्में लिखी हैं और सब नियम दिये हैं। भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये नामकरण, उपनयन, शिक्षा, गुरुचर्या, ब्याह इत्यादि की रस्में अलग-अलग हैं।

गृह्यसूत्र

श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रों की तरह बहुत से धर्मसूत्र भी बने, पर उनमें से कुछ तो लोप हो गये हैं और कुछ बहुत पीछे के हैं। उदाहरणार्थ, मानवधर्मसूत्र लोप हो गया है, यद्यपि उसके बहुत से अंश मानव धर्मशास्त्र अर्थात् मनुस्मृति में होंगे। शङ्खलिखित धर्मसूत्र का[1] पता अभी तक नहीं लगा है, यद्यपि उसके कुछ अंश इधर-उधर उद्धृत मिलते हैं। वैखानस-धर्मसूत्र एवं विष्णु और हिरण्यकेशिन् के

धर्मसूत्र

[1] देखिये, कुमारिल भट्ट तन्त्रवार्तिक, पृ० १७९

धर्मसूत्र लगभग तीसरी ईस्वी सदी के हैं और आलोच्य सूत्रकाल के लिये प्रयोग नहीं किये जा सकते। बाक़ी रहे चार धर्मसूत्र; वह गौतम, बौद्धायन आपस्तम्ब और वसिष्ठ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें सबसे पुराना और महत्त्व-पूर्ण है गौतम धर्मसूत्र जो उत्तर में रचा गया था। उसके पीछे बौद्धायन धर्मसूत्र आता है जो दक्खिन में रचा गया था। इसीलिए उसमें समुद्र और सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख है। इसका पूर्व भाग उत्तर भाग से पुराना है। कालक्रम के अनुसार तीसरा धर्मसूत्र है आपस्तम्बक जो आन्ध्र प्रान्त में रचा गया था। अन्तिम धर्मसूत्र जो वसिष्ठ का है उत्तर का बना हुआ मालूम होता है। देश, काल और चरण के भेदों के कारण इन धर्मसूत्रों में छोटी-छोटी बातों में कुछ भिन्नता है, पर सिद्धान्त एक ही हैं। धर्मसूत्रों की तुलना से सिद्ध होता है कि अब सारे देश में एक ही सभ्यता का राज्य था; एक ही तरह के धार्मिक और सामाजिक सिद्धान्त और व्यवहार प्रचलित थे; एक ही तरह का राजनैतिक सङ्गठन था।

वर्णव्यवस्था

गौतम ब्राह्मणों को आपत्ति में क्षत्रिय का काम करने की इजाज़त देता है और कहता है कि कुछ और लोगों ने शूद्र के काम की भी इजाज़त दी थी।[१] इसी तरह क्षत्रिय और वैश्य भी नीचे वर्ण का काम कर सकते हैं।[२] गौतम यह भी कहता है कि ब्राह्मण अपने लिए दूसरों से खेती, तिजारत या महाजनी करा सकता है।[३] शायद व्यवहार में ऐसा ही होता था। वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में गौतम के कुछ और नियम शूद्रों के लिये बहुत कठोर हैं। दो उदाहरण लीजिये। शूद्रों को ऊँचे वर्ण के जूठे भोजन, कपड़े, छाते, चटाई और जूते इस्तेमाल करने चाहिये।[४] अगर शूद्र कभी वेद सुन ले तो कान में लाख भर देनी चाहिये, अगर उच्चारण करे तो ज़बान काट लेनी चाहिये और अगर याद रक्खे तो शरीर के दो टुकड़े कर देने चाहिये।[५] पर सन्देह है कि पुरोहितों के बनाये यह नियम

---

[१]गौतम ७। १-२४॥ [२]गौतम ७। २६॥ [३]गौतम० १०। ५-६॥ [४]गौतम० १०। ५८॥ [५]गौतम० १२। ४ ६॥

कभी व्यवहार में आते थे या नहीं ? दूसरी ओर गौतम का विधान है कि श्रोत्रिय राजदण्ड से बिलकुल मुक्त रहने चाहिये।[१] अन्यत्र उसने ब्राह्मणों को राजा की प्रभुता से भी स्वतन्त्र कर दिया है।[२] पर यह सब निरा सिद्धान्त है। व्यवहार में सब ब्राह्मण धर्म, यज्ञ, या पठन-पाठन में लगे हुए नहीं थे। बौद्धायन से मालूम होता है कि कुछ ब्राह्मण, किसान-गड़रिया, कारीगर, नौकर और नट का काम अवश्य करते थे।[३] यह विश्वास करना कठिन है कि यह सब कर से मुक्त थे अथवा राज्याधिकार के बाहर थे। धर्मसूत्रों के ऐसे उल्लेखों से एक और महत्त्व-पूर्ण निष्कर्ष निकलता है। सिद्धान्तों में वर्णव्यवस्था चारों ओर कड़ी हो रही थी।

व्यवसाय

व्यवहार में ब्याह के मामले में भी कड़ी हो रही थी, पर उद्योग-धन्धे के मामले में उसे जीवन-संग्राम के सामने हार माननी पड़ी। पेट भरने के लिये ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य जो व्यवसाय पाते थे करने लगते थे। जब वर्णों की संख्या बढ़ गई तब और भी ज्यादा ढील हो गई। सूत्र काल से लेकर आज तक व्यवसाय के मामले में वर्ण-व्यवस्था के नियम पूरे तौर से कभी व्यवहार में नहीं आये।

ब्याह

कह चुके हैं कि सूत्रों में अनुलोम ब्याह की व्यवस्था है अर्थात् प्रत्येक वर्ण के पुरुष को अपने से नीचे वर्णों से क्रमानुसार एक-एक कन्या ब्याहने की इजाज़त है। चारों धर्मसूत्रों में ऐसे नियम लिखे हैं और बहुतेरे आगामी धर्मशास्त्रों और पुराणों में भी दुहराये हैं। साहित्य में अनुलोम ब्याह के बहुत से उदाहरण भी मिलते हैं, पर जैसा कि ऊपर दिखा चुके हैं, ऐसे ब्याह बहुत ज़्यादा नहीं हो सकते थे।

राजप्रबन्ध

सूत्रों में तथा और सब हिन्दू ग्रन्थों में लिखा है कि राजा को अपने-आपही राजकार्य चलाना चाहिये। वर्णाश्रम धर्म का पालन कराना चाहिये। पर गौतम मानता है कि देश, जाति और कुटुम्ब के नियम जो धर्म के विरुद्ध न हों राजा को स्थिर रखने चाहिये

---

[१]गौतम० ८। ७-१३॥ [२]गौतम० ११। १-७॥ [३]बौद्धा० २। २। ४। १६-२०॥

और किसान, व्यापारी, महाजन, कारीगर इत्यादि के अपने लिये बनाये हुए नियम भी क़ानून के बराबर मानने चाहिये। पुराने हिन्दुस्तान में गाँवों को, कुटुम्बों को, और कामकाजियों के गणों और श्रेणियों को बहुत स्वतन्त्रता थी। न्याय के लिये सूत्रकारों ने दीवानी और फ़ौजदारी क़ानून के बहुत-से नियम दिये हैं और साक्षियों के बारे में भी बहुत-से नियम हैं। पर कहा नहीं जा सकता कि यह कहाँ तक प्रयोग किये जाते थे। इतना अवश्य मालूम होता है कि अब न्याय में वर्ण का कुछ खयाल किया जाता था, यानी एक ही अपराध के लिये नीचे वर्णवालों को ऊपर वालों से ज्यादा सज़ा दी जाती थी और शूद्रों पर ख़ासकर बहुत सख़्ती होती थी। गौतम के अलावा न्याय के सम्बन्ध में आपस्तम्ब से भी यही नतीजा निकलता है।[१] बौद्धायन पुराना सिद्धान्त देता है कि क्षत्रिय की हत्या के लिये एक हज़ार गाय और एक बैल देना चाहिये; शूद्र को या मोर, कौआ, उल्लू, कुत्ता, इत्यादि जीवों को मारने पर दस गाय और एक बैल।[२] पर बौद्धायन में राज्य की ओर से अदालतें भी हैं; वेद, स्मृति और शिष्टों के चरित्र क़ानून माने गये हैं और सन्देह दूर करने के लिये एक-एक वेद के एक-एक पण्डित, एक मीमांसक, और अन्य ब्राह्मण विद्वान्, इस तरह दस के परिषद् का विधान किया गया है।[३] न्याय में प्रदेशों की रीतियों का अनुसरण करना चाहिये।[४] वसिष्ठ इस बात पर बहुत ज़ोर देता है कि मुक़दमे में आसपास के आदमियों से बातें दर्याफ़्त करनी चाहिये।[५] आपस्तम्ब कहता है कि जो आदमी अपनी ज़मीन पर खेती न करे वह राज को हर्जाना दे।[६] यह भी कहा है कि खेत ख़राब करनेवाले पशुओं को खेतिहर बन्द कर सकता है।[७] वसिष्ठ की राय में राजा को उस गाँव को दण्ड देना चाहिये जो कर्त्तव्यहीन ब्राह्मणों को भिक्षा देता है।[८] आपस्तम्ब गाँव

न्याय

---

[१]गौतम० ११। २१-२२॥ आप० २।१०।२७॥ [२]बौद्धा० १। १०। १६। १-६॥ [३]बौद्धा० १।१।१-१२॥ [४]बौद्धा० १।१।२।१६॥ [५]वसि० १६।१३-१५॥ [६]आप० २।११।२८।१॥ [७]आप० २।११। २८।५॥ [८]वसि० ३।४॥

और नगर के अधिकारियों का उल्लेख करता है, जिससे मालूम होता है कि प्रादेशिक शासन की व्यवस्था अच्छी तरह हो गई थी।[१]

कर

गौतम के अनुसार, ज़मीन की पैदावार का १/६, १/८, या १/१० हिस्सा कर के रूप में लेना चाहिये; पशु और सुवर्ण का १/५०; फल, फूल, शहद, माँस इत्यादि का १/६०।[२] व्यापारियों को अपने व्यापार की एक चीज हर महीने कम दाम पर राजा को देनी चाहिये। कारीगरों को एक दिन राजा के लिये काम करना चाहिये। इसके अलावा लावारिस माल भी राजा का होता था।[३] गौतम तथा और हिन्दू लेखकों की राय में कर उस रक्षा का दाम है जो राजा प्रजा की करता है।[४] राजा का यह भी कर्त्तव्य है कि ब्रह्मचारी, ब्राह्मण, श्रोत्रिय और अपाहिजों का पालन करे।[५] बौद्धायन में भूमिकर पैदावार का १/६ भाग है और समुद्र से आये हुए माल पर चुङ्गी १/१० है।[६] आपस्तम्ब की राय है कि ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, मुनि, स्त्री, नाबालिग, अन्धे, बहरे, बीमार और दूसरों के पैर धोनेवाले शूद्रों से कर न लेना चाहिये।[७] वह यह भी कहता है कि लावारिस जायदाद राजा के पास जानी चाहिये।[८] वसिष्ठ कहता हैं कि कारीगरों से माहवारी कर लेना चाहिये; नदी, पहाड़, जङ्गल और सूखी घास के प्रयोग पर कर न लेना चाहिये; लावारिस जायदाद गुरु या शिष्य के न होने पर राजा के पास आनी चाहिये, राजा को नपुंसक और पागलों की पालना करनी चाहिये और उनके मरने के बाद उनका धन लेना चाहिये।[९]

आपस्तम्ब कुछ वेद-विरुद्ध रीतियों को भी आचरण के आधार पर प्रामाणिक मानता है[१०] पर बौद्धायन की सम्मति इसके प्रतिकूल है।[११] कुमारिल भट्ट ने सब धर्मसूत्रों और शास्त्रों को बराबर प्रमाणिक माना है, पुराणों को भी माना हैं,

---

[१]आप० २ । १० । २६ । ६-८ ॥ [२]गौतम० १२ । १-२ ॥ [३]गौतम० १० । २४-२७, ३१, ३५, ४३ ॥ [४]गौतम० १० । २८ ॥ [५]गौतम० १० । ७-१२ ॥ [६]बौद्धा० १ । १० । १८-१, १४-१५ ॥ [७]आप० २ । १० । २६ । १०-१७ ॥ [८]आप० २ । ६ । १४ । ५ ॥ [९]वसि० १९ । २७-२८ ॥ १७ । ८१-८३ ॥ [१०]आप० १ । ९ । २५ । ३ ॥ [११]बौद्धा० १ । १ । १९-२४ ॥

पर सदाचार पर बहुत ज़ोर दिया है। साधारण जीवन के सम्बन्ध में सूत्रों से पता लगता है कि इस समय नाटक-मण्डलियाँ और नाचने-गाने वालों की मण्डलियाँ बहुत थीं।[1]

[1]बौद्धा० १।५।१०-२४॥ वसि० ३।३॥

इतिहास-काव्यों का समय

६

सूत्रों के समय के आसपास हिन्दुस्तान के दो बड़े इतिहास-काव्य—रामायण और महाभारत—रचे गये। लौकिक वीरकाव्य की झलक ऋग्वेद में भी पाई जाती है। इसकी धारा भी शायद पुरोहिती साहित्य की धारा के साथ-साथ ही चलती रही थी। महाभारत की मुख्य कथा का बीज तो ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है। शाम्बव्यसूत्र और आश्वलायन गृह्यसूत्र[1] में भारत एवं महाभारत ग्रन्थ का उल्लेख है। पर कथा ने वर्तमान रूप ई० पू० ४००-२०० में ग्रहण किया। ई० पू० २००—ई० १००-२०० में और बहुत से कथानक जोड़े गये और धर्म के उपदेश मिलाये गये; जिनके आधार पर महाभारत पञ्चम वेद और धर्मशास्त्र, तथा 'मोक्षशास्त्र और अर्थशास्त्र भी कहलाया।[2] एक लाख श्लोकों के वर्तमान ग्रन्थ के कुछ भाग ई० स० २०० से भी पीछे के हैं, पर ४०० ई० तक संसार का यह सबसे बड़ा ग्रन्थ पूरा हो गया[3] और महर्षि वेदव्यास के नाम से प्रचलित हुआ।

महाभारत

काव्य के ओज, प्रसाद और चमत्कार के लिये महाभारत की समानता संस्कृत-साहित्य में केवल रामायण से ही हो सकती है। मध्यदेश के उस समय के जीवन के लिये भी इसका मूल्य बहुत है। अनेक समयों पर अनेक कवियों के द्वारा रचे जाने से महाभारत में विचार या व्यवहार की एकता नहीं है पर यह भेद ऐतिहासिक उपयोगिता को बढ़ाता ही है। महाभारत में बहुत से उपाख्यान, संवाद, गीत,

समय

---

[1] आश्व० गृ०, ३।३।१॥ [2] महा० आदि० ६२॥ [3] हापकिन्स, 'ग्रेट एपिक ऑफ़ इण्डिया', पृ० ३९७-४०२। चिं० वि० वैद्य, 'एपिक इण्डिया।'

महाभारत का नया संस्करण एक-एक अंश में पूना से सम्पादित होकर प्रकाशित हो रहा है। उसके पूरा हो जाने पर शायद महाभारत के खण्डों का समय निर्धारित करने में कुछ सुगमता हो।

इत्यादि शामिल हैं जिनकी रचना सम्भवतः मूलकथा के आसपास हुई थी पर जो पीछे से मिलाये गये हैं। महाभारत हिन्दूधर्म, नीति, समाज-सिद्धान्त और कथाओं का विश्वकोष-सा है। उसके रचयिता अथवा यों कहिये सम्पादक का यह दावा निर्मूल नहीं है कि जो कुछ है महाभारत से निकला है, जो महाभारत में नहीं है वह कहीं भी नहीं है।

विषय

महाभारत की मुख्य कथा तो सब को विदित है। कौन नहीं जानता कि पाण्डु के पाँच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने अपने चचेरे भाई कौरव अर्थात् धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों से, बहुत अनबन, निर्वासन, और सन्धि-प्रस्तावों की निष्फलता के बाद, कुरुक्षेत्र में महायुद्ध किया था और बड़ी काट-मार के बाद विजय प्राप्त की थी? महाभारत में यह कथा कुरुवंश की उत्पत्ति से लेकर युद्ध में मारे हुए वीरों की अत्येष्टि क्रिया तक और विजेताओं के स्वर्गारोहण तक १८ पर्वों में बयान की है। कथा का क्षेत्र मुख्यतः मध्यदेश का पच्छिमी भाग है, केन्द्र हस्तिनापुर है, पर कौरव या पाण्डवों की ओर से युद्ध करनेवाले राजाओं के वर्णन में सारे देश का ब्यौरा आ गया है। महाभारत की कथा में कहाँ तक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं और कहाँ तक कवियों की कल्पनाएँ हैं—यह बताना असम्भव है। शायद मूल कथा की मोटी-मोटी घटनाओं में ऐतिहासिक सत्य है, पर बाकी सब छोटी-छोटी बातें और कथानक मुख्यतः कवियों की करामात हैं। पर वर्णन चाहे ऐतिहासिक हों और चाहे कल्पित हों उनसे सभ्यता की बहुत-सी बातों का पता लगता है। हिन्दू-राजनीति का ब्यौरेवार वृत्तान्त सबसे पहिले महाभारत में मिलता है। सामाजिक संस्थाएँ व्यवहार में कैसी थीं यह भी महाभारत द्वारा अच्छी तरह मालूम होता है। इसके अलावा उस समय के तत्व ज्ञान पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है।

कथा

ऐतिहासिक मूल्य

महाभारत में समाज का सङ्गठन-सिद्धान्त वर्णव्यवस्था के आधार पर है[1] पर

---

[1]देखिए, खासकर शान्ति० ५६ । २८-२९ ॥ ६०, ७-१६ । २०-३६ ॥ ६२

व्यवहार में इस व्यवस्था का उल्लङ्घन बहुत हुआ करता था। वनपर्व में युधिष्ठिर कहते हैं कि जातियों का सम्मिश्रण इतना ज्यादा हो गया है कि जन्म नहीं, किन्तु चरित्र ही प्रधान है। आदिपर्व से भी मालूम होता है कि कोई[१] राजा शूद्र कन्याओं से ब्याह करते थे।[२] सभापर्व में पच्छिमी तट पर शूद्र राजा राज करते हैं।[३] शान्तिपर्व में ब्राह्मणों का पद सबसे ऊँचा रखा है।[४] पर कथा में प्रभुता क्षत्रियों की ही मालूम होती है, और अक्सर ब्राह्मणों की अवहेलना होती है। शान्तिपर्व में क्षत्रियों को ब्राह्मणों के साथ मेल से काम करने का उपदेश दिया है,[५] पर आदिपर्व में, उद्योग-पर्व में तथा अन्यत्र भी बड़े-बड़े मामलों में क्षत्रिय ब्राह्मणों की कुछ भी पर्वाह नहीं करते।[६] महाभारत में शूद्रों का स्थान व्यवहार में धर्मशास्त्रों के स्थान से अच्छा है। सभापर्व में राजा के अभिषेक में शूद्र भी बुलाये जाते हैं।[७] शान्तिपर्व में भी शूद्रों को तीन ऊँचे सरकारी पद दिये हैं।[८] अन्तर्जातीय ब्याह के उदाहरण भी बहुत से हैं। जब परशुराम ने क्षत्रिय पुरुषों की हत्या कर डाली तब क्षत्रिय स्त्रियों ने ब्राह्मणों से ब्याह किया।[९] एक ब्राह्मण ने निषाद स्त्री से ब्याह किया था जिसे वह बहुत प्यार करता था।[१०] एक आर्य ने अपनी कन्या की सगाई एक अनार्य राक्षस से की और जब उसने ब्याह भृगु से कर दिया तब राक्षस ने अग्नि देवता की शरण ली।[११] शान्तनु एक कन्या से प्रेम करके जातिपात पूछे ही

वर्णव्यवस्था

---

४ ॥ ६२ । १-५ ॥ ६५ । ८-१० ॥ ७२ । ४-८ ॥ १८८ । १-१४ ॥ २९७ । ३-४ ॥

[१]वन० १८० ॥ [२]आदि० ११४ ॥ [३]सभा० ५१ ॥ [४]देखिए, खासकर शान्ति० ३३ । २९ ॥ ३४ । १-४, ६-८, २२-२७ ॥ ३५ । १ ॥ ७५ ॥ १०-१२ ॥ ७६ । ३-१३ ॥ ७२ । १०-१७ ॥ ७३ । २९-३२ ॥ ७७ । २-७ ॥ ८९ । ३-६ ॥ तुलना कीजिये, वन० १३३ ॥ [५]शान्ति० ५६ । २४-२५ ॥ ७३ । ८-१३ ॥ ७४ । १३-१५ १७ ॥ ७७ । १०-१७ ॥ ८३ । २९ ॥ [६]आदि० १०२ ॥ उद्योग० १ ॥ [७]सभा० २३ । ४१-४२ ॥ [८]शान्ति० ७५ । ६-१० ॥ [९]आदि० ६४, १०४ ॥ [१०]आदि० २९ ॥ [११]आदि० ५-७ ॥

ब्याह करता है।[1] और एक मछुए की लड़की को यह शर्त मानकर ब्याहता है कि उसके पुत्र को गद्दी मिले।[2] महाप्रस्थानिकपर्व में युधिष्ठिर वैश्य स्त्री से उत्पन्न एक चचेरे भाई को राज्य सौंपता है।[3] अन्यत्र भीम राक्षसी से ब्याह करता है।[4] वनपर्व में भी राजा परीक्षित एक कन्या को देखते ही मुग्ध होकर बिना जाति-पात पूछे ब्याह करता है।[5] द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन को ब्राह्मण समझते हुए भी क्षत्रिय राजा द्रुपद अपनी कन्या ब्याहने को तैयार हैं।[6]

आनुशासिकपर्व में इस बात पर मतभेद है कि ब्राह्मण को शूद्र कन्या से ब्याह करना चाहिये या नहीं।[7] एक स्थान पर ऐसे ब्याह की कड़ी निन्दा की है। पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों में ब्राह्मण की सम्पत्ति बाँटने के ब्यौरेवार नियम दिये हैं। यह भी कहा है कि इन स्त्रियों में ब्राह्मण स्त्री मुख्य है। चारों वर्णों के परस्पर ब्याह-सम्बन्ध से और जातियों की उत्पत्ति बताई है।[8] इन सब कथनों से सिद्ध होता है कि अन्तर्जातीय ब्याह अवश्य होते थे। व्यवसाय के मामले में तो वर्णव्यवस्था के नियमों का उलङ्घन बहुत होता था। भीष्म कहते हैं कि वह ब्राह्मण चण्डाल के बराबर हैं जो अदालत में लोगों को बुलाने का काम करते हैं, जो वैश्यों और शूद्रों के यज्ञ कराते हैं, जो समुद्र यात्रा करते हैं, जो रुपया लेकर पूजा कराते हैं; वह ब्राह्मण क्षत्रियों के बराबर हैं जो मन्त्री, दूत, वाहक इत्यादि का काम करते हैं, वह वैश्यों के बराबर हैं जो हाथी घोड़े, या रथ हाँकते हैं या सेना में पैदल सिपाही हैं।[9] साफ जाहिर है कि बहुत से ब्राह्मण यह काम करते थे। स्वयं भीष्म ने ब्राह्मणों को आपत्ति पड़ने पर क्षत्रिय या वैश्य के काम करने की आज्ञा दी है और यह भी माना है कि कठिनता के समय में वैश्य या शूद्र राजा भी हो सकता है।[10] यह भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि आपत्ति के समय वर्ण के नियम ढीले हो सकते हैं।[11]

---

[1]आदि० ६७ ॥ [2]आदि० १०० ॥ [3]महा० प्र० १ । ६ ॥ [4]आदि० १५४ ॥ वन० १२ ॥ [5]वन० १९२ ॥ [6]आदि० १९१ ॥ [7]आनु० ४७ ॥ [8]आनु० ४८ ॥ [9]राज० प० ७६ ॥ [10]राज० प० ७८ । ४-७ ॥ [11]राज० प० १३० ॥

आनुशासिकपर्व से प्रकट है बहुत-से ब्राह्मण वैद्य, महाजन, गायक, नर्तक, पहलवान, इत्यादि होते थे, जीव जन्तु बेचते थे, रुपया लेकर हर किसी के यहाँ पूजापाठ करते थे, या विद्या पढ़ाते थे या शूद्र स्त्रियों से ब्याह करते थे।[१] इसी पर्व में युधिष्ठर के पूछने पर भीष्म बताते हैं कि विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण कैसे हो गये[२]—यद्यपि अन्यत्र कहा है कि ब्राह्मण तो जन्म से ही हो सकता है।[३] शान्तिपर्व में चारों वर्णों की उत्पत्ति ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की तरह पुरुष से बताई है, शूद्र को यज्ञ का निषेध किया है पर उसको साधारण धर्म पालने की इजाज़त दी है।[४] पराशर कहते हैं कि धर्मपरायण शूद्र ब्रह्म के बराबर है, विष्णु है, सारे विश्व में सबसे श्रेष्ठ है। वनपर्व में कहा है कि कलियुग में ब्राह्मण शूद्रों के काम करेंगे, क्षत्रिय यज्ञ करेंगे, शूद्र धनोपार्जन करेंगे, म्लेच्छ राजा पृथ्वी का शासन करेंगे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने-अपने काम छोड़ देंगे, शूद्र ब्राह्मणों का निरादर करेंगे, ब्राह्मण शूद्रों का आदर करेंगे।[५] ऐसे कथनों से भी यही जाहिर होता है कि वर्णव्यवस्था के नियम व्यवहार में हमेशा नहीं माने जाते थे। आनुशासिकपर्व में एक जगह तो साफ-साफ मान लिया है कि गुण और कर्म के अनुसार जन्म का वर्ण बदल जाता है, ब्राह्मण शूद्र के स्थान तक गिर सकता है और शूद्र ब्राह्मण की पदवी तक पहुँच सकता है।[६] एक श्लोक में कहा है कि न जन्म से कुछ होता है, न यज्ञ से, न ज्ञान से, चरित्र ही असली चीज है। जिस शूद्र का चरित्र अच्छा है वह ब्राह्मण ही है।[७] शान्तिपर्व में भी कहा है कि वर्ण गुण और कर्म के अनुसार होता है। जो सब कुछ खाये, सब कुछ करे, वेद न पढ़े और जिसका आचरण अपवित्र हो, वही शूद्र है। जिसमें यह दोष न हो वह शूद्र नहीं है, जिसमें यह दोष हो, वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है।[८] इसके विपरीत शान्तिपर्व में यह भी अवश्य कहा है कि शूद्र को सदा सेवा ही करनी चाहिये और कुछ नहीं।[९] महाभारत में कई जगह, जैसे वनपर्व में, यह भी

---

[१]आनु० २२ ॥ [२]आनु० ३-४ ॥ [३]आदि० १५७ ॥ आनु० २७-२९ ॥ [४]शान्ति० २९७ ॥ [५]वन० १५८ ॥ [६]आनु० १४३ ॥ [७]आनु० १४३। ५० ॥ [८]आनु० १४३। ५१ ॥ [९]शान्ति० १८९ ॥

माना है कि राक्षस भी धर्मात्मा हो सकते हैं, पहिले तो धर्म के सबसे अच्छे ज्ञाता राक्षस ही थे।[१] आनुशासिकपर्व में एक ऋषि के ब्राह्मण कहने से ही एक क्षत्रिय राजा वैतहव्य ब्राह्मण हो गया।[२] वनपर्व में माँस बेचनेवाला एक चिड़ीमार एक ब्राह्मण तपस्वी का गुरु है।[३]

जान पड़ता है कि वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में सब पण्डितों को पुरुषसूक्त से सन्तोष नहीं था। वह स्वयं मनोरञ्जक धारणाएँ निकाल रहे थे।[४]

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति

शान्तिपर्व एक स्थान पर कहता है कि जब ब्रह्मा ने देव, दानव-गन्धर्व, दैत्य, असुर, पिशाच, राक्षस, नाग इत्यादि के साथ-साथ मनुष्य बनाये तब चारों वर्ण अलग-अलग रङ्ग के थे—अर्थात् सफ़ेद, लाल पीले, और काले। भारद्वाज ने पूछा कि यदि रङ्ग के आधार पर ही भेद था तो अवश्य ही यह जातियाँ आपस में मिल गई होंगी। आदमियों के शरीर तो एक से ही हैं? फिर अब भेद कैसे हो सकता है? भृगु ने उत्तर दिया कि वास्तव में कोई भेद नहीं है। पहिले सारे संसार में केवल ब्राह्मण ही थे; कर्मों के कारण उनके भिन्न-भिन्न वर्ण हो गये। चारों वर्णों को धर्म और यज्ञ का अधिकार है।[५] दूसरी ओर अनुशासन-पर्व में कहा है कि ब्राह्मण को शूद्र से कभी भोजन न लेना चाहिये। शूद्र का भोजन दुनिया भर की गन्दगी के बराबर है। सब लोगों को अपने नियत कर्म का पालन करना चाहिये।[६] इस पर्व में निषिद्ध भोजन खाने के लिये बहुत से प्रायश्चित्त बताए हैं।[७] वर्ण के विषय में भगवद्गीता में भी दो मत हैं। सर्ग १८ में एक ओर तो कृष्ण ने चारों वर्णों के धर्म गिनाकर कहा है कि हर आदमी को अपना ही धर्म पालन करना चाहिये, अपने धर्म में मरना अच्छा है, दूसरे का धर्म भयावह है।[८] दूसरी ओर कृष्ण कहते हैं कि गुण-कर्म के विभाग से मैंने चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।

हिन्दू-सिद्धान्त में वर्णव्यवस्था के साथ आश्रम व्यवस्था को मिलाकर पूरे

---

[१]शान्ति० २९४-९५ ॥ [२]वन० १५७ ॥ [३]आनु० ३०॥ [४]वन० २०७-१६ ॥ [५]शान्ति० १८८ ॥ [६]अनु० ११५ ॥ [७]अनु० १३५ ॥ [८]भग० सर्ग १८ ॥

वर्णाश्रम-धर्म की कल्पना की गई है। आश्रम के व्यावहारिक रूप पर महाभारत

आश्रम

कुछ प्रकाश डालता है। महाभारत में ऋषि बहुत हैं पर वह संसार से अलग नहीं हैं। यह पढ़ाते हैं, शिष्यों से बहुत से काम लेते हैं, इनके स्त्री-पुत्र हैं, गाय-बैल हैं। कभी-कभी दूसरों के बच्चों को बड़े लाड़-प्यार से पालते हैं और उनके ब्याह में आनन्द मनाते हैं। कोई-कोई ऋषि जायदाद के हिस्सा-बाट पर गृहस्थों की तरह झगड़े करते थे और कोई-कोई इधर-उधर की स्त्रियों पर मुग्ध होकर ब्याह या अनुचित सम्बन्ध कर बैठते थे। कोई-कोई नियोग के लिये भी राजी हो जाते थे। कोई-कोई ऋषि बड़े क्रोधी होते थे। बहुत से ऋषि चारों ओर घूमा करते थे और राजा प्रजा सबको अच्छे उपदेश दिया करते थे। महाभारत में बहुतेरे परिव्राजकों का उल्लेख है जो जङ्गलों के अलावा गाँवों और नगरों में घूमते थे और उपदेश देते थे।[1] महाभारत में बहुत जगह संन्यास की प्रशंसा की है पर शान्तिपर्व में माना है कि धर्म, अर्थ और काम गृहस्थ आश्रम में ही है, यही सब आश्रमों की जड़ है, आधार, है, इसके बिना न तो ब्रह्मचर्य, न वानप्रस्थ और न संन्यास ही सम्भव है। यह भी कहा है कि गृहस्थ आश्रम में आदमी तरह-तरह के खान-पान, वस्त्र, जेवर, माला-फूल, सुगन्ध, गायन, नाच इत्यादि का खूब आनन्द ले सकता है।[2] आगे चलकर शान्तिपर्व में आश्रमों के साधारण नियम दिये हैं।[3] प्रवृत्ति की व्याख्या की है।[4] आनुशासिकपर्व में वानप्रस्थ जीवन का अच्छा चित्र खींचा है[5] पर सब लोग वानप्रस्थ को आवश्यक नहीं मानते थे। महाप्रस्थानिकपर्व में पाण्डवों के त्याग को जनता ने पसन्द नहीं किया।[6] वनपर्व में भीम युधिष्ठिर को समझाते हैं कि बन में रहकर तपस्या करना क्षत्रिय का कर्तव्य नहीं है[7] अन्यत्र भी भीम, अर्जुन और व्यास ने

---

[1]आदि० ३, ८-६, २६; ३६-४३, ७०-७७, १०४। वन० २०६॥ आश्रमों के लिये देखिये, शान्ति० २६३, २४५, २५१, २५६, २६१॥ [2]शान्ति० १६१, २३४, २६६॥ [3]शान्ति० ३२७॥ [4]शान्ति० २६७॥ ३४१ [5]अनु० १०॥ [6]महा० प्र० १॥ [7]वन० ३३॥ ३५॥ ५२॥

युधिष्ठिर को ऐसा ही उपदेश दिया है।[1] शान्तिपर्व में कहा है कि सम्भव है कि आदमी वन में भी गृहस्थ हो रह जाय और यह भी सम्भव है कि संसार में रहते हुए संन्यासी के बराबर हो जाय।[2]

स्त्रियों का पद

वर्णाश्रम की तरह स्त्रियों के सामाजिक पद के सम्बन्ध में भी महाभारत में कई भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं और व्यवहार में भी भेद दृष्टिगोचर हैं। जान पड़ता है कि भिन्न-भिन्न समयों और वर्गों में भिन्न-भिन्न रिवाज और आदर्श थे। एक ओर आनुशासिकपर्व के कुछ अध्यायों में जो शायद पीछे से मिलाये हुए हैं। स्त्रियों को बहुत कड़े, गँवारू और अश्लील शब्दों में गालियाँ दी हैं। कहा है कि स्त्री सबसे ज्यादा पापी है, माया है, आग है, साँप है, जहर है, झूँठी, मक्कार, विचारहीन, चञ्चल, दुश्चरित्र और कृतघ्न है।[3] सुक्रतुकी कहावत है कि स्त्रियाँ कभी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं हैं।[4] ऐसी भावनाएँ निवृत्ति-मार्ग के बढ़ने पर प्रगट हुई थीं। पर महाभारत में बहुत जगह स्त्रियों की प्रशंसा है और पदवी भी बहुत ऊँची है। स्त्रियाँ पुरुषों को कर्म और वीरता का उपदेश देती हैं; पतियों को यश और शूरता के मार्ग पर चलाती हैं, निष्कर्मण्यता या दुराचार पर उन्हें खूब फटकारती हैं।[5] देवयानी अपने दोषी पति ययाति को छोड़ देती है और अपने पिता के घर चली जाती है।[6] जब राजा नल जूए के नशे में डूब गया तब रानी दमयन्ती ने राज कार्य सम्हाला, मन्त्रियों की समितियाँ की, और बाल-बच्चों की रक्षा का प्रबन्ध किया।[7] पर शायद कुछ कुलीन घरों की स्त्रियाँ बाहर बहुत न आती-जाती थीं। स्त्रीपर्व में विलाप किया है कि स्त्रियाँ जिन्हें देवताओं ने भी न देखा था अब साधारण लोगों की नज़र के सामने निकल रही हैं।[8] पर इसके विपरीत वृष्णि और अन्धकों के मेले में स्त्रियाँ भी स्वतन्त्रता से घूमती हैं।[9] यहीं से अर्जुन सुभद्रा को उड़ा ले जाता है। आश्रमवासपर्व में धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से पूछते हैं

---

[1]शान्ति० ९-२४ ॥ [2]शान्ति० ३१० ॥ [3]आनु० १२, १९-२१, ३८-३९, ५० ॥ [4]आनु० ४५ ॥ [5]वन० ११, २७, ३७, ७६ ॥ [6]आदि० ८३ ॥ [7]वन० ५९-६१ ॥ [8]स्त्री० १०, १८ ॥ [9]आदि० २२१ ॥

कि तुम्हारे घर में स्त्रियों का उचित आदर होता है न।[1] शान्तिपर्व में कहा है कि स्त्री ही घर है; जिस घर में स्त्री नहीं है वह घर नहीं है, चाहे बेटी-बेटे, पोते-पतोहू कितने ही क्यों न हों। धर्म, अर्थ और काम में, देस में और परदेस में, सुख में, दुख में, हर बात में स्त्री ही साथी है।[2] आदिपर्व में शकुन्तला, दुष्यन्त से कहती है स्त्री धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की जड़ है, सबसे बड़ी मित्र है, आनन्द में मित्र है, उत्सव में पिता के बराबर है, बीमारी में माँ के बराबर है; मरने के बाद भी पति-पत्नी मिलते हैं, इसीलिए तो व्याह किया जाता है। क्रोध में भी पुरुष को कभी अपनी स्त्री को नाराज न करना चाहिये।[3] इसी तरह आनुशासिकपर्व में कहा है कि दस आचार्यों से बड़ा उपाध्याय है; दस उपाध्यायों से बड़ा पिता है, दस पिताओं से बड़ी, सारे संसार से बड़ी, माता है। माता से बड़ा कोई नहीं है। बड़ी बहिन को और बड़े भाई की स्त्री को भी माँ के बराबर मानना चाहिये। सदा बड़ों की आज्ञा माननी चाहिये।[4] अनुशासनपर्व में कुछ श्लोक हैं जो मनुसंहिता में भी पाये जाते हैं और जिनका अभिप्राय है कि जहाँ नारियाँ पूजी जाती हैं वहाँ देवता रमते हैं, जहाँ उनका निरादर होता है वहाँ सब कर्म निष्फल हो जाते हैं, जहाँ वह शोक में रहती हैं वह वंश नाश हो जाता है। पुरुषों के धर्म, अर्थ, काम का आधार स्त्री है। स्त्रियों के आदर, सन्मान और पूजा से सब काम सफल हो जाते हैं। पर फिर यह भी कहा है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्रता की अधिकारी नहीं हैं, पिता, पति और पुत्र को उनकी रक्षा करनी चाहिये।[5] शान्तिपर्व भी कहता है कि स्त्री को पति की आज्ञा माननी चाहिये और उसे प्रसन्न रखना चाहिये।[6]

स्त्रियों के पद के अनुकूल ही ब्याह की प्रथा महाभारत में दृष्टिगोचर है। ब्याह ज्यादातर बड़ी उम्र पर होता है। माता-पिता की इजाज़त अक्सर ली जाती है, पर कभी-कभी युवक-युवती अपने भाग्य का निपटारा आप ही कर डालते हैं। दुष्यन्त शकुन्तला से कहता है

ब्याह

---

[1]आश्रम० २६ ॥ [2]शान्ति० राजधर्म०, १४४ ॥ [3]आदि० ७४ ॥ [4]आनु० १०५ ॥ [5]अनु० ४६ ॥ [6]शान्ति० ४६ ॥

कि आदमी आपही अपना मित्र है, तुम अपना ब्याह आपही कर सकती हो। दोनों पूरी स्वतन्त्रता से ब्याह की बातें करते हैं। शकुन्तला सब ऊँच-नीच सोचती है, राजा से शर्त कराती है और अन्त में गाँधर्व-ब्याह कर लेती है।[1] क्षत्रिय-कन्याएँ बहुधा स्वयंवर करती थी[2] अर्थात् एकत्रित क्षत्रियों के समुदाय में से अपना पति आपही स्वतन्त्रतापूर्वक चुन लेती थीं, पर कभी-कभी जैसे द्रौपदी के स्वयंवर में पिता ऐसी शर्त लगा देता था कि लड़की को कोई स्वतन्त्रता न रह जाती थी। एक ओर आदि पर्व में कहा है कि पति के मरने पर स्त्री का जीना मरने के बराबर।[3] माद्री अपने पति पाण्डु के साथ मर जाती है।[4] दूसरी ओर यह भी मालूम होता है कि पति के मरने या खो जाने पर स्त्री का दूसरा ब्याह हो सकता था। दमयन्ती के दूसरे स्वयंवर की घोषणा से नल के सिवाय किसी को आश्चर्य नहीं हुआ और न किसी ने बुरा कहा।[5]

नियोग

महाभारत के समय में किसी-न-किसी प्रान्त में नियोग भी प्रचलित था, जो पति के मरने पर या निकम्मे होने पर किया जाता था। आदि पर्व में सत्यवती अपनी पतोहू का नियोग भीष्म से कराती है और स्वतन्त्रता-पूर्वक इस विषय पर बातचीत करती है।[6] आदिपर्व में पाण्डु अपनी पत्नी को स्त्रियों की पुरानी उच्छृंखलता का इतिहास सुनाकर कहता है कि जो स्त्री पति की आज्ञा पालन करके नियोग नहीं करती वह पापी है। वह नियोग के बहुत से उदाहरण देता है। देवताओं से नियोग करके कुन्ती ने पाँच पुत्र पाये।[7] पाण्डु की आज्ञा और कुन्ती की सहायता से माद्री ने भी नियोग किया।[8] कभी-कभी बिना आज्ञा के भी नियोग हो जाता था। ऐसे सम्बन्ध उत्पन्न होने वाले पुत्र को प्रसृतज कहते थे।[9]

कुटुम्ब के जीवन में पहिले की अपेक्षा कोई विशेष परिवर्तन नही मालूम होता। पुत्र की लालसा सदा की तरह प्रबल है। लोगों की धारणा है कि घर में

---

[1] आदि० ७३ ॥ [2] आदि० १०२ ॥ वन ५३-५७ १८६-६१ ॥ [3] आदि० १२१ ॥ [4] आदि० १२५ ॥ [5] वन० ७०-७६ ॥ [6] आदि० १०६ ॥ [7] आदि० १२२ ॥ [8] आदि० १२४ ॥ [9] आनु० ४९ ॥

पुत्र का होना लोक और परलोक दोनों के लिये आवश्यक है। आदिपर्व में पुत्रवती शकुन्तला अपने क्षणिक तिरस्कार से विह्वल और उद्विग्न होकर दुष्यन्त से कहती है कि पुत्र पित्रों को नरक से बचाता है, पुत्र के द्वारा मनुष्य तीन लोक जीतता है, पौत्र के द्वारा अमर हो जाता है और प्रपौत्र से पुरखे तर जाते है। पुत्र से वंश बना रहता है, पुत्र से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। सौ कुओं की अपेक्षा एक तालाब बनवाने में ज्यादा पुण्य है; तालाब से ज्यादा पुण्य यज्ञ में है; यज्ञ-से ज्यादा पुत्र में।[1] महाभारत के आरम्भ के ही दृश्य में यायावर ऋषि विरण रस्सी से उल्टे लटक रहे हैं और एक गहरे गार में गिरने ही वाले हैं। अकस्मात उधर से निकलते हुए जरत्कारु को पूछने पर मालूम हुआ कि यह तो उसी के पूर्वज हैं और उसके तपस्या में लगे रहने के कारण ब्याह के द्वारा सन्तति न पैदा करने से उनकी यह दशा हुई है। वह बोले कि हे वत्स! पुत्र पैदा करके हमारा वंश चलाओ; इससे हमारे-तुम्हारे दोनों के लिये पुण्य होगा। पिता होने से जो पुण्य होता है वह न धर्म के नियमों से होता है और न तपस्या से होता है।[2] कौटुम्बिक जीवन पर इतना जोर देना शायद वानप्रस्थ और संन्यास के प्रचार के कारण भी आवश्यक था।

साधारण सामाजिक जीवन

साधारण सामाजिक जीवन में अब भी आतिथ्य की वही महिमा थी जो वैदिक काल में थी। एक स्थान पर कहा है कि अतिथि इन्द्र के बराबर है। अतिथि को खिलाने से ऐसा पुण्य होता है कि कभी क्षीण नहीं होता। गृहस्थ के लिये अतिथि से बढ़कर कोई देवता नहीं है। अतिथि का आशीर्वाद सौ यज्ञों के पुण्य से भी बढ़कर है। खास कर ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करना सब से बड़ा पुण्य है। महाभारत में बहुत जगह श्राद्ध की महिमा भी गाई है।[3] इस समय माँस खाने का रिवाज बहुत था। राज रन्तिदेव के यहाँ रोज दो

---

[1]आदि० ६४ ॥ [2]देखिये, आदि० ८, १४, ४५ ॥ इस पर्व का ८२-८३ भी देखिये। [3]शान्ति० मोक्षधर्म० २००, २६८ ॥ वन० २ ॥ अनु० २, ७-८, ३२-३७, ५२, ५७-७४, १०४, १३३,१२७ ॥ शान्ति० ६१ ॥

हजार जानवर मारे जाते थे और माँस जनता को बाँट दिया जाता था।[1] अन्यत्र संयम पर बहुत जोर दिया है। आत्मसंयम सबसे बड़ा धर्म है।[2] भीष्म ने एक ब्राह्मण की बात कही है कि जब मैंने निर्धनता और प्रभुता को तराजू में तौला तब निर्धनता को भारी पाया।[3] पर अन्यत्र अर्जुन युधिष्ठिर से कहते हैं कि निर्धनता पाप है, धन से ही पुण्य होता है, सुख होता है, स्वर्ग होता है, सब कुछ होता है।[4] यह भी कहा है कि संसार में जो कुछ है वह सब प्रबलों का भक्ष्य है।[5] अनुशासनपर्व में धन की देवी श्री कहती हैं कि मैं सन्तोषी के पास कभी नहीं रहती।[6] महाभारत में आनन्दबिहारी की परिपाटी के भी बहुत से उल्लेख हैं। उदाहरणार्थ हरिवंश में कृष्ण, बलदेव, अर्जुन हजारों स्त्री-पुरुषों को लेकर बन को जाते हैं, माँस-मदिरा से, नाच-गाने से, हँसी-दिल्लगी से, आनन्द-प्रमोद करते हैं।[7] महाभारत के समय में भी गुलामी की प्रथा थोड़ी प्रचलित थी।[8] सभापर्व में जूए में जीतने पर कौरव द्रोपदी को गुलाम समझते हैं और निर्दयतापूर्वक उसका अपमान करते हैं।[9] वनपर्व में राजकुमारी दमयन्ती के पास सैकड़ों दासियाँ हैं।[10]

राजनैतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में महाभारत में पूर्वकाल की अपेक्षा बहुत परिवर्तन हो गया है। यहाँ सबसे पहिले भारत या भारतवर्ष शब्द आया है जिससे प्रकट है कि अब देश की एकता का भाव पैदा हो रहा था। संहिताओं और ब्राह्मणों का साम्राज्य-आदर्श अब और भी बढ़ गया है और चारों तरफ नजर आता है। सभा-

राजनीति

पर्व कहता है कि राजा तो घर-घर में हैं पर सम्राट् शब्द कठिनता से मिलता है। जब कोई राजा साम, दाम, दण्ड या भेद से बहुत से राजाओं से अपनी प्रभुता स्वीकार करा लेता था, जब वह

राजा

---

[1]आदि० २३, २५ ॥ वन० २०८ ॥ [2]शान्ति० राजधर्म० १६० ॥ २२० । [3]शान्ति० मोक्षधर्म १७६ ॥ [4]शान्ति० राजधर्म० ८ ॥ [5]शान्ति० राजधर्म० १० ॥ [6]अनु० ११ ॥ [7]हरि० १४६-४७ ॥ [8]आदि० २३ ॥ २५ ॥ [9]सभा० ६७ ॥ [10]वन० ३ ॥

दिग्विजय कर लेता था तब वह सम्राट्, अधिराज या ऐसी ही कोई पदवी धारण करता था, अपना अभिषेक धूमधाम से करता था और अश्वमेध इत्यादि यज्ञ करता था।[1] राजालोग बहुधा भीतरी मामलों में स्वतन्त्र बने रहते थे, पर कभी-कभी उनमें और अधिराज में बहुत अनबन हो जाती थी।[2] प्रत्येक राजा या अधिराज के चारों ओर कुलीन क्षत्रिय सर्दार थे जो लड़ाई में मरने-मारने को सदा तय्यार रहते थे।[3] महाभारत में राजा के चरित्र और कर्तव्य का आदर्श एवं उसका पद देवता के तुल्य है।[4] राजा का पद बहुधा मौरूसी था पर नये राजा के लिये प्रजा की स्वीकृति आवश्यक थी और कभी-कभी जनता कुरूप या दुश्चरित्र राजा को त्यागकर स्वयं ही नया राजा स्थापित कर देती थी।[5] अन्य महत्त्वपूर्ण अवसरों पर भी प्रजा आन्दोलन करती थी और राजनीति पर बड़ा प्रभाव डालती थी।[6] राजा निरङ्कुश नहीं था पर उसका पद बहुत ऊँचा था।

सम्राट्

सर्दार

राजत्व

धर्म और अर्थ में प्रजा का नेता राजा ही था। राजा देवता है, इन्द्र, शुक्र और वृहस्पति है, सबको रास्ता दिखाने वाला है, सबका पूजनीय है—ऐसे वाक्य वनपर्व में और अन्यत्र भी बहुतायत से मिलते हैं।[7] शान्तिपर्व कहता है कि

[1] देखिए, सभा० १४ ॥ ४५ ॥ ४३ ॥ १५ ॥ आदि० १३८ ॥ १३६ ॥ ११२ ॥ शान्ति० ४ ॥ अश्व १३७ ॥ [2] शान्ति० ७० । ३०-३१ ॥ सभा० ५ ॥ अश्व० ५ । १२ ॥ आश्रम० ६ । १६ ॥ [3] कर्ण० १०४ ॥ वन० ३०३ ॥ आश्रम० ३ ॥ अश्व० १ ॥ [4] देखिये शान्ति० ६७ ॥ २१-२२, ३०-३६ ॥ ६६ । ३४ ॥ ८० । २-११३ ॥ १२० । ४०-४३ ॥ ५६ । ८७-८६ ॥ ६७ । १५-३२ ॥ ७२ । २५ ॥ ६८ । ३६-४७ ॥ ६५ । २६ ॥ ६८ । ३६-४१, ४८-५० ॥ ३८ । ११०॥ वन० १८३ ॥ सभा० ५ ॥ [5] उद्योग० १४६ ॥ वन० २६४ ॥ आदि० ११५ ॥ ६४ ॥ ४४ ॥ ८५ ॥ शान्ति० ५६ ॥ अश्व० ५ ॥ [6] आदि० १४१ । आश्रम० ६ । महाप्र० १ ॥ [7] वन० १८५ ॥ ऊपर दिये हुये उल्लेख भी देखिये।

'यथा राजा तथा प्रजा'।[1]

मन्त्री

महाभारत के समय तक सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली का विकास हो गया था प्रत्येक राजा के अनेक मन्त्री होते थे। राजमन्त्रियों में सात प्रधान थे जो सेना, न्याय, धर्म इत्यादि का प्रबन्ध करते थे। सभापर्व में १८ अधिकारियों का उल्लेख है जिनमें युवराज और महल, जेल जङ्गल और सरहद के अफसर भी शामिल हैं।[2] शान्तिपर्व में खान, नमक, शुल्क और नदी के तथा सेना के भिन्न-भिन्न अङ्ग हाथी, सवार, पैदल और रथों के अफसरों का जिक्र है।[3] शान्तिपर्व में यह भी कहा है कि मुख्य

अधिकारी

स्थानों पर राजा को ४ ब्राह्मण, ३ क्षत्रिय, २१ वैश्य, ३ शूद्र और १ सूत नियत करना चाहिये।[4] राजकार्य के लिये राजा के असमर्थ होने पर मन्त्री रानी से सलाह करके या आप ही प्रबन्ध करते थे।[5] राजधानी में एक बड़ा दर्बार भी हुआ करता था जिसमें जमीन्दार, पुरोहित, अफसर, कवि, दूत और दूसरे बड़े आदमी आया करते थे।

आदेशिक शासन

गाँव का प्रबन्ध ग्रामाधिपति गाँव वालों की सलाह से करता था। सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया है कि गाँव में पाँच अधिकारी रखने चाहिये।[6] शान्तिपर्व के अनुसार दस, सौ और हजार गाँवों के समूहों पर, एक के ऊपर एक, अफसर होना चाहिये, जो अपने से बड़े अफसर के आदेश के अनुसार शासन करे। प्रत्येक नगर का प्रबन्ध एक सर्वार्थचिन्तक के हाथ में होना चाहिये। रक्षा के लिये सरहदों पर और नगरों में सेना रहनी चाहिये।[7] छोटे-छोटे राजा जमींदार सरकारी और दूसरे राजाओं के दूत पर नजर रखने के लिए, प्रजा से भाव और विचार जानने के लिये और राजद्रोह तथा दूसरे अपराधों का पता लगाने के

---

[1]शान्ति०, मोक्ष धर्म० २६७ ॥ [2]सभा० ५ ॥ [3]शान्ति० ६६ ॥ [4]शान्ति० १०६ । ११ ॥ [5]वन० ६० ॥ आदि० १०२ ॥ [6]सभा० ५ ॥ [7]शान्ति ६६ । ६ इत्यादि ॥ १३७ । ३-११

लिये बहुत से जासूस रक्खे थे।[१] इसके अलावा राज्य की नौकरी में बहुत से कारीगर भी होते थे जो राज के कारखानों में काम करते थे।[२]

महाभारत के समय में भी जमीन की पैदावार का $\frac{१}{६}$ हिस्सा कर रूप में लिया जाता था; व्यापार के माल पर और कारीगरों की मेहनत पर मूल्य के हिसाब से कर लगता था; न्यायालय के जुर्माने से भी खासी आमदनी होती थी, कभी-कभी लोगों से प्रीतिदान भी लिये जाते थे; विपत्ति के समय अमीरों की दौलत जब्त करली जाती थी। शान्तिपर्व की सम्मति के अनुसार ब्राह्मणों से कर न लेना चाहिये।[3] करों के एवज में राजा को खेती के लिये नई जमीन साफ करनी चाहिये, तालाब बनाकर खेती को मेह से निराश्रित करना चाहिये। जरूरत पड़ने पर किसानों को तकावी देनी चाहिये, सड़क और प्याऊ बनानी चाहिये, डाकुओं की जड़ उखाड़नी चाहिये, राजसूय इत्यादि अवसरों पर खूब दान करना चाहिये, प्रजा को धर्म, नीति और विद्या के मार्ग पर चलाना चाहिये और संसार को सबके लिए सुखमय बनाना चाहिये।[४]

कर

राजकर्तव्य

कह चुके हैं कि महाभारत में प्रजा राजनैतिक जीवन में बहुत प्रभाव रखती थी, पर राज्यों की सीमा बढ़ जाने से और शायद जनसंख्या के बढ़ जाने से भी अधिकांश प्रदेशों में प्राचीन वैदिक समिति का लोप हो गया। वैदिक काल के अन्तिम युग में ही उसका ह्रास हो रहा था। इतिहास काव्य के समय में परिस्थिति उसके और भी प्रतिकूल थी। धीरे-धीरे केवल उसका नाम बाकी रह गया।

जनसमितिका लोप

---

[१]शान्ति० ६२, ८-१२, ५२ ॥ ८६ । १४-१६ ॥ ८६ । २०-२१ ॥ ६१ । ५० ॥ [२]सभा० ५ ॥ [3]शान्ति० ६६ । १०-११, १३-१६, २०-२३ ॥ ८७ । १४-१५, १८-२१, २३, ३५-४० ॥ ८३। २-२१२ ॥ ८, । २४ ॥ १५ । ४ ॥ ११६ । १७ ॥ १२० । ४३-४४ ॥ १३० । ६, ३५ ॥ १३३ । ३ ॥ १३४ । ३-४ ॥ १३६ । १-२ ॥ ८६ । ३-११ ॥ सभा० ४६ ॥ ५२ ॥ ५१ ॥ अश्व० । ३ ॥ १२ [४]शान्ति० ५ । १७, २१ ॥ ६५ । २ ॥ ६६ । ११४-१५ ॥ ६६ ।

साम्राज्य बनाना शासक का एक मुख्य कर्त्तव्य है, जिसके लिये साम, दाम, दण्ड, भेद, सच-झूठ, बल और दम्भ सबका प्रयोग किया जा सकता है। शान्ति-पर्व आपद्धर्म में भीष्मपितामह ने कहा है कि शत्रु की सेना और प्रजा में फूट फैलानी चाहिये, शत्रु को लोभ और विश्वास दिलाकर नाश करना चाहिये।[1]

परराष्ट्रनीति

परन्तु रणभूमि में क्षत्रिय को कभी उस शत्रु पर वार न करना चाहिये जो आत्मसमर्पण कर रहा है या घायल हो गया है या कैद हो गया है या जिसका हथियार गिर गया है या जो थक गया है, सो रहा है या भूखा-प्यासा है। राजदूतों को कभी किसी तरह की क्षति न पहुँचानी चाहिये। कैदी कुमारियाँ, अगर शादी करने को राजी न हों, तो वापिस भेज देनी चाहिये। राजा को चाहिये कि लड़ाई में वीरता दिखाने वाले सिपाहियों को दुगुना वेतन दे, अच्छा भोजन वस्त्र दे और उनकी तरक्की करे।[2]

रणनीति

इस समय अधिकाँश प्रदेशों का शासन राजत्व के सिद्धान्त पर अवलम्बित था अर्थात् एक राजा अपने अधिकारियों के सहयोग से सब मामलों की देख-रेख करता था। पर कहीं-कही भिन्न सिद्धान्त के अनुसार शासन होता था। महाभारत में कुछ प्रजातन्त्र हैं जिनको गण कहते थे, और जो अपने शासक आपही चुनते थे। भीष्म-पितामह ने कहा है कि गण के लोगों को आपस में मेल रखना चाहिये, बड़े आदमियों को

गण

---

५३ ।। ७५ । ५,१९ ।। ८८ । १४ ।। सभा० ५ ।। १२ ।।

[1]शान्ति १०३ ।। १०५ ।। १३१ ।। १३८-१४७ ।। सभा० ३२ ।। वन० २९-३४ ।। आदि० २ ।। इन सिद्धान्तों की तुलना इटैलियन मकियावेली के 'प्रिंस से की जा सकती है। [2]शान्ति ९९ । ३४-४०, ५५ ।। ८५ । २६-२८ ।। ८६ । ५-१५ ।। ९४ । १-२ ।। ९५ । २-५, ७-१४ ।। ९६ । १-७, ११, १६-१७, २२-२३ ।। ९७ । ८, ११-१२ ।। ९८ । १५-२५, ३५-४८ ।। ९९ १-१७ ।। १०० । ६-२४, ३० । १०१ । ३२४-२५ ।। भीष्म० १ । २४-२७ ।। वन० १८ ।

तुरन्त ही फूट का अन्त कर देना चाहिये, शासकों पर भरोसा करना चाहिये, खजाना भरापूरा रखना चहिये और सबसे बड़ी बात यह है कि एकता रखनी चाहिये।[1]

श्रेणी

महाभारत में कुछ श्रेणियों का उल्लेख है जिनको सिपाही, सौदागर या कारीगर अपनी रक्षा के लिये बताते थे और जिनके द्वारा बहुत-सा प्रबन्ध होता था।[2] अपने व्यवसाय में, आभ्यन्तरिक मामलों में, आर्थिक सङ्गठन में और सामाजिक जीवन में वह श्रेणियाँ प्राय: स्वतन्त्र होती थीं। इस तरह की संस्थाओं से आत्मशासन का भाव जीता जागता रहता था। श्रेणी बनाने की प्रथा तो पूर्वकाल में ही प्रारम्भ हो गई थी, पर उद्योग और व्यपार के बढ़ने से महाभारत के समय में वह अधिक प्रबल हो गई। तबसे अनेक शताब्दियों तक इस प्रकार का आर्थिक आत्म-शासन हिन्दुस्तान में प्रचलित रहा और बढ़ता भी गया। वास्तव में व्यवसाय श्रेणी की प्रथा एक स्वाभाविक प्रथा है और वह अनेक देशों और युगों में प्रचलित रही है। आजकल तो संसार में उसी का दौरदौरा है। सारे जीवन से आर्थिक समस्या का ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि मनुष्य अपने व्यवसाय के प्रबन्ध को बिलकुल दूसरों पर नहीं छोड़ना चाहता। दूसरे, प्रत्येक व्यवसाय के छोटे-छोटे मामलों का वही लोग अच्छी तरह समझते हैं जो उसमें लगे हुए हैं। उनका निपटारा भी वही अच्छी तरह कर सकते हैं। तीसरे, सङ्गठन के द्वारा प्रत्येक श्रेणी के व्यवसायी अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। प्राचीन भारतीय श्रेणियों से यह प्रयोजन अच्छी तरह सिद्ध हो जाते थे। श्रेणी-प्रथा का एक और परिणाम हुआ। यहाँ व्यवसाय के अनुसार बहुत-सी उपजातियाँ बन गई थीं और आज तक बनती रही हैं। श्रेणी-प्रथा के प्रचार के बाद व्यवसायिक आत्मशासन एक प्रकार से उपजाति का आत्मशासन भी हो गया। इन छोटे-छोटे क्षेत्रों में आर्थिक स्वराज सामाजिक स्वराज से मिल कर एक हो गया, और जातियों की वह पन्चायतें प्रगट हुई जो देश भर में आज भी मौजूद हैं। यहाँ परिमित क्षेत्र में जनसत्ता का सिद्धान्त

---

[1] शान्ति० १०७। १०-३२॥ [2] वन० २४८। १६॥ शान्ति० ५४। २०॥

प्रचलित था।

रामायण

महाभारत से जिन आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का पता लगता है वह बहुत करके दूसरे विशाल इतिहास काव्य रामायण में भी मिलती हैं। जो अन्तर है उनका कारण यह मालूम होता है कि महाभारत की रचना तो मध्यदेश के पच्छिमी भाग में हुई और रामायण की पूर्वी भाग में अर्थात् कोशल में, अथवा यों कहिये वर्तमान अवध के आस-पास। इसका केन्द्र है अयोध्या जो प्राचीन काल में हिन्दू सभ्यता के मुख्य स्थानों में था और आजकल भी तीर्थ माना जाता है। रामायण आदि कवि वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध है पर महाभारत की तरह इसकी रचना भी धीरे-धीरे अनेक कवियों के द्वारा अनेक समयों पर हुई थी। मुख्यतः रचनाकाल ई० पू० ५००-२०० जान पड़ता है। अन्त में एक महा कवि ने सब रचनाओं को सम्पादन करके एक सुसङ्गठित इतिहास काव्य का रूप दे दिया। रामचन्द्र की कथा इतनी प्रसिद्ध है कि यहाँ उसके संक्षेप वया उल्लेख की भी आवश्यकता नहीं है पर एक बात कह देना आवश्यक है। बाल्मीकि के आधार पर अनेक संस्कृत-कवियों ने और भाषा-कवियों ने पुराण, कथा, नाटक इत्यादि लिखे हैं, पर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार और अपने-अपने समय के आदर्शों के अनुसार उन्होंने परिवर्त्तन कर दिये हैं। संस्कृत के अध्यात्म रामायण में और हिन्दी के तुलसीदासकृत रामचरित मानस में जो कथा है वह वाल्मीकि के वर्णन से अनेक अंशों में भिन्न है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि रामचरित मानस के आदर्श १७वीं ई० सदी के हिन्दू समाज के आदर्श हैं और २,००० बरस पूर्व की रामायण के आदर्शों से कुछ भिन्न हैं।

रामायण

वाल्मीकि रामायण के वर्तमान संस्करणों में लगभग २४,००० श्लोक हैं और सात काण्ड हैं। पर सातवाँ काण्ड—उत्तरकाण्ड— बहुत पीछे बना था और पुराने समय के लिये कम मूल्य का है। रामायण की कथा में जिस लङ्का का जिक्र आया है वह दक्षिण का टापू नहीं मालूम होता, रावण की लङ्का, जैकोबी के मतानुसार, आसाम में थी और कीबे इत्यादि कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार,

वर्तमान मध्य प्रदेश में। सम्भवतः वह कहीं छत्तीसगढ़ के पास रही होगी। रामचन्द्र के समुद्र तक पहुँचने और पुल बाँधने की कल्पना कुछ पीछे हुई। रामायण में ब्राह्मणों का प्रभाव महाभारत से भी ज्यादा है।[१] राजनीति में वही जमीन्दारी-सङ्घ शासन प्रथा है जो महाभारत में नजर आती है।[२] चरित्र, ज्ञान, कर्त्तव्य, और प्रजापालन में राजा का आदर्श बहुत ऊँचा है।[३] राजा के बड़े-बड़े मामलों में प्रजा की सम्मति ली जाती थी पर हमेशा मानी न जाती थी।[४] राज के काम के लिये आठ बड़े मन्त्री थे जिनका पद बहुधा मौरूसी हो जाता था और जो राजा के मरने या असमर्थ होने पर सारा प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेते थे।[५] अन्यत्र अयोध्याकाण्ड में १८ तीर्थ या अफसर और अमात्यों की मुख्य, मध्य और जघन्य श्रेणियों का उल्लेख हैं।[६] राजधानी दो योजन लम्बी थी, सड़कें सीधी, चौड़ी और सुन्दर थीं, जिन पर छिड़काव होता था और जिनके किनारे फूलों के पौधे लगे थे। हवेलियाँ रत्नों से चमकती थीं और आकाश से बातें करती थीं। शहर के चारों ओर दुर्ग और खाइयाँ थीं। अयोध्या का चित्र बड़ी शान्ति, सुख और वैभव का है। यहाँ भी व्यवसायियों की श्रेणियाँ नजर आती हैं। अयोध्याकाण्ड में सीता राम से पूछती हैं कि श्रेणियों के मुखिया कहाँ हैं जो तुम्हारी सेवा में आने वाले थे ?[७] राजा लोग कला, गान इत्यादि की सहायता करते थे[८] राजा का कर्त्तव्य था कि किसानों और ग्वालों पर कृपा करें, सबको अपने-अपने धर्म में लगायें, गुरु, वृद्ध, मुनि, अतिथि इत्यादि का सम्मान करें।[९] जहाँ राजा नहीं है वहाँ न धर्म है, न कुटुम्ब है,

राजनीति

अधिकारी

राजधानी

---

[१]बाल० ७ ॥ १५ ॥ २० ॥ ५४ ॥ [२]बाल० ५ ॥ ७ ॥ १३ ॥ अयोध्या० ८२ ॥ किष्किन्धा० १८ ॥ [३]अयोध्या० २ ॥ राज्य की आवश्यकता के लिये देखिये, अयोध्या० १०३ ॥ [४]अयोध्या० १७ ॥ ८२ ॥ [५]बाल० ७ ॥ अयोध्या० ७९ ॥ ८२ ॥ १०४ ॥ युद्ध० १३० ॥ [६]अयोध्या० १०० ॥ [७]अयोध्या० ५ ॥ ६ ॥ २६ ॥ [८]अयोध्या० ६५ ॥ [९]अयोध्या० १०० ॥

और न ब्याह है, राजा ही सत्य है, राजा ही नीति है......राजा ही मां है, राजा ही बाप है, राजा ही सब का भला करता है।[1]

ब्राह्मणों का पद रामायण में महाभारत से ऊँचा मालूम होता है। बालकाण्ड में कहा है कि क्षत्रियों की शक्ति बहुत नहीं है, ब्राह्मणों की सामाजिक जीवन शक्ति उनसे ज्यादा है, अलौकिक है।[2] राजा दशरथ ने च्यवन को धोखे से हाथी समझ कर मार डाला। फिर उसे ब्राह्मण समझ कर बहुत विलाप करने लगे। मरने वाले ने सान्त्वना दी कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मैं तो शूद्र स्त्री से वैश्य का पुत्र हूँ।[3] तब राजा का शोक कुछ कम हो गया। च्यवन के अन्तिम कथन से यह भी मालूम होता है कि अन्तर्जातीय ब्याह इस समय भी होता था। रामायण में बहुत से तपस्वी हैं पर यह राजदरबारों में जाते हैं और उपदेश देते हैं।[4] कोई-कोई तपस्वी बड़ी रङ्गीन तबीयत के थे। अरण्यकाण्ड में एक तपस्वी पाँच अप्सराओं पर मुग्ध होकर गाना सुनता हुआ उनके साथ कल्लोल करता है।[5] विश्वामित्र दस बरस मेनका के साथ रहते हैं।[6] साधारणतः सारी रामायण में ऋषियों के परिवार हैं। उत्तरकाण्ड कुछ पीछे का है पर उससे पता लगता है कि कोई-कोई स्त्रियाँ भी कड़ी तपस्या करती थी।[7] राजकुमारियाँ बहुधा स्वयंवर करती थीं पर पिता की शर्त कभी-कभी ऐसी होती थी कि उनको वरने की कोई स्वतन्त्रता न रह जाती थी।[8] साधारण पुरुषों को कभी-कभी कन्याओं के लिए योग्य वर न मिलने से कन्या मुसीबत की जड़ मालूम होती थी।[9] स्त्रियाँ बाहर आती-जाती थीं। सूर्पणखा राम और लक्ष्मण से स्वतन्त्रतापूर्वक बातचीत और दिल्लगी करती है।[10] स्त्री का धर्म था कि पति की सेवा करे। अयोध्याकाण्ड में दशरथ कैकेयि से कहते हैं कि कौशल्या मां, बहिन, पत्नी, मित्र और दासी की तरह मेरी सेवा करती

---

[1]अयोध्या० ६७ ॥ [2]बाल० ५४ ॥ [3]बाल० ६३ ॥ [4]बाल० ३५ ॥ ५२ ॥ अरण्य० १ ॥ ६ ॥ इत्यादि ॥ [5]अरण्य० ११ ॥ [6]बाल० ६३ ॥ [7]उत्तर० १७ ॥ [8]बाल० ३१ ॥ ६७ ॥ [9]उत्तर० १२ ॥ [10]अरण्य० १७-१८ ॥

रही है।[1] राम की सेवा करने के लिए सीता वन को जाती है। पर बहुविवाह के कारण राजघरानों में, बड़े क्लेश होते थे। अयोध्याकाण्ड में कैकेयि को बर्गलाते हुए मंथरा कहती है कि अगर राम को गद्दी हुई तो तुम कौशल्या की दासी हो जाओगी, भरत राम के दास हो जायँगे और तुम्हारी पतोहू दुःख पायेंगी; राज पाकर राम भरत को दूर परदेस में या दूसरी दुनिया में ही भेज देंगे।[२] कैकेयि ने राम को १४ बरस का बनवास दिला दिया। कौशल्या राम से दुखड़ा रोती हैं कि पति ने निरादर करके मेरा अपमान किया, पति के स्नेह का सुख मैंने न जाना; सौतें अब मेरी अवहेलना करेंगी, मैं कैकेयि की दासियों के बराबर हो गई, वरन् उनसे भी नीची हो गई। इन सौतों के साथ तो मैं न रह सकूँगी। अगर तुम पिता की आज्ञा मानकर बन जाते ही हो तो मुझे भी अपने साथ ले चलो।[3] दशरथ के मरने पर कौशल्या कैकेयि को कोसती है,[४] और भरत भी उसे फटकारते हैं।[५] क्रोधित होकर लक्ष्मण पिता को बुड्ढा स्त्रैण कहता है और उन्हें मार डालने का प्रस्ताव करता है।[६] आगे सन्देह के कारण लक्ष्मण भरत को, कैकेयि और उसके मित्रों को मारने का विचार करता है।[७] पर इस सारी खटपट में राम की बराबर यही सलाह है कि पुत्र को पिता का और पत्नी को पति का आदेश प्रसन्नता से सिर पर रखना चाहिये और बहू को सास-ससुर की सेवा करनी चाहिये।[८] सीता कहती हैं कि स्त्री का सहारा न तो माँ-बाप से है, न पुत्र-मित्र से है, न अपने से है; पति ही एकमात्र सहारा है, इस लोक में और परलोक में—.........माँ-बाप ने मुझे यही सिखाया था कि हर अवस्था में पति के साथ रहना। ब्याह पर दशरथ की कन्या शान्ता को रानियाँ उपदेश देती हैं कि पति, ससुर और बड़ों का आदर करना।[९] पति ही स्त्री का देवता है।[१०] रामायण में व्यक्तिगत चरित्र का आदर्श बहुत

---

[1]अयोध्या० १२ ॥ [२]अयोध्या० ८ ॥ [3]अयोध्या० २० ॥ २४ ॥ [४]अयोध्या० ६६ ॥ [५]अयोध्या० ७३-७४ ॥ [६]अयोध्या० २१ ॥ [७]अयोध्या० ९५ ॥ [८]अयोध्या० २४ ॥ २६ ॥ २८ ॥ ९७ ॥ [९]अयोध्या० ३७ ॥ [१०]बाल० १८ ॥

ऊँचा है। प्रारम्भ में ही नारद और बाल्मीकि की बातचीत में और फिर अयोध्या-काण्ड में राम को मृदुता, शान्ति, दया, शौर्य, संयम, कृतज्ञता इत्यादि सब गुणों का भण्डार कहा है।[1]

कुटुम्ब में पुत्र की लालसा सदा की तरह प्रबल है। दशरथ पुत्र के लिये बड़े यज्ञ करते हैं।[2] महाभारत की तरह रामायण में भी आतिथ्य का आदर्श बड़ा ऊँचा है। अरण्यकाण्ड में ब्राह्मण भेष में रावण के आने पर सीता सोचती हैं कि यह मेरा अतिथि होकर आया है, अगर इससे न बोलूँगी तो शाप देगा।[3]

धर्म

रामायण और महाभारत के धार्मिक सिद्धान्त साधारणतः वैदिक—धर्म के हैं पर कुछ नये देवी-देवताओं की पूजा पर जोर दिया गया है। भीष्म पर्व में कृष्ण अर्जुन को आदेश करते हैं कि लड़ाई के पहिले दुर्गा की पूजा करो। दुर्गापूजा उस शक्तिपूजा का पहिला रूप है जो आगे चलकर बहुत प्रचलित हुई, और शाक्तपन्थों का मुख्य सिद्धान्त हुई। शिव की पूजा भी महाभारत में है और उसके आधार पर पशुपत पन्थ का विधान है। कुछ भागों में कृष्ण को विष्णु या परमेश्वर का अवतार माना है और अवतारों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अवतारों के साथ-साथ ही भक्ति-मार्ग का जोर बढ़ा और विशेषकर कृष्ण की भक्ति मोक्ष का साधन मानी गई। बार-बार कहा है कि संसार में सुख और दुख दोनों सब जगह मिले हुए नजर आते हैं, पर दोनों ही अनित्य हैं। धर्म से स्थायी सुख मिलता है—मोक्ष प्राप्त होता है। कर्म का बन्धन जीव को बाँधे हुए हैं; इससे मुक्त होते ही सदा के लिये आनन्द मिलता है।

भगवद्गीता

नये धार्मिक भाव का श्रेष्ठ रूप भगवद्गीता में है जो महाभारत में शामिल है और जिसकी रचना उपनिषदों के बाद हुई थी। कहावत है कि उपनिषद् गाय हैं और गोपाल-नन्दन दुहनेवाला है। गीता में उपनिषदों के कुछ सिद्धान्त

---

[1]अयोध्या० १ ॥ [2]बाल० ८-१७ ॥ [3]अरण्य० ४७ ॥

भगवद्गीता

भावुक जनता के अनुकूल बनाकर भक्ति से मिलाये गये हैं। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में कौरव और पाण्डव सेनाओं के जमा होने पर कृष्ण अर्जुन के रथ को आगे ले जाते हैं। सम्बन्धियों को चारों ओर खड़े देख कर अर्जुन को दया और करुणा होती है, युद्ध का साहस टूट जाता है और गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा पड़ता है। कर्त्तव्य पर फिर दृढ़ कराने के लिये कृष्ण अर्जुन को संसार, आत्मा, परमात्मा का यथार्थ उपदेश करते हैं और मोह एवं भीरुता छुड़ाते हैं। इस महान् उपदेश में तत्त्वज्ञान की कई लहरें हैं जैसे ज्ञान योग और भक्ति; ब्रह्म और अवतार और आचार के भी सिद्धान्त हैं। गीता पर बहुत से भाष्य रचे गये हैं, जिनमें शङ्कराचार्य का सबसे प्रसिद्ध है। टीका-टिप्पणियाँ अब तक हो रही हैं। इनमें गीता के वाक्यों के अनेक अर्थ किये हैं, और कहीं-कहीं बहुत खींचतान की है। यहाँ पर केवल तत्त्वज्ञान की दृष्टि से गीता के मुख्य सिद्धान्त संक्षेप से बताये जाँयगे।

आत्मा अमर और नित्य है।

> कटती न जलती भीगती शोषण न होती है कभी।
> वह नित्य, स्थिर, है सर्वव्यापी, अचल और अनन्त भी॥
> अज, निर्विकार अचिन्त्य अरु अव्यक्त जिसको है कहा।
> क्या उचित तुमको शोच करना है! उसी हित यों अहा॥

पर यह आत्मा कर्म बन्धन में बँधा हुआ है और इधर-उधर भटकता है। कर्म बन्धन से मुक्ति कर्म छोड़ने में नहीं है किन्तु कामना छोड़ने में है, फल की अभिलाषा, आकांक्षा छोड़ने में है।

> फल लाभ चिन्ता चाह छोड़ो, छोड़ दो दुर्बुद्धि को।
> योगस्थ होकर कर्म कर, हो प्राप्त जिसको बुद्धि को॥
> करते चलो तुम कर्म, फल की चाह चिन्ता छोड़ दो।
> मद-मोह-माया वासना के, जाल को तुम तोड़ दो॥

इससे यह अभिप्राय निकलता है कि कर्म करना आत्मा का स्वभाव है; कर्म से न कोई बच सकता है और न किसी को बचना चाहिये; पर

कामना छोड़ देनी चाहिये, फल की वाञ्छना न करनी चाहिये, समबुद्धि, समभाव होना चाहिये। कर्म से भागना बेकार है, अस्वाभाविक है, निन्दनीय है, पर मनुष्य को स्थितप्रज्ञ होना चाहिये। स्थितप्रज्ञ के लिये शुभ और अशुभ, दुख और सुख, हर्ष और विषाद सब बराबर हैं। यही सच्चा कर्मयोग है। कर्मयोगी हानि और लाभ के परे है। स्वयं परमेश्वर कर्म करता है पर फल में आसक्ति नहीं रखता। कृष्ण भगवान् कहते हैं कि अगर मैं कर्म छोड़ दूँ तो सारा संसार आलसी हो जाये। निष्काम-कर्म स्वयं महान् यज्ञ है, जिसके फल से आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है। तथापि गीता ने ज्ञान का माहात्म्य माना है, क्योंकि ज्ञानी परमेश्वर को समझता है और सच्चे मार्ग को देखता है। श्रीकृष्ण कहते हैं :—

ज्ञानी मुझे अरु मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ सर्वदा।
यद्यपि सभी हैं भक्त, पर है आत्मवत् ज्ञानी सदा॥
वह योगयुक्त सदैव मेरे ध्यान में रहता लगा।
वह जानता है बस मुझे ही उत्तमोत्तम गति, सगा॥

ज्ञान का प्रधान विषय है अध्यात्म। जानना चाहिये कि ब्रह्म नित्य है, अक्षर है, प्रत्येक वस्तु का आधार है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह समझ लो कि मुझसे अर्थात् परमेश्वर से सारा जगत् पैदा हुआ है :—

सुन लो कहीं मुझसे परे कुछ भी धनञ्जय ! है नहीं।
मणिमाल-सम मुझमें ग्रथित हैं सब, अलग कोई नहीं॥
रस-रूप हूँ कौन्तेय ! जल में, हूँ प्रभा शशि-सूर्य में।
ॐकार वेदों में, तथा हूँ शब्द मैं ही शून्य में॥
मैं पुरुष में पुरुषार्थ, पृथ्वी में सुपावन गन्ध हूँ।
हूँ तेज मैं ही अग्नि में, हो जीव जीवों में रहूँ॥
हे पार्थ ! तापस तप तथा सब प्राणियों का बीज हूँ।
मैं पण्डितों की बुद्धि, मैं तेजस्वियों का वीर्य हूँ॥

परमेश्वर स्वयं अव्यक्त है पर संसार उसी से व्यक्त है; उसमें सब हैं पर वह उनमें नहीं है; कल्पान्त में सब उसमें लीन हो जाते हैं और फिर कल्प के आरम्भ

में उसमें जन्म पाते हैं। लेकिन परमेश्वर जीवों के सुख-दुःख से उदासीन नहीं है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब युग-युग में वह दुष्टों को दमन करने के लिये और साधुओं की रक्षा करने के लिये अवतार लेता है। मनुष्य को चाहिये कि परमेश्वर को सब कुछ अर्पण कर दे, परमेश्वर की भक्ति करे। इस स्थान पर गीता भक्ति मार्ग में प्रवेश करती है। यों तो निर्गुण ब्रह्म का भी चिन्तन किया जा सकता है, पर सगुण ब्रह्म की भक्ति अधिक सरल और श्रेयस्कर है। श्रीकृष्ण कहते हैं :—

हे पार्थ ! सब आशा भरोसा त्यागि मुझ पर रख सदा।
निज कर्म कर अर्पण मुझे भजते मुझे जो सर्वदा॥
करते सदा जो ध्यान मेरा प्रिय मुझे ही जानते।
सब नेह नाता तोड़, जो सर्वस्व मुझको मानते॥
हे पार्थ ! उनका चित्त मन रमता मुझी में सर्वदा।
भव-सिन्धु से उद्धार उनका शीघ्र मैं करता सदा॥
मन को लगा मुझ में मुझे सर्वस्व अपना मान लो।
देहान्त पीछे वास मुझमें तुम करोगे जान लो॥[१]

जो परमेश्वर की भक्ति में तल्लीन होता है, वह संसार का सब माया-मोह छोड़ देता है। वह परमेश्वर का ध्यान करता है—योग करता है। यहाँ गीता ने योग को भी कर्म, ज्ञान और भक्ति से जोड़ दिया है। इस तरह धार्मिक विचार की कई धाराओं के सङ्गम से एक ऐसी विशाल तरङ्ग बनी है जो अब तक मनुष्य-जीवन का हरा भरा करती है और सांसारिक क्लेशों से दुःखी आत्मा को शान्ति देती है।

---

१. गीता के यह पद्यानुवाद प० जगदीशनारायण तिवारी के अनुवाद से उद्धृत किये हैं।

भारतीय दर्शन

इतिहास में अनेक जातियों ने संसार और सभ्यता के एक-न-एक अङ्ग की पूर्ति विशेष रूप से की है। उदाहरणार्थ प्राचीन ग्रीस ने संसार को सौन्दर्य का भाव प्रदान किया अर्थात् अपनी सभ्यता में कला, साहित्य और जीवन के सौन्दर्य का ऐसा चमत्कार दिखाया कि संसार मुग्ध होकर अनुकरण करने लगा। प्राचीन रोम ने इसी तरह व्यवस्था और कानून के भावों के द्वारा संसार की प्रगति को बढ़ाया। प्राचीन भारतवर्ष ने सभ्यता की सबसे बड़ी सेवा तत्वज्ञान अर्थात् दर्शन के द्वारा की। यों तो भारत में सभ्यता के और भी बहुत से अङ्गों का विकास हुआ, साहित्य, व्याकरण, कला, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इत्यादि में इतनी उन्नति हुई कि आज भी आश्चर्य होता है। पर वह क्षेत्र जिसमें भारतीय बुद्धि ने सबसे बड़े चमत्कार दिखाये, उसकी बराबरी आज तक कोई नहीं कर सका है, जिसमें उन्होंने संसार पर अपनी छाप लगा दी है—वह क्षेत्र तत्वज्ञान का है। यहाँ हिन्दुओं की पैनी अन्तर्दृष्टि और तर्क ने जड़ और चेतन, आत्मा और परमात्मा, मन और बुद्धि, स्वयं विचार और तर्क इत्यादि-इत्यादि के स्वभाव-को जानने का प्रयत्न किया है।

इस गम्भीर से गम्भीर समीक्षा में उन्होंने अनुपम स्वतन्त्रता और निर्भयता दिखाई है। अपना तर्क जिधर ले जाय उधर जाने को वह तय्यार थे। न किसी प्रचलित धार्मिक सिद्धान्त की परवाह थी न लोक मत का डर था, न आन्तरिक भीरुता थी। सत्य का पता लगाना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था।

तर्क

इस अवस्था में दार्शनिक मतभेद अवश्यम्भावी था। दर्शन में जिन बातों की चर्चा होती हैं वह प्रत्यक्ष न हैं और न हो सकती हैं। अगर वह प्रत्यक्ष होतीं तो उनसे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों की परीक्षा एकदम हो जाती, सब को सत्यासत्य का पता ऐसी स्पष्टता से लग जाता कि मतभेद के लिये बहुत कम अवकाश रहता। रसायनशास्त्र,

वनस्पतिशास्त्र इत्यादि में ऐसा ही होता है। पर दर्शन में आत्मा या परमात्मा, कर्म या मोक्ष, सृष्टि या प्रलय, इन्द्रियगोचर नहीं हैं।

मतभेद

उनके विषय में तर्क करते-करते भिन्न-भिन्न पुरुष भिन्न भिन्न परिणामों पर स्वभावतः पहुँचते हैं। इस तरह अनेक विचार-शृङ्खलाएँ अर्थात् अनेक व्यवस्थित दर्शन उत्पन्न होते हैं। हिन्दुस्तान में इतनी सहनशीलता थी कि लोग सब दर्शनों के प्रयत्न और खोज का आदर करते थे और, मतभेद होने पर भी सबको उच्च स्थान देते थे। प्राचीन दर्शनों के बारे में एक और बात याद रखनी चाहिये। उन दिनों

विशेषीकरण का प्रभाव

विद्या का वैसा विशेषीकरण नहीं था जैसा आजकल है अर्थात् प्रत्येक विषय का अध्ययन अलग-अलग विशेषज्ञों के द्वारा सदा नहीं होता था। आजकल मानसशास्त्र, नीति-शास्त्र, भौतिकशास्त्र सब अलग-अलग हैं और अलग-अलग ही पढ़े जाते हैं। प्रचीन समय में यह सब एक दूसरे से जुड़े हुए थे और एक ही व्यवस्था के भाग थे। अतएव पुराने दर्शनों में बहुत-सी बातें मिलती हैं जो वर्तमान पद्धति के अनुसार तत्वज्ञान में नहीं शामिल की जातीं। वर्तमान विशेषीकरण से इतना लाभ तो अवश्य हुआ है कि प्रत्येक शास्त्र का विकास स्वतन्त्रता से और तेज़ी से होता है, पर इसके कारण ज्ञान की एकता का, विद्या के सामञ्जस्य का, भाव गौण हो जाता है। प्राचीन भारत में विश्वज्ञान की एक सुसङ्गठित पद्धति का भाव बहुत प्रबल था और विद्या की सब शाखाएँ एक ही तन से सम्बद्ध थीं।

भारतीय दर्शन का प्रभाव

भारतवर्ष में दर्शन की इतनी चर्चा रही कि दर्शन धर्म का भाग होकर सारी जनता के मानसिक और आध्यात्मिक जीवन का अङ्ग हो गया। दर्शनों के कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्त विद्वानों की कुटियों से निकल कर जनता के प्रत्येक वर्ग में फैल गये। आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, मोक्ष इत्यादि पर सब लोग विचार करते थे या कम-से-कम कुछ विश्वास रखते थे। साहित्य में भी इन दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख बार-बार आया है। भारतीय दर्शन का प्रभाव देश तक ही परिमित न था। बौद्धधर्म के साथ वह लङ्का, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, तिब्बत, और मङ्गोलिया तक पहुँचा।

मध्यकाल में उसने इस्लाम पर प्रभाव डाला और सूफ़ी-धर्म की उत्पत्ति में सहायता की। सूफीधर्म सारे इस्लामी संसार में एक बड़ी शक्ति रही है और साहित्य पर उसकी छाप अब तक लगी हुई है। १८वीं ईस्वी सदी से भारतीय दर्शन का अध्ययन यूरुप में प्रारम्भ हुआ और शोपनहायर, डीयसन आदि अनेक दार्शनिकों पर उसका प्रभाव दृष्टिगोचर है। अभी उसका इतिहास समाप्त नहीं हुआ है। सम्भव है कि भविष्य में भी वह नई दार्शनिक हलचलों का कारण हो।

पुराने दार्शनिकों के सिद्धान्त, शैली और गौरव को अच्छी तरह समझने के लिये मूलग्रन्थों का पढ़ना जरूरी है। यहाँ उनके मूल सिद्धान्त संक्षेप से केवल इसलिये लिखे जाँयेगे कि उनके बाद पुराने क्लिष्ट ग्रन्थों के परिशीलन में पाठकों को सहायता मिले।

तत्त्वज्ञान की जो धाराएँ देश में बह रही थीं वह चार्वाक, जैन और बौद्ध-भक्ति या भागवत-सिद्धान्तों के अलावा छः दर्शनों के रूप में प्रकट हुईं—न्याय, वैशेषिक, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा या वेदान्त और सांख्य। इनके सूत्रों की या स्वयं इनके सिद्धान्तों की उत्पत्ति और उत्तरोत्तर विकास का समय ठीक-ठीक निश्चय नहीं है पर मौर्य-साम्राज्य के पहिले ई० पू० चौथी सदी के पहिले इनकी मुख्य-मुख्य बातें निश्चित हो चुकी थीं। आगे कुछ और विकास हुआ, जैसे शङ्कराचार्य और रामानुज के द्वारा, पर मोटे-मोटे सिद्धान्त ई० सन् के कई सौ बरस पहिले से हो गये थे। छहो दर्शन वेद को प्रमाण मानते हैं, पर वेद के वाक्यों के अर्थ अपने-अपने ढङ्ग पर लगाते हैं और वास्तव में स्वतन्त्रता से खोज और तर्क करते हैं।

छः दर्शन

सांख्य के बहुतेरे सिद्धान्त उपनिषदों में और इधर-उधर महाभारत में भी मिलते हैं। इसके प्रवर्त्तक अथवा यों कहिये व्यवस्थापक कपिल जो ब्रह्मा, विष्णु या अग्नि के अवतार माने जाते हैं ई० पू० ७-६ सदी में हुए होंगे, पर इसका पहिला प्राप्य ग्रन्थ, ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका तीसरी ई० सदी की रचना है। ८वीं ई० सदी के लगभग गौड़पाद ने कारिका पर प्रधान टीका लिखी जिस पर फिर नारायण ने

सांख्य

सांख्यचन्द्रिका लिखी। नवीं ई॰ सदी के लगभग वाचस्पति ने सांख्यतत्त्वकौमुदी लिखी। अन्य हिन्दू दार्शनिकों की तरह सांख्यदार्शनिक भी बड़े निर्भय और स्वतन्त्र विचारक हैं, अपनी विचार पद्धति या परम्परा के परिणामों से नहीं झिझकते, पर औरों की तरह उन पर भी दूसरे दर्शनों का प्रभाव पड़ा है।

सांख्यदर्शन अनीश्वरवादी है अर्थात् संसार का कर्त्ता-हर्त्ता किसी को नहीं मानता। सारा जगत् और जगत् की सारी वस्तुएँ प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा जगत् और उनके संयोग-प्रतिसंयोग से उत्पन्न हुई हैं। पुरुष एक नहीं है जैसा कि वेदान्ती मानते हैं, किन्तु बहुत से हैं। सबको अलग-अलग सुख-दुख होता है जिससे प्रगट है कि अनुभव करने वाले अलग-अलग हैं। पुरुष जिसे आत्मा पुमान्, पुंगुणजन्तुजीवः, नर, कवि, ब्रह्म, अक्षर, प्राण, यः कः, और सत् भी कह सकते हैं अनादि है, अनन्त है, देखने, जानने और अनुभव करनेवाला है निर्गुण है। पदार्थों को पुरुष नहीं उत्पन्न करता, प्रकृति उत्पन्न करती है। पुरुष के सिवाय जो कुछ है प्रकृति है। प्रकृति के आठ प्रकार हैं—अव्यक्त, बुद्धि, अहङ्कार (वैकारिक, तैजस और भूतादि), और शब्द, स्पर्श, वर्ण, रस और गन्ध के तन्मात्र। अव्यक्त जिसे प्रधान ब्रह्म, पुर, ध्रुव, प्रधानक, अक्षर, क्षेत्र, तमस् और प्रसूत भी कह सकते हैं, अनादि और अनन्त है। यह मानो प्रकृति का अविकसित तत्त्व है; इसमें न रूप है न गन्ध है, न रस है, न यह देखा जा सकता है, न और किसी इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकता है, प्रकृति का दूसरा प्रकार है बुद्धि अध्यवसाय। यहाँ बुद्धि शब्द का प्रयोग कुछ असाधारण अर्थ में किया गया है। बुद्धि एक महत् है और प्रकृति पर प्रभाव डालती है। बुद्धि के आठ रूप हैं—चार सात्विक और चार तामसिक। सात्विक रूप हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनके उल्टे चार तामसिक रूप हैं—बुद्धि को मनस्, मति, महत्, ब्रह्म, ख्याति, प्रज्ञा, श्रुति, धृति, प्रज्ञानसन्तति, स्मृति और धी भी कहा है पर शायद

पुरुष

प्रकृति

बुद्धि

सांख्यदर्शन में पहिले बुद्धि एक तरह के महत् या ब्रह्म के अर्थ में ही मानी जाती थी। अहङ्कार या अभिमान वह है जिससे "मैं सुनता हूँ" "मैं देखता हूँ" "मैं भोग करता हूँ" इत्यादि धारणा उत्पन्न होती है। सांख्य-सिद्धान्त में अहङ्कार प्रकृति से उत्पन्न होता है और बुद्धि के मेल से होता है। इससे अहम् का भाव निकलता है। अहङ्कार को तैजस, भूतादि, सानुमान और निरनुमान भी कहते हैं। अहङ्कार से पाँचों तन्मात्र निकलते हैं, जिन्हें अविशेष, महाभूत, प्रकृति, अभोग्य अणु, अशान्त, अघोर और अमूढ़ भी कहते हैं।

अहङ्कार

पर पुरुष और इन आठ प्रकृतियों को मिलाने से भी जगत् के व्यापार स्पष्ट नहीं होते। पुरुष और प्रकृति के निकटतर सम्बन्धों के द्वारा और मार्ग बताने की ज़रूरत है। और प्रकृति के भी सरल ग्राह्य रूप बताने की ज़रूरत है। इसलिये सोलह विकारों की कल्पना की है अर्थात् पाँच बुद्धि इन्द्रिय, पाँच कर्म इन्द्रिय, मन और पाँच महाभूत। पाँच बुद्धि इन्द्रिय हैं—कान, आँख, जीभ, नाक और त्वचा जो अपने-अपने उपयुक्त पदार्थों का ग्रहण करती हैं। पाँच कर्म इन्द्रिय हैं—आवाज़, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय और मल त्यागने का स्थान। मन अनुभव करता है। पाँच महाभूत हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। भूतों को भूतविशेष विकार, विग्रह, शान्त, घोर, मूढ़, आकृति और तनु भी कह सकते हैं। पुरुष, आठ प्रकृति और सोलह विकार मिलाकर पच्चीस तत्त्व कहलाते हैं।

विकार

तत्त्व

अहङ्कार के कारण पुरुष अपने को कर्त्ता मानता है पर वास्तव में पुरुष कर्त्ता नहीं है। यदि पुरुष स्वयं ही कर्त्ता होता तो सदा अच्छे ही कर्म करता। बात यह है कि कर्म तीन गुणों के कारण होते हैं—सत्त्व, रज और तम। यह केवल साधारण अर्थ में गुण नहीं हैं, किन्तु प्रकृति के भाग हैं; आभ्यन्तरिक भाग हैं। अगर तीनों गुणों में सामञ्जस्य हो तो सबसे अच्छा है, लेकिन अगर किसी ओर से विषमता है अर्थात् किसी एक की कोई प्रधानता है तो प्रकृति में सञ्चलन होता है। इस

गुण

तरह जगत् का आरम्भ होता है और इसके विपरीत क्रम से अन्त होता है। इस क्रम को सङ्कर, प्रतिसङ्कर कहते हैं। सङ्कर का क्रम इस तरह है—जब अव्यक्त का सम्पर्क पुरुष से होता है तब बुद्धि प्रकट होती है; बुद्धि से अहङ्कार प्रगट होता है जो तीन तरह का है, वैकारिक अर्थात् सत्त्व से प्रभावित, तैजस अर्थात् रज से प्रभावित जो बुद्धि इन्द्रियों को पैदा करता है और तामस जो भूतादि पैदा करता है। भूतादि से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं और तन्मात्र से भौतिक तत्त्व। इस प्रकार सङ्कर का विकास चलता है। इससे उल्टा क्रम प्रतिसङ्कर का है जिसका अन्त प्रलय है। भौतिक तत्त्व तन्मात्र में भी परिणत हो जाते हैं, तन्मात्र, अहङ्कार में, अहङ्कार बुद्धि में और बुद्धि अव्यक्त में। अव्यक्त का नाश नहीं हो सकता। उसका विकास और किसी चीज से नहीं हुआ है। प्रतिसङ्कर पूरा होने पर पुरुष और अव्यक्त रह जाते हैं। पुरुष अविवेक के कारण प्रकृति से सम्बन्ध करता है; विवेक होने पर सम्बन्ध टूट जाता है। सांख्य का यह प्रकृति पुरुषविवेक वेदान्त के आत्मविवेक से मिलता-जुलता है। पर पुरुष का यह अविवेक कैसे पैदा होता है कि वह अपने को—अर्थात् आत्मा को--इन्द्रिय, मन या बुद्धि समझ लेता है? पुरुष आप काम नहीं कर सकता तो त्रैगुण्य कहाँ से आ जाता है, बुद्धि कहाँ से पैदा हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्यों में नहीं मिलता। कैसे भी पैदा हुआ हो, यह अविवेक सब दुख की जड़ है। इसी से जन्म-मरण होता रहता है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में सांख्य यह भी मानता है कि स्थूल शरीर के अलावा एक लिङ्ग शरीर या आतिवाहिक शरीर है, जो बुद्धि, अहङ्कार, मन, पाँच तन्मात्र और पाँच आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का बना है, जो दिखाई नहीं पड़ता पर उसी के कारण एक पुरुष का दूसरे पुरुष से भेद किया जाता है, वह कर्म के अनुसार बनता है, मरने पर पुरुष के साथ दूसरे जन्म में जाता है और फल भोगता है। यह सांख्यदर्शन बार-बार जोर देता है कि इस अविवेक से ही पुरुष संसार के जञ्जाल में फँस गया है, परिमित हो गया है, दुख उठा रहा है। विवेक होते ही यह

सङ्कर

प्रतिसङ्कर

अविवेक

कर्म

दुःख दूर हो जाता है, कृत्रिम सीमाएँ मिट जाती हैं, पुरुष को कैवल्य मिल जाता है। कैवल्य में कोई दुख नहीं है, कोई परतन्त्रता नहीं है, कोई सीमा नहीं है। यही मोक्ष है।

कैवल्य

सांख्य में तीन प्रमाण माने हैं, प्रत्यक्ष, आप्तवचन और अनुमान। सांख्य के इन सब सिद्धान्तों पर आगामी लेखकों में बहुत-सा मतभेद नज़र आता है। इनके अलावा सांख्य ग्रन्थों में अभिबुद्धि (व्यवसाय, अभिमान, इच्छा, कर्त्तव्यता, क्रिया) कर्मयोनि (धृति, श्रद्धा, सुखा, अविविदिषा, विविदिषा), वायु प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान , कर्मात्मा, (वैकारिक, तैजस, भूतादि, सानुमान, निरनुमान), अविद्या (तमस, मोह, महामोह, तामिस्र, अधतामिस्त्र), तुष्टि अतुष्टि, सिद्धि, प्रसिद्धि, मूलिकार्थ, षष्टितन्त्र, अनुग्रहसर्ग, भूतसर्ग, दक्षिणा, इत्यादि-इत्यादि की भी विस्तृत व्याख्या की है।

प्रमाण

उत्तरमीमांसा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदों में हैं पर ब्यौरेवार वर्णन सबसे पहिले वदरायण ने ई० पू० चौथी-तीसरी सदी के लगभग वेदान्त सूत्र में किया। सबसे बड़ा भाष्य शङ्कराचार्य का जो ९ वीं ई० सदी में हुए थे और जिन्होंने बौद्ध और जैनधर्मों का खण्डन किया। वेदान्त के सिद्धान्त पुराण और साधारण साहित्य में बहुतायत से मिलते हैं और उन पर ग्रन्थ आज तक बनते रहे हैं। वेदान्त का प्रधान सिद्धान्त है कि वस्तुतः जगत् में केवल एक चीज है और वह है ब्रह्म ब्रह्म अद्वितीय है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है। तो फिर जगत् में बहुत सी चीजें कैसे दिखाई पड़ती हैं ? वास्तव में एक ही चीज है पर अविद्या के कारण भ्रम हो जाता है कि बहुत-सी चीजें हैं। अविद्या क्या है ? अविद्या व्यक्तिगत अज्ञान है; मानवी स्वभाव में ऐसी मिली हुई है कि बड़ी कठिनता से दूर होती है। विद्या से ही अविद्या दूर हो सकती है। पर अविद्या कोई अलग चीज नहीं है; कोरी माया है, मिथ्या है। यदि अविद्या या माया को पृथक् पर्दा माना जाय तो ब्रह्म की अद्वितीयता नष्ट हो जायगी और

वेदान्त

ब्रह्म

अविद्या

जगत में एक के बजाय दो चीजें हो जायँगी। दूसरे अगर अविद्या अलग स्वतन्त्र चीज मानी जाय तो इसका नाश भी न हो सकेगा। अस्तु, यह अविद्या भी मिथ्या है, अस्थायी है। प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक आत्मा ब्रह्म का ही अंश है, ब्रह्म से अलग नहीं है। जो कुछ हम देखते हैं या और किसी तरह अनुभव करते हैं वह भी ब्रह्म का अंश है पर वह हमें अविद्या के कारण ठीक-ठीक अनुभव नहीं होता। जैसे कोई दूर से रेगिस्तान को देखकर पानी समझे या पानी में परछाईं देखकर समझे कि चन्द्रमा, तारे बादल पानी के भीतर हैं और पानी के भीतर घूमते हैं, उसी तरह हम साधारण वस्तुओं को ब्रह्म न मानकर मकान, पेड़, शरीर, या जानवर इत्यादि मानते हैं। ज्योंही हमें ज्ञान होगा, विद्या प्राप्त होगी अथवा यों कहिये कि ज्योंही हमारा शुद्ध ब्रह्म-रूप प्रगट होगा त्योंही हमें सब कुछ ब्रह्मरूप ही मालूम होगा। इस अवस्था को पहुँचते ही हमारे दुख-दर्द की माया भी मिट जायगी, सुखही-सुख हो जायेगा, हम ब्रह्म में मिल जायँगे अर्थात् अपने असली स्वरूप को पा जायँगे। आत्मा ब्रह्म है तुम्हीं ब्रह्म हो—तत्त्वमसि। संक्षेप से, तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, आत्मा ब्रह्म है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म है; ब्रह्म को छोड़ कर कोई चीज नहीं है कुछ भी पाने, जानने या भोगने लायक़ नहीं है। तत्त्वमसि में तत् ब्रह्म है, त्वम् आत्मा है, वास्तव में दोनों एक हैं। वेदान्ती मानते हैं कि यह सिद्धान्त वेदों में हैं, वेद प्रमाण हैं, वेद ब्रह्म हैं, वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड; ज्ञानकाण्ड विशेष कर उपनिषद् है; उपनिषदों में अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश है। पर वेद को प्रमाण मानते हुए भी शङ्कराचार्य ने कहा है कि जिसने विद्या प्राप्त कर ली, उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया, वह ब्रह्म हो गया, उसे वेद की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे बाढ़ से लबालब भरे देश में छोटे तालाब का कोई महत्त्व नहीं है वैसे ही विद्या प्राप्त किये हुए आदमी के लिए वेद का कोई महत्त्व नहीं है।

तत्त्वमसि

विशुद्ध वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही ब्रह्म है, पर व्यवहार दृष्टि से वेदान्ती जगत् का अस्तित्व मानने को तैयार हैं। शङ्कर ने बौद्ध शून्यवाद या विद्यामात्र

का खण्डन करते हुए साफ-साफ स्वीकार किया है कि व्यवहार के लिये चीजों का अस्तित्व और उनकी भिन्नता माननी पड़ेगी। इसी तरह यद्यपि ब्रह्म वास्तव में निर्गुण ही है व्यवहार में उसे सगुण मान सकते हैं। इस तरह ब्रह्म में शक्ति मानी गई है और शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। ब्रह्म से जीवात्मा प्रगट होता है। वह अविद्या के कारण कर्म करता है, कर्म के अनुसार जीवन-मरण, सुख-दुःख होता है, अविद्या दूर होते ही फिर शुद्ध रूप में आकर ब्रह्म में मिल जाता है।

व्यवहार

जब तक जीव संसार में रहता है तब तक स्थूल-शरीर के अलावा एक सूक्ष्म शरीर भी रखता है। जब स्थूल शरीर पञ्चतत्त्व में मिल जाता है तब भी यह सूक्ष्म शरीर जीव के साथ रहता है। यह मुख्य प्राण, मन और इन्द्रियों का बना होता है, जड़ होने पर भी अदृश्य रहता है और पुनर्जन्म में आत्मा के साथ जाकर कर्मफल भोगने में सहाय होता है। स्थूल शरीर में मुख्य प्राण के अलावा प्राण उदान, व्यान समान और उदान प्राण भी हैं। पर यह सब व्यवहार दृष्टि से है, यह सब माया का रूप है, अविद्या का परिणाम है—अविद्या या माया जो स्वयं मिथ्या है—मिथ्यात्व जो स्वयं कुछ नहीं है—एक ब्रह्म है, अद्वितीय है; बस और कुछ नहीं है।

सूक्ष्मशरीर

स्थूलशरीर

वेदान्त इतना ऊँचा तत्त्वज्ञान है कि साधारण आत्माओं की पहुँच के परे है। अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म का समझना कठिन है, उसकी भक्ति करना और भी कठिन है अथवा यों कहिये कि विशुद्ध वेदान्त में भक्ति के लिये स्थान नहीं है, भक्ति की आवश्यकता ही नहीं है, ज्ञान—विद्या—ही एक मात्र उपयोगी साधन है। पर कोरा ज्ञानवाद मानवी प्रकृति को सन्तोष नहीं देता; मनुष्य का हृदय भक्ति के लिये आतुर है। अतएव कुछ तत्त्वज्ञानियों ने वेदान्त के क्षेत्र में एक नया पन्थ निकाला, जो मुख्य वेदान्त सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी ब्रह्म को सगुण मानता है और भक्ति के लिये अवकाश निकालता है। अनुमान है कि वेदान्त में यह परिवर्त्तन भागवत-धर्म या महायान-बौद्धधर्म या साधारण ब्राह्मणधर्म के प्रभाव से हुआ।

सगुण ब्रह्म

वेदान्त की इस शाखा को जमाने वाले बहुत से तत्त्वज्ञानी थे जैसे बौद्धायन, टङ्क, द्रमिड़ या द्रविड़, गुहदेव, कपर्दिन, भरुचि। इनके समय का पता ठीक-ठीक नहीं लगता पर १२ ईस्वी सदी में रामानुज ने इन पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है। बौद्धायन और द्रमिड़ शङ्कर के पहिले के मालूम होते हैं। स्वयं रामानुज ने नये वेदान्तमत को पक्का किया और उसका प्रचार किया। रामानुज के सम्प्रदाय में आज भी बहुत से अनुयायी हैं। शङ्कर अद्वैतवादी हैं, रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी हैं। बादरायण और शङ्कर की तरह रामानुज भी मानते हैं कि ब्रह्म सत्य है, सर्वव्यापी है पर वह ब्रह्म को प्रेम या करुणामय भी मानते हैं। ब्रह्म में चित् भी है, अचित् भी है, दोनों ब्रह्म के प्रकार हैं। आत्माएँ ब्रह्म के भाग हैं, अतएव अनश्वर हैं, सदा रहेंगे। ब्रह्म अन्तर्यामी है, अर्थात् सब आत्माओं के भीतर का हाल जानता है। पर मोक्ष होने पर भी, ब्रह्म में मिल जाने पर भी, आत्माओं का अस्तित्व रहता है; ब्रह्म के भीतर होते हुए भी उनका पृथकत्व रहता है। यह सच है कि कल्प के अन्त में ब्रह्म अपनी कारणावस्था को धारण कर लेता है और आत्मा तथा अन्य सब पदार्थ सङ्कुचित हो जाते हैं, अव्यक्त हो जाते हैं। पर दूसरे कल्प के प्रारम्भ में आत्माओं का अपने पुराने पाप-पुण्य के अनुसार फिर शरीर धारण करना पड़ता है। यह क्रम मोक्ष तक चलता रहता है। जगत् ब्रह्म से निकला है पर बिल्कुल मिथ्या नहीं है। इस विचार शृङ्खला में ब्रह्म सगुण हो जाता है; उसमें विशेषताएँ आ जाती हैं; अद्वैत की जगह विशिष्टाद्वैत आता है यह ईश्वर प्रेम से भरा है; उसकी भक्ति करनी चाहिये। प्रसन्न हो कर वह भक्तों को सब सुख देगा।

विशिष्टाद्वैत

पूर्वमीमांसा का विषय—यज्ञ, कर्मकाण्ड—वेदों के बराबर पुराना है, पर इसकी नियमानुसार व्यवस्था जैमिनि ने ई० पू० चौथी-तीसरी सदी में मीमांसा सूत्र में की थी। इस सूत्र पर प्रधान टीका कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक और टुप्टीका में ७ ई० सदी में की। कुमारिल के आधार पर मण्डन मिश्र ने विधिविवेक और मीमांसानुक्रमण ग्रन्थ रचे। इसके अलावा अन्य टीकाएँ अब तक होती रही हैं।

पूर्वमीमांसा

कुमारिल ने शबर के पुराने भाष्य का अनेक स्थानों पर खण्डन किया है, पर उसके शिष्य प्रभाकर ने अपनी बृहती टीका में शबर को ही ज़्यादा माना है।

वेद के दो भाग हैं—पूर्व भाग अर्थात् कर्मकाण्ड और उत्तर भाग अर्थात् ज्ञानकाण्ड। दूसरे भाग की मीमांसा उत्तरमीमांसा या वेदान्त है। पहिले भाग की मीमांसा पूर्वमीमांसा कहलाती है।

कर्मकाण्ड

विषय का प्रारम्भ करते हुए जैमिनि कहते हैं—'अथातो धर्म जिज्ञासा' अर्थात् अब धर्म जानने की अभिलाषा। अभिप्राय है कि पूर्वमीमांसा धर्म की विवेचना करती है। यह धर्म मन्त्रों और ब्राह्मणों का है। मन्त्रों का महात्म्य अपूर्व है, ब्राह्मणों में विधि और अर्थवाद हैं। विधियाँ कई तरह की हैं—उत्पत्तिविधि जिनसे सामान्य विधान होता है, विनियोग विधि जिनमें यज्ञ की पद्धति बताई है, प्रयोग विधि जिनमें यज्ञों का क्रम है और अधिकार विधि जो यह बताती है कि कौन किस यज्ञ के करने का अधिकारी है। इनके साथ-साथ बहुत से निषेध भी हैं। इस सम्बन्ध में जैमिनि ने नामधेय अर्थात् यज्ञ के अग्निहोत्र, उद्भिद् इत्यादि नामों पर भी बहुत ज़ोर दिया है। ब्राह्मणों के अर्थवादों में अर्थ समझाए हैं।

यज्ञों का विधान बहुत से मन्त्रों में, ब्राह्मणों में और स्मृतियों में है; कहीं-कहीं बहुत से क्रम और नियम बताये हैं कहीं थोड़े-से ही बताये हैं, कहीं कुछ भी नहीं बताये हैं; बहुधा कुछ पारस्परिक विरोध दृष्टिगोचर है; बहुत स्थानों पर संशय होता है कि यहाँ क्या करना चाहिये? किस समय और किस तरह करना चाहिये? गुत्थियों को सुलझाना पूर्वमीमांसा का काम नहीं है। मीमांसकों ने पाँच तरह के प्रमाण माने हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति अर्थात् एक वस्तु विषय में दूसरी वस्तु के आधार या भाव से ज्ञान प्राप्त करना और शब्द। कुमारिलभट्ट ने एक छठा प्रमाण प्रभाव भी माना है, जो वास्तव में अनुमान का ही एक भेद है।

प्रमाण

पाँच या छः प्रमाण मानते हुए भी मीमांसक प्रायः एक ही प्रमाण शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्द अर्थात् ईश्वरवाक्य या ऋषिवाक्य के आधार पर ही वह यज्ञ विधान की गुत्थियाँ सुलझाने की चेष्टा करते हैं। अतएव उन्होंने बहुत से

नियम बनाये हैं कि श्रुति का अर्थ कैसे लगाना चाहिये, यदि श्रुति और स्मृति में विरोध मालूम हो तो स्मृति का अर्थ कैसे लगाना चाहिये, यदि दो स्मृतियों में विरोध हो तो श्रुति के अनुसार कौन सा अर्थ ग्राह्य है, यदि उस विषय पर श्रुति में कुछ नहीं है तो क्या करना चाहिये? यदि स्मृति में कोई विधान है पर श्रुति में उस विषय पर कुछ नहीं है तो कहाँ यह मानना चाहिये कि इस विषय की श्रुति का लोप हो गया है? इस सब की मीमांसा माधव ने न्यायमालाविस्तर में बड़े विस्तार से की है। अर्थ लगाने के जो नियम यज्ञ-विधान के बारे में बनाये गये हैं उनका प्रयोग और विषयों में भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, कानून जो शब्द के आधार पर स्थिर है इन्हीं नियमों के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है। पूर्वमीमांसा का यह विशेष महत्त्व है। उससे धर्म, आचार, यज्ञ, कानून इत्यादि स्थिर करने में सहायता मिलती है। वास्तव में पूर्वमीमांसा तत्त्वज्ञान की पद्धति नहीं है, यज्ञ और नियम-विधान की पद्धति है, लेकिन परम्परा से इसकी गणना षड्दर्शन में होती रही है। पूर्वमीमांसा का विषय ऐसा है कि मीमांसकों में मतभेद अवश्यम्भावी था। मीमांसकों में प्रभाकर का मत बहुत प्रबल रहा है।

योग

योग के प्रथम रूप वेदों में मिलते हैं; उपनिषदों में बार-बार उसका जिक्र आया है, बौद्ध और जैन धर्मों ने भी योग को स्वीकार किया है, बुद्ध और महावीर ने योग किया था, गीता में कृष्ण ने योग का उपदेश दिया है और पद्धति का निर्देश किया है। पर योग की पूरी-पूरी व्यवस्था ई० सन् से एक-दो सदी पहिले पतञ्जलि ने योगसूत्र में की, जिस पर व्यास ने चौथी ई० सदी में बड़ी टीका रची, जिस पर फिर नवीं सदी में वाचस्पति ने तत्त्ववैशारदी टीका बनाई। योग पर छोटे-मोटे ग्रन्थ बहुत बने हैं और अब तक बन रहे हैं। और भगवद्गीता में योग की परिभाषा समत्व शब्द से की है। योग का वास्तविक अर्थ यही है कि आत्मा को समत्व प्राप्त हो। बहुत से लेखकों ने योग को संयोग अर्थात् परमात्मा में आत्मा का

समत्व

समा जाना माना है पर न तो गीता से और न पतञ्जलि के सूत्रों से इसका समर्थन होता है। योगसूत्र के भाष्य में

भोजदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि योग वियोग है, पुरुष और प्रकृति में विवेक या वियोग है। इसी तरह बौद्ध और जैन जो परमात्मा को नहीं मानते योग को मानते हैं और कहीं-कहीं तो उस पर बहुत ज़ोर देते हैं। सांख्य से योग का घनिष्ट सम्बन्ध है। योगसूत्र या योगसूत्रानुशासन को

सांख्य से सम्बन्ध

सांख्यप्रवचन भी कहते हैं। विज्ञानभिक्षु जिसने कपिल के सांख्यसूत्र पर टीका की है, योगवार्त्तिक और योगसारसंग्रह का भी रचयिता है और दोनों तत्त्वज्ञानों के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। योग ने सांख्य की बहुत-सी बातें ले ली हैं पर कुछ नई बातें जोड़ दी हैं; एक तो परमेश्वर, दूसरे परमेश्वर की भक्ति, तीसरे चित्त की एकाग्रता। योगशास्त्रों ने संयम की विस्तृत पद्धति बना दी है। इसी से योग को सेश्वर सांख्य भी कहते हैं।

दूसरे सूत्र में पतञ्जलि कहते हैं कि चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। यदि मन एकाग्र करके आत्मा या परमात्मा के ध्यान में लगा दिया जाय, इन्द्रियों की चञ्चलता रोक दी जाय और सब व्यापार बन्द कर के

चित्तवृत्तिनिरोध

एकमात्र ध्यान किया जाय तो आत्मा को समत्व और शान्ति मिलती है, सब दुःख मिट जाते हैं और आध्यात्मिक आह्लाद प्रगट होता है। मन की चञ्चलता, बीमारी, सुस्ती, संशय, लापरवाही, मिथ्यात्त्व इत्यादि से उत्पन्न होती है। इन्हीं से दुःख भी उत्पन्न होता है। इन सब को दूर करने के लिये मन को तत्त्व पर स्थिर करना चाहिये। इसकी ब्योरेवार व्यवस्था पतञ्जलि के योगसूत्र में है। सूत्र के चार पाद हैं—समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य। समाधिपाद में योग का उद्देश्य और रूप बताया है और दिखाया है कि समाधि कैसी होती है। इस समाधि के साधन क्या हैं—यह दूसरे पाद में बताया है। समाधि से बहुत सी अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं—इन विषयों का वर्णन तीसरे पाद में है। इन भागों में योग के बहुत से अभ्यास—क्रियाएँ—भी बताये हैं। योग की पराकाष्ठा होने पर आत्मा को कैवल्य प्राप्त होता है—अर्थात् जगत् के जञ्जाल से हटकर आत्मा आप में ही लीन हो जाता है। यह न समझना चाहिये कि योग मत में कैवल्य होने पर आत्मा परमेश्वर में मिल जाता है। ऐसा कथन पतञ्जलि में कहीं नहीं है और न विज्ञानभिक्षु का

कैवल्य

योगसारसंग्रह ही इस धारणा का समर्थन करता है। यह अवश्य माना है कि यदि साधनों से पूरी सिद्धि न हो तो परमेश्वर की कृपा कैवल्य और मोक्ष तक पहुँचने में सहायता करती है। कैवल्य का यह विषय चौथे पाद में है। योग में अभ्यास बहुत से हैं जिनसे स्थिति में अर्थात् वृत्तियों के निरोध में और चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। अभ्यास या प्रयत्न बार-बार करना चाहिये। वृत्तियों का निरोध होने पर वैराग्य भी हो जाता है, जिसमें न दृष्ट और न आनुश्राविक पदार्थों की कोई अभिलाषा रह जाती है। समाधि के उपायों में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणायाम का बहुत ऊँचा स्थान है। इस सम्बन्ध में हठ या क्रियायोग का भी विस्तृत वर्णन किया है, जिससे आत्मा को शान्ति और प्रकाश की प्राप्ति होती है। योगांगो में योग के आठ साधन हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और समाधि। आसन बहुत से हैं, जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासन और स्वस्तिकासन। योगसाधन से विभूतियाँ प्राप्त कर के मनुष्य सब कुछ देख सकता है, सब कुछ जान सकता है, भूख-प्यास जीत सकता है, दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है, आकाश को चढ़ सकता है, सब तत्त्वों को विजय कर सकता है और जैसे चाहे उनका प्रयोग कर सकता है, इत्यादि इत्यादि। पर पतञ्जलि तथा अन्य लेखकों ने जोर दिया है कि योग का सच्चा उद्देश्य कैवल्य या मोक्ष है।

अभ्यास

आसन

विभूति

न्याय जिसे तर्कविद्या या वादविद्या भी कहते हैं ई० पू० तीसरी सदी के लगभग गौतम या अक्षपाद के न्यायसूत्रों में और उसके बाद ५ वीं ई० सदी के लगभग वात्स्यायन की महाटीका न्यायभाष्य में, तत्पश्चात् ५ वीं सदी में दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चयन्यायप्रवेश इत्यादि में, ६ ठी सदी में उद्योतकर के न्यायवार्तिक में और धर्मकीर्ति के न्यायविन्दु में, ६ वीं सदी में धर्मोत्तर की न्यायविन्दु टीका में और उसके बाद बहुत ग्रन्थों और टीकाओं में वादविवाद के साथ प्रतिपादन किया गया है। गौतम का

न्याय

पहिला प्रतिज्ञा सूत्र है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह-स्थान — इन सोलह के ठीक-ठीक ज्ञान से मुक्ति होती हैं। तीसरा सूत्र कहता है कि प्रमाण चार तरह का है — प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जब

प्रमाण

पदार्थ से इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो छः प्रकार का है (१) संयोग—पदार्थ का साधारण ज्ञान (२) संयुक्त-समवाय—पदार्थ के गुण का ज्ञान (३) संयुक्त समवेत समवाय—पदार्थ के गुण की जाति इत्यादि का ज्ञान (४) समवाय—इन्द्रिय और पदार्थ का नित्य सम्बन्ध—जैसे आकाश के नित्य गुण शब्द का कान

प्रत्यक्ष

के भीतर के आकाश से सम्बन्ध (५) समवेत-समवाय—जैसे ऊपर के दृष्टान्त में शब्द की जाति का बोध (६) संयुक्त विशेषण—जैसे अभाव का ज्ञान। अनुमान के पाँच अङ्ग हैं—(१) प्रतिज्ञा—सिद्ध की जानेवाली बात का कथन (२) हेतु—कारण का कथन (३) उदाहरण (४) उपनय—हेतु की स्पष्ट सूचना (५) निगमन—सिद्धि का कथन। जैसे (१) पहाड़ पर आग है (२) क्योंकि वहाँ धूआँ दिखाई देता है (३) जहाँ धूआँ वहाँ आग जैसे चौके में (४) पहाड़ पर धूआँ है (५) इस लिये पहाड़ पर आग है। हेतु दो तरह के होते हैं, एक तो वह जो साधर्म्य

अनुमान

या सादृश्य के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि करते हैं जैसे ऊपर के सिद्धान्त में; दूसरे वह जो वैधर्म्य के द्वारा सिद्धि करते हैं जैसे जड़ पदार्थों की निर्जीविता से शरीर में आत्मा की सिद्धि। आगे चलकर इन दो प्रकारों के स्थान पर तीन प्रकार माने गये—अन्वयव्यतिरेकी,

हेतु

केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी। जो हेतु कहीं है, कहीं नहीं है, वह अन्वयव्यतिरेकी है, जैसे चौके में धुआँ। जो हेतु सर्वत्र हो वह केवलान्वयी है। जो कहीं भी न हो वह केवल-व्यतिरेकी, जैसे आग कहीं भी पानी नहीं है। हेत्वाभास पाँच हैं—सव्यभिचार,

हेत्वाभास

विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत जिनसे किसी चीज़ का प्रमाण ठीक तरह नहीं हो सकता। सव्यभिचार या

अनैकान्तिक हेतु वह है जो साध्य और असाध्य दोनों के साथ है, जैसे शब्द नित्य है क्योंकि शब्द का स्पर्श नहीं हो सकता। इस हेतु को देने वाला यह भूलता है कि बुद्धि इत्यादि चीज़ें स्पर्श न रखती हुई भी अनित्य हैं। विरुद्धहेतु बिलकुल उलटा है, जैसे घड़ा टूट नहीं सकता क्योंकि वह टूट गया है। प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष हेतु वह है जिससे किसी और स्पष्ट प्रमाण नहीं होता। साध्यसम या असिद्ध वह है जो स्वयं सिद्धि की आवश्यकता रखता है। कालातीत या कालात्ययापदिष्ट हेतु वह है जो समय से बाधित है। प्रमाण का तीसरा साधन उपमान है, जिसमें समानता या सादृश्य के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है जैसे घर के घड़े से मिलने-जुलने वाली चीज देखकर बोध होता है कि यह भी घड़ा है। उपमान को वैशेषिक दार्शनिकों ने और कुछ अन्य लेखकों ने प्रमाण की पदवी नहीं दी है। शब्द प्रमाण है आप्त अर्थात् धर्म इत्यादि जाननेवालों और उत्कृष्ट चरित्र रखनेवालों का उपदेश। यह दो तरह का है एक तो दृष्टार्थ जो इन्द्रियों से जानने योग्य बातें बताता है और जो मनुष्यों का भी हो सकता है। दूसरा, अदृष्टार्थ जो इन्द्रियों से न जानने योग्य बातें जैसे स्वर्ग, नरक, मोक्ष इत्यादि बताता है और जो ईश्वर का उपदेश है। वेद ईश्वर का रचा हुआ है और सर्वत्र प्रमाण है। इस तरह वाक्य दो तरह के होते हैं—वैदिक और लौकिक। पुराने नैयायिकों ने स्मृतियों को लौकिक वाक्य माना है, पर आगे के कुछ लेखकों ने इनकी गणना भी वेदवाक्य में की है। वेदवाक्य तीन तरह के हैं—एक तो विधि जिसमें किसी बात के करने या न करने का विधान हो; दूसरे अर्थवाद जिसमें (१) विधेय की प्रशंसा हो या (२) निषेध की निन्दा हो या (३) कर्म की भिन्न रीति का निर्देश हो या (४) पुराकल्प अर्थात् पुराने लोगों के आचार से विधेय का समर्थन हो। तीसरा वेदवाक्य अनुवाद है जो विधेय की व्याख्या, फल इत्यादि बता के, आवश्यक बातों का निर्देश कर के करता है। इस स्थान पर न्यायदर्शन में पद और वाक्य की विस्तार से विवेचना की है। जैसे पद से व्यक्ति, आकार और जाति का ज्ञान होता है, शब्द

उपमान

शब्द

वेदवाक्य

और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, इत्यादि, इत्यादि।

प्रमेय

दूसरे पदार्थ प्रमेय से उन वस्तुओं का अभिप्राय है जिनके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष मिलता है। वह बारह हैं—(१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) पुनर्जन्म (१०) फल (११) दुःख (१२) मोक्ष।

आत्मा

आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है, पर इसका अनुमान इस तरह होता है कि इच्छा, द्वेष और प्रयत्न या व्यापार करनेवाला, ज्ञान करनेवाला, सुख और दुःख का अनुभव करने वाला अवश्य कोई है। आत्मा अनगिनिति हैं। संसार को रचने वाला आत्मा है ईश्वर। साधारण आत्मा और ईश्वर दोनों में ही संख्या, परिमाण पृथकत्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न यह गुण हैं, पर ईश्वर में यह नित्य हैं, औरों में अनित्य। ईश्वर का ज्ञान नित्य और सर्वव्यापी है, औरों में अज्ञान, अधर्म, प्रमाद इत्यादि दोष भी हैं।

शरीर

शरीर चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय है; पृथ्वी के परमाणुओं से बना है। धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य के अनुसार आत्मा तरह-तरह के शरीर धारण करता है।

इन्द्रिय

इन्द्रिय पाँच हैं—नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा जो उत्तरोत्तर पृथिवी, आकाश, तेज, जल और वायु से बनी हैं और अपने उत्तरोत्तर गुण, गन्ध, शब्द, रूप, रस और स्पर्श का ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों के इन्हीं विषयों को अर्थ कहते हैं; जिसको चौथा प्रमेय माना है।

अर्थ

आगे के नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव को अर्थ में गिना है। पृथिवी का प्रधान गुण हैं गन्ध, पर इसमें रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार भी हैं,—परमाणुओं में नित्य और स्थूल पदार्थों में अनित्य। इसी तरह जल, तेज, वायु और आकाश में अपने-अपने प्रधान गुणों के अलावा और गुण भी हैं,—परमाणुओं में नित्य और अन्यत्र अनित्य।

और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, इत्यादि, इत्यादि ।

दूसरे पदार्थ प्रमेय से उन वस्तुओं का अभिप्राय है जिनके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष मिलता है। वह बारह हैं—(१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) पुनर्जन्म (१०) फल (११) दु:ख (१२) मोक्ष। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है, पर इसका अनुमान इस तरह होता है कि इच्छा, द्वेष और प्रयत्न या व्यापार करनेवाला, ज्ञान करनेवाला, सुख और दु:ख का अनुभव करने वाला अवश्य कोई है। आत्मा अनगिनिति हैं। संसार को रचने वाला आत्मा है ईश्वर। साधारण आत्मा और ईश्वर दोनों में ही संख्या, परिनाण पृथकत्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न यह गुण हैं, पर ईश्वर में यह नित्य हैं, औरों में अनित्य। ईश्वर का ज्ञान नित्य और सर्वव्यापी है, औरों में अज्ञान, अधर्म, प्रमाद इत्यादि दोष भी हैं।

प्रमेय

आत्मा

शरीर

शरीर चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय है; पृथ्वी के परमाणुओं से बना है। धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य के अनुसार आत्मा तरह-तरह के शरीर धारण करता है। इन्द्रिय पाँच हैं—नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा जो उत्तरोत्तर पृथिवी, आकाश, तेज, जल और वायु-से बनी हैं और अपने उत्तरोत्तर गुण, गन्ध, शब्द, रूप, रस और स्पर्श का ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों के इन्हीं विषयों को अर्थ कहते हैं; जिसको चौथा प्रमेय माना है। आगे के नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव को अर्थ में गिना है। पृथिवी का प्रधान गुण हैं गन्ध, पर इसमें रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार भी हैं,—परमाणुओं में नित्य और स्थूल पदार्थों में अनित्य। इसी तरह जल, तेज, वायु और आकाश में अपने-अपने प्रधान गुणों के अलावा और गुण भी हैं,—परमाणुओं में नित्य और अन्यत्र अनित्य।

इन्द्रिय

अर्थ

बुद्धि

पाँचवा प्रमेय बुद्धि है, जो ज्ञान है, और वस्तुओं का ज्ञान कराती है। यह अनित्य है पर नैयायिकों ने ईश्वर के ज्ञान को नित्य माना हैं।

मन

छठे प्रमेय मन को बहुतेरे नैयायिकों ने इन्द्रिय माना है। स्मरण, अनुमान, संशय, प्रतिभा, शब्द ज्ञान, स्वप्नज्ञान और सुख-दुःखज्ञान यह मन से ही होते हैं, मन प्रत्येक शरीर में एक ही है, अणु के बराबर है, एक क्षण में एक ही पदार्थ का बोध करता है।

प्रवृत्ति

सातवीं प्रमेय है, प्रवृत्ति, जो इन्द्रिय, मन या शरीर का व्यापार है, जो ज्ञान या क्रिया उत्पन्न करती है, और जो आगामी नैयायिकों के मत से दस तरह की है। शरीर की तीन प्रवृत्ति (१) पराई रक्षा (२) सेवा और (३) दान; बाणी की चार प्रवृत्ति, (४) सच बोलना (५) प्रिय बोलना (६) हित बोलना और (७) वेद पढ़ना; मन की तीन प्रवृत्ति (८) दया (९) लोभ रोकना और (१०) श्रद्धा—यह दस पुण्य प्रवृत्ति हैं। इनसे उलटी दस पाप प्रवृत्ति हैं। प्रवृत्तियों से ही धर्म, अधर्म होता है।

दोष

आठवें प्रमेय दोष में राग, द्वेष और मोह सम्मिलित हैं। राग पाँच तरह का है—काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ। द्वेष भी पाँच तरह का है, क्रोध, ईर्ष्या अर्थात् दूसरे के लाभ पर डाह, असूया अर्थात् दूसरे से गुणों पर डाह, द्रोह और अमर्ष अर्थात् जलन। मोह चार तरह का है—मिथ्या ज्ञान, संशय, मान और प्रमाद। नवां प्रमेय पुनर्जन्म या प्रेत्यभाव है। दसवाँ प्रमेय फल अर्थात् कर्मफल और ग्यारहवाँ दुःख है।

मोक्ष

बारहवाँ प्रमेय मोक्ष या अपवर्ग है। रागद्वेष व्यापार, प्रवृत्ति, कर्म आदि छुट जाने से, मन को आत्मा में लगाकर तत्वज्ञान प्राप्त करने से जन्म-मरण का सिलसिला टूट जाता है और मोक्ष हो जाता है।

संशय

तीसरा पदार्थ संशय है, जो वस्तुओं या सिद्धान्तों के विषय में होता है। चौथा पदार्थ है प्रयोजन जो मन, वचन या काय के व्यापार या प्रवृत्ति के सम्बन्ध में होता है। पाँचवां पदार्थ हैं दृष्टान्त जो

समानता या विषमता का होता है और जो विचार या तर्क की बात है। छठा पदार्थ सिद्धान्त प्रमाणसिद्ध बात है जो चार तरह का हो सकता है (१) सर्वतन्त्र-सिद्धान्त, जो सब शास्त्रों में माना गया है (२) प्रतितन्त्र-सिद्धान्त, जो कुछ शास्त्रों में माना गया है और कुछ में नहीं (३) अधिकरण-सिद्धान्त जो माने हुए सिद्धान्तों से निकलता है (४) अभ्युगम-सिद्धान्त जो प्रसङ्गवश माना जाता है, या आगामी लेखकों के अनुसार, जो सूत्र में न होते हुए भी शास्त्रकारों द्वारा माना गया है। सातवाँ पदार्थ अवयव वाक्य का अंश है; आठवाँ है तर्क; नवाँ है निर्णय अर्थात् तर्क के द्वारा निश्चय किया हुआ सिद्धान्त। बाकी पदार्थ तर्क, शास्त्रार्थ या विचार के अङ्ग या प्रसङ्ग या बाधा हैं।[1]

अन्य पदार्थ

प्राचीन भारत में और अब भी संस्कृत पाठशालाओं में न्यायदर्शन के साथ ही वैशेषिकदर्शन का अध्ययन होता है। वैशेषिक-सिद्धान्त के चिह्न बुद्ध और महावीर के समय में अर्थात् ई० पू० ६-५ सदी में मिलते हैं, पर इसकी व्यवस्था दो-तीन सदी पीछे काश्यप, औलूक्य, कणाद, कणभुज् या कणभक्ष ने वैशेषिक सूत्र के १० अध्यायों में की है। चौथी ई० सदी के लगभग प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्मसंग्रह में और १०-११ ई० सदी में उसके टीकाकार व्योमशेखर ने व्योमवती में, श्रीधर ने न्यायकन्दली में, उदनय ने किरणावली में और श्रीवत्स ने लीलावती में वैशेषिक का कथन किया है। कणाद ने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा से अपना सूत्र आरम्भ किया है। धर्म वह है जिससे पदार्थों का तत्वज्ञान होने पर मोक्ष होता है। पदार्थ ६ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय, जिनमें संसार की सब चीज़ें शामिल हैं। द्रव्य नौ हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। पृथ्वी, जल, तेज, और वायु के लक्षण या गुण वैशेषिक में न्याय की

वैशेषिक

धर्म

---

[1]न्याय पर हिन्दी में देखिये माधवकृत सर्वदर्शनसंग्रह का अनुवाद और गङ्गानाथझा कृत न्यायप्रकाश।

पदार्थ

तरह बताये हैं। "पृथिवी आदि द्रव्यों की उत्पत्ति प्रशस्त-पादभाष्य (पृ० ४८-४६) में इस प्रकार वर्णित है। जीवों के कर्मफल के भोग करने का समय जब आता है तब महेश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार, जीवों के अदृष्ट के बल से वायु के परमाणुओं में चलन उत्पन्न होता है। इस चलन से उन परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है। दो-दो परमाणुओं के मिलने से द्वयणुक उत्पन्न होते हैं। तीन द्वयणुक मिलने से त्रसरेणु। इसी क्रम से एक महान् वायु उत्पन्न होता है। उसी वायु में परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्वयणुक, त्रसरेणु इत्यादि क्रम से महान् जलनिधि उत्पन्न होता है। इस जल में पृथिवी परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्वयणुकादि क्रम से महापृथिवी उत्पन्न होती है। फिर उसी जलनिधि में तैजस परमाणुओं के परस्पर संयोग से तैजस द्वयणुकादि क्रम से महान् तेजोराशि उत्पन्न होती हैं। इसी तरह चारों महाभूत उत्पन्न होते हैं। यही संक्षेप में वैशेषिकों का 'परमाणुवाद' है।[१]" यहाँ इस बात पर जोर दिया गया है कि किसी भी चीज़ के टुकड़े करते जाइये; जब बहुत ही छोटे अदृश्य अणु पर पहुँचेंगे तब उसके भी टुकड़ों की कल्पना कीजिये, इसी तरह करते जाइये, जहाँ अन्त हो वहाँ आप परमाणु पर पहुँच गये। परमाणुओं के तरह-तरह के संयोगों से सब चीज़ें पैदा हुई हैं। पाँचवें द्रव्य आकाश का प्रधान गुण है। शब्द और दूसरे गुण हैं, संख्या, परिमाण, पृथकत्व और संयोग।

परमाणु

आकाश

इत्यादि शब्द एक है, आकाश भी एक है, परम महत् है, सब जगह व्यापक है, नित्य है। छठा द्रव्य काल भी परम महत् है, सब जगह व्यापक है, अमूर्त्त है, अनुमानगम्य है।

सातवाँ द्रव्यदिक् भी सर्वव्यापी, परम महत्, नित्य, और अनुमानगम्य है। आठवाँ द्रव्य आत्मा अनुमानगम्य है, अमूर्त्त है, ज्ञान का अधिकरण है। जैसा कि कणादरहस्य में शङ्कर मिश्र ने कहा है, जीवात्मा अल्पज्ञ है, क्षेत्रज्ञ

---

[१] गङ्गानाथझा, वैशेषिक दर्शन, पृ० १३ ·

आत्मा है, अर्थात् केवल शरीर में उत्पन्न होने वाले ज्ञान को जानता है। परमात्मा सर्वज्ञ है, अनुमान और वेद से सिद्ध होता है कि परमात्मा ने संसार की रचना की है। जीवात्मा के गुण हैं बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग। नवां द्रव्य अन्तःकरण अर्थात् भीतरी इन्द्रिय है जिसका इन्द्रियों से संयोग होना ज्ञान के लिये आवश्यक है।

दूसरा पदार्थ गुण वह चीज़ है जो द्रव्य में है, जिसका अपना कोई गुण नहीं है, जो संयोग या विभाग का कारण नहीं है। जिसमें

गुण किसी तरह की क्रिया नहीं है। गुण १७ हैं—रूप, रस, गन्ध स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न। इनके अलावा प्रशस्तपाद-भाष्य में और ६ गुण बतलाये हैं—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द। अदृष्ट में धर्म और अधर्म दोनो शामिल हैं। इस तरह कुल मिलाकर २४ गुण हुए। इनमें से कुछ गुण मूर्त्त हैं, अर्थात् द्रव्य—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और मन में पाये जाते हैं; कुछ अमूर्त्त हैं अर्थात् आत्मा और आकाश में पाये जाते हैं; कुछ मूर्त्त, अमूर्त्त दोनों हैं, अर्थात् मूर्त्त तथा अमूर्त्त द्रव्यों में पाये जाते हैं। संयोग, विभाग, पृथकत्व सदा अनेक द्रव्यों में ही हो सकते हैं, केवल एक-में नहीं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संस्कार—यह विशेष या वैशेषिक गुण हैं अर्थात् यह एक चीज़ का दूसरी चीज से भेद करते हैं। गुरुत्व, धर्म अधर्म संस्कार का ज्ञान अनुमान से होता है, इन्द्रियों से नहीं। कुछ गुणों का ज्ञान केवल एक इन्द्रियों से होता है, कुछ का अनेक इन्द्रियों से हो सकता है। वैशेषिक ग्रन्थों में प्रत्येक गुण की व्याख्या विस्तार से की है, जिसे इस दर्शन में अनेक भौतिक-शास्त्रों और मानस-शास्त्र के अंश आ गये हैं। अदृष्ट अर्थात् धर्म-अधर्म की व्याख्या करते समय बहुत-सा आध्यात्मिक ज्ञान भी कहा है।

तीसरा पदार्थ कर्म क्षणिक है, गुणहीन है, और पाँच तरह का है—(१) उत्क्षेपण—ऊपर जाना (२) अपक्षेपण—नीचे जाना (३)

कर्म — आकुञ्चन—सकुचना (४) प्रसारण—फैलना (५) गमन—चलना, प्रत्येक प्रकार का कर्म तीन तरह का हो सकता है—सत्प्रत्यय जो ज्ञानपूर्वक किया जाय; असत्प्रत्यय जो अज्ञान से किया जाय, और अप्रत्यय जो चेतनहीन वस्तुओं का कर्म हो। कर्म मूर्त्त चीजों-में ही होता है; अमूर्त्त आकाश, काल, दिक् और आत्मा में नहीं।

सामान्य — चौथा पदार्थ सामान्य जाति है, जो अनेकत्व में एकत्व का बोध कराती है, जैसे अनेक मनुष्यों का एक सामान्य हुआ मनुष्यत्व। जाति द्रव्य, गुण और कर्म में ही हो सकती है और दो तरह की होती है, पर और अपर अर्थात् बड़ी और छोटी जैसे मनुष्यत्व और ब्राह्मणत्व। सबसे बड़ी जाति है सत्ता जिसमें सब कुछ शामिल है।

विशेष — पाँचवा पदार्थ विशेष सामान्य से उलटा है अर्थात् एक जाति की चीजों को, विशेषताएँ बताकर, एक-दूसरे से अलग करता है। विशेष की व्याख्या प्रशस्तपाद ने की है।

समवाय — छठा पदार्थ समवाय है नित्यसम्बन्ध। यह द्रव्य में ही रहता है और कभी नष्ट नहीं होता।[1]

जिन दर्शनों के कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्तों का थोड़ा-सा जिक्र यहाँ किया गया है, वह मिलकर षड्दर्शन कहलाते हैं और दो-ढाई-हज़ार बरस से प्रसिद्ध हैं।

षड्दर्शन — इनके अलावा कुछ और दर्शन भी बने जिनमें से कुछ तो लोप हो गये हैं और कुछ साहित्य में पाये जाते हैं। जैन और बौद्ध ग्रन्थों से सिद्ध है कि ई० पू० छठवीं और पाँचवीं सदी में देश में एक बड़ी धार्मिक और दार्शनिक हलचल थी। पुरुषों के अलावा स्त्रियों ने भी इसमें बहुत भाग लिया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी इसके प्रभाव से न बचा। बहुत से नये-नये पथ निकले और उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को भिन्न-भिन्न रीति से अपने अनुकूल बनाया।

---

[1] वैशेषिक के लिये देखिये, हिन्दी में गङ्गानाथझा, 'वैशेषिक दर्शन'।

जड़वाद

उपनिषदों के बाद आत्मा, पुनर्जन्म, संसार और कर्म के सिद्धान्त हिन्दुस्तान में लगभग सब ने मान लिये, दो-चार पन्थ ऐसे भी रहे जिन्होंने आत्मा और पुनर्जन्म का निराकरण किया और जड़वाद की घोषणा की। बुद्ध और महावीर के समय में अर्थात् ई० पू० ६-५ सदी में कुछ लोग कहते थे कि मनुष्य चार तत्वों से बना है, मरने पर पृथ्वी तत्त्व पृथ्वी में मिल जाता है, जलतत्त्व जल में मिल जाता है, अग्नि तत्त्व अग्नि में मिल जाता है; वायु तत्त्व वायु में मिल जाता है। शरीर का अन्त होते ही मनुष्य का सब कुछ समाप्त हो जाता है; शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है; पुनर्जन्म का प्रश्न पैदा ही नहीं होता। इन लोकायतिक या चार्वाकों की कोई रचना अभी तक नहीं मिली है, पर जैन और बौद्ध ग्रन्थों के अलावा आगे चलकर सर्वदर्शनसंग्रह और सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह में इनके विचार संक्षेप से दिये हैं। यह कहते थे कि ईश्वर या आत्मा के अस्तित्त्व का कोई प्रमाण नहीं है। जैसे कुछ पदार्थों के मिलने से नशा पैदा हो जाता है वैसे ही चार तत्वों के मिलने से जीवन-चेतन पैदा हो जाता है। विचार की शक्ति जड़ से ही पैदा होती है, शरीर ही आत्मा है और अहम् की धारणा करता है। इस बात पर जड़वादियों में चार भिन्न-भिन्न मत थे—एक के अनुसार स्थूल शरीर आत्मा है, दूसरे के अनुसार इन्द्रियाँ आत्मा हैं, तीसरे के अनुसार श्वास आत्मा है, चौथे के अनुसार मस्तिष्क आत्मा है। पर यह सब मानते थे कि आत्मा जड़ पदार्थ से भिन्न कोई चीज नहीं है। यह संसार ही सब कुछ है; स्वर्ग, नरक, मोक्ष इत्यादि कोरी निर्मूल कल्पना है, पाप-पुण्य का विचार भी निरा ढोंग है। जब तक जीना है, सुख से जीओ, ऋण लेकर घी पिओ; शराब पीओ; बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ो तो उठकर फिर पिओ; पुनर्जन्म नहीं है। परलोक की आशा में इस लोक का सुख छोड़ना मूर्खता है। वेदों की रचना धूर्त, भाण्ड और निशाचरों ने की है। ब्राह्मण कहते हैं कि ज्योतिष्टोम में बलि दिया हुआ पशु स्वर्ग जाता है; तो यज्ञ

जड़वाद

शरीर

चेतन

आनन्दवाद

करने वाला अपने पिता का बलिदान क्यों नहीं कर देता ? सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार लोकायतिकों ने पाप और पुण्य, अच्छाई और बुराई का भेद मिटा दिया और कोरे स्वार्थ और भोग-विलास का उपदेश दिया; पर शायद यह अत्युक्ति है। कुछ भी हो, भारतीय सिद्धान्त के इतिहास में लोकायतिकदर्शन बड़े महत्त्व का है। हर बात का साक्षात् प्रमाण चाहता था; उपमा और अनुमान, श्रुति या उपनिषद् पर भरोसा न करता था, कड़े से कड़े तर्क का पक्षपाती था; और निर्भयता की मूर्ति था। ई० पू० ६-५ वीं सदी में अजित ने भी आत्मा के अस्तित्व से इन्कार किया और जड़वाद के आधार पर अपना पन्थ चलाया। इसी समय संजय ने एक और पन्थ चलाया जो आत्मा पुनर्जन्म आदि के विषय में कोई निश्चित राय नहीं रखता था।

अजीत

संजय

नये धर्म

कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर दो बड़े धर्मों की स्थापना हुई—जैन और बौद्ध। कुछ अर्वाचीन विद्वानों की धारणा है कि इनके प्रचारकों ने अपने मुख्य सिद्धान्त सांख्यदर्शन से लिये थे, पर इसका कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे इन धर्मों के सिद्धान्तों में और सांख्य-सिद्धान्त में कुछ बड़े अन्तर हैं। निस्सन्देह, देश के सभी दर्शनों का प्रभाव एक-दूसरे पर पड़ा था। पर ऐतिहासिक दृष्टि से यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनी और बौद्धों ने सांख्य का अनुकरण किया। सच यह मालूम होता है कि जैसे कुछ विचारधाराएँ व्यवस्थित होकर छः दर्शनों के रूप में प्रगट हुई, वैसे ही कुछ और विचारधाराओं ने जैन और बौद्धमतों का रूप धारण किया। दर्शनों की अपेक्षा धर्मों में स्वभावतः कुछ और लक्षण भी थे। उनमें जीवन का मार्ग अधिक स्पष्टता से दिखाया गया था; नैतिक और सामाजिक आदर्शों का विधान था; व्यक्ति के लिये पूजा, पाठ, ध्यान इत्यादि की पूरी व्यवस्था थी; दुःख दूर करने की और परमसुख पाने की आवश्यकता और जनता को बड़ी भावुकता से समझाई थी। शुद्ध दर्शन तक पूरी पहुँच थोड़े से आदमियों की ही होती है; धर्म का यह प्रयत्न होता है कि सब लोगों की पहुँच जीवन के आदर्शों तक

जैन और बौद्ध-धर्म

हो जाय। जैन और बौद्ध धर्मों की स्थापना कोई आश्चर्य की बात न थी; जहाँ विचार की स्वतन्त्रता है वहाँ नये पन्थ निकलते ही रहते हैं। ई० पू० पाँचवीं सदी में बहुत से पन्थ निकले पर इन दो धर्मों के सामने अधिकांश नये पन्थ थोड़े दिन में ही मिट गये। जैन और बौद्ध-धर्म की विजय हुई, क्योंकि वह सबसे अधिक व्यवस्थित थे, मानसिक परिस्थिति के अधिक अनुकूल थे, उनको कुछ बड़े प्रतिभाशाली प्रचारक मिल गये और कुछ राजाओं का भी आश्रय मिला।

प्रचार के कारण

नये धर्मों के प्रचार का एक कारण यह था कि उस समय के ब्राह्मणधर्म से सबको सन्तोष नहीं था। एक तो वह पुराना धर्म क्रियाकाण्ड पर बहुत जोर देता था, यज्ञ कराते-कराते कभी थकता ही था और तपस्या भी बहुत कराता था। बाहरी बातों पर बहुत जोर था, पर आत्मा की आभ्यन्तरिक तृष्णा बुझाने का कोई प्रयत्न नहीं था। दूसरे, ब्राह्मणधर्म ने अपने को नई दार्शनिक और मानसिक परिस्थिति के अनुकूल नहीं बनाया था। बहुत से लोगों के विचार पढ़ने-सुनने से बदल गये थे, पर पुराना धर्म पुरानी लकीर ही पीट रहा था। वही देवता, वही मन्त्र, वही यज्ञ, वही भावनाएँ जारी थीं। यह अवश्यम्भावी था कि जल्दी या देर में नई लहरें इन सबको पीछे फेंक दें और और पुरानी जमीन पर अधिकार जमा लें। तीसरे, ब्राह्मणधर्म और अनुयायी के बीच में ब्राह्मण पुरोहित ने अपना आसन और प्रभुत्व जमा लिया था। जो भक्ति और श्रद्धा धर्म के लिये थी, वह उसने अपनी ओर खींच ली थी। थोड़े दिन तक यह क्रम चलता रहा, पर यह भी अवश्यम्भावी था कि किसी दिन सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति प्रबल होकर पुरोहिती को ध्वंस कर दे। चौथे, जातपांत के बन्धन इतने कड़े हो गये थे कि कुछ लोग उनको ढीला करना चाहते थे। यह सुधारक ब्राह्मणधर्म से असन्तुष्ट थे। सब जानते हैं कि नये धर्मों के संस्थापक क्षत्रिय थे और पहिले अनुयायी सभी वर्गों से आये थे। पाँचवे, ब्राह्मणधर्म जीवन को रस्सियों से ऐसा बाँध रहा था कि डर था कि कहीं जीवन का तत्त्व ही आँख से ओझल न हो जाय और रहा सहा आनन्द भी मिट्टी में न मिल जाय। संसार के इतिहास में अनेक बार

धार्मिक असन्तोष

जीवन के तत्त्व ने रस्मों के धर्म से विद्रोह किया है। शायद ई० पू० छठवीं सदी में यहाँ भी ऐसी ही स्थिति थी। इस एकत्रित असन्तोष के कारण नये धर्मों का बहुत प्रचार हो गया। पर इतिहासकारों की यह धारणा निर्मूल है कि इनके सामने ब्राह्मणधर्म लुप्तप्राय हो गया। न तो साहित्य से, न शिलालेखों से और न विदेशी यात्रियों के वर्णन से इस मत का समर्थन होता है। ब्राह्मण धर्म कई सदियों तक मुख्य धर्म नहीं रहा, पर वह मिटा नहीं; जनता के बहुत से भागों में उसका चलन बना रहा। इस स्थिरता के दो कारण थे। एक तो बहुत से लोग स्वभावतः पुरानी बातों के अनुयायी होते हैं, बाप-दादों के मार्ग में प्रसन्न रहते हैं, नये मार्गों पर चलते हुए डरते हैं। दूसरे, विपत्ति से सचेत होकर ब्राह्मण धर्म नई परिस्थिति के अनुसार परिवर्त्तन करने लगा। एशिया और यूरोप के इतिहास में अनेक बार ऐसा हुआ है कि स्थापित धर्म ने पहले तो बदलने से इन्कार कर दिया, पर जब प्रतिद्वन्दी धर्म चल पड़े तो उसकी आँखें खुल गईं और वह अपने को समय के अनुकूल बनाने लगा। अनुकूलन ही सर्वत्र जीवन और सफलता का मूलमन्त्र है। अनुकूलन के कारण पुराने गिरते हुए धर्म फिर उठ गये हैं, और बहुत सा खोया हुआ प्रभाव फिर पास के हो गये हैं। हिन्दुस्तान में भी यही हुआ। नये धर्मों का प्रचार बढ़ने पर ब्राह्मण धर्म बदलने लगा और इसलिये कायम रहा। अस्तु, ई० पू० पांचवीं सदी से लगभग डेढ़ हजार बरस तक हिन्दुस्तान में मुख्यतः तीन धर्म प्रचलित रहे—ब्राह्मण, बौद्ध और जैन। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि विचारस्वातन्त्र्य के कारण यह एक-दूसरे पर बराबर प्रभाव डालते रहे और इनमें भी बहुत सी शाखाएँ हो गईं।

ब्राह्मणधर्म की स्थिति

पारस्परिक प्रभाव

प्रारम्भ में जैन और बौद्ध-धर्मों का उपदेश लोकभाषाओं के द्वारा अर्थात् मागधी, अर्द्ध-मागधी के द्वारा दिया गया था, जिसमें साधारण जनता उसे अच्छी तरह समझ सके पर आगे चलकर इन धर्मों के लेखकों ने संस्कृत का भी प्रयोग किया। संस्कृत के साथ ब्राह्मणधर्म का बहुत सा प्रभाव भी आ गया। संस्कृत के अलावा एक और नई साहित्यिक भाषा पाली की सृष्टि हुई जो लोक-भाषाओं से कुछ अधिक मिलती-जुलती थी और जिसमें जैनों और बौद्धों ने

सैकड़ों ग्रन्थ रचे।

जैन-धर्म

जैन-सिद्धान्त शायद बौद्ध-सिद्धान्त से पुराना है। जैनों का विश्वास है कि जैन-धर्म अनादि है, अनन्त है, पर प्रत्येक प्रलय या पतन के बाद उपसर्पिणी और अवसर्पिणी कहलाने वाले महान् कल्पों में २४ तीर्थङ्कर फिर से इसका उपदेश देते हैं। २४ तीर्थङ्करों के नाम हैं—ऋषभ-देव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, सुपद्मनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वसुपद्म, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, सन्तनाथ, कुन्थनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसब्रतनाथ, नृमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान या महावीर।[1] पहिले तीर्थङ्कर की उम्र, जैनमत के अनुसार, करोड़ों वर्ष की थी और शरीर मीलों लम्बा था, पर कालदोष से धीरे-धीरे मनुष्यों की उम्र में और कद में कमी होती गई। सम्भव है कि २४ में से कुछ तीर्थङ्कर ऐतिहासिक पुरुष हों। इतिहास से सिद्ध है कि २४ वें तीर्थङ्कर महावीर, बुद्ध के समय में थे और अवस्था में उनसे कुछ बड़े थे। २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ई० पू० ८ वीं सदी में हुए थे और ऐतिहासिक पुरुष मालूम होते हैं। सम्भव है कि इनके भी पहिले नेमिनाथ या अरिष्टनेमि ने जैनधर्म चलाया हो, पर इसका कोई पक्का प्रमाण नहीं मिलता। कई तीर्थङ्करों के हाथों में बदलते हुए जैन-धर्म ने अपना मुख्यरूप महावीर के समय में धारण किया। ई० पू० चौथी सदी में पाटलिपुत्र में एक बड़ा जैन-परिषद् हुआ जिसमें सिद्धान्त की व्यवस्था की गई। दिगम्बरों के अनुसार ई० सदी में सिद्धान्त लिखा गया। ५ वीं ई० सदी में वलभी की परिषद् ने देवर्द्धि-गणिन् की अध्यक्षता में जैन-सिद्धान्त को अन्तिम रूप दे दिया।

जैन-सिद्धान्त किसी को इस संसार का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं मानता। संसार अनादि है, अनन्त है। प्रत्येक आत्मा भी अनादि और अनन्त है। जीव या आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चरित्र अर्थात्

[1] जैन-ग्रन्थों में कुछ नामों के कई भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं।

जैन-सिद्धान्त

सर्वज्ञता, और परमसुख। पर कर्म के अनादि बन्ध से अधिकांश आत्माओं के इन स्वाभाविक गुणों पर थोड़ा या बहुत आवरण पड़ गया है। जिन जीवों के गुण बिल्कुल विकृत हो गये हैं वह अशुद्ध जीव हैं, जिनके गुण कुछ विकृत हैं और कुछ ठीक हैं वह मिश्र जीव हैं। जिन आत्माओं के स्वाभाविक गुणों से आवरण बिलकुल हट गया है वह शुद्ध जीव हैं—यह मोक्ष पा गये हैं और बहुत ऊँची सिद्धशिला पर केवल ज्ञान और पूर्ण सुख से सदा रहेंगे। आप्त में यथार्थ भक्ति से, अर्थात् सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान होता है; सम्यग्ज्ञान से सम्यक् चरित्र होता है और तब मोक्ष हो जाता है। सात तत्व हैं, जिनका यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। पहिला तत्त्व है जीव, जिसका उल्लेख अभी कर चुके हैं। दूसरा है, अजीव जिसके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पुद्गल वह द्रव्य है, जिसमें स्पर्श, रस गन्ध और वर्ण हों। इसके दो भेद हैं—अणु जिसका विभाग नहीं हो सकता और स्कन्ध अर्थात् अणुओं का समूह। जैनशास्त्रों में पुद्गल के ६ और भेद भी किये हैं—स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म। यहाँ स्थूलस्थूल बड़े पदार्थ, काठ-पत्थर इत्यादि हैं, और सूक्ष्मसूक्ष्म अणु या परमाणु हैं। दूसरा द्रव्य है धर्म जो अमूर्तीक है, सर्वव्यापी है और जीव तथा पुद्गलकी गति में अर्थात् चलने में सहायता करता है। इसी तरह तीसरा द्रव्य अधर्म अमूर्तीक और सर्वव्यापी है और जीव तथा पुद्गल की स्थिति अर्थात् ठहरने में सहायता करता है। जैन-दर्शन में धर्म और अधर्म को केवल क्रिया या फल नहीं माना है किन्तु द्रव्य भी माना है। चौथा द्रव्य आकाश सब पदार्थों को अवकाश देता है। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश जिसमें लोक के सब द्रव्य स्थान पाते हैं। और अलोकाकाश जो आकाश ही आकाश है। पाँचवां द्रव्य काल और सब द्रव्यों के परिवर्तन में सहायता

(Margin notes: जीव; पुद्गल; धर्म; अधर्म; आकाश; काल)

करता है। यह भी सर्वव्यापी है।

बाकी पाँच तत्व आध्यात्मिक घटना या अवस्था का निरूपण करने को माने गये हैं। रागद्वेष इत्यादि के कारण मन से, वचन से या शरीर से जो क्रियाएँ होती हैं उनके कारण कर्म परमाणु खिचकर आत्मा के पास आते हैं। इसे आस्रव कहते हैं। जैन-सिद्धान्त में कर्म को पुद्गल या द्रव्य का भाग माना है और कहा है कि उसके परमाणु रागद्वेषादिपूर्ण क्रिया के कारण आत्मा की ओर स्वभावतः खिच आते हैं। यह परमाणु क्रिया के प्रकार के अनुसार अपने रससंयुक्त आत्म प्रदेशों से सम्बन्ध करते हैं, अर्थात् चिपट जाते हैं, अर्थात् बँध जाते हैं। यह चौथा बन्धतत्त्व है। कर्मबन्ध होने पर कर्मानुसार फल भोगना पड़ता है। इस तरह कर्म का फल एक स्वाभाविक नियम है; यहाँ किसी परमेश्वर की अपेक्षा नहीं है। जब तक कर्म हैं तब तक फलस्वरूप जन्म-मरण है, सुख-दुःख है, संसार का झंझट है। इसलिये कर्म को रोकना चाहिए। रागद्वेष आदि के प्रभाव से कर्म के आस्रव के रोकने को संवर कहते हैं। यह पाँचवाँ तत्त्व संवर है। पहिले के बँधे हुए कर्म-परमाणुओं को आध्यात्मिक बल, योग, तप इत्यादि से नष्ट करना निर्जरा है। यह छठा तत्त्व है। कर्म के सर्वथा नाश होने पर पुनर्जन्म इत्यादि के सब कारण मिट जाते हैं; आत्मा के सब आवरण हट जाते हैं, स्वाभाविक गुण सदा के लिये प्रकट हो जाते हैं, अर्थात् मोक्ष हो जाता है। यह मोक्ष सातवाँ तत्त्व है। स्मरण रखना चाहिये कि मोक्ष पुण्य कार्यों से नहीं मिलता; पुण्य से सांसारिक सुख और ऐश्वर्य मिल सकता है, स्वर्ग मिल सकता है पर मोक्ष नहीं। मोक्ष तो भले और बुरे, पाप और पुण्य, सभी कर्मों के नाश से मिलता है। अतएव मोक्ष के लिये कर्म को छोड़ना, संसार को छोड़ना, आवश्यक है। पर सब लोगों में संन्यास की योग्यता नहीं है

कर्म

आस्रव

बन्ध

संवर

निर्जरा

मोक्ष

या शक्ति नहीं है। इसलिये दो तरह से धर्म का उपदेश देना जरूरी है—

श्रावकधर्म एक तो साधुओं या संन्यासियों के लिये, दूसरे गृहस्थ या श्रावकों के लिये। श्रावकों को चाहिये कि इस तरह जीवन-निर्वाह करें कि अन्त में आसानी से निवृत्ति-मार्ग ग्रहण कर सकें। श्रावकों को पाँच अणुव्रतों का पालन करना चाहिये—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जान-बूझ के किसी द्वीन्द्रियादिक

अहिंसा त्रस्त प्राणी की हत्या न करना अहिंसा है। एकेन्द्रिय वाले पृथ्वीकाय आदि की हिंसा छोड़ना तो गृहस्थ के लिये असम्भव है, पर दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा न करनी चाहिये, और न उन्हें किसी तरह का कष्ट पहुँचाना चाहिये। अहिंसा के पांच अतीचार हैं—छेदना, बांधना, पीड़ा पहुँचाना, बहुत बोझा लादना और खाना-पीना रोकना। इस सबको बचाना चाहिये। शिकार कभी न खेलना चाहिये, न मांस खाना चाहिये, न शराब पीना चाहिये, क्योंकि इसमें बहुत जीव होते हैं। इसी तरह शहद भी न खाना चाहिये। ऊमर, कठूमर, पीपर, बड़ और पाकर, यह पाँच उदुम्बर फल भी छोड़ देने चाहिये क्योंकि इनके भीतर जीव बहुत हैं। जैन ग्रन्थों में अहिंसा पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया है। साफ-साफ कहा है कि हिंसा करने वाले जीव—शेर, बाज, वगैरह

सत्य को भी नहीं मारना चाहिये। दूसरा अणुव्रत है सत्य। झूठ कभी न बोलना चाहिये, अप्रिय, निंद्य, कठोर, पापपूर्ण, प्रलापरूप बात कभी न कहनी चाहिये। कभी चुगली न करनी चाहिये। यदि गृहस्थ अपने व्यवसाय के कारण पाप सहित वाणी का पूरा त्याग नहीं कर सकता तो कम-से-कम झूँठ बोलने का तो त्याग करना ही चाहिये। तीसरा अणुव्रत है अस्तेय, अर्थात् चोरी कभी न की जाय। चोरी करना भी

अस्तेय एक तरह की हिंसा है। न किसी को चोरी का उपाय बताना चाहिये, न चोरी का माल लेना चाहिये, न बढ़िया चीज में घटिया चीज मिलानी चाहिये, न राजा की आज्ञा का उलङ्घन करना चाहिये, न बाँट-तराजू वगैरह में धोखा देना चाहिये। चौथा अणुव्रत

ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्य है। कम-से-कम पराई स्त्री का त्याग तो कर ही देना चाहिये; काम की तीव्र तृष्णा मेटनी चाहिये। पाँचवें अणुव्रत अपरिग्रह का अभिप्राय है कि संसार का झंझट जहाँ तक हो सके कम करना चाहिये; पराई सम्पत्ति में जरा भी ममता न करनी चाहिये। अपनी सम्पत्ति में भी बहुत ममता न करनी चाहिये। केवल अपनी आवश्यकता के

अपरिग्रह अनुसार धनधान्य इत्यादि रखने चाहिये; बाकी में निस्पृहता होनी चाहिये। राग, द्वेष, क्रोध, मान, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इत्यादि का त्याग करना चाहिये। अणुव्रतों का पूरा पालन करने से स्वर्ग में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वाशित्व महागुण-सम्पन्न देव जन्म मिलता है, अवधिज्ञान होता है—अर्थात् क्षेत्रविशेष की सब बातों का ज्ञान होता है। पर यह सुख भी चिरस्थायी नहीं है। मनुष्य को केवल अणुव्रतों पर ही सन्तोष न करना

गुणव्रत चाहिये। तीन गुणव्रतों का भी पालन करना चाहिये—दिग्व्रत, अनर्थ दण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण। दस दिशाओं में अपने आने-जाने की मर्यादा बाँधना दिग्व्रत है। ऐसे कामों का छोड़ना जिनसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं सिद्ध होता पर पाप की सम्भावना है, अनर्थ-दण्ड विरत का गुणव्रत है। अपने एक बार या अनेक बार भोग करने की वस्तुओं का परिमाण बाँध लेना भोगोपभोग परिमाण है। इनके भी अतीचार वर्णन किये हैं, जैसे अनर्थ दण्ड के अतीचार हैं पाप का उपदेश, हिंसानाद, अपध्यान, दुःश्रुति, प्रमाद-चर्या। दुःश्रुति से उन शास्त्रों का अभिप्राय है जो मिथ्या उपदेश देते हैं, राग, द्वेष, मद या काम पैदा करते हैं, आरम्भ अर्थात् व्यवसाय, सङ्ग अर्थात् धन-धान्य आदि परिग्रह, साहस अर्थात् वीरता इत्यादि के कर्म के सम्बन्ध में ग़लत उपदेश करते हैं। भोगोपभोग व्रत के भी पाँच अतीचार हैं—अनुप्रेक्षा अर्थात् परिणाम के राग को न घटाना; अनुस्मृति अर्थात् पहिले भोगे हुए विषयों की याद करना; अतिलौल्य अर्थात् भोग के समय बहुत आसक्ति; अति तृष्णा अर्थात् आगामी भोग की अभिलाषा; अनुभव अर्थात् भोग का ध्यान करना।

गुणव्रतों के अलावा चार शिक्षाव्रत हैं—देशावकाशिक अर्थात् दिशाओं में

जाने की मर्यादा को दिन-पर-दिन घढाना; सामयिक अर्थात् सब पापों को छोड़कर नित्य एकान्त शान्त बन, भवन या चैत्यालय में बैठकर या खड़े होकर साम्य भाव को प्राप्त हुए देवों का एकाग्र मन से चिन्तन करना; प्रोषधोपवास अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी इत्यादि को धर्म ध्यान में तत्पर होकर उपवास करना; और वैयावृत्य अर्थात् कपट, कषाय, ईर्षा इत्यादि के बिना आहार, औषधि, उपकरण, आवास का दान करना, मुनियों की पूजा और शुश्रूषा करना, जिनेन्द्र अर्थात् अरहन्त देव की पूजा करना। इन्हीं भिन्न-भिन्न व्रतों के आधार पर १६ भावनाओं की कल्पना की गयी है।

शिक्षाव्रत

दूसरी तरह से धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं—उत्तम क्षमा अर्थात् क्रोध को पूरे तौर पर जीतना; उत्तम मार्दव अर्थात् गर्व को जीतकर मृदुता धारण करना, उत्तम आर्जव अर्थात् कुटिलता को छोड़ कर सरलता धारण करना; उत्तम सत्य, उत्तम शौच अर्थात् हिंसा, लोभ, माया, मद, मोह इत्यादि दूर कर, मुक्ति पाने वालों का ध्यान कर आत्मा को पवित्र करना; उत्तम संयम अर्थात् अणुव्रतों को धारण करके पथ्य से रहना; उत्तम तप अर्थात् इन्द्रियों का निरोध करना, संसार के विषयों से विरक्त होना, बन-पर्वत या गुफा में नङ्गे शरीर पर गर्मी, सर्दी, बरसात, मच्छर, मक्खी साँप, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र, रीछ इत्यादि की वेदना सहना; उत्तम त्याग अर्थात् धन-सम्पदा इत्यादि को विष बराबर समझकर त्याग करना, तरह-तरह के दान देना; उत्तम आकिञ्चन्य अर्थात् यह अनुभव करना कि आत्मा के वास्तविक रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र को छोड़कर मेरा कुछ नहीं है, कोई अन्य द्रव्य मेरा नहीं है, मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ; उत्तम ब्रह्मचर्य अर्थात् सब विषयों में अनुराग छोड़कर आत्मा को आत्मा के ही ध्यान में लगाना। स्मरण रखना चाहिये कि व्रत या धर्म के पालन के लिये तीन शल्यों का अभाव आवश्यक है—निदानशल्य अर्थात् आगामी वाञ्छा का शल्य; मायाशल्य अर्थात् सरलता के बजाय मायाचार करना; और मिथ्यात्वशल्य अर्थात् असत्य विश्वास करना। जैन-लेखकों ने शास्त्रों के स्वाध्याय पर सब

धर्म के लक्षण

जगह जोर दिया है। स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं—पढ़ना, पूछना, अनुप्रेक्षा अर्थात् बारम्बार अर्थ का मनन करना, आम्नाय अर्थात् दोषों को छोड़कर साफ़-साफ़ पढ़ना, और धर्मोपदेश। यह स्वाध्याय एक तरह का आभ्यन्तर तप है—पाँच और आभ्यन्तर तप हैं—प्रायश्चित्त जिसके नौ मुख्य भेद हैं और छोटे-छोटे बहुत से भेद हैं; विनय जिसके पाँच भेद हैं—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चरित्र-विनय, तपविनय, उपचारविनय; वैयावृत्य अर्थात् ग्लानि का अभाव, दुखियों का उपकार, पूज्यों की पूजा; कायोत्सर्ग अर्थात् आभ्यन्तरिक क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा इत्यादि और वाह्य धन-धान्य इत्यादि का त्याग; समय आने पर भोजन इत्यादि सब छोड़कर सल्लेखना करना यानी मरना; ध्यान अर्थात् एकाग्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान इत्यादि छोड़ना, सत्य का, धर्म का, ध्यान करना। धर्मध्यान में बारह भावना बराबर सोचनी चाहिये – अनित्य अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यक् इत्यादि सब अनित्य हैं; अशरण अर्थात् देव, दानव, मनुष्य आदि कोई भी ऐसा नहीं है जो कालचक्र से मुक्त हो; संसार अर्थात् अनादि काल से जीव मिथ्यात्व और कर्म के कारण पराधीन चारों गतियों में भटक रहा है; एकत्व अर्थात् वास्तव में आत्मा अकेला है; अन्यत्व अर्थात् कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, धन-दौलत सब न्यारे हैं; अशुचि अर्थात् यह देह रुधिर, मांस, हड्डी और दुर्गन्ध से भरी अपवित्र है; आस्रव अर्थात् मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत इत्यादि के अनुसार मन, वचन, काय से शुभ और अशुभ कर्म का आस्रव होता है, और जन्म-मरण का चक्र चलता है; संवर अर्थात् संयम आरम्भ त्याग या सम्यग् दर्शन से कर्म का आस्रव रुक जाता है; निर्जरा अर्थात् ज्ञानी, वीतरागी, मदरहित, निदान रहित आत्मा बारह प्रकार का तप करके कर्मों को झाड़ देता है; लोक अर्थात् इस लोक में अनन्तानन्त जीव हैं; पुद्गल, धर्म-अधर्म और आकाश हैं, लोक के परे अनन्तानन्त आकाश है; बोधिदुर्लभ अर्थात् एक तो मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है, उसमें भी अच्छे देश-काल में पैदा होना दुर्लभ है, तिस पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है। धर्म अर्थात् धर्म में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण विरले ही करते हैं, सुख का मुख्य कारण धर्म है। धर्मध्यान चार तरह का है—पिण्डस्थध्यान, पदस्थध्यान, रूपस्थध्यान और

रूपातीतध्यान, जिनके अनेक भेद हैं और जो वास्तव में योग है। जैन-शास्त्रों में शुक्लध्यान या योग के और भी चार भेद किये हैं—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपात और व्युपरतक्रिया निवृत्ति। इस प्रकार गृहस्थ को धर्म के अनुसार जीवन-निर्वाह करना चाहिये और उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिये। जैन-सिद्धान्त में पर हिंसा के साथ-साथ साधारण आत्मघात भी मना है। पर एक प्रकार के आत्मघात, सल्लेखना की इजाजत दी है। बुढ़ापे में या निष्प्रतीकार बीमारी होने पर या दुर्भिक्ष पर, या कुराज्य इत्यादि घोर विपत्ति पड़ने पर मनुष्य शुद्धमन होकर स्नेह, बैर, सङ्ग और परिग्रह छोड़े, घर-बाहर के सब लोगों को प्यारे बचनों से क्षमा करे, अपने सब पापों की आलोचना करे, महाव्रतों का आरोपण करे, शोक, भय, विषाद, अरति इत्यादि सब छोड़े, भोजन त्याग करे, फिर पीने का त्याग करे और समाधि-मरण करे।

मुनिधर्म

गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आत्मा की बहुत उन्नति हो सकती है पर पूर्ण उन्नति नहीं हो सकती, कर्म का पूरा क्षय नहीं हो सकता, सकल चरित्र नहीं होता और केवल ज्ञान या मोक्ष असम्भव है। इसलिये जब हो सके तब घर-बार छोड़कर वैराग्य लेना चाहिये। विरक्तों या मुनियों का धर्म कुछ तो वैसा ही है जैसा उच्चकोटि के गृहस्थों का, पर यहाँ कर्म बहुत कम हैं, तप और ध्यान बहुत हैं तथा वैराग्य, ज्ञान और चारित्र की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। बाईस परीषह हैं, जो मुनि को जीतने चाहिये अर्थात्—(१) क्षुधा—बहुत भूखे होने पर भी भूख की

परीषह

परवाह न करना, (२) तृषा—बहुत प्यासे होने पर भी पानी न पीना, (३) शीत—पद्मासन में स्थित तपस्या करते हुए कड़े से कड़ा जाड़ा सहना, (४) उष्ण—कड़ी से कड़ी गर्मी और गर्म से गर्म लू सहते हुए तप करना, (५) नग्न—ऊन, सूत, घास, वल्कल, चर्म आदि सब तरह के कपड़े त्याग कर बन में अकेले रहना और शरीर-सम्बन्धी कोई विकार न होने देना, (६) याचना—किसी से कुछ न माँगना, (७) अरति—इष्ट-अनिष्ट सब वस्तुओं में रागद्वेष छोड़ना, शत्रु-

और मित्र, मिट्टी और सोना; महल और जंगल सबको बराबर समझना, (८) अलाभ—भोजन के लिये जाने पर यदि भोजन न मिले तो खिन्न न होना, (९) दंशमशकादि—बन में नङ्गे शरीर मच्छर, साँप, खनखजूर इत्यादि के लिपटने-पर भी शान्तिपूर्वक ध्यान में लगे रहना, (१०) आक्रोश—नग्न अवस्था पर दुष्टों के बुरे बचनों को जरा भी बुरा न मानना और चित्त में पूर्ण क्षमा धारण करना, (११) रोग—रोग की पीड़ा सहते हुए भी किसी तरह की दवा न करना, (१२) मल—शरीर के बहुत मलिन हो जाने पर भी स्नान न करना पर चित्त को निर्मल रखना, (१३) तृणस्पर्श—काँटा तथा कङ्कड़ चुभ जाने पर उन्हें निकालने का कोई यत्न न करना और न खिन्न होना, (१४) अज्ञान—तपस्या करने पर भी पूरा ज्ञान न होने पर खेद न करना, अपनी अज्ञानता पर दूसरों के ताने सुनकर दुखी न होना, (१५) अदर्शन—यदि तपस्या करने पर भी कोई ऋद्धि-सिद्धि आदि अतिशय न प्रकट हों तब भी संयम की शक्ति में संशय न करना, खेद न करना, सम्यग्दर्शन को दूषित न करना और अपने पथ पर स्थिर रहना, (१६) प्रज्ञा—बुद्धि का पूरा विकास होने पर किसी तरह का घमण्ड न करना, (१७) सत्कार-पुरस्कार—ऊँचे से ऊँचा सत्कार और तीव्र से तीव्र तिरस्कार होने पर भी समानभाव धारण करना, (१८) शय्या—कङ्कड़, पत्थर तथा काँटे से भरी जमीन पर सोने में कोई दुःख न मानना, (१९) चर्य्या—सवारी की इच्छा न करते हुए, मार्ग का कष्ट न मानते हुए, जमीन साफ करते हुए चलना, (२०) वधबन्धन—दुष्टों द्वारा बाँधे जाने पर या मारे जाने पर समतापूर्वक दुख सहना, (२१) निषद्या—निर्जन बन में, हिंसक जीवों के स्थान में, अंधेरी गुफाओं में, श्मशान इत्यादि में रहते हुए भी किसी तरह का दुःख न मानना, (२२) स्त्री—सुन्दर से सुन्दर स्त्रियों के हाव-भाव इत्यादि से किसी तरह विचलित न होना।

कर्म जिसका नाश करने के लिये यह सब किया जाता है, आठ तरह का है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरणीय कर्म परदे की तरह आत्मा पर पड़ जाता है और यथार्थ तत्वज्ञान नहीं होने देता।

कर्म

दर्शनावरणीय कर्म यथार्थ श्रद्धा नहीं होने देता। वेदनीय कर्म कुछ दिन भले ही सुख दिखाये पर अन्त में बहुधा दुख ही देता है। यह शहद लगी हुई छुरी के समान है। मोहनीय कर्म जिसके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय—शराब की तरह आत्मा को मतवाला कर देता है और संसार के मोह में फँसा देता है। आयुकर्म बार-बार जन्म कराता है और जब तक रहता है जन्म-मरण का चक्र चलाता रहता है। नामकर्म निश्चय करता है कि आत्मा, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च इत्यादि किस गति में जायगा। गोत्रकर्म से पैदा होने के गोत्र की उच्चता या नीचता स्थिर होती है। अन्तराय-कर्म दान-लाभ आदि में बाधा डालता है। इन कर्मों के परमाणु भावनाओं से खिचकर आत्मा से चिपट जाते हैं और सारा अनर्थ करते हैं। कर्मबन्ध चार तरह का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। जीव से अपने स्वभाव के अनुसार कर्म का सम्बन्ध होना प्रकृतिबन्ध है। अलग-अलग कर्म परमाणुओं का अलग-अलग मर्यादा लिये स्थिर होना स्थितिबन्ध है। दर्शन-मोहनीय कर्म की ज्यादा से ज्यादा स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की है; चारित्र-मोहनीय की चालीस कोड़ा-कोड़ी सागर की; ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की चालीस कोड़ा-कोड़ी सागर की; नाम और गोत्र की बीस कोड़ा-कोड़ी सागर की और आयु की तैंतीस सागर है। एक कोड़ा-कोड़ी सागर में इतने बरस होते हैं कि अङ्कगणित के द्वारा प्रकट करना असम्भव-सा है। कर्मों की कम से कम स्थिति मुहूर्तों की है; वेदनीय कर्म की बारह मुहूर्त हैं, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त और बाकी की अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ यह बताने का अभिप्राय है कि कौन-सा कर्म ज्यादा-से-ज्यादा कब तक रह सकता है और कम-से-कम कब तक जरूर ही रहेगा। पर नये कर्मों का बन्ध संसारी जीव सदा करता रहता है और इस तरह चक्र मानो असंख्य वर्ष तब चला करता है। जब कर्म उदय होकर फल देते हैं तक उनका सम्बन्ध अनुभागबन्ध कहलाता है। कर्म के अनुसार यह कभी शुभविपाक होता है और कभी अशुभ-विपाक। आत्मा के प्रदेशों और पुद्गल कर्म परमाणुओं के प्रदेशों का एक साथ रहना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

चौदह गुणस्थान

शुद्धनय से तो सभी जीव शुद्ध हैं, पर अशुद्धनय से उनके १४ प्रकार माने गये हैं, जो गुणस्थान कहलाते हैं। पहिला गुण स्थान है मिथ्यात्व जिसमें जीव सर्वज्ञ वीतराग के उपदेश में श्रद्धा न करके मिथ्या बातें मानता है। दूसरा गुणस्थान है सासादन जिसमें जीव मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच में रहता है। तीसरे गुणस्थान मिश्र में जीव कुछ उपदेश तो सर्वज्ञ वीतराग का मानता है और कुछ दूसरों का। चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि में जीव सर्वज्ञ के उपदेश को मानता है पर इन्द्रिय सुखों में भी लगा रहता है। पाँचवें गुणस्थान देशविरत में जीव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ अणुव्रत इत्यादि का पालन करता है। पाँचवे गुणस्थान में रहने वाले श्रावकों के ११ भेद हैं, जिनको प्रतिमा कहते हैं—(१) दार्शनिक जो सम्यग्दर्शन धारण करता है, मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को त्यागता है, (२) व्रतिक जो त्रस जीवों की हिंसा बिलकुल छोड़ देता है और पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है, (३) तीनों काल में सामायिक करने से जीव तीसरी प्रतिमा में पहुँचता है, (४) प्रोषधोपवास करने से चौथी प्रतिमा में पहुँचता है, (५) सचित्त के त्याग से पाँचवी प्रतिमा मिलती है, (६) दिन को सदा ब्रह्मचर्य रखने से छठी प्रतिमा मिलती है, (७) सदा ब्रह्मचारी रहने से श्रावक सातवीं प्रतिमा में पहुँचता है, (८) आरम्भ आदि सब व्यापार छोड़ने से आठवीं प्रतिमा मिलती है, (९) वस्त्र इत्यादि परिग्रह छोड़ने से नवीं प्रतिमा को मनुष्य पहुँचता है, (१०) जब मनुष्य घर के कार-बार में जिसमें हिंसा होती ही है, सलाह देना भी छोड़ देता है तब दसवीं प्रतिमा को पहुँचता है, (११) अपने लिये बनाया हुआ भोजन भी जो छोड़ दे, वह ग्यारहवीं प्रतिमा का श्रावक है। इन ग्यारह प्रतिमाओं में पहिली छः जघन्य, फिर तीन मध्यम और अन्तिम दो उत्तम मानी गई हैं। यह सब पाँचवे गुणस्थान के भेद हैं। छठे गुणस्थान प्रमत्त संयत में वह जीव हैं जिन्होंने क्रोध आदि का त्याग कर दिया है, वाह्यरूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग कर दिया है, जिनको

सम्यग्दर्शन है और जो शुद्ध आत्मा से उत्पन्न सुख का अनुभव कर सकते हैं, पर जिनको कभी-कभी बुरे स्वप्न होते हैं और कभी-कभी प्रमाद भी होता है। सातवें गुणस्थान अप्रमत्त-संयत में व्यक्त अर्थात् प्रकट और अव्यक्त अर्थात् अप्रकट प्रमाद जाते रहते हैं। आठवें गुणस्थान अपूर्वकरण में पुराने सञ्ज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर बड़े आह्लाद का अनुभव होता है। नवें गुणस्थान अनिवृतिकरण में जीव देखे, सुने और अनुभव किए सब संकल्प-विकल्पों को छोड़कर आत्म स्वरूप का एकाग्र ध्यान करता है, चारित्रमोहनीय कर्म की २१ प्रकार की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ होता है। दसवें गुणस्थान सूक्ष्मसाम्पण्य में जीव सूक्ष्म आत्मतत्त्व की भावना की शक्ति से सूक्ष्म लोभ कषाय का उपशमन और क्षपण करता है। ग्यारहवें उपशान्त मोह में आत्मा के ज्ञान की शक्ति से सारा मोह शान्त हो जाता है। बारहवें क्षीण मोह में शुद्ध आत्मा की भावना के बल से कषाय बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं। तेरहवें संयोगिकेवलि-जिनमें आत्मा मोह का नाश कर देता है, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों को बिलकुल नष्ट कर देता है, तब आत्मा का शुद्ध रूप प्रकट हो जाता है, पूरा निर्मल केवलज्ञान हो जाता है, लोकालोक सब हस्त-कमलवत् भासने लगते हैं। संक्षेप में, आत्मा कर्म को जीतकर जिन हो जाता है। चौदहवें अयोगिकेवलिजिन गुणस्थान में आत्मा के प्रदेशों का सञ्चलन भी बन्द हो जाता है और सदा के लिये जन्म-मरण रहित, कर्म रहित, परम अलौकिक, अनिर्वचनीय, एकमात्र अनुभवगम्य सुख हो जाता है। एक दूसरी दृष्टि से जैन-शास्त्रों में १४ मार्गणाओं का भी वर्णन किया है—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार पर इनकी व्याख्या में कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो और व्याख्याओं में न आ गया हो।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हुए जैन-दार्शनिकों ने ज्ञान के पाँच भेद किये हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, और केवल। मतिज्ञान पाँच

ज्ञान

इन्द्रियों से और मन से होता है, यह वाह्यकारण हैं। अन्तरङ्ग कारण यह है कि मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयो-

पशम से यह प्रकट होता है। इसके चार भेद हैं—अवग्रह अर्थात् सत्तामात्र जानना; ईहा अर्थात् विशेष प्रकार से जानना; अवाय अर्थात् इस विशेष ज्ञान का चिह्नों, लक्षणों द्वारा निश्चय करना; धारणा अर्थात् ऐसा ज्ञान करना कि कालान्तर में भी न भूले। पदार्थों की दृष्टि से यह मति-ज्ञान छः तरह का है—बहु अर्थात् बहुत से पदार्थों का अवग्रह इत्यादि; बहुविधि अर्थात् बहुत तरह के पदार्थों का अवग्रह इत्यादि; क्षिप्र अर्थात् जल्दी से पदार्थों का ग्रहण; अनि:सृत अर्थात् थोड़े से अवग्रह इत्यादि के आधार पर बहुत-सा समझ लेना; अनुक्त अर्थात् बचन सुने बिना ही अभिप्राय जान लेना; और ध्रुव अर्थात् बहुत समय तक यथार्थ निश्चलरूप से पदार्थों का जानना। ठीक इनके उलटे छः भेद और हैं—अल्प, एकविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त और अध्रुव। इस तरह पदार्थ की दृष्टि से मतिज्ञान के बारह भेद हैं। श्रुतज्ञान, मतिज्ञान के निमित्त से होता है और दो तरह का है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। द्रव्यश्रुत शास्त्रोक्त ज्ञान है और शास्त्रों की दृष्टि से दो तरह का है—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गवाह्य। अङ्गप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्तिअङ्ग, ज्ञातृ-धर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अतकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग, विपाकसूत्राङ्ग और दृष्टिप्रवादाङ्ग। यह जैनों के मुख्य शास्त्र हैं और प्रामाणिक हैं जिनके पढ़ने या सुनने से बहुत ज्ञान होता है। अल्पबुद्धि के या कम पढ़े-लिखे लोगों के लिये अङ्गवाह्य है, जिसके चौदह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वेदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धका। इनमें अङ्गों के मोटे-मोटे सिद्धान्त और मुख्य उपदेश संक्षेप से बताये हैं। तीसरा अवधिज्ञान वह है जो क्षेत्र, काल, भाव और द्रव्य की मर्यादा में आत्मा के प्रत्यक्ष-रूप से अर्थात् इन्द्रियों की सहायता के बिना होता है। इसके दो भेद हैं, भवप्रत्यय जो देवों और नारकी-जीवों को होता है और क्षयोपशमनिमित्तक जो अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से जीवों को उत्पन्न होता है। क्षयोपशमनिमित्त अवधिज्ञान के छः भेद है—अनुगामी जो दूसरे क्षेत्र या

जन्म में भी जीव के साथ जाता है; अननुगामी जो इस तरह साथ नहीं जाता; वर्द्धमान जो बढ़ता रहता है; हीयमान जो घटता रहता है; अवस्थित जो एकसा रहता है; और अनवस्थित जो घटता-बढ़ता रहता है। दूसरी तरह से अवधिज्ञान के तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। भवप्रत्यय तो देशावधि ही होता है और क्षयोपशमनिमित्तक तीनों तरह का हो सकता है। चौथा मनःपर्ययज्ञान भी इन्द्रियजन्य नहीं है, आत्मा की स्वाभाविक शक्ति के विकास से अर्थात् कर्मोपशम से होता है। मनःपर्ययज्ञान दूसरों के मन की बातें जताता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति जो दूसरे के मन में सरलता से ठहरे हुए पदार्थों को जताता है और विपुलमति जो दूसरे के मन में सरलता तथा वक्रता से ठहरे हुए पदार्थों को जताता है। विपुलमतिमनःपर्यय श्रेष्ठ है क्योंकि वह परिणामों की विशेष विशुद्धता से होता है और केवलज्ञान तक बना रहता है। केवलज्ञान वह है जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों के पूर्ण क्षय के बाद प्रकट होता है, जो वास्तव में शुद्ध आत्मा का स्वभाव है और जो एक समय में ही प्रत्यक्ष रूप से सब द्रव्यों को, सब क्षेत्रों को, सब भावों को, भूत, भविष्य और वर्त्तमान के सब पदार्थों को, सब पर्यायों को, जानता है। किसी तरह की कोई भी चीज केवल ज्ञान के बाहर नहीं हो सकती। उसकी सीमा में सब कुछ शामिल है।

मनःपर्ययज्ञान

केवलज्ञान

पदार्थ के सर्वदेश का ज्ञान जिस प्रकार से होता है उसे प्रमाण कहते हैं और जो पदार्थ के एक देश को जताता है उसे नय कहते हैं। प्रमाण के विषय में जैन-तत्त्वज्ञानियों का सिद्धान्त है कि इसके मुख्य दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—पारमार्थिकप्रत्यक्ष और साम्व्यवहारिकप्रत्यक्ष। पारमार्थिकप्रत्यक्ष से अभिप्राय उस ज्ञान से है जो आत्मा को अपने ही अधीन रहकर अपनी ही विशुद्धता से होता है, इन्द्रियों के द्वारा नहीं। इसके दो भेद हैं—एकदेशपारमार्थिक प्रत्यक्ष जो एकदेशीय है, अर्थात् परिमित है, जैसे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान; और सर्वदेशपारमार्थिकप्रत्यक्ष जो सर्वव्यापी

प्रमाण

हैं अर्थात् जिसमें समस्त ज्ञान सम्मिलित हैं। ऐसा ज्ञानकेवल ज्ञान है जो कर्म-का बन्ध छूटने पर और आत्मा के शुद्ध स्वरूप के पूर्ण विकाक्ष के होने पर होता है। साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो नाक, कान, आँख, जीभ आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है। जैन परमार्थ दृष्टि से तो, यह भी परोक्षज्ञान है, क्योंकि वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान तो आत्मा के भीतर ही है और कर्म का आवरण हटने पर आप-से-आप प्रकट होता है। पर व्यवहार की दृष्टि से इद्रिजन्य-ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। जो ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है वह परोक्ष है और पाँच तरह का है—स्मृति, अर्थात् पहिली बात के स्मरण से उत्पन्न हुआ ज्ञान; प्रत्यभिज्ञान, अर्थात् पहिली बात का स्मरण करके प्रत्यक्ष का निश्चय करना; कातर्क अर्थात् व्याप्ति ज्ञान, व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध का ज्ञान, जैसे जहाँ धुआँ है वहाँ आग है; अनुमान अर्थात् लक्षणों या सङ्केतों से निश्चय करना; और आगम, अर्थात् आप्तपुरुषों के रचे हुए शास्त्रों से ज्ञान।

नय

प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थ के किसी एक धर्म को मुख्यता से अनुभव कराना नय है। इसके दो भेद है—द्रव्यार्थिकनय जो द्रव्य की मुख्यता से पदार्थ-का अनुभव करता है, और पर्य्यायार्थिकनय जो पर्य्याय की मुख्यता से पदार्थ का अनुभव कराता है। द्रव्यार्थिकनय-के तीन भेद हैं—नैगम अर्थात् संकल्प मात्र से पदार्थ का ग्रहण करना, जैसे घड़ा बनाने की मिट्टी लाने को जो जाता है वह कहे कि घड़े के लिये जाता हूँ; संग्रह अर्थात् सामान्यरूप से पदार्थों का ग्रहण करना जैसे छः द्रव्य या आठ कर्म; और व्यवहार अर्थात् सामान्य विषय की विशेषता करना जैसे- द्रव्य के भाग करना, कर्म के भाग करना। पर्य्यायार्थिकनय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र जो केवल वर्त्तमान पर्याय का ग्रहण कराता है; शब्द जो व्याकरण इत्यादि के अनुसार दोष दूर करता है; समभिरूढ़ जो पदार्थ में मुख्यता से एक अर्थ को आरूढ़ करता है, जैसे गौ शब्द का अर्थ है जो गमन करे, पर बैठी हुई गाय को भी गाय कहते हैं; एवभूत जो वर्तमान क्रिया को उसी प्रकार से कहता है जैसे सिर्फ चलती हुई गाय को गाय कहना। बहुत से जैन-ग्रन्थों में नय के दो विभाग किये हैं—निश्चयनय जो पदार्थ के स्वरूप को ही मुख्य करके बतलाता

है, और व्यवहारनय, उपचारनय या उपनय जो किसी प्रयोजन से नैमित्तिक भाव को बताता है या एक पदार्थ के भाव को दूसरे पदार्थ में आरोपण करता हैं। निश्चयनय दो तरह का है—शुद्ध और अशुद्ध। व्यवहारनय तीन तरह का है—सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरितव्यवहार।

जैनस्याद्वाद

जैन-दार्शनिकों ने इस बात पर बड़ा जोर दिया है कि किसी पदार्थ को समझने के लिये उसे अनेक दृष्टियों से देखना चाहिये। एक ही पदार्थ में अपेक्षा-पूर्वक तरह-तरह के धर्म रहते हैं, विरुद्ध धर्म रहते हैं। यह मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहलाता है। आठवीं ईसवी सदी में शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में स्याद्वाद पर बड़ा कटाक्ष किया है। बहुत से ब्राह्मण दार्शनिकों ने स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चित-वाद कहा है, पर वास्तव में यह बात नहीं है। जैनदर्शन पदार्थ के गुणों या धर्मों में संशय नहीं करता, वरन् केवल यह मानता है कि दृष्टिकोण के अनुसार यह गुण या धर्म भिन्न-भिन्न हैं। जैसे, पुरुष एक है पर अपने पिता की दृष्टि से वह पुत्र है, स्वयं अपने पुत्र की दृष्टि से वह पिता है, भतीजे के लिये चचा है, पर बाप के भाई के लिये भतीजा है, बड़े भाई के लिये छोटा भाई है, छोटे भाई के लिये बड़ा भाई है, स्त्री के लिये पति है और मामा के लिये भानजा है। इसी तरह शरीर की ओर से देखिये तो आदमी मरता है; पर आत्मा की ओर से देखिये तो मर ही नहीं सकता। स्याद्वाद का दार्शनिक प्रतिपादन सप्तभङ्गी न्याय है अर्थात् उसमें सात तरह के पक्षाभास हैं—(१) स्वयं वस्तु की अपेक्षा से देखिये तो उसका अस्तित्व है—यह हुआ स्यात् अस्ति; (२) पर किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से देखिये तो पहिली वस्तु का अस्तित्व नहीं है, यह हुआ स्यात् नास्ति; (३) एकदम इन दोनों वस्तुओं की दृष्टि से देखिये तो कहना पड़ेगा कि है भी और नहीं भी है, यह हुआ स्यात् अस्ति नास्ति; (४) पर यह भी हो सकता है कि एक वस्तु के बारे में अन्य दो वस्तुओं की अपेक्षा से कुछ नहीं कहा जा सकता, यह हुआ स्यात् अवक्तव्य; (५) यह भी सम्भव है कि इन दो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर केवल एक वस्तु की अपेक्षा से कहा जा सकता है कि वह है, यह हुआ स्यात् अस्ति अवक्तव्य;

(६) पर यहाँ दूसरी वस्तु की अपेक्षा से कहा जा सकता है कि वह नहीं हैं। यह हुआ—स्यात् नास्ति अवक्तव्य (७) एक वस्तु के लिये अन्य दो वस्तुओं के लिये एकदम उत्तर देना असम्भव हो, पर बारी-बारी से कहा जा सके कि यह है और नहीं है तो स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य हुआ।[1]

बौद्ध-धर्म

जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी के समय में अर्थात् ई० पू० ६-५वीं सदी में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र गौतम सिद्धार्थ ने बुढ़ापा, बीमारी तथा मृत्यु इत्यादि के दृश्य देखकर संसार से विरक्त होने पर छः बरस व्यर्थ तप करने के बाद गया में बुद्धि पायी। बुद्ध नाम से प्रसिद्ध होकर उन्होंने पहिले बनारस के पास सारनाथ में और फिर उत्तर-हिन्दुस्तान में ३५ बरस घूम-घूमकर उपदेश दिया और अपने धर्म का चक्र चलाया। इन उपदेशों के आधार पर उनके शिष्यों ने और शिष्यों के उत्तराधिकारियों ने बौद्ध-सिद्धान्त और दर्शन का रूप निश्चय किया।

बौद्ध-साहित्य

बौद्ध-साहित्य तीन पिटकों में है—(१) सुत्त, जिसमें पाँच निकाय हैं—दीघ, मज्झिम, संयुक्त, अङ्गुत्तर और खुद्दक—जिनमें सिद्धान्त और कहानियाँ हैं (२) विनय, जिसके पाँच ग्रन्थ—पातिमोक्ख, महावग्ग, चुल्लवग्ग, सुत्तविभङ्ग और परिवर में भिक्खु-भिक्खुनियों के नियम हैं और (३) अभिधम्म, जिसके सात संग्रहों में तत्त्व-ज्ञान की चर्चा है। इनका मूल पाली-संस्करण लङ्का, स्याम और बर्मा में माना जाता है और आगे का संस्कृत-संस्करण नैपाल, तिब्बत और एक प्रकार से चीन, जापान और कोरिया में माना जाता है। पाली ग्रन्थों की रचना रिहज़ डेविड्स, ओल्डनबर्ग आदि विद्वानों ने ई० पू० ५वीं-४ थी, सदी में मानी थी, पर अब सिल्वाँ लेवी, कीथ, आदि के अनुसन्धान के बाद यह तीसरी सदी के लगभग मानी जाती है।

---

[1] स्याद्वाद के लिये देखिये, समयवायाङ्गसूत्र; अनुयोगद्वारसूत्र; प्रज्ञापन-सूत्र; सिद्धसेन दियाकर, सम्मतितर्कसूत्र; समन्तभद्र, आप्तमीमान्सा; मल्लिसेन-सूरि, स्याद्वादमञ्जरी।

आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म और संसार के सिद्धान्त बौद्ध-धर्म ने भी माने हैं। बौद्ध-धर्म का उद्देश्य है जीव को दुःख से छुड़ाकर परम सुख प्राप्त कराना। दुःख का कारण है तृष्णा और कर्मबन्ध। तृष्णा अज्ञान और मोह के कारण होती है। आत्मा को ज्ञान होना चाहिये और मोह छोड़ना चाहिये। सच्चा ज्ञान क्या है? यह कि जीव जड़-पदार्थों से भिन्न है, विश्व में कोई चीज़ स्थिर नहीं है; सब बदलती रहती हैं, प्रतिक्षण बदलती हैं, यह बौद्ध क्षणिकवाद है। आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है; अनात्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह सिद्धान्त लगभग सब बौद्ध-ग्रन्थों में मिलते हैं, पर इनकी व्याख्या कई प्रकार से की गई हैं। इनके अलावा और बहुत से सिद्धान्त भिन्न-भिन्न शास्त्रों में धीरे-धीरे विकसित हुए हैं और इन सब के आधार और प्रमाण पर सैकड़ों पुस्तकों में वहस की गई है।

बौद्ध-धर्म

ज्ञान

बौद्ध-शास्त्रों में बुद्ध के वाक्य को प्रमाण माना है, बुद्ध भगवान् सब सच्चे ज्ञान के स्रोत हैं, बुद्ध ने जो कुछ कहा है खूब कहा है, ठीक कहा है। उदान वर्ग के बुद्धसुत्त में ज़ोर दिया है कि जो सचाई को पहुँचना चाहता है वह बुद्ध का उपदेश सुने। बुद्ध इस सत्यता का उपदेश क्यों देते हैं? इसलिये कि दुःख का निवारण हो और शान्ति मिले। यदि बुद्ध में श्रद्धा हो तो ज्ञान और शान्ति सब में बड़ी सहायता मिलेगी। पर अपनी वुद्धि से भी काम लेना चाहिये। बुद्ध भगवान् ने तो अपने शिष्यों से यहाँ तक कहा था कि मेरे सिद्धान्तों को मेरे कारण मत स्वीकार करो वरन् अपने-आप खूब समझ-बूझकर स्वीकार करो।

उपदेश

यह संसार कहाँ से आया है? किसने इसको बनाया है? क्या यह अनादि है, अनन्त है? इन प्रश्नों का उत्तर देने से स्वयं बुद्ध ने इन्कार किया था क्योंकि इस छान-बीन से निर्वाण में कोई सहायता नहीं मिलती। पर आगे चलकर बौद्धों ने यह मत स्थिर किया कि संसार का रचयिता कोई नहीं है। महायान बौद्ध-शास्त्रों

संसार की समस्या

में यह ज़रूर माना है कि बुद्ध इस संसार को देखते हैं और इसकी भलाई चाहते हैं, भक्तों को शरण देते हैं, दुखियों को शान्ति देते हैं। गौतमबुद्ध ने संसार को प्रधानतः दुःखमय माना है और सांसारिक जीवन का, अनुभवों का, अस्तित्व का दर्जा बहुत नीचा रक्खा है, पर दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने संसार के अस्तित्व से कभी इन्कार नहीं किया। यद्यपि कुछ आगामी बौद्ध-ग्रन्थों से यह ध्वनि निकलती है कि जगत् मिथ्या है, भ्रम है, पर सबसे प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों से इस मत का समर्थन नहीं होता। प्रारम्भ से अन्त तक बौद्धदर्शन में इस बात पर अवश्य ज़ोर दिया है कि जगत् प्रतिक्षण बदलता रहता है; हर चीज़ बदलती रहती है; कोई भी वस्तु जैसी इस क्षण में है दूसरे क्षण में वैसी न रहेगी। जो कुछ है क्षणभङ्गुर है।

क्षणवाद

दूसरी बात यह है कि जगत् में दुःख बहुत है, सच पूछिये तो दुःख-ही-दुःख है। यह दुःख कर्म के बन्धन से होता है। कर्म के छूटने से बन्धन छूट जाता है और दुःख दूर हो जाता है; सुख-शान्ति मिल जाती है। यही निर्वाण है। जीवन-काल में यह हो सकता है, पर निर्वाण पाने के बाद जब शरीर छूट जाता है तब क्या होता है? पुनर्जन्म तो हो नहीं सकता; कोई दूसरा शरीर धारण नहीं किया जा सकता। तो क्या आत्मा का सर्वथा नाश हो जाता है, अस्तित्व मिट जाता है? या आत्मा कहीं परम अलौकिक अनत सुख और शान्ति से रहता है? इस जटिल समस्या का उत्तर बौद्ध-दर्शन के अनुसार देना बहुत कठिन है। स्वयं बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया। संयुत्तनिकाय में बच्छगोत्त बुद्ध से पूछता है कि आत्मा रहता है या नहीं? पर बुद्ध कोई उत्तर नहीं देते।[1] मज्झिम-निकाय में प्रधान शिष्य आनन्द भी इस प्रश्न का उत्तर चाहता है; यह जानना चाहता है कि मरने के बाद बुद्ध का क्या होता है? पर बुद्ध से उत्तर मिलता है कि आनन्द! इन बातों की शिक्षा देने को तो मैंने शिष्यों को नहीं बुलाया है। अस्तु, यही मानना पड़ेगा कि जैसे बुद्ध ने जगत् की उत्पत्ति के

निर्वाण

---

[1] संयुत्तनिकाय, ४। ४००॥

प्रश्न को प्रश्नरूप में ही छोड़ दिया, वैसे ही निर्वाण के बाद आत्मा के अस्तित्व को भी प्रश्नरूप में ही रहने दिया। उनका निजी विचार कुछ रहा हो या न रहा हो पर वह इस श्रेणी के तत्त्वज्ञान को अपने कार्यक्षेत्र से बाहर मानते थे। उनका भाव कुछ ऐसा था कि मेरे बताये मार्ग पर चलकर निर्वाण प्राप्त कर लो; फिर अन्तिम शरीर त्याग के बाद क्या होगा ?—इसकी परवा मत करो; कुछ भी हो, व्यर्थ सिर मत मारो।

पर बुद्ध के इस ठण्ढे भाव से दार्शनिकों की जिज्ञासा न बुझी। बौद्ध-दार्शनिक इस प्रश्न को बार-बार उठाते हैं। संयुत्तनिकाय में एक विधर्मी भिक्षु यमक

शून्य

बुद्ध के कथनों से यह नतीजा निकलता है कि मरने के बाद तथागत अर्थात् बुद्ध सर्वथा नष्ट हो जाता है, मिट जाता है, उसका अस्तित्व ही नहीं रहता, कोरा शून्य रह जाता है। सारिपुत्त को यह अर्थ स्वीकार नहीं है। बहुत प्रश्नोत्तर के बाद सारिपुत्त यमक से कहता है कि तथागत को तुम जीवन में तो समझ ही नहीं सकते; भला मरने के बाद की हालत को क्या समझोगे ? स्वयं बौद्धों ने इसे दो तरह से समझा। कुछ ने तो क्षणिकवाद के प्रभाव से यह समझा कि निर्वाण के बाद आत्मा में प्रतिक्षण परिवर्त्तन नहीं हो सकता। सो, आत्मा का अस्तित्व मिट जाता है। पर कुछ लोगों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया और निर्वाण के बाद शरीरान्त होने पर चेतना का अस्तित्व माना।

जब निर्वाण के बाद की अवस्था पर मतभेद था तब दार्शनिक दृष्टि से आत्मा और अस्तित्व के बारे में मतभेद होना स्वाभाविक था। कुछ बौद्ध-

आत्मा

दार्शनिकों का मत है कि वस्तुतः आत्मा कुछ नहीं है; केवल उत्तरोत्तर होनेवाली चेतना अवस्थाओं का रूप है; कोई स्थायी, अनश्वर, अनित्य या अनन्त वस्तु नहीं है; प्रतिक्षण चेतन परिवर्तन होता है, यही आत्मा है, परिवर्तन बन्द होते ही अवस्थाओं का उत्तरोत्तर क्रम टूटते ही आत्मा विलीन हो जाता है, मिट जाता है। इसके विपरीत, अन्य बौद्ध दार्शनिक आत्मा को पृथक् वस्तु मानते हैं, वह परिवर्तन स्वीकार करते हैं पर आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के आधार

पर। प्रतिक्षण परिवर्तन तो जड़ पदार्थों में भी होता है पर जड़ और चेतन एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा न निरी वेदना है न निरा विज्ञान है, न केवल संज्ञा है। यह सब लक्षण या गुण उसमें है पर इनसे पृथक् कोई आत्मा है। इन दो विरोधी सिद्धान्तों के बीच में बहुत से दार्शनिक विचार हैं जो इधर या उधर झुकते हैं और जिनकी व्याख्या और समालोचना से संस्कृत और पाली बौद्ध-साहित्य की सैकड़ों पुस्तकें भरी हैं।

जड़ या अचेतन के विषय में पहिले बौद्ध-ग्रन्थों में बहुत कम नई बातें कही गयी हैं। साधारण हिन्दू दार्शनिक; विश्वास के अनुसार यहाँ भी पृथिवी, तेज वायु और जल तत्त्व माने हैं, पर आकाश को कहीं-कहीं तो तत्त्व माना है और कहीं-कहीं नहीं। सब चीजें अनित्य हैं अर्थात् अस्थायी हैं; आगामी बौद्ध-दार्शनिकों ने इन्हें क्षणिक कहा है। पहिले ग्रन्थों में अनित्यता या अनस्थिरता की विशेष समीक्षा नहीं की गयी है पर आगे चलकर बौद्ध दार्शनिकों ने हेतु, निदान, कारण या निमित्त इत्यादि की कल्पना करके इन परिवर्तनों को मानो एक जञ्जीर से जोड़ दिया। जड़ और चेतन दोनों के विषय में कारणवाद की व्याख्या बड़े विस्तार से की गई है।

तत्त्व

जैनियों की तरह बौद्धों ने कर्म को जड़ पदार्थ नहीं माना है। कर्म वास्तव में आत्मा की चेतना है जिसके बाद क्रिया होती है। कर्म के अनुसार अवस्था बदल जाती है पर कर्म के कोई जड़ परमाणु नहीं हैं, जो आत्मा से चिपट जाते हों। कर्म की शृङ्खला तोड़ने के लिये शील, समाधि और प्रज्ञा आवश्यक हैं, जिनकी विवेचना तरह-तरह से बौद्ध-दार्शनिकों ने की है।

शील या सदाचार का वर्णन करते हुए बौद्धों ने इसे जीवन का धर्म बताया हैं। जैन-साहित्य की तरह बौद्ध-साहित्य में भी सब जगह अहिंसा, संयम, इन्द्रियदमन, त्याग, दान, इत्यादि पर बहुत जोर दिया है। सब हिन्दुधर्मों की तरह यहाँ भी सत्य का उपदेश दिया है, ब्रह्मचर्य की महिमा गाई है। तपस्या पर उतना जोर नहीं है जितना ब्राह्मण और जैनशास्त्रों में। पर उसका तिरस्कार भी नहीं किया है। बौद्धों ने भी आध्यात्मिक

जीवन का मार्ग

ध्यान की आवश्यकता स्वीकार की है। और बाद के शास्त्रकारों ने योग के बहुत से उपचार और प्रकार बताए हैं।[१]

पारस्परिक प्रभाव

स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध, जैन और अनेक ब्राह्मण-दर्शन लगभग एक ही समय निकले थे, समय के कुछ विचारों को सब ने स्वीकार किया है; नैतिक जीवन के एक से ही आदर्श सब ने माने हैं। यह सब दर्शन या धर्म डेढ़ हजार बरस तक साथ-साथ रहे, एक-दूसरे पर बराबर इनका प्रभाव पड़ता रहा, दार्शनिक विकास और पारस्परिक प्रभाव के कारण इनमें नये-नये पन्थ निकलते रहे जो मूल-सिद्धान्तों का बहुत-सा भाग मानते रहे और जिनका प्रभाव दूसरे पन्थों पर ही नहीं वरन् मूलधर्मों और तत्त्वज्ञानों पर भी पड़ता रहा। मानो राजनीति की तरह धर्म और तत्त्वज्ञान में भी हिन्दुस्तान का सङ्गठन सङ्घ-सिद्धान्त के अनुसार था। कुछ बातों में एकता थी, कुछ में अनैक्य था; बहुत-सी-बातों में समानता थी; एक क्षेत्र धीरे-धीरे दूसरे क्षेत्र में मिल जाता था।

संसार की उत्पत्ति

कुछ बौद्ध-ग्रन्थों में संसार सङ्गठन की उत्पत्ति बड़े मजे से लिखी है। तिब्बती दुल्व के पाँचवें भाग में बुद्ध भगवान् भिक्षुओं से कहते हैं कि आभास्वर देवों के पवित्र, सुन्दर, चमकदार, अपार्थिव शरीर थे; आनन्द से बहुत दिन तक वह जीते थे। अभी तक पृथ्वी न थी पर इस अर्से में जल के साथ पृथ्वी मिल गई और फिर एक आंधी ऐसी चली कि सूखी धरती बाहर निकल आई। पुण्य क्षीण होने पर बहुत से आभास्वर देव पृथ्वी पर जन्मे। उनमें से कुछ ने समुद्र का पानी पिया जिससे उनकी चमक जाती रही। उसके बाद सूरज, चाँद और तारे प्रकट हुए और समय का विभाग शुरू हुआ। भोजन के भेद से लोगों के रंग अलग-अलग हो गये; जिनका रंग अच्छा था वह गर्वीले अर्थात् पापी हो गये। भोजन में बहुत से परिवर्तनों के बाद चावल का रिवाज बढ़ा जिसके खाने से लिङ्ग

---

[१]बौद्धधर्म और दर्शन पर वह ग्रन्थ देखिये जिनका उल्लेख बौद्ध-साहित्य के सम्बन्ध में इस पुस्तक में किया गया है।

भेद हुआ—अर्थात् कुछ लोग पुरुष हो गये और कुछ स्त्री। प्रेम और विलास आरम्भ हुआ, मकान बनने लगे, लोग चावल जमा करने लगे, झगड़े हुए, सरहदें बनीं, राजा की स्थापना हुई, वर्ण, श्रेणी, व्यवस्था इत्यादि के विभाग हुए।

गौतम बुद्ध ने अहिंसा, सदाचार और त्याग पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया है। उनका उपदेश मानकर संसार छोड़कर बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गये और भिक्खु या भिक्षु कहलाये। कुछ दिन बाद आनन्द भिक्खुओं को उपदेश के कहने से बुद्ध ने स्त्रियों को भी भिक्खुनी बनाना स्वीकार कर लिया। धम्मपद में बुद्ध ने भिक्खुओं को उपदेश दिया है कि कभी किसी से बुरा न मानना चाहिये, किसी से घृणा न करनी चाहिये; घृणा का अन्त प्रेम से होता है; भोग-विलास में जीवन नष्ट न करना चाहिये; सरगर्मी से आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिये; हृदय को शुद्ध करना चाहिये और भलाई करनी चाहिये।[1] सुत्तनिपात में संसार को बुरा बताया है; माता-पिता स्त्री-पुत्र, धन-धान्य सब माया-ममता छोड़कर जङ्गल में अकेले घूमना चाहिये।[2] महावग्ग के पब्बग्गासुत्त में भी घर के जीवन को दुःखमय और अपवित्र बताया है और संन्यास का उपदेश दिया है। पर बुद्ध को कठिन तपस्या के बुरे नतीजे का तजरुबा था। इसलिये उन्होंने या कम से-कम उनके उत्तराधिकारियों ने, भिक्खुओं और भिक्खुनियों को एक-एक करके बहुत-सी चीजें, जैसे कुर्सी, चौकी, चारपाई, छोटे तकिये, चटाई, बरण्डे, ढके चबूतरे, कपड़े, सुई, तागा, अरगन, मसहरी इत्यादि प्रयोग करने की इजाज़त दे दी।[3] मज्झिमनिकाय में बुद्ध ने साफ़-साफ़ कहा है कि भिक्खुओं को विलास और क्लेश दोनों की अतियों से बचना चाहिये। प्रधान शिष्य आनन्द के कहने से बुद्ध ने स्त्रियों को सङ्घ में लेना स्वीकार कर लिया था, पर अनुचित सम्बन्ध और लोकापवाद के डर से बुद्ध ने धीरे-धीरे भिक्खुओं को भिक्खुनियों से भोजन लेने से, उनको पातिमोक्ख सुनाने से, उनके अपराधों का विचार करने से, उनको हाथ जोड़ने

[1]धम्म० १८२ ॥ १८३ ॥ [2]सुत्त० ३ ॥ ७ ॥ ८ ॥ [3]चुल्ल० ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

या दण्डवत् करने से रोक दिया।[1] चुल्लवग्ग से ज़ाहिर है कि संन्यास के प्रचार से बहुत-से कुटुम्ब टूट गये और खासकर बूढ़े माता-पिताओं को बड़ी वेदना हुई।[2] मज्झिमनिकाय में संन्यासी होनेवाले युवकों के माँ-बाप की यन्त्रणा का मर्मभेदी चित्र खींचा है। माताएँ रोती-चिल्लाती थीं, पछाड़ खाकर गिरती थीं, मूर्च्छित होती थीं, पर संन्यास में मस्त युवक स्नेह के सारे स्रोतों को सुखाकर अपने हृदय विचलित नहीं होने देते थे।[3] ऐसी घटनाएँ जैनों की पुस्तकों में भी मिलती हैं।

संन्यास

गौतम बुद्ध का स्थापित किया हुआ बौद्धसङ्घ आत्मशासन के सिद्धान्त पर स्थिर था। इसकी कार्यवाही में राज्य की ओर से बहुत कम हस्तक्षेप होता था। सङ्घ में भिक्खु और भिक्खुनी दोनों के लिये एक समान नियम थे। सङ्घ में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी, जो कुछ था सङ्घ का था, किसी विशेष भिक्खु या भिक्खुनी का नहीं। स्वयं गौतम बुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य से कहा था—"आनन्द! मेरे बाद अगर चाहे तो सङ्घ छोटे नियमों में परिवर्तन कर ले।" पर जब एक सभा में नियमों पर विचार हुआ तब इतना मतभेद प्रकट हुआ कि परिवर्तन करना मुनासिब नहीं समझा गया। सभा ने निर्णय किया कि बुद्ध भगवान् जो कुछ कह गये हैं, वही ठीक है, न उसके किसी नियम में परिवर्तन करना चाहिये और न कोई नया नियम बनाना चाहिये। यद्यपि बुद्ध के नियम सङ्घ में सर्वत्र मान्य थे, तो भी साधारण मामलों और झगड़ों का निपटारा प्रत्येक स्थान में प्रत्येक सङ्घ अपने-आप कर लेता था। सङ्घ के भीतर सब कार्यवाही, सब निर्णय, जनसत्ता के सिद्धान्त के अनुसार होते थे। महावग्ग और चुल्लवग्ग में सङ्घ सभाओं की पद्धति के नियम दिये हुये हैं। यहाँ धारणा है कि यह सारे पद्धति-नियम बुद्ध ने कहे थे पर सम्भव है कि कुछ उनके बाद जोड़े गये हों। यह नियम वर्तमान यूरोपियन

बौद्धसङ्घ

नियम

---

[1]चुल्ल० १०।२।२॥ १०।६।१०३॥ १०।१५।१॥ [2]चुल्ल० ७॥ [3]मज्झिम० २।५४।टू० ८१॥

शासन प्रतिनिधिमूलक व्यवस्थापक सभाओं की याद दिलाते हैं। सम्भव है कि इनमें से कुछ तत्कालीन राजकीय सभाओं से लिये गये हों, पर ऐतिहासिक साक्षी के अभाव में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। नियम बहुत-से थे। यहाँ केवल मुख्य नियमों का निर्देश काफ़ी होगा। जब तक निश्चित संख्या में सदस्य न आ जायँ तब तक सभा की कार्यवाही शुरू नहीं हो सकती थी। गण-पूरक का कर्तव्य था कि निश्चित संख्या पूरी करे। सभा में आने पर आसनपञ्जापक सदस्यों को छोटे-बड़े के लिहाज़ से उपयुक्त स्थानों पर बैठाता था। कभी-कभी निश्चित संख्या पूरी होने के पहिले ही काम शुरू हो जाता था, पर पीछे से इस काम की मञ्ज़ूरी लेनी होती थी। स्वयं गौतम बुद्ध की राय थी कि ऐसा कभी होना ही नहीं चाहिये। प्रत्येक प्रस्ताव पर दो या चार बार विचार होता था। सबसे पहिले ज्ञप्ति होती थी जिसमें सदस्य अपना प्रस्ताव सुनाता था और उसके कारण समझता था। फिर प्रतिज्ञा होती थी जिसमें पूछा जाता था कि यह प्रस्ताव सङ्घ को पसन्द है या नहीं? महत्त्वपूर्ण मामलों में यह प्रश्न तीन बार पूछा जाता था। इन स्थितियों में प्रस्ताव पर बहस होती थी, पक्ष और विपक्ष में तर्क किया जाता था। जब वक्तृताएँ बहुत लम्बी हो जाती थीं या अप्रासङ्गिक बहस छिड़ जाती थी, या तीव्र मतभेद प्रकट होता था तब प्रस्ताव सदस्यों की एक छोटी समिति के सुपुर्द कर दिया जाता था। यदि समिति में भी समझौता न हो सके तो प्रस्ताव फिर पूरी सभा के सामने आता था। यदि यहाँ पर इस बार भी एकमत न हो सका तो कम्मवाचा होती थी अर्थात् प्रस्ताव पर सम्मति ली जाती थी। एक पुरुष सदस्यों को रङ्ग-रङ्ग की लकड़ी की शलाकाएँ बाँट देता था और समझा देता था कि प्रत्येक रङ्ग का अर्थ क्या है? खुल्लम-खुल्ला या चुपके से, जैसा निश्चित हो, सम्मतियाँ डाली जाती थीं, येभूय्य सिकस्स नामक नियम के अनुसार जिस ओर अधिक सम्मतियाँ आयें, उसी पक्ष की जय होती थी अर्थात् वही माना जाता था। अनुपस्थित सदस्यों की सम्मति डालने का भी प्रबन्ध था। स्वीकृत होने पर प्रस्ताव कम्म अर्थात् कर्म कहलाता था। एक बार निर्णय हो जाने पर प्रस्ताव पर फिर बहस न होनी चाहिये और न उसे

रद करना चाहिये—ऐसी राय गौतम बुद्ध ने दी थी पर कभी-कभी इसका उल्लङ्घन होता था।[१]

बौद्धों की तरह जैनियों के भी सङ्घ थे जो जिन-वाक्य को प्रमाण मानते थे, सम्पत्ति में समष्टिवादी थे और छोटे-मोटे मामलों का फ़ैसला जनसत्ता के सिद्धान्त के अनुसार करते थे। पर जैन-ग्रन्थों में पद्धति के सूक्ष्म नियम नहीं मिलते हैं। जैन-साधुओं और साध्वियों के लिये जो साधारण नियम थे, वह बौद्धों के से ही थे।[२]

जैन-सङ्घ

बौद्धसङ्घ में नियम था कि नया भिक्खु—सद्धिविहारिक—दस बरस तक उपाज्झाय या आचारिक की सेवा में रहे। विद्वान् भिक्खुओं के लिये पाँच बरस काफ़ी समझे जाते थे।[३] कभी-कभी इस उम्मेदवारी से बिल्कुल मुक्ति भी दे दी जाती थी।[४] बुद्ध ने कहा था कि उपाज्झाय और सद्धिविहारिक में पिता-पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिये।[५] सङ्घ में भरती सारी सभा की सम्मति से होती थी। कभी-कभी भिक्खु लोग आपस में बहुत झगड़े करते थे और दलबन्दी करते थे।[६] सङ्घ के सब भिक्खु पातिमोक्ख पाठ करने के लिये जमा होते थे; विद्वान् भिक्खु ही पाठ करा सकते थे।[७] उपाज्झाय और सद्धिविहारिक के सम्बन्ध पर जो नियम सङ्घ में प्रचलित थे, उनसे नये सदस्यों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध हो जाता था। धीरे-धीरे बौद्धसङ्घ इतना फैला कि देश में हज़ारों सङ्घाराम बन गये। यह बौद्धधर्म, शिक्षा और साहित्य के केन्द्र थे और मुख्यत: इन्हीं के प्रयत्नों से धर्म का इतना प्रचार हुआ।

शिक्षा

सङ्घ की अवस्था

बौद्धों ने और जैनों ने संन्यास की जोरदार लहर पैदा की, पर कुछ लोग ऐसे

---

[१]पद्धति के लिये देखिये—चुल्ल० ४। १० ॥ ६। १ ॥ १२। २ ॥ १२। १ ॥ ४। ६ ॥ ४। १४ ॥ म० २ ॥ ३। ६ ॥ ६। ३ ॥ [२]आचा० १ ॥ ६ ॥ [३]म० १। ३२। १ ॥ १। ५३। ४ ॥ [४]म० १। ५३। ५ ॥ [५]म० १। २५। ६ ॥ [६]म० १०। १-५ ॥ [७]म० ३। २। ३ ॥ २। ४। २ ॥ २। ३। ३ ॥

भी थे जिन्हें यह ढङ्ग पसन्द न थे। एक युवती की कथा है कि नङ्गे संन्यासियों से उसके मन में घृणा होती थी; उसका पति उन्हें मानता था पर वह उन्हें देखने से या उनसे कुछ पूछने से इन्कार कर देती थी।[1] बौद्धधर्म की स्थापना के पहिले ही युवक गौतम को शुद्धोदन ने समझाया था कि बेटा! अभी त्याग का विचार न करो। उसके प्रस्थान पर सब को बड़ा क्लेश हुआ था। यशोधरा हिचकी भर-भर रोती थी[2], बेहोश होती थी और चिल्लाती थी कि पत्नी को छोड़कर धर्म पालना चाहते हैं—यह भी कोई धर्म है? कहाँ है उसका धर्म जो स्त्री को छोड़कर तप करना चाहता है? वह कितना निर्दयी है, उसका हृदय कितना कठोर है जो अपने नन्हें-से बच्चे को त्यागकर चला गया? शुद्धोदन ने फिर सन्देशा भेजा कि अपने दुखी परिवार का अपमान न करो; दया परमधर्म है; धर्म जङ्गल में ही नहीं होता, नगर में भी हो सकता है।[3] पुरुषों को संन्यास से रोकने में कभी-कभी स्त्रियाँ सफल भी हो जाती थीं।[4]

बौद्धों में कुछ लोग तो हमेशा के लिये संन्यासी हो जाते थे पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो थोड़े दिन के लिये ही भिक्षु होते थे। कोई-कोई भिक्खु इन्द्रियदमन पूरा न कर सकते थे, भिक्खुनियों को या और स्त्रियों को फँसाने की कोशिश करते थे या तड़क-भड़क से रहना चाहते थे।[5]

संन्यास का विरोध

[1]कर्न, 'मैनुएल ऑफ़ बुधिज्म', ३७ [2]अश्वघोष, बुद्धचरित, ५। ३८-३९। [3]अश्वघोष, बुद्धचरित, ८। २४-३२, ६१-६२, ६८, ७३॥ ९। १४-२६॥ १०। २२-२४॥ [4]बुद्धघोष, धम्म० टीका ६। ९॥ [5]बुद्धघोष, धम्म० टीका २१। ३॥ १२। ८॥ ११। २॥

मौर्य-साम्राज्य के पूर्व

८

साहित्य के आधार पर भारतीय सभ्यता का इतिहास ऋग्वेद के समय से थोड़ा-बहुत लिखा जा सकता है। अनुमान से ग्रन्थों की तिथियाँ स्थापित की जा सकती हैं और संस्थाओं का कुछ क्रमिक विकास भी दिखाया जा सकता है। पर अभाग्यवश हिन्दुस्तान का साधारण राजनैतिक इतिहास **राजनैतिक इतिहास** ई० पू० सातवीं सदी के पहिले लगभग शून्य है और उसके बाद भी लगातार ठीक-ठीक नहीं मिलता। ई० पू० सातवीं सदी से बारहवीं ई० सदी तक कभी बहुत, कभी थोड़ा राजनैतिक इतिहास अनेक दिशाओं से सामग्री जमा करके जैसा-तैसा बनाया जा सकता है, पर उसके पहिले की घटनाएँ अन्धकार में छिपी हैं। यह सच है कि रामायण और महाभारत में बहुत-से राजाओं और युद्धों के वर्णन हैं, पर इनके इतिहास में काव्य और कल्पना का ऐसा समावेश है कि किसी घटना की ऐतिहासिकता पूरी तरह प्रमाणित नही होती। दूसरे, अगर मान भी लें कि पाण्डवों का निर्वास या कुरुक्षेत्र का युद्ध या ऐसा ही और कोई घटना ऐतिहासिक है तो भी तारीख का पता नहीं लगता और अन्य घटनाओं से इनका सम्बन्ध स्थिर नहीं किया जा-सकता। ब्राह्मणग्रन्थों में कुछ राजाओं के नाम आये हैं और उनके यज्ञ इत्यादि का उल्लेख है। इनसे इतना तो सिद्ध होता है कि इन नामों के राजाओं ने राज्य किया, और ब्राह्मणधर्म के अनुयायी होने के कारण यह यज्ञ किया करते थे। पर इनके राज्य की और बातों का पता बहुत कम लगता है। अन्त में, राजाओं की और यज्ञों की अधूरी सूची ही रह जाती है। आगामी पुराण ग्रन्थों में बहुत-सी ऐतिहासिक नामावली और घटनावली मिलती हैं। जान पड़ता है कि बहुत प्राचीन समय से यहाँ किसी-न-किसी तरह की पुराण लिखने की **पौराणिक सामग्री** परिपाटी थी, क्योंकि पुराण शब्द बहुत पुराने ग्रन्थों में आया है। जैसा कि पुराण शब्द से ही मालूम होता है, इन ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाएँ लिखी जाती थीं। पर यह पुराण बराबर बदलते रहे और

इनके नये संस्करणों के सामने पुराने लोप होते गये। पुराणों के जो संस्करण इस समय हमारे पास हैं, वह प्रायत: ५वीं ई० सदी और ८-९वीं सदी के बीच में स्थिर हुए थे। तो भी उनमें बहुत से राजाओं के नाम हैं जो शताब्दियों पहिले, यहाँ तक कि ई० पू० ७वीं सदी के भी पहिले हुए थे। ऐसे सब उल्लेखों को जमा कर मि० पार्जिटर ने और उनके अनुसरण करनेवालों ने अनेक वंशावलियाँ तैयार की हैं और उनका सामयिक क्रम निश्चित करने की चेष्टा की है।[1] इन प्रयत्नों में कुछ सफलता भी हुई है और यह सिद्ध हो गया है कि बहुत प्राचीन समय में ही देश में सुव्यवस्थित राज्य थे और राजवंश शासन करते थे। पर राज्यों की सीमा का पता अभी तक नहीं लगा है और राजनैतिक घटनाएँ भी बहुत कम मालूम हुई हैं। ई० पू० सातवीं सदी से इस पौराणिक परम्परा के और बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के आधार पर कुछ सुसम्बद्ध इतिहास लिखा जा सकता है।

अनेक बौद्ध-ग्रन्थों में सोलह राज्यों का उल्लेख है जिनके पाली नाम हैं—अङ्ग, मगध, कासी, कोसल, वज्जी, मल्ल, चेती, वंसा, कुरू, पञ्चाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवन्ती, गन्धार और कम्बोज। यह उत्तर, हिन्दुस्तान में वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान से बङ्गाल तक ई० पू० ६ठीं सदी में फैले हुए थे। इनके अलावा वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार के उत्तर में कम-से-कम दस प्रजातन्त्र भी थे जिनके गणों और राजधानियों के नाम इस प्रकार हैं।[2]

सोलह राज्य

उत्तर प्रदेश और प्रजातन्त्र

गण	राजधानी
साकिय	कपिलवस्थु
बुलि	अल्लकप्प
भग्ग	सुसुमार

---

[1] देखिये, पार्जिटर 'पुराणिक टेस्ट आफ़ दि डिनैस्टीज आफ़ दि कलि एज'

[2] अंगु० १। २१३॥ ४। २५२, २५३, २६०॥ विनय २। १४६॥ महावस्तु २। २॥ दीघ० २। २३५॥ 'रिहजडेविड्स, बुधिस्ट इण्डिया', पृ० २३

कोलिय	रामगाम
कालाम	केसपुत्त
मल्ल	पावा
भल्ल	कुसीनारा
मोरिय	पिप्फलिवन
विदेह	मिथिला
लिच्छवि	वेसाली

जैनआचाराङ्गसूत्र कहता है कि किसी-किसी गण में दो राजा थे और किसी-किसी में एक भी नहीं।[1] गणराज्यों में संथागार होते थे, जहाँ लोग जमा होकर शासन के मामलों पर विचार और निर्णय करते थे और किसी अज्ञात रीति से अपना एक मुखिया—राजा—चुनते थे। उसकी सहायता के लिये उपराज और सेनापति रहते थे। महत्तक भी प्रतिनिधि का काम करता था। कुलों को भी कुछ राजनैतिक अधिकार थे। अट्ठकथा के अनुसार विनिच्चय, महामत्त, वोहारिक, सूत्रधार, अष्टकुल, सेनापति,, उपराज और राजा—यह आठ न्यायाधीश थे जो एक-एक कर के मुक़दमों की जांच करते थे। राजा के निर्णय एक पवेनिपत्त्यकान में दर्ज किये जाते थे। कभी-कभी शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिये दो या अधिक गण सङ्घ बना लेते थे और संयुक्त शासन स्थापित करते थे।[2] सम्बज्जी अर्थात् संयुक्त वज्जियों के सङ्घ को दीर्घनिकाय महापरिनिब्बानसुत्त में और अङ्गुत्तर-निकाय में गौतमबुद्ध ने उपदेश दिया है। कहा है कि पुरानी रीतियों का पालन करना चाहिये, बड़ों का आदर और आज्ञापालन करना चाहिये, स्त्रियों पर कभी बलात्कार न करना चाहिये, अर्हन्तों की पालना और चैत्यों की रक्षा करनी चाहिये, न्याय सदा निष्पक्ष होना चाहिये, सभाएँ बराबर करनी चाहिये और

गण-शासन

---

[1] आचा० २। ३। १। १०॥ [2] दीघ० २। १४७॥ १६१॥ महापरि० ६। २३॥ प० १। २५४॥ ललित० ३॥ अट्ठ० जे० एस० बी० १८३८, पृ० ६६१ इत्यादि।

सभाओं में शान्ति और मेल से काम करना चाहिये।[1]

गौतम बुद्ध के समय में जैसी राजनैतिक अवस्था थी कुछ वैसी ही ई० पू० ७वीं सदी में भी थी। सब राज्यों में मगध प्रबल हो रहा था और अपनी

मगध

प्रभुता चारों ओर बढ़ा रहा था। राजा शिशुनाक या शिशुनाग ने ई० पू० ६४२ के लगभग शैशुनाग राजवंश की स्थापना की। उसकी राजधानी गया के पास राजगृह में थी। शैशुनाग-

शिशुनाग

वंश के दूसरे, तीसरे और चौथे राजाओं के नाम भर मालूम हैं। पाँचवाँ राजा हुआ बिम्बिसार, जो बहुधा जैन-ग्रन्थों में श्रेणिक कहलाता है, जो ई० पू० ५८२ के लगभग सिंहासन पर बैठा और जिसने लगभग २८ बरस तक राज्य

बिम्बिसार

किया। उसने नये राजगृह की स्थापना की, अङ्ग को जीत कर अपने राज्य में मिलाया और कोशल राजवंश तथा वैसाली के लिच्छविगण से ब्याह-सम्बन्ध किये। उसके समय में मगध की प्रभुता बहुत बढ़ी। बुढ़ापे में बिम्बिसार ने राज्य अपने लड़के अजातशत्रु को सौंप दिया, पर बौद्धग्रन्थ में यह भी लिखा है कि अजातशत्रु सिंहासन पर बैठने को उतावला हो रहा था और उसने बुद्ध के विद्रोही चचेरे भाई देवदत्त के कहने से बूढ़े पिता को कारागार में बन्द करके भूखा मार डाला। सामञ्जफलसुत्त में यह भी लिखा है कि इस पाप के लिये पीछे उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह बौ हो कर गौतम बुद्ध के पास क्षमा माँगने गया। कुछ भी हो,

अजातशत्रु

अजातशत्रु ई० पू० ५५४ के लगभग गद्दी पर बैठा। जैन-ग्रन्थों में बहुधा उसका नाम कूणिक है।

बिम्बिसार और अजातशत्रु, गौतमबुद्ध और महावीर के समकालीन थे। बौद्ध और जैन लेखक, दोनों ही दावा करते हैं कि अजातशत्रु ने उनका धर्म अङ्गीकार किया और बढ़ाया। और किसी ऐतिहासिक साक्षी के न होने से यह निश्चय नहीं हो सकता कि अजातशत्रु जैन था या बौद्ध। शायद वह बुद्ध

---

[1] अङ्गु० ७। १९॥

और महावीर दोनों को आदर और भक्ति से देखता था और उनको आवश्यक सहायता पहुँचाता था। अजातशत्रु की नीति उस धार्मिक सहनशीलता का दृष्टान्त है जो हिन्दू स्वतन्त्रता के अन्त तक हिन्दू राज्यों का एक प्रधान लक्षण थी। निस्सन्देह हिन्दू इतिहास में दस-पाँच उदाहरण धार्मिक असहिष्णुता, अत्याचार और संग्राम के मिलते हैं, पर इतने राज्यों और इतनी सदियों के लिये यह नहीं के बराबर हैं। ऐसे राजा बहुत कम हुए जो किसी भी धर्म के अनुयायियों को क्षति पहुँचाते हों। बहुतेरे तो अनेक धर्मों के उपदेशकों और अधिष्ठाताओं के लिये समान दृष्टि से सुविधाएँ करते थे और दान देते थे। जान पड़ता है कि अजातशत्रु भी इसी नीति का पालन करता था।

सहनशीलता

अजातशत्रु ने मगध की प्रभुता और भी बढ़ाई। उसने कोशल से युद्ध छेड़ा, कभी उसकी जीत हुई और कभी कोशल राज की, पर अन्त में मगध का ही प्रभाव बढ़ा। उत्तर की ओर बिम्बिसार ने लिच्छवियों पर विजय पाई और वैसाली पर अधिकार जमा लिया। सोन और गङ्गा के सङ्गम के पास उसने पाटलि गाँव में एक क़िला बनवाया जिसके पास थोड़े दिन में उसके पोते उदय ने पाटलिपुत्र नामक वह नगर बसाया जो ई० पू० चौथी सदी में संसार के प्रधान नगरों में से था।

मगध का प्रसार

ई० पू० ५२७ के लगभग अजातशत्रु का देहान्त हुआ। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में बहुत कम बातें मालूम हैं। अन्त में ई० पू० ४१३ के लगभग शैशुनाग-वंश को गद्दी से उतार कर महापद्मनन्द ने एक नये राजवंश—नन्दवंश की स्थापना की। महापद्म की माँ शूद्रा थी पर उसका पिता अन्तिम शैशुनाग राजा ही था। इस प्रकार नन्दवंश को शैशुनाग-वंश की ही एक शाखा मान सकते हैं। पर शूद्र माता के कारण महापद्मनन्द को पुराणों में भला-बुरा कहा गया है और खेद प्रकट किया गया है कि उसके आरोहण से क्षत्रिय राजाओं का नाश हो गया और नीच शूद्रों का शासन प्रारम्भ हुआ। नन्दवंश में शायद नौ राजा हुए। इन्होंने मगध का प्रभाव और भी बढ़ाया और बहुत-सा रुपया खज़ाने में जमा किया।

नन्दवंश

अन्तिम नन्द राजा के समय में अर्थात् ई० पू० ३२५ में मेसीडोनिया के राजा एलेक्जैंडर ने जिसे सिकन्दर भी कहते हैं, सारा पच्छिम एशिया जीतने के बाद हिन्दुस्तान पर हमला किया। मगध के बारे में सिकन्दर को समाचार मिला था कि राजा के पास २ लाख पैदल, २० हजार घुड़सवार, ४००० या ३००० हाथी और २००० रथ थे। इससे मगध की शक्ति का पता लग सकता है।[1]

आगे की घटनाओं को समझने के लिये हिन्दुस्तान की उत्तर-पच्छिमी सरहद और पञ्जाब पर एक नजर डालना जरूरी है। इ० पू० पाँचवीं सदी में ईरान के शाहंशाह ने सिन्ध के पच्छिम का भारतीय प्रदेश अपने विशाल साम्राज्य में मिला लिया, पर हेरोडोटस और जेनोफ़न से जान पड़ता है कि इस भाग में पुराने हिन्दू राजा बने रहे; केवल ईरान को कर देते रहे।[2] कुछ भी हो, हिन्दुस्तान का यह हिस्सा ईरानी साम्राज्य का बीसवाँ सूबा कहलाता था; धन-धान्य में सबसे बढ़कर था और सबसे ज्यादा कर देता था। जब शाहंशाह ज़र्क्सीज़ ने ग्रीस पर हमला किया तब कुछ हिन्दू तीरन्दाज भी उसके साथ थे। जान पड़ता है कि कुछ बरसों के बाद हिन्दू प्रान्त स्वतन्त्र हो गया। ई० पू० ३२७-२५ में मेसीडोनिया के राजा सिकन्दर ने तमाम पच्छिम-एशिया विजय करने के बाद घमासान लड़ाइयाँ कर के कुछ दिनों के लिये पञ्जाब और सिन्ध अपने साम्राज्य में मिला लिये। उसने भी बहुत-से हिन्दू राजा अपनी अधीनता में बनाये रक्खे। उसके साथ के कम-से-कम १९ लेखकों की बची हुई रचनाओं से जान पड़ता है कि सिन्ध और पञ्जाब में भी

उत्तर-पच्छिम

ईरानी अधिकार

सिकन्दर

---

[1] इस सारे इतिहास के लिये देखिये, विंसेण्ट ए० स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' (चौथा संस्करण) पृ० २८-४४ और वह पुस्तक तथा लेख जिनका हवाला स्मिथ ने दिया है।[2] हेरोडोटस, 'हिस्ट्री' (अनु० रालिन्सन) भाग २, पृ० ४०३ ॥ भाग ४, पृ० १७७, २०७ ॥ जेनोफ़न-'साइक्लोपीडीया,' ६ । २ । २-११ ॥

बहुत-से प्रजातन्त्र थे, जिनमें कहीं थोड़े और कहीं बहुत आदमी शासन करते थे, जहाँ वीरता पर सबसे ज्यादा जोर दिया जाता था, जहाँ हज़ारों पैदल, घुड़सवार और रथों की सेनाएँ रक्खी जाती थीं और कभी दो या अनेक राज्यों में संघ भी बन जाते थे। किसी-किसी राज्य में ब्राह्मण का बड़ा प्रभाव था और वह विदेशियों का वीरता से सामना करने की प्रेरणा जनता को करते थे।[1] शूरता और स्वातन्त्र-प्रेम इन हिन्दुओं के प्रधान लक्षण थे। देश की रक्षा के लिये हजारों आदमी प्राण देने को सदा तैयार रहते थे। ग्रीक लेखकों ने लिखा है कि यहाँ पर नगर राज्य थे, पर इस विषय में शायद वह केवल अपने विचित्र राजनैतिक अनुभव से काम ले रहे थे। एक राज्य के विषय में यह भी लिखा है कि यहाँ पैदा होते ही सब बच्चों का निरीक्षण राज कर्मचारो करते थे। जो बच्चे कमजोर होते थे वह उसी समय मार डाले जाते थे, क्योंकि राज्य को केवल हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों की ही आवश्यकता थी। यह ग्रीक लेखक अपने स्पोर्टा नगर के नियमों की कल्पना हिन्दुस्तान के विषय में कर रहे हैं। किसी भी हिन्दू ग्रन्थ या शिलालेख से ज़रा भी अनुमान नहीं होता कि किसी भी प्रदेश या युग में कमजोर बच्चों के बध की प्रथा थी।

प्रजातन्त्र

सिकन्दर की सेना कई बरस से देश-देशान्तर में युद्ध करती रही थी। जब घर के लिये उत्सुक थके-माँदे सिपाहियों ने मगध की महाशक्ति का हाल सुनकर आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया तब सिकन्दर को लाचार पीछे लौटना पड़ा। हिन्दुस्तानी विजित प्रान्तों की रक्षा और शासन भार अपने अधीन हिन्दू राजाओं को और ग्रीक सेनापतियों को

सिकन्दर के बाद

---

[1] एरियन, ५। २१, २५, १-२, १४ ॥ ६ ॥ २६ स्ट्राबो, १५। ३०, ३४ ३७ ॥ डायोडोरस, १७। ६१, १०४, ६६ ॥ ३। ३८, ३६ कर्टियस ६। ८ मेक्क्रिण्डल, 'एलेक्जैण्डर्स इवेज़न ऑफ़ इण्डिया, पृ० ११३-१४, २८०, २१६, ४०, ७६, ८१, २८५, २८२, २३४ ॥ मैक्क्रिण्ड्ल, 'इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन,' पृ० १४७, १५६, १६४-६५, २००-२०२, ६८ मेक्-क्रिण्डल, 'इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर,' पृ० १०८, १५१

छोड़कर सिकन्दर ने हिन्दुस्तान से बिदा ली। घर पहुँचने के पहिले ही वह बैबिलन में मर गया। पर शायद उसके मरने के पहिले ही हिन्दुस्तान में गड़-बड़ शुरू हो गई थी। ग्रीकशासन बालू की नींव पर खड़ा था। हिन्दुओं ने दो-तीन बरस में ही उसका नामनिशान मिटा दिया। किसी हिन्दू ग्रन्थ या शिलालेख में सिकन्दर के आक्रमण का जरा-सा भी उल्लेख नहीं।

चन्द्रगुप्त मौर्य

स्वातन्त्र्य-युद्ध का नेता था चन्द्रगुप्त मौर्य जो मगध के नन्द राजवंश में पैदा हुआ था, पर शायद किसी विवाहिता रानी से न था। कई बरस पहिले वह अत्याचारी नन्द राजा की नाराजी के कारण मगध से भागकर उत्तर-पच्छिम में आया था। वह सिकन्दर से मिला था और ग्रीक दाँव-पेचों को अच्छी तरह पहिचान गया था। बहुत से राजाओं और सिपाहियों को जमा कर के उसने ग्रीक लोगों को हिन्दुस्तान से निकाल दिया। इस बीच में उसे मगध के सिंहासन पर अधिकार करने का भी अवसर मिल गया था। अन्तिम नन्द राजा के कुचरित्र और निर्दयता ने एक विद्रोह उभाड़ दिया था। जो गड़बड़ शुरू हुई उसमें चन्द्रगुप्त ई० पू० ३२२ के लगभग मगध का अथवा यों कहना चाहिये उत्तर-भारत का सम्राट बन बैठा। इस प्रकार मौर्य-साम्राज्य का प्रारम्भ हुआ।

जातक

लगभग ई० पू० ६४२ से लगभग ई० पू० ३२२ तक राजनैतिक इतिहास का ऐसा क्रम रहा। इस युग के धर्म और राजनैतिक सङ्गठन के बारे में दो-चार बातें ऊपर आ गई हैं। शासन और समाज इत्यादि के बारे में और बातें उन बौद्धग्रन्थों से मालूम होती हैं जिनमें पुरानी परम्परा आज तक सुरक्षित है। सबसे उपयोगी जातक हैं जो खुद्दकनिकाय के भाग हैं और जिनमें, जैसा कि नाम से प्रकट है, गौतमबुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएँ हैं। पूर्वजन्म के बुद्ध को बोधिसत्त्व कहते थे। प्रत्येक जातक में एक बोधिसत्त्व का वृत्तान्त है; बोधिसत्व कभी मनुष्य के शरीर में है, कभी पशु के शरीर में, कभी ब्राह्मण है, कभी क्षत्रिय और कभी वैश्य। संख्या में ५४७ जातक हैं पर कोई बहुत छोटे हैं, कोई बहुत बड़े हैं। जातकों का क्रम वैज्ञानिक नहीं है, केवल गाथाओं की संख्या के अनुसार है, जिन जातकों के बीच में

केवल एक गाथा आई है वह पहिले भाग में रख दिये हैं, जिनमें दो गाथाएँ हैं, वह दूसरे भाग में हैं, इस तरह बीस से भी अधिक भाग हैं। बौद्धग्रन्थ होते हुए भी जातकों की परिस्थिति बहुत-कुछ ब्राह्मण समय की-सी है अर्थात् उल्लिखित धार्मिक विश्वास और समाज सङ्गठन बहुत कर के ब्राह्मण विधान के आधार पर है। इससे र्हिज़ डेविड्स और ओल्डनबर्ग आदि अर्वाचीन विद्वानों की धारणा हुई थी कि जातकों का वास्तविक समय बुद्ध के पहिले अर्थात् ई० पू० सातवीं छठवीं सदी में मानना चाहिये। इसी धारणा के अनुसार

जातकों का समय रिचर्ड फ़िक ने उत्तर-पूर्व भारत के ई० पू० सातवीं सदी के सामाजिक सङ्गठन का चित्र जातकों के आधार पर बनाया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जातकों में कुछ सामग्री इतनी पुरानी अवश्य है, पर बहुत-सी पीछे की घटनाओं का भी उल्लेख है। भाषा से तो प्रतीत होता है कि जातकों ने अपना वर्त्तमान रूप ई० पू० सातवीं क्या, ई० पू० तीसरी सदी में भी नहीं ग्रहण किया था। बात यह है कि सब जातक एक समय में नहीं बने थे और न उनका एक ही संस्करण हुआ था। स्वभावतः जनता में कथाएँ बहुत प्राचीन समय से प्रचलित थीं। और बातों की तरह कथाएँ भी बदलती रहती हैं, नये रूप धारण करती रहती हैं। बौद्ध लेखकों ने बहुत-सी पुरानी और शायद कुछ नई कथाओं में बोधिसत्त्व का प्रवेश कर दिया, भाषा सुधार दी, कुछ गाथाएँ भी रख दीं। इस तरह जातक बने। कथाओं की उत्पत्ति के स्थान भी अनेक थे, कोई मगध में बनी थी, कोई बनारस के पास, कोई और पच्छिम में। इस प्रकार जातकों में जो सामग्री है, वह कई शताब्दियों से और अनेक स्थानों से सम्बन्ध रखती है। उसकी संस्थाओं के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि वह इस काल के भीतर किसी न किसी प्रदेश में प्रचलित थीं। इस काल में बौद्ध और ब्राह्मण विचारों का

स्थान

सङ्घर्षण हो रहा था। यह बात सामाजिक संस्थाओं की समीक्षा से अच्छी तरह मालूम होती है। बौद्धधर्म के मूल-सिद्धान्त जातिपाँत के प्रतिकूल थे, पर वर्ण-व्यवस्था की जड़ इतनी गहरी थी कि उखड़ न सकी। तो भी बौद्धों ने बन्धन कुछ ढीले कर दिये और विचारों में कुछ परिवर्तन कर दिया। जब यज्ञ और पूजा-पाठ का महत्त्व कम हुआ तब

ब्राह्मणों की सत्ता में भी फर्क आ गया। निर्वाण के लिये जाति-भेद निरर्थक था; कोई भी पुरुष भिक्षु हो सकता था, कोई भी स्त्री भिक्षुणी हो सकती थी। संघ में सब बराबर थे। लौकिक जीवन में चरित्र पर ज्यादा जोर दिया जाता था। जैसा कि मिलिन्दपन्हों में बुद्ध से कहलाया है, ब्राह्मण जन्म से नहीं होता। ब्राह्मण वह है जिसका मन ऊँचा है, हृदय पवित्र है, चरित्र शुद्ध है, आत्मा में संयम और धर्म है।[1]

वर्णव्यवस्था

बौद्ध-साहित्य में अनेक स्थानों पर जन्म की अपेक्षा गुण और कर्म को प्रधान माना गया है। जीवन के सबसे ऊँचे ध्येय निर्वाण के लिये जात-पांत के भेद को निरर्थक बताया गया है। मोक्ष पाने में कुलीनता से कोई सहायता नहीं मिलती, नीचे कुल में पैदा होने से कोई वाधा नहीं होती। अपने कर्मों से ही शान्ति और परम सुख की प्राप्ति हो सकती है। वर्ण पर जोर देने से क्या लाभ है?[2] साधारण जीवन में भी गुण और कर्म प्रधान हैं। एक जगह सुत्तनिपात में इस विषय पर भारद्वाज और वसिष्ठ में बड़ा विवाद हुआ है। भारद्वाज कहते हैं कि ब्राह्मण, जन्म की शुद्धता से होता है अर्थात् शुद्ध ब्राह्मण-कुल में जिसका जन्म हुआ है वह ब्राह्मण है, ऊँचा है और आदर का पात्र है, अन्य किसी प्रकार से ब्राह्मणत्व नहीं मिल सकता है। वसिष्ठ कहते हैं नहीं, जन्म से कुछ नहीं होता, धर्म और चरित्र ही प्रधान हैं अर्थात् जो धर्मात्मा और सच्चरित्र है, वह चाहे जिस कुल में पैदा हुआ हो, ब्राह्मण कहलाने के योग्य है और आदर-सम्मान का पात्र है। आपस में जब वह विवाद का निर्णय न कर सके तब गौतम बुद्ध के पास गये। दोनों की दलीलें सुनकर बुद्ध ने कहा कि ज्ञान, चरित्र, मृदुता, धर्म इत्यादि ही ब्राह्मण के लक्षण हैं।[3] कई एक जातकों में भी बोधिसत्व की कथाओं से यह नतीजा निकलता है कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य शूद्र, चण्डाल, पुक्कुस आदि सब भेद निरर्थक हैं। बनारस के एक राजा का

गुण और कर्म

ऊँचे पद की कसौटी

---

[1] मिलिन्द० ४। ५। २५-२६ ॥ [2] मज्झिम० ९०, मधुर० अस्स० करण० ८४ ॥ [3] सुत्त, ११५। ९८ ॥

पुरोहित आप ही परीक्षा करके सोचता है कि जन्म और वर्ण से केवल अभिमान बढ़ता है, इनसे तो ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से भी धर्म श्रेष्ठ है, जो-जो धर्मात्मा हैं वह सब परलोक में बराबर होंगे।[१] अब जातक में कहा है कि सब जातियों में वही आदमी सबसे अच्छा है जिससे धर्म सीखा जा सकता है।[२] तित्तिरजातक में बुद्ध भिक्खुओं से पूछते हैं कि सबसे अच्छे स्थान, पानी और भोजन का अधिकारी कौन है ? कुछ भिक्खुओं ने उत्तर दिया कि वह जो भिक्खु होने के पहिले क्षत्रिय था। औरों ने कहा कि नहीं, वह जो पहिले ब्राह्मण या गहपति था। पर बुद्ध ने कहा कि इस मामले में जाति-पाँत का भेद बिल्कुल निरर्थक है।[३] बौद्ध-साहित्य में एक और मनोरञ्जक बात है। यहाँ वर्णों की गिनती में सदा क्षत्रियों का नाम पहिले आया है और उसके बाद ब्राह्मणों का; अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय ब्राह्मण से ऊँचे हैं। दीर्घनिकाय और निदान कथा में तो साफ़-साफ़ कहा है कि क्षत्रियों का पद ब्राह्मणों से ऊँचा है।[४] इसी बात को ललितविस्तर जो आगामी काल का एक विशाल मिश्रित-संस्कृत में ग्रन्थ है और जिसमें गौतम बुद्ध का जीवन काव्य रूप में वर्णन किया है, और तरह से कहता है। यहाँ कथन है, बोधिसत्त्व कभी हीन कुलों में जैसे रथकार, चण्डाल, पुक्कुस आदि के कुलों में जन्म नहीं लेता; बोधिसत्त्व सदा ऊँचे कुल में पैदा होता है; जब ब्राह्मणों का विशेष आदर होता हैं तब वह ब्राह्मण शरीर धारण करता है, जब क्षत्रियों का क्षिशेष आदर रहता है तब वह क्षत्रिय होकर प्रकट होता है।[५] इन कथनों से दो निष्कर्ष निकलते हैं—एक तो यह कि गुण-कर्म की चर्चा होते हुए भी कुल का विचार बौद्धों में था। बुद्ध का निर्णय कुछ भी रहा हो, पर उसके अनुयायी कुल की उच्चता और नीचता के विचारों से न बच सके; दूसरा निष्कर्ष यह है कि

क्षत्रियों की प्रधानता

---

[१]जातक १। २१७ ॥ ३। १९४ ॥ जातकों के उल्लेख फ़ासबाल द्वारा सम्पादित संस्करण में हैं जो ६ भागों में प्रकाशित हुआ था। प्रत्येक जातक का अलग-अलग नाम भी है। [२] अम्बा० ४। २०५ ॥ [३]तित्तिर० १। २१७ ॥ [४]दीघ० ३। १। २४ ॥ २६ ॥ निदान० १। ४९ ॥ [५]ललित० ३ ॥

इस समय क्षत्रियों की पदवी ब्राह्मणों से बहुधा ऊँची हो गई थी। ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव घट गया था, बुद्ध इत्यादि ने क्षत्रिय-कुल को विभूषित किया था, क्षत्रियों के पास राजनैतिक अधिकार था और विद्या का बल भी था। उनकी प्रतिष्ठा सदा ही रही। इस काल में उनकी प्रधानता हो गई। जैन-ग्रन्थों से भी यही निष्कर्ष निकलता है। भद्रबाहु स्वामी के कल्पसूत्र में ब्राह्मणों की गिनती नीच कुलों में की गई है। तीर्थङ्कर कभी ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं ले सकते। चौबीसों तीर्थङ्कर क्षत्रिय थे। तीर्थङ्करों के अलावा जैन बहुत से चक्रवर्ती, बलदेव और वसुदेव भी मानते हैं और उनको महापुरुष समझते हैं। यह भी ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं ले सकते। २४वें तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर के जन्म के विषय में एक कथा है जो कुल सम्बन्धी जैन विश्वासों पर बहुत प्रकाश डालती है। महावीर स्वामी एक ब्राह्मणी के गर्भ में आ गये; यह देखकर देवताओं का राजा इन्द्र बहुत घबड़ाया। कभी किसी शलाकापुरुष ने ब्राह्मण-कुल में जन्म नहीं लिया था; २४वें तीर्थङ्कर क्षत्रिय न होकर ब्राह्मण हों यह कैसे हो सकता था? अतएव इन्द्र ने महावीर को ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्रिय त्रिशला के गर्भ में पहुँचा दिया।[1] यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू समाज में सहनशीलता होते हुए भी बौद्ध और जैन-लेखकों को ब्राह्मणों से थोड़ा वैमनस्य था। अनेक जातकों में कथा का ऐसा क्रम है कि कोई-न-कोई ब्राह्मण मूर्ख या पाजी साबित[2] होता है। बौद्धग्रन्थ तेविज्जसुत्त कहता है कि ब्राह्मण बड़े आलसी, स्वार्थी, घमण्डी, द्वेषी और कामी होते हैं। पर इस वैमनस्य की गणना करने के बाद भी नतीजा यही निकलता है कि ब्राह्मणों के आसन हिल गये थे और सामाजिक प्रधानता क्षत्रियों की हो गई थी। तथापि वर्णभेद मिटा नहीं था।

जैनसाक्षी

महावीर का जन्म

निष्कर्ष

बौद्ध-ग्रन्थों से सामाजिक व्यवहार का थोड़ा-सा पता लगता है। जान पड़ता

---

[1] कल्प० १७ ॥ [2] उदाहरणार्थ, सम्भव० ५ । २७ ॥ जुएह० ४ । ६६ ॥ जातक १ । ४२५ ॥ ४ । ४८४ ॥ भी देखिये।

है कि कहीं-कहीं चण्डाल अस्पृश्य गिने जाने लगे थे। वेदों में अस्पृश्यता का उल्लेख कहीं नहीं है, ब्राह्मणों में भी नहीं है। पर शायद उस समय

अस्पृश्यता

चण्डाल समाज के बाहर रहते थे। जब वह भीतर रहने लगे और वर्णों के नियम भी अधिक कड़े हो गये तो कहीं चण्डालों को अस्पृश्य माना गया। चित्तसम्भूतजातक में कथा है कि दो अमीर लड़कियाँ एक यात्रा में दो चण्डालों को देखते ही वापिस लौट गईं। लोग चण्डालों से बहुत नाराज़ हुए क्योंकि यात्रा समाप्त होने पर उनको लड़कियों से बहुत-से खानपान की आशा थी। बेचारे चण्डाल बेतरह पीटे गये।[1] इस सामाजिक

चण्डाल

अपमान और अत्याचार से बचने के लिये उन्होंने ब्राह्मण का भेष बनाया और तक्षशिला के महान् विश्वविद्यालय में पढ़ने गये। पर यहाँ भी अभाग्यवश उनके जन्म का पता लग गया। बेचारे फिर बहुत पीटे गये। ऐसी ही एक और कथा है।[2] अतः यह सिद्ध है कि अब कम-से-कम कुछ स्थानों में चण्डाल अस्पृश्य माने जाते थे और उनका बड़ा निरादर होता था पर सब जगह यह बात न थी। एक जातक कथा है कि एक राजा ऊँचे आसन पर बैठा हुआ पुरोहित से पाठ पढ़ रहा था। एक चण्डाल ने राजा को समझाया कि गुरु की अपेक्षा ऊँचे स्थान पर बैठना अनुचित है। राजा प्रसन्न हुआ और उसने चण्डाल को नगरगुत्तिक अर्थात् नगर का रक्षक नियत किया।[3] इस सम्बन्ध में बुद्ध के प्रधान शिष्य की एक कथा दिव्यावदान में है। एक बार यात्रा करते-करते आनन्द थक गया और उसे बहुत प्यास लगी। कुए के पास प्रकृति नामक एक लड़की को खड़ा देखकर वह बोला, "बहिन, मुझे पीने को पानी दो"। प्रकृति बोली, "मैं चण्डाल हूँ" आनन्द ने जवाब दिया, "बहिन, मैं तुमसे कुल-जाति नहीं पूछ रहा हूँ। अगर तुम्हारे पास कुछ पानी बचा है तो मुझे दे दो, मैं पीऊँगा"। यहाँ प्रकृति के कथन से स्पष्ट है कि बहुत से लोगों को चण्डाल के हाथ पानी पीने में आपत्ति थी, पर आनन्द के उत्तर से यह भी स्पष्ट है कि कुछ लोगों को

---

[1]जातक ४ । ३६१-६२ ॥ [2]जातक ४ । ३७८ ॥ जातक ४ । ३८८ भी-देखिये । [3]जातक ३ । २७ ॥

यह सब प्रतिबन्ध निरे ढोंग मालूम होते थे और वह उनकी ज़रा भी पर्वाह नहीं करते थे। अस्पृश्यता के इस भाव को बौद्ध-धर्म ने कुछ दबाए रक्खा, पर जब बौद्ध-धर्म का ह्रास हुआ तब यह भाव बहुत प्रबल हो गया। धर्मशास्त्रों में यह बढ़ रहा है, जैनों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। तब से आज तक अस्पृश्यता हिन्दू समाज में चली आती है।

खान-पान

खानपान के कुछ प्रतिबन्ध भी अब प्रारम्भ होते हैं। एक जातक में एक क्षत्रिय, दासी से उत्पन्न अपनी ही कन्या के साथ खाने से इन्कार करता है। इस बात पर बहस होती है कि क्षत्रिय की नीचे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न होनेवाली सन्तान क्षत्रिय मानी जाय या नहीं। जान पड़ता है कि कुछ लोगों की सम्मति के अनुसार माता की जाति से कुछ प्रयोजन नहीं, पिता की जाति के अनुसार सन्तान की जाति है।[१] अन्यत्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों के साथ भोजन करने के उदाहरण हैं।[२] खान-पान के भेद भी बौद्ध-धर्म से कुछ दबे रहे और उसके ह्रास के बाद प्रबल हो गये।

ब्याह

ब्याह के मामले में वर्ण का विचार साधारणतः अवश्य होता था। एक जातक में एक राजकुमारी पेड़ पर बैठी है। एक तपस्वी आकर उससे उतरने को कहता है और ब्याह का प्रस्ताव करता है। राजकुमारी उतरने से इन्कार करती है। पर जब तपस्वी उसे अच्छी तरह विश्वास दिलाता है और साबित करता है कि मैं भी क्षत्रिय हूँ और राजकुमार हूँ तब वह उतर आती है।[३] इसके विपरीत एक राजा अपनी कन्या का ब्याह एक ब्राह्मण तपस्वी से करने का प्रस्ताव करता है[४]। एक और जातक में एक राजा लकड़िहारिन से ब्याह करता है, उसे अग्गमहिषी अर्थात् प्रधान रानी बनाता है और फिर उसके पुत्र को युवराज नियत करता है।[५] अनुलोम नियम के प्रतिकूल क्षत्रिय भी-कभी-कभी ब्राह्मण-कन्याओं से ब्याह करते थे। दीघनिकाय अम्बट्ठसुत्त में क्षत्रियों की ऊँची पदवी बताते हुए कहा है कि

---

[१]जातक ४। १४४॥ [२]जातक २। ३१९-२०॥ [३]जातक ४। २३१॥ [४]जातक ३। ५१७॥ [५]जातक १। १३४॥

जाति से निकाले हुए क्षत्रिय भी ब्राह्मण-कन्या ब्याहने के योग्य समझे जाते थे। आगामी लेखक बुद्धघोष की धम्मपदटीका में एक पुरानी कथा है कि एक ब्राह्मण अपनी लड़की का ब्याह (क्षत्रिय) गौतम बुद्ध से करना चाहता था।[1] जातकों से यह निष्कर्ष निकलता है कि साधारणतः ब्याह वर्ण के भीतर ही होता था, पर कभी कभी बाहर भी हो जाता था। बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद यहाँ भी अधिक कठोरता आ गई और ब्याह का क्षेत्र बिल्कुल सङ्कुचित होकर उपजाति की सीमा के भीतर ही रह गया।

व्यवसाय

व्यवसाय के मामले में वर्ण-व्यवस्था का पालन बहुत-कम होता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ ब्राह्मण विद्या, धर्म और शिक्षा में ही मग्न रहते थे। बड़े-बड़े ब्राह्मण गुरु थे जिनके पाँच-पाँच सौ शिष्य थे और जो फ़ीस लेकर या बिना फ़ीस के ही शिक्षा देते थे।[2] बहुत से ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित थे[3]। पर कुछ ब्राह्मण संसार के और भी सब काम करते थे। कोई-कोई तो राजा बन बैठते थे।

ब्राह्मण

पदकुसलमाणवजातक में एक राजा और पुरोहित की चोरी और कपट की ओर एक ब्राह्मण, प्रजा का ध्यान आकर्षित करता है। इस पर हलचल और विद्रोह होता है और राजा और पुरोहित डण्डों की मार से मार डाले जाते हैं। प्रजा विद्रोह के नेता ब्राह्मण को ही राजा बना देती है।[4] इसी तरह सच्चकिरजातक में क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा और लोग मिलकर एक राजा को निकालते हैं और उसके बाद एक ब्राह्मण का

---

[1] अम्बट्ठ०, दीघ० ३ ॥ [2] बुद्धघोष, धम्मपदटीका, १४। १ ॥ [3] जातक १ । १६६, २३६, २६६, ३१७, ४०२, ४३६ ॥ २ । १३७, २६०, ४२१ ॥ ३ । २१५ ॥ इत्यादि-इत्यादि देखिये ॥ [4] सामान्यतः जातक के सब भागों में इसके उदाहरण मिलेंगे। विशेष कर देखिये १ । २८६, ४३७ ॥ २ । ४७, २८२, ३७६, ४३७ ॥ ३ । ३१, ३१७, ३६२, ४१७, ४५५ ॥ ४ । २००, २७० ॥ ५ । १२७ ॥ ६ । ३३० ॥

राज्याभिषेक करते हैं ।[1] बहुत से ब्राह्मण बड़े ज़मीन्दार थे,[2] बहुत से सौदागर थे ।[3] जातकों से और सुत्तनिपात से भी जान पड़ता है कि जमीन्दारी या व्यापार के द्वारा या और किसी उपाय से अनेक ब्राह्मण लखपती-करोड़पती हो गये थे ।[4] बहुतेरे ब्राह्मण साधारण व्यवसाय करते थे जो वर्ण-व्यवस्था के कट्टर नियमों के अनुसार दूसरे वर्णवालों के लिये ही थे । अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख है जो खेती करते थे,[5] या तीरन्दाज थे,[6] या शिकारी या मछुए थे,[7] या पहिये बनाते थे,[8] या ऐसे ही और किसी व्यवसाय से निर्वाह करते थे ।

क्षत्रिय इत्यादि

क्षत्रियों की भी ऐसी ही दशा थी । उनमें एक छोटा-सा राजन्य-वर्ग था जो बहुधा शासन करता था । इस वर्ग के लोग अपने को सबसे ऊँचा समझते थे । उदाहरणार्थ; एक राजा पुरोहित के लड़के को हीनजच्च अर्थात् नीचे जन्म का कह के पुकारता है ।[9] पर कभी-कभी यह राजन्य और बाकी क्षत्रिय साधारणतः सभी व्यवसाय करते थे । कोई-कोई तिजारत करते थे, कोई-कोई साधारण नौकरी करते थे ।[10] वैश्य भी सब व्यवसाय करते थे । जातकों में बहुधा उनको गहपति कहा गया है । व्यवसाय के मामले में वर्ण के नियम पुस्तकों में ही रहते थे; व्यवहार में बहुत नहीं माने जाते थे । यह अवस्था बराबर ऐसी ही बनी रही । बौद्ध-धर्म के ह्रास के बाद भी परिवर्तन नहीं हुआ । धर्मशास्त्र व्यर्थ ही राजाओं से वर्ण-धर्म चलाने की प्रेरणा करते रहे । पेट के सवाल के सामने वर्ण-व्यवस्था चुपचाप खड़ी रह गई ।

आश्रम-व्यवस्था भी मुख्यतः पुस्तकों की ही व्यवस्था रही है । जातकों के समय में भी इसके सिद्धान्त में विश्वास किया जाता था,[11] पर बहुत से बालक

---

[1]जातक ३ । ५१३ ॥ [2]जातक १ ॥ ३२६ ॥ [3]जातक ३ । २६३ ॥ ४ । २७६ ॥ [4]जातक ४, ७ । १५ ॥ ५ । २२, ४७१ ॥ [5]जातक २ । २७२ ॥ ३ । ३६ ॥ ५ । २२७ ॥ ६ । १५, २२, २८, २३७; ३२५ ॥ सुत्त० ३५ । व सेष्ठ० ॥ [6]जातक २ । १६५ ॥ ३ । १६३ ॥ ५ । ६८ ॥ [7]जातक, ५ । १२७ ॥ [8]जातक २ । २०० ॥ ६ । १७० ॥ [9]जातक, ४ । २०७ ॥ [10]जातक ५ । २५७ ॥ [11]जातक २ । ८७ ॥ ४ । ८४, १६६ ॥

तो कभी गुरु के यहाँ पढ़ने ही न जाते थे। और न सब गृहस्थ समय आने पर वानप्रस्थ बनते थे। बौद्ध और जैन-धर्मों ने संन्यासी की प्रवृत्ति अवश्य बढ़ा दी थी पर इसमें भी आश्रम के पूर्वापरि नियम का पालन बहुधा नहीं होता था। जातकों में अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख है जो जवान होते ही संन्यासी हो गये।[२] अनेक ब्रह्मचारी थे जो अध्ययन समाप्त करते ही वन को चले गये।[३] आश्रम-व्यवस्था के अनुसार उनको पहिले गृहस्थ होना चाहिये था, फिर वानप्रस्थ और उसके बाद संन्यासी। एक जातक में ब्राह्मण माँ-बाप अपने १६ बरस के लड़के से कहते हैं, "बेटा! तुम्हारे जन्म दिन पर जन्माग्नि से उत्सव मनाया था। अब क्या कहते हो? अगर गृहस्थ होना चाहते हो तो तीनों वेद पढ़ लो, अगर ब्रह्मलोक पहुँचना चाहते हो, तो अपनी अग्नि लेकर बन को चले जाओ जिसमें महाब्रह्म का प्रसाद पाओ और ब्रह्मलोक पहुँच जाओ।" यह सुनकर लड़का बन को चला गया।[४] एक और भी ऐसी ही कथा है।[५] यह सब कार्यवाही आश्रम-व्यवस्था के नियमों के अनुकूल नहीं थी। कहीं-कहीं लोग तीसरे आश्रम को लाँघकर सीधे चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर जाते हैं।[६] अन्यत्र पुत्र की उत्पत्ति मानों बन जाने का परवाना है।[७] कभी-कभी विपत्ति आने पर लोग अपना दुःख भुलाने को बन की शरण लेते थे। कथा है कि शिकारियों के एक मुखिया के लड़के का ब्याह दूसरे मुखिया की लड़की से कर दिया गया। पर दूलह और दुलहिन दोनों ही अपने इस ब्याह के प्रतिकूल थे। ब्याह के बाद ही दोनों संन्यासी

आश्रम

संन्यास

---

[१]जातक २। ८५, ३६४ ॥ ३। १४७, ३५२ ॥ [२]जातक १। ३३३, ३४३, ३६१, ३७३, ४५० ॥ २। १३१, २३२, २५७, २६२ ॥ ३। ११० ॥ ४। ३२५ ॥ [३]जातक २। ५३, ५६, ७२, ८५ ॥ ३। ६४, ७६, ११०, ११६, २२८, २४६, ३०८ ॥ ५। १५२, १६३ ॥ [४]जातक १। ४६४ ॥ [५]जातक २। ४३ ॥ [६]जातक २। ४१, १४५, २६६, ४३७ ॥ ३। ४५ ॥ [७]जातक ३। ३००-३०१ ॥ ४। २२० ॥

हो गये।[1] एक ब्राह्मण अपने माँ-बाप के मरने पर संसार त्याग देता है।[2] दूसरा अपनी स्त्री के मरने पर संन्यासी हो जाता है।[3] कोई-कोई स्त्री भी संसार से खिन्न हो कर भिक्खुनी बन जाती थीं।[4] इसके विपरीत कोई-कोई अत्यन्त वैभव और ऐश्वर्य के समय ही विरक्त होकर बन को सिधार जाते थे। एक राजकुमार ठीक राज्याभिषेक के समय पर संन्यासी हो गया।[5] अन्यत्र दो राजकुमार संसार छोड़ना चाहते हैं, माता-पिता उन्हें बहुत समझाते हैं, पर नवयुवक संन्यास पर तुले हैं और बन को चले जाते हैं।[6] राज्य-वैभव छोड़कर संन्यासी होने के और भी उदाहरण जातकों में हैं।[7] संसार त्यागने से सदा सांसारिक भावनाएँ न छूटती थीं। जातकों से पता चलता है कि संसार-त्यागी अकेले न रहते थे। परिव्राजकों की सुसङ्गठित मण्डलियाँ थीं।[8] बौद्ध और जैन संघों की व्यवस्था के उल्लेख से सिद्ध होता कि कोई संन्यासी बड़े पाखण्डी होते थे।[9] जैसा पहले ही कह चुके हैं,[10] और सम्प्रदाय वालों ने भी कुछ-कुछ उसी तरह के संघ बनाये थे। वर्ण और आश्रम के अलावा सामाजिक जीवन के और अङ्गों के बारे में भी कुछ बातें साहित्य से मालूम होती हैं। मल्ल, लिच्छवि इत्यादि में समाज का सङ्गठन कुल के आधार पर मालूम होता है, अर्थात् एक कुल के आदमी अपने-अपने कुलपति की अधीनता में रहते थे; सब बातें कुल के नियम के अनुसार तय होती थीं। इनका बाकी जीवन और लोगों का-सा ही था।

परिव्राजक

कुल

स्त्रियों का पद लगभग वैसा ही मालूम होता है जैसा कि पिछले अध्यायों में लिख चुके हैं। संन्यास के कारण ग्रन्थों में स्त्रियों की निन्दा बढ़ गई है। उनके

---

[1]जातक ४। ७२॥ [2]जातक २। ३१४॥ २। ४११ भी देखिये। [3]जातक ३। १४७॥ [4]जातक १। १४६॥ ३। ६४॥ [5]जातक ४। ४६२॥ [6]जातक ४। १२१-२२॥ [7]जातक ३। ३१। [8]जातक ४। २४-२५॥ [9]मज्झिम० २। १। महा०सुत्त ७७॥ मज्झिम० २। २२। समण ७८॥ [10]देखिये, सातवाँ अध्याय।

सम्बन्ध में जातकों में अनेक बार बहुत से अपशब्द प्रयोग किये हैं—कहा है कि स्त्रियाँ चञ्चल होती हैं, दुराचारी होती हैं, पापी होती हैं।[1]

स्त्रियों का पद

जैनआचाराङ्गसूत्र, कहा जाता है कि पुरुष स्त्रियों को सुख का साधन समझते हैं पर वास्तव में वह अज्ञान, दुःख, मृत्यु और नरक की द्वार हैं।[2] क्षत्रियों में बहु-विवाह की प्रथा बढ़ गई थी और इसमें भी स्त्रियों का पद गिर रहा था।[3] बुद्धघोष से भी प्रकट है कि कभी-कभी सौतों में बड़े झगड़े होते थे और खून तक हो जाता था। बहुविवाह की प्रथा इतनी अस्वाभाविक[4] है कि सौतों के झगड़े किसी तरह रुक ही नहीं सकते। पर इन झगड़ों से स्त्रियाँ झगड़ालू मालूम होती हैं, आदर खो बैठती हैं। अगर बौद्ध और जैन-धर्म ने वर्ण-व्यवस्था के नियम ढीले कर दिये थे तो स्त्रियों को कुछ अधिक स्वतन्त्रता हो गई होगी। कह चुके हैं कि स्वयं गौतम बुद्ध स्त्रियों को भिक्खुनी बनाने के प्रतिकूल थे, पर आनन्द के कहने पर वह मान गये थे। आज तक बौद्ध-स्त्रियाँ आनन्द की पूजा करती हैं और कृतज्ञता प्रकाश करती हैं कि उसने उनके लिये आध्यात्मिक जीवन का मार्ग खोला। साधारण जीवन में भी स्त्रियों का पद अभी नीचा नहीं मालूम होता। अशोकावदन और अवदानशतक से सिद्ध है कि अभी पर्दा नहीं शुरू हुआ था। स्त्रियाँ पतियों के साथ उत्सवों में जाती थीं और छोटे-बड़े आदमियों से मिलती थीं।[5] दीघनिकाय में लिखा है कि बुद्ध के निर्वाण का समाचार पाते ही मल्लकुल के स्त्री-पुरुष-बच्चे सब कुशीनगर को गये जहाँ बुद्ध का शव रक्खा था। तम्बू तानकर छः दिन तक

बहुविवाह

पर्दे का अभाव

---

[1]जातक १ । ३००–३०२, ३३८ ॥ २ । १६७ ॥ ३ । २५०, ३४२ ॥ [2]आचा० १ । २ । ४ । ३ ॥ [3]जातक १ । २६२ ॥ २ । १२५-२६, ४०१ ॥ ३ । १३, २१, ६८; १०७-१०८, १६८, ३३७, ४१९ ॥ ४ । ७९, १०५, १२४ १९१, ३१६ ॥ ६ । २२० ॥ [4]बुद्धघोष, धम्मपदटीका, १ । ४ ॥ [5]ललित १२ । पृ० २०२ ॥ राजेन्द्रलाल मित्र; 'नैपालीज़ बुधिष्ट लिटरेचर', 'पृ० २, २५ ॥

बालविवाह का अभाव

वह फूल, माला, सुगन्ध और नाच-गाने से बुद्ध का सम्मान करते रहे। इस यात्रा और सम्मान में स्त्रियाँ भी शामिल थीं।[१] जातकों में ऐसी स्त्रियों के भी उदाहरण हैं जिन्होंने अपने पतियों के मरने पर राज्य को चलाया था।[२] जातकों से यह भी सिद्ध होता है कि ब्याह बहुधा बालपन के बाद होता था और युवक तथा युवती कभी-कभी अपनी इच्छा के अनुसार ही ब्याह करते थे। बुद्ध-घोष की पुरानी कथाओं से भी प्रकट है कि कोई-कोई युवतियाँ अपनी मर्जी से ब्याह करती थीं या नहीं करती थीं।[3] बुद्धघोष ने एक पतोहू की भी कथा लिखी है जिसे स्वामी घर से बाहर निकाले देता था। पर वह कहती थी कि इस तरह आप मुझे घर के बाहिर नहीं कर सकते; कायदे से मेरा मुकदमा होना चाहिये। नतीजा यह हुआ कि वह निर्दोष निकली।[४] जातकों में भी कहा है कि स्त्रियों से नम्रता के साथ बातचीत करनी चाहिये[५]।

शिक्षा

इस युग में शिक्षा का प्रबन्ध पहिले की अपेक्षा अधिक मालूम होता है। गुरुओं के पास बहुत से ब्रह्मचारी पढ़ते थे। बहुत से लोग घर पर ही अपने बालकों को शिक्षा देते थे। इधर-उधर कुछ पाठशालाएँ भी थीं।[६] कुछ बड़े-बड़े विद्यापीठ भी थे,

विद्यापीठ

जिनको विश्वविद्यालय कह सकते हैं, और जिनमें राजाओं के[६], बड़े पुरोहितों के[७] और धनी पुरुषों के[८] लड़के पढ़ते थे; बहुत-से साधारण युवक भी वहाँ पहुँच जाते थे। तक्कशिला या तक्षशिला का उल्लेख बौद्ध और जैनग्रन्थों में बीसों बार आया है। यह नगर

---

[१]दीघ० २। १५६। [२]जातक ४। १०५ ॥ [3]बुद्धघोष, धम्मपदटीका ५। १० ॥ ८। ३ ॥ [४]धम्मपदटीका, ४। ८ ॥ [५]जातक ५। ४२१ ॥ [६]ललित०, १० पृ० १८१ ॥ [७]जातक १। २७३ ॥ २। ३१६, ३२३, ४०० ॥ ३। १५८, १६८, ४१५, ४६३ ॥ ४। ३१५ ॥ ५। १६१ ॥ जातक १। ४६३, ५०५, ५१० ॥ २। ५३, ५६, ८५३। ३६, ६४, १५८, १६४, २१६; २२८, ३४१, ३५२, ४००, ४०३, ४२८, ४६७॥ ४। २२, ७४, २००, २२४॥ ५। २४७, २६३ ॥ [९]जातक ३। ३७५ ॥ ४। ४७५ ॥

भारत के उत्तर-पश्चिम में बसा हुआ था और अनेक शताब्दियों तक ब्राह्मण, बौद्ध और जैन शिक्षा तथा साधारण लौकिक शास्त्रों की शिक्षा का केन्द्र रहा। यहाँ बहुधा विद्यार्थी १६ बरस की अवस्था पर आते थे।[1] निलमुट्ठि जातक कहता है कि अपने नगर में प्रसिद्ध शिक्षकों के रहते हुए भी राजा लोग कुमारों को इतनी दूर तक्षशिला को इसलिये भेजते थे कि कठोर जीवन का अभ्यास हो जाय और संसार का ज्ञान हो जाय। एक राजा ने अपने पुत्र को केवल एक जोड़ा चट्टी, पत्तियों का एक छाता और १००० कहापण देकर तक्षशिला को विदा कर दिया।[2] मार्ग में बहुत से जंगल थे। सबको पार करके राजकुमार तक्षशिला पहुँचा। उसने देखा कि मेरे भविष्य गुरु पाठ पढ़ाकर इधर-उधर टहल रहे हैं। राजकुमार ने उनको देखते ही अपनी चट्टियाँ उतार डालीं, छाता हटा लिया और प्रणाम करता हुआ खड़ा हो गया। गुरु ने उसका स्वागत किया, यात्रा की थकावट दूर कराई और फिर बातचीत शुरू की।

तक्षशिला

राजकुमार और गुरु

गुरु—तुम कहाँ से आ रहे हो ?

राजकुमार—बनारस से।

गुरु—तुम किसके लड़के हो ?

राजकुमार—बनारस के राजा के।

गुरु—तुम यहाँ किस लिये आये हो ?

रामकुमार—शास्त्र पढ़ने के लिये।

गुरु—तुम अपने साथ आचरिय भाग (आचार्यभाग) लाये हो या धम्मातेवासिक होना चाहते हो ?

राजकुमार— मैं आचार्यभाग लाया हूँ।

इतना कहते ही राजकुमार ने १००० कहापण की थैली गुरु के सामने रख दिया।

---

[1]जातक १। २५६, २६२, २७३ ॥ २। २, ८७, २७७ ॥ ३। १२२ ॥ इत्यादि। [2]जातक २। २७७ ॥ जातक ४। ४५७ भी देखिये ॥

इससे प्रकट होता है कि तक्षशिला में दो तरह के विद्यार्थी थे—एक तो फ़ीस देनेवाले और दूसरे मुफ़्त पढ़नेवाले। फ़ीस देनेवाले का कुछ अधिक सन्मान होता था। गुरुओं की आमदनी बहुत थी, जीवन में बड़ा पद पाने पर अनेक शिष्य उनको और भी बहुत कुछ देते थे। इसके अलावा गुरुओं को भोज इत्यादि के लिये निमन्त्रण भी बहुत मिला करते थे।[1] छात्रों को अपने गुरुओं की सेवा करनी होती थी। अपराध करने पर वह दण्ड पाते थे; कभी-कभी शारीरिक दण्ड भी दिया जाता था।[2] यहाँ बहुत से गुरु तीन वेद पढ़ाते थे—अभी अथर्ववेद का विशेष अध्यापन प्रारम्भ नहीं हुआ था। जातकों में लिखा है कि यहाँ अठारहों विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं अर्थात् सब धार्मिक और लौकिक शास्त्रों की पढ़ाई थी। तीरन्दाजी वगैरह भी सिखाई जाती थी। यहाँ किसी-न-किसी जगह कोई जन्त्र-मन्त्र जादू-टोना भी पढ़ाता था।[3] जैन और बौद्ध गुरु अवश्य ही अपने-अपने धर्मों की शिक्षा भी देते होंगे। अस्तु, तक्षशिला के समान विद्यापीठों में बड़ी व्यापक शिक्षा होती थी, सारी सभ्यता का परिशीलन होता था और सब शास्त्रों की रक्षा का प्रबन्ध था। पढ़ाने के अलावा ऐसी विद्यापीठों में विद्या की वृद्धि होती थी, अर्थात् अनुसन्धान के द्वारा नये-नये ज्ञान का उपार्जन होता था। ऐसी संस्थाओं की परिपाटी हिन्दुस्तान में १३वीं सदी तक स्थिर रही; उदाहरणार्थ, ७ वीं ई० सदी में नालन्द और १० वीं ई० सदी में विक्रमशिला के विद्यालय तक्षशिला से भी बढ़कर थे और संसार के किसी विद्यालय की बराबरी कर सकते थे। हिन्दू-सभ्यता को दृढ़ करने में इन विद्यापीठों का बहुत बड़ा भाग था।

गुरु का पद

शिक्षा के विषय

इस काल में उद्योग और व्यापारी की उन्नति भी बहुत होगई थी। तरह-तरह के सूती, रेशमी, ऊनी, कपड़े बनते थे; जूते, छाते वग़ैरह बहुत बनाये जाते

---

[1]जातक २। २७८॥ ३। १७॥ [2]जातक २। २७८॥ [3]तक्षशिला की शिक्षा के लिये देखिये, जातक १। २५९॥ २। ८७, १००॥ ३। १२२, १५८॥

थे; नगरों में सुगन्धों का बाज़ार गर्म था, सोना, चाँदी और मणियों के ज़ेवर तय्यार किये जाते थे। तरह-तरह के तेल बनाये जाते थे, गाड़ी और रथ भाँति-भाँति के थे, तीर, कमान, तलवार इत्यादि का उद्योग भी ज़ोर पर था। इन सब चीज़ों का, ज़मीन से पैदा होने वाले अनाज, बनस्पति, फल-फूलों का, और माँस-मदिरा इत्यादि का बहुत व्यापार होता था। नदियों और सड़कों के द्वारा सारा देश एक व्यापार-क्षेत्र बनता जाता था। विदेश से भी व्यापार होता था। तक्षशिला होकर एक व्यापार-मार्ग था जो मध्यएशिया और पच्छिम एशिया को जाता था। दक्खिन के

उद्योग और व्यापार

बन्दरगाह पूरब में बर्मा, स्याम और चीन से और पच्छिम में मिस्र और पच्छिम एशिया से व्यापार करते थे। हिन्दू लोग बहुत जहाज़ चलाते थे और कभी-कभी बड़े भयङ्कर समुद्रों में निकल जाते थे। एक हिन्दू का उल्लेख यूरोपियन साहित्य में है जो ई० पू० चौथी सदी में जर्मनी और इग्लैण्ड के बीच उत्तर-सागर में अपना जहाज़ ले गया और तूफ़ान में बुरी तरह फँस गया।[1]

विदेशी व्यापार

उद्योग और व्यापार के कारण और राजधानियों के कारण अनेक बड़े-बड़े नगर थे। उत्तर-भारत के कोई बीस नगर थे। थेर आनन्द में बुद्ध निर्वाण के समय के छः महानगरों का उल्लेख है— सावत्थी, चम्पा, राजगृह, साकेत (अयोध्या), कौशाम्बी और बनारस। इनके अलावा बहुत से छोटे-छोटे निगम अर्थात् शहर थे। मौर्य-साम्राज्य के दिनों में पाटलिपुत्र सबसे बड़ा नगर हो गया।[2] शहरों और गाँवों के जीवन में सदा की तरह बहुत अन्तर था। एक जातक में एक दास को नगर छोड़कर

नगर

---

[1]उद्योग-व्यापार के लिये देखिये, जातक ग्रन्थ। मिसेज़ र्‌हिज़ डेविड्स, 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया', १, पृ० १६८ इत्यादि। कनकसभभाइ पिल्ले, 'तामिल्स एट्टीन हन्ड्रेड ईयर्सएगो'॥ राधाकुमुद मुकर्जी, 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिङ्ग ऐण्ड मैरिटाइम ऐक्टिविटी'॥ [2]मिसेज़ र्‌हिज़ डेविड्स, 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' १, पृ० २०१॥

देहात में रहना पड़ा। वह था तो दास पर उसे नगर निवासी होने का अभिमान था। कहने लगा कि यह देहाती बड़े मूर्ख हैं, न तो इनका भोजन अच्छा है और न यह कपड़े पहिनना ही जानते हैं। फूल, माला, सुगन्ध की तो कोई तमीज़ ही इनको नहीं है।[1]

नगर का जीवन

शहरों में आनन्द-प्रमोद भी बहुत होता था। खासकर बड़े आदमियों के यहाँ नाच-रंग, गाने का जमाव रहता था।[2] वेश्याओं का नाच भी होता था।[3] कोई-कोई रंगीले युवक बनों में जाकर नाचने-गाने वाली स्त्रियों के साथ विहार करते थे।[4] शहरों में इमारतें भी बहुत अच्छी-अच्छी होती थीं।

इस समय तक निर्माण-कला जो आगे चलकर मानसार कहलाई, बहुत उन्नति कर गई थी। संघाराम नगर से न तो बहुत दूर और न बहुत पास होता था। चारों ओर ईंट, पत्थर और लकड़ी की एक-एक दीवार होती थी। इनके बाद बाँस और काँटे के घेरे और फिर खाई रक्षा के लिए बनाई जाती थी। मकानों में भोजन, अग्नि, बैठने, सोने, चीजें रखने, कसरत करने और नहाने के अलग-अलग कमरे रहते थे। तालाब होते थे और खुली छत की इमारतें भी होती थीं। भीतर के कमरे तीन तरह के हो सकते थे—शिविकागर्भ, नालिकागर्भ, और हर्म्यगर्भ। गर्म स्नानागार ऊँचे चबूतरों पर बनते थे, चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं और चारों ओर घेरा लगा दिया जाता था। लकड़ी की छत और दीवारों पर चमड़ा और चूना लगाया जाता था। नहाने के लिए तालाब था, बैठने के लिए एक गर्म कमरे में आग के चारों तरफ चौकियाँ लगी थीं। नहाने के लिए ऐसे तालाब भी थे जिनमें बावड़ी की तरह उतरने को सीढ़ियाँ थीं, जो पत्थर के बने हुए थे और जिनमें फूल और नक्काशी की शोभा थी। मकानों के लिए ऐसी चौकियाँ भी होती थीं जिन पर बेंच की तरह

भवन-निर्माण

स्नानागार

---

[1]जातक १। ४५२ ॥ [2]बुद्धघोष, धम्मपटीका १। १६३ ॥ [3]धम्मपद-टीका १७। ॥ [4]धम्मपदटीका ५। ७ ॥

तीन आदमी बैठ सकते थे। आसंदी या कुर्सियाँ कई तरह की होती थीं, जैसे आरामी गद्देदार। दरी, कम्बल, तकिये, पर्दे, फर्श, मसहरी, रूमाल और उगालदान भी बहुत तरह के थे।[१]

आराम के सामान

शासन के सम्बन्ध में भी इस समय के साहित्य से बहुत-सी बातों का पता लगता है। बहुधा शासन खत्तिय अर्थात् क्षत्रियों के हाथ में था जो अपने सामने पुरोहितों को भी हीनजच्च समझते थे[२], पर कहीं-कहीं और वर्णों के आदमी भी राजा होते थे। दो जातकों में जनता अत्याचारी क्षत्रिय राजाओं को निकालकर ब्राह्मणों को गद्दी पर बैठाती है।[३] राजाओं के तथा अन्य कुलीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के लड़के बनारस, अयोध्या इत्यादि नगरों से सैकड़ों मील दूर आकर उत्तर-पश्चिम में तक्कसिला अर्थात् तक्षशिला में बहुधा लम्बी-लम्बी फ़ीस देकर गुरुओं से धार्मिक और लौकिक शास्त्र तथा तीरन्दाजी इत्यादि सीखते थे।[४] जमींदारी सङ्घशासन प्रथा जातकों में भी है[५], पर उतनी ज्यादा नहीं जितनी आगे चलकर मिलती है। राजालोग कभी-कभी बिना कारण ही आपस में लड़ते थे।[६] दसराजधम्म के अनुसार राजा को सत्य, यज्ञ, दान, नम्रता, त्याग, क्षमा इत्यादि गुणों का पालन करना चाहिये, पर कोई-कोई राजा अत्याचारी भी होते थे, जिन्हें प्रजा निकाल देती थी या मार

शासन

राजा

---

[१] चुल्ल० । ६ । ४ । ८ ॥ ६ । ३ । ७ ॥ ६ । ४ । १० ॥ ६ । ३ । १० ॥ ६ । ३ । ८ ॥ ६ । २ । २ ॥ ६ । १३ । २ ॥ ६ । १४ । १ ॥ ६ । ८ । १ ॥ विनय० ३ । १०५-११०, २६७ ॥ म० ५ । १० । २-३ ॥ ८ । १८ ॥ [२] जातक ५ । २५७ ॥ १। १७७ ॥ ३ । १९ ॥ ४ । ४२, २०५, ३०३ ॥ ५ । १२३ ॥ [३] जातक १ । ३२६ । ३ । ५१३ ॥ [४] जातक १ । ३९५, २५९, २६२, २७३ ॥ २ । २, ८७, २७७, १००, २७८, २१७-१८, २९७ ॥ ३ । १२२, ११५, १७१ ॥ ५ । २४७, ४५७ ॥ [५] जातक ३ । १३ ॥ ५ । २८२ [६] जातक ३ । ३ ॥

उत्तराधिकारी

डालती थी।[१] राजा का पद बहुधा मौरूसी होता था[२] पर कहीं-कहीं अभिषेक के पहिले राजकुमार को मन्त्रियों के सामने परीक्षा देनी पड़ती थी और अयोग्य सिद्ध होने पर गद्दी से दूर हट जाना पड़ता था।[३] अन्धा, कोढ़ी या इसी तरह का रोगी राजा गद्दी के अयोग्य समझा जाता था।[४] राजकुमारों में राज्य के बटने के भी दो-एक उदाहरण हैं।[५] पुत्रहीन राजा की गद्दी कहीं-कहीं भाई को[६] और कहीं-कहीं दामाद को[७] मिलती थी और कहीं-कहीं रानी ही राजकार्य करती रहती थी।[८] कहीं-कहीं जनता आपही राजा का चुनाव करती थी[९] और कहीं-कहीं मन्त्री रथ चलवाते थे और जिसके पास रथ ठहर जाय उसी को तिलक कर देते थे।[१०] कहीं-कहीं हर हालत में प्रजा की स्वीकृति आवश्यक थी[११]। कभी-कभी राजा के लाभ के कारण राजकुमारों में बड़ी अनबन हो जाती थी और कुमारों को देशनिकाले का दण्ड दिया जाता था, पर कभी-कभी राजा या राजकुमार बहुत समझाने-बुझाने पर भी लौकिक-वैभव को लात मार कर संन्यास ले बैठते थे।[१२] राजा का अभिषेक सफ़ेद छाते के नीचे पुरोहित और मन्त्रियों के द्वारा नाच, रङ्ग, गान, वाद्य, खेल-तमाशे के साथ बड़ी धूमधाम से होता था।[१३] यों भी कोई-कोई राजा बड़े

---

[१]जातक २। २४० ॥ ४ ॥ २२४, २३ ॥ २। १२२, १६६, ३६१, ३। १७८, ४२४, ३१७ ॥ ५। ६८ ॥ ४। १४६ ॥ दसराजधम्म के लिये ३। २७४, ३२० ॥ [२]जातक १। १२७, ३६५ ॥ २। ८७, ११६, २०३, २२६ ॥ ३। १२१ ॥ ४। १२४, १७६ ॥ ६। १५८ ॥ [३]जातक २। २६४ ॥ [४]जातक ४। ४०७ ॥ ५। ८८ ॥ [५]जातक ४। १३१ ॥ १६८, ८४ ॥ [६]जातक १। १३३ ॥ २। ३६७ ॥ [७]जातक २। ३२३ ॥ [८]जातक ४। १०५ ॥ [९]जातक १। ३९९ ॥ [१०]जातक ३। २३८ ॥ ४। ३८-३९ ॥ ५। २४८ ॥ [११]जातक १। ५०७ ॥ [१२]जातक ६। ३१, ९५ ॥ ३। १२२, २१६, १७९, ३६४, ३९३, ५१५ ॥ २। ११६ ॥ १, १३८ ॥ ४। १६८, २३०, ७, १०५ ॥ ५। १६१-६२, १७७, २२, २६३ ॥ [१३]जातक ३। २३९, ४०८ ॥ ४। ४०, ४९२ ॥ १। ४७० ॥ ५। २८२ ॥

आलीशान महलों में रहते थे, रङ्ग-विरङ्गे जलूस निकालते थे, महफ़िल सजाते थे, कुश्तियाँ कराते थे और शान में एक-दूसरे की होड़ करते थे।[1]

वैभव

जातक कहानियों में बहुत से राजाओं के पास सोलह हज़ार रानियाँ हैं, जिससे मालूम होता है कि वह ज़रूर बहुत-सी शादियाँ करते थे, और कभी-कभी अन्तःपुर के झगड़ों से बड़ी चिन्ता में पड़ जाते थे।[2] बहुत से राजा बड़े दानी होते थे और शहर के बीच में और चारों दरवाज़ों पर सदाब्रत बैठाते थे और हिन्दुस्तान भर में यश पाते थे।[3] उनका अनुकरण करते हुए बहुत से सेठ और मन्त्री भी इसी तरह दान करते थे।[4] राजा स्वयं न्याय करता था, प्रजा को सदाचार का उपदेश देता था, रक्षा करता था और सुख-सम्पत्ति बढ़ाता था।[5]

दान

राजा की सहायता के लिये कुछ बड़े अधिकारी होते थे, जैसे उपराजन् जो राजा का भाई बेटा या और कोई सम्बन्धी होता था; पुरोहित जो बड़ा भारी सलाहकार था; अमच्च जो बहुत सा राजकार्य करते थे; सेनापति जो सेना का प्रबन्ध करता था और सब मन्त्रियों में प्रधान था; विनिच्छामच्च जो मुकदमों का फ़ैसला करते थे और धर्म के मामलों में राजा को सलाह देते थे; भाण्डागारिक जो खज़ाने का प्रबन्ध करता था; रज्जुक या रज्जुगाहक अमच्च, और दोड़ या दोड़मापक जो ज़मीन की टीप करते थे, हेरज्जिक जो रुपये का हिसाब रखता था; सारथि जो रथों की देख-रेख करता था; दौवारिक जो चौकीदारी करता था; चोरघातक जो पुलिस का काम

अधिकार

---

[1] जातक १। २६७, ३०५ ॥ २। १२२, २५३ ॥ ३। ४०, ३२५, ३४२॥ ४। १५३, ८१ ॥ ५। १३, २८२ ॥ [2] जातक ४। ३१६, १२४, १०५, १९१, ७९ ॥ ६। २२० ॥ ३। २१, ६८, १०७-८, १३, १६८, ३३७, ४१९ ॥ २। १२५-२६, ४०१ ॥ १। २६२ ॥ [3] जातक २। ११८, २७३, ३१६ ॥ ४। १७६, ३५५, ३६१, ४०२, २०१ ॥ ५। १६२ ॥ ६। ४२ ॥ ३। ७९ ॥ [4] जातक ३। १२९ ॥ ४। ३५५ ॥ ५। ३८३ ॥ [5] जातक १। ४३३, ३७१, ३८४, २६० ॥ ३। २३२, १०४, १११ ॥ २, १८२, ॥ ४। १७६-७७, ३६१, ४४४ ॥ ५। २९९ ॥

करते थे।[1] इनके अलावा राज की नौकरी में बहुत से तीरन्दाज, गवैये और कारीगर वग़ैरह भी रहते थे।[2] बड़े-बड़े अधिकारी महामत्तों के कुलों से बहुधा लिये जाते थे।[3] दरबार में इन सब अधिकारियों के अलावा सेठ-साहूकार और अन्य बड़े आदमी भी रहते थे।[4] प्रान्तों के शासन के लिये अकसर राजकुमार नियत किये जाते थे। गाँव का प्रबन्ध ज़्यादातर गाँव वाले आप ही कर लेते थे। कोई-कोई गाँव बहुत बड़े थे, जिनमें वैद्य रोजगार के लिये जाते थे। किसी-

प्रादेशिक शासन

किसी गाँव में एक ही वर्ण या पेशे के आदमी ज़्यादातर रहते थे, जैसे ब्राह्मण, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, शिकारी। गाँव में एक मुखिया या ग्रामभोजक होता था पर कूआँ. तालाब, सड़क, भवन इत्यादि बनाने में सबही लोग भाग लेते थे।[5] शहरों का इन्तिज़ाम सरकारी अफ़सरों के हाथ में ही मालूम होता है।

रज्जोभाग अर्थात् ज़मीन का कर ग्रामभोजक बलपतिगाहक, निग्गाहक और बलिसाधकों की सहायता से इकट्ठा करता था। वसूल करने में कभी-कभी अत्याचार होता था। राजकम्मिका ज़मीन नापते थे और लगान तै करते थे। बिना वारिस की दौलत राजा के

कर

[1] जातक १। ४३७, २८९, ३३४, ३७१, ४३९ २७२, २६०, २४८, १३३, २५२, ३४९, ४६६ ॥ २। ३७४, ४७, ३७६, २८२, ४६, १८६-८७, ९८, १२५, ३०, ७४, ३८०, ३६७, ३७८, । ३७७। २४१, ३७९ ॥ ३। ४५४, ३९२, ४५५, ४००, १९४, ३३७, २८, ३१७, ३१, ४१७, १०५, ५१६, ४३, १५९, ३७६, ३४२, २३९, १९३, ५९, १७९, ॥ ४। ७९, २०० २७०, ४७५, ३६४, ४०८, ४६२, १३७०, ४०७, ४३८, १६८ ॥ ४३, १६९। ५। १२७, ५७, २, १७८, ४५९, १२५, १२३, २५०, ५०२ ॥ ६। ७५ ३३० ॥ १३१, ३०, २८, ॥ [2] जातक, १। १२४, १२१, १३७, १३८, ३४९ ॥ २। ८७, २२१, २५०, ५, ३१९ ॥ ४। ३१४ ॥ ५। १२८ ॥ [3] जातक ९८, १२५, २०३, ३७८ ॥ [4] जातक १। २८९, ३४९ ॥ ३। २१९, १३८, २९९, ३००, ४४४, ४७५ ॥ ४। ६३ ॥ ५। ३८२ ॥ [5] जातक २। ३६८, १८, ४०५, ३८८ ॥ ३। ८६, २८१, २९३, ३७६, ५०८, ११५ ॥ ४। १५९, २०८, ४३० ॥ ६। ७१। १। १९९, २०१ ॥

ख़ज़ाने में जाती थी।[1]

न्याय का काम राजा के अलावा पुरोहित, सेनापति और पञ्च भी करते थे।

न्याय

राजद्रोह, या डाके के लिये प्राणदण्ड या अङ्ग-भङ्ग की सजा होती थी। कुछ और अपराधों के लिये जेलखाना होता था जिसमें बड़ा कष्ट मिलता था। बड़े घृणित अपराधों के लिये अपराधी को काँटे के बेंत मारे जाते थे या हाथियों से उनकी हड्डियाँ तुड़वा दी-जाती थीं।[2]

श्रेणी

जातकों में व्यवसायियों की बहुत-सी श्रेणियाँ मिलती हैं। राज, लुहार, बढ़ई, चित्रकार, सौदागर, माली, सिपाही आदि सब लोग अपनी-अपनी श्रेणियाँ बनाकर अपना बहुत-सा प्रबन्ध आप ही करते थे। श्रेणी का मुखिया एक सेठी कहलाता था और उनके किसी-किसी झगड़ों का फैसला भाण्डागारिक करता था।[3]

गुलामी

लड़ाई में पकड़े जाने से, प्राणदण्ड के घटाने से या दण्ड स्वरूप या ऋण न देने से आदमी गुलाम हो सकता था। पर गुलामों को भी गृहस्थ-जीवन की इजाज़त थी। बहुत से लोग थे जो खेती या व्यापार नहीं करते थे, वरन् किराये पर मज़दूरी करके पेट भरते थे। यह लोग दासों से बेहतर नहीं समझे जाते थे।[4]

---

[1]जातक ४। १६६, २२४, ४८५ ॥ २। ३७८, २४०, १७ ॥ ३। २६६॥ १। २७७, ३६८ ॥ ५, ६८ ॥ [2]जातक १। १४६, २०० ॥ २। १२२-२३, ११७ ॥ ३ ॥ ४३६, ४४१, ५०५ ॥ ५। २२८-२६, ४६१, २२६, १३ ॥ ६, ८, ४ ॥ [3]जातक १। ३६८, २६६, ३२०, २३१ ॥ २। २६५, ३८७, १२, ५२ ॥ ३। २८१, ३८७, ४७५ ॥ ४। १३७, ४११, ४२७, ४३ ॥ ६। २२, ४२७ ॥ [4]मज्झिम० १। १२५ ॥ विनय ३। ४०१ ॥ जातक १। ४०२, ६२, २४८, ३७७, १२४, १७८, १८१ ॥ २। ३१, २५७, २७७ ॥ ४४। २२० ॥ ६। ५२१ ॥

मौर्यकाल (लगभग ई० पू० ३२२—१८४)

६

मगध में अन्तिम नन्दराज के अत्याचार से जो विप्लव हुआ था उसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठा था। उसने लगभग ई० पू० ३२२-२९८ तक राज्य किया और उस मौर्यवंश का प्रारम्भ किया जो लगभग ई० पू० १८४ तक पाटलिपुत्र की गद्दी पर रहा और जो संसार के अत्यन्त प्रशंसनीय राजवंशों में है। चन्द्रगुप्त के अभिषेक के पहिले ही सिकन्दर का देहान्त हो गया था और विशाल मैसिडोनियन साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होने लगे थे। सिकन्दर के सेनापतियों ने साम्राज्य के भिन्न-भिन्न देश दबा लिये और स्वतन्त्र राजाओं की तरह शासन करना शुरू किया। आपस की लड़ाई में उन्होंने कोई कसर न रक्खी और दूसरों से भी युद्ध करते रहे। सिकन्दर के विश्व-साम्राज्य के स्वप्न स्वप्न ही रह गये, पर उसके पराक्रमों ने तमाम पच्छिमी-एशिया पर स्थायी प्रभाव ड़ाला।

मौर्यवंश

चन्द्रगुप्त

ग्रीक प्रभाव

कई शताब्दियों तक मेसीडोनियन या ग्रीक राजवंश भूमध्यसागर से लेकर अफ़गानिस्तान तक राज करते रहे। थोड़ी-बहुत ग्रीक सभ्यता जो संसार की अत्यन्त प्रभावशाली सभ्यताओं में गिनी जाती है, पच्छिमी-एशिया में फैल गई। ग्रीक तत्त्वज्ञान जो सामान्यतः केवल हिन्दू ज्ञान से ही घटकर था और किसी-किसी अंश में, जैसे सामाजिक और राजनैतिक विवेचना में, उससे भी बढ़कर था, बहुत जगह पढ़ा गया। ग्रीक-सिद्धान्तों की मिलावट के बाद देसी तत्त्वज्ञान स्वभावतः बदल गये और इस सम्पर्क और हलचल से नये तत्त्वज्ञान पैदा हुए। उत्तर-पच्छिम सीमा पर यह सब विचार हिन्दू अर्थात् बौद्ध और ब्राह्मण पद्धतियों से सम्पर्क में आये। आगे चलकर इन्होंने एक-दूसरे पर कुछ प्रभाव डाला। तत्त्वज्ञान के अलावा ग्रीक लोगों ने ललित कलाओं में भी आश्चर्यजनक उन्नति की थी। मूर्तिकला में वह ऐसे निपुण थे कि जहाँ

तत्त्वज्ञान

तक शारीरिक सौन्दर्य और कारीगरी की सफाई का सम्बन्ध है आज तक कोई उनकी बराबरी नहीं कर सका है। ई० पू० पाँचवीं सदी में फ़ीडो ने जूस देवता की जो विशाल मूर्ति बनाई थी वह वास्तव में अनुपम है। पच्छिमी-एशिया में ग्रीक मूर्तिकला ने आसानी से अपना सिक्का जमा लिया और गान्धार में बौद्ध-मूर्तिकला भी उसके प्रभाव से न बच सकी। याद रखना चाहिये कि प्राचीन समय में वर्तमान अफ़गानिस्तान हिन्दू-सभ्यता के क्षेत्र में था, गान्धार जिसे अब कन्दहार कहते हैं, हिन्दू सभ्यता के केन्द्रों में से था। यह प्रदेश पच्छिमी प्रभावों के लिये खुला हुआ था और इनमें से होकर वही प्रभाव पंजाब की ओर बढ़ सकते थे। जब गान्धार की मूर्तिकला ग्रीक-प्रभाव के नीचे आ गई तब पच्छिमी भारती कला भी अछूती न बचने पाई।

ललितकला

ग्रीक लोगों ने नाटक को भी बड़े ऊँचे दर्जे तक पहुँचा दिया था। ई० पू० पाँचवीं और चौथी सदी के नाटककार ईस्काइलस, यूरिपिडीज़, सॉफक्लीज और ऐरिस्टोफ़ेनीज़ में ऐसा चमत्कार है, भावों का ऐसा चित्रण है, घटनाओं का ऐसा विश्लेषण है कि आज तक कुछ अंशों में ग्रीक नाटक अद्वितीय हैं। इस नाटक ने भी पच्छिम-एशिया पर प्रभाव डाला। सौ बरस से विद्वानों में यह विवाद चल रहा है कि हिन्दू नाटक पर ग्रीक प्रभाव पड़ा या नहीं और अगर पड़ा तो कितना? इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि आगे चौथी ई० सदी के लगभग ग्रीक ज्योतिष ने हिन्दू ज्योतिष् को पलट दिया।

नाटक

ज्योतिष

उत्तर-पच्छिम के ग्रीक या आधे-चौथाई ग्रीक राज्य हिन्दुस्तान की राजनीति में भी कभी-कभी खलबली मचाते रहे। ई० पू० चौथी सदी से ई० पू० पहिली सदी तक उन्होंने कई हमले किये और थोड़े-बहुत दिन के लिये कुछ प्रदेश अपने बस में कर लिया। सबसे पहिला हमला चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही हुआ और पच्छिम-एशिया के स्वामी सेल्यूकस के द्वारा हुआ। अपने दूसरे प्रतिद्वन्दी सेनापति एंटिगोनस को हराकर सेल्यूकस ने ई० पू० ३१२ में अपना राज्य एशिया के सब पच्छिमी देशों पर जमा

सेल्यूकस निकेटर

लिया था। उसने निकेटर अर्थात् विजेता की पदवी धारण की[1] और दूसरा सिकन्दर बनने का उद्योग किया। ई० पू० ३०५ के लगभग हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की। वह गङ्गा नदी तक चला आया, पर उसे शीघ्र ही पता लग गया कि अब हिन्दुस्तान की अवस्था बदल गई है। सिकन्दर के समय में देश बीसों छोटे-छोटे राज्यों में बटा हुआ था, जो सङ्घ बनाने पर भी विदेशियों का सामना सफलतापूर्वक न कर सके थे। पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने कम-से-कम सारे उत्तर-भारत में एकराज्य स्थापित कर दिया था। देश की संयुक्त-शक्ति के सामने सेल्यूकस ने घुटने टेक दिये; लड़ाई में हारकर उसने ई० पू० ३०३ के लगभग चन्द्रगुप्त से सन्धि कर ली और अपनी बेटी मौर्य सम्राट् को ब्याह दी। अधिक महत्त्व की बात यह थी कि सेल्यूकस ने सिन्ध नदी के पच्छिम का देश अर्थात् सारा वर्तमान सीमाप्रदेश और अफ़गानिस्तान एवं मध्य एशिया का कुछ भाग चन्द्रगुप्त को सौंप दिया। बदले में चन्द्रगुप्त से केवल ५०० हाथी पाकर उसने हिन्दुस्तान से बिदा ली। हाँ, चन्द्रगुप्त ने अपनी राजधानी में उसका एक दूत रखना स्वीकार कर लिया। इस पद पर मेगेस्थनीज़ नियुक्त हुआ, जिसने हिन्दुस्तान का देखा और सुना हुआ हाल एक पुस्तक में लिखा। पुस्तक लोप हो गई है पर उसके अंश बहुत सा नमक-मिर्च लगाकर अन्य ग्रीक लेखकों ने अपनी रचनाओं में रक्खे। इन अंशों में बहुत-सी असम्भव बातें हैं, जैसे सोना खोदने वाली चींटियों का ज़िक्र है, बिना आँख-नाकवाली जातियों का वर्णन है। दूसरे, स्वयं मेगेस्थनीज़ हिन्दुस्तान के थोड़े से हिस्से से ही जानकारी रखता था और यहाँ की भी भाषा न जानता था। तीसरे वह स्वभावतः हिन्दू संस्थाओं को ग्रीक-दृष्टिकोण से देखता था। उसके वर्णन के अवशेषों की समीक्षा में इन सब बातों का ख्याल रखना ज़रूरी है। भाग्यवश, इसके बाद भी मेगेस्थनीज़ से हिन्दू समाज और विशेषकर राजनीति के बारे में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातों का पता लग सकता है।

हिन्दुस्तान पर हमला

पराजय

मेगेस्थनीज़

---

[1] सेल्यूकस के लिये देखिये ई० आर० बेवन, 'हाउस ऑफ़ सेल्यूकस'।

मौर्यसाम्राज्य

सेल्यूकस पर विजय पाने के बाद चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का फैलाव पच्छिम में अफ़गानिस्तान से लेकर पूरब में बङ्गाल तक हो गया। इतना बड़ा और सुव्यवस्थित साम्राज्य अभी तक हिन्दुस्तान में न हुआ था। अब ब्राह्मणों और इतिहास काव्यों की साम्राज्य-कल्पनाएँ व्यवहार में परिणत हो गईं। अभाग्यवश, चन्द्रगुप्त के विषय में उस समय के भारतीय ग्रन्थकारों ने बहुत कम लिखा है। शायद उसने दक्षिण की ओर भी अपना साम्राज्य फैलाया था। उसका शासनचातुर्य उसके कृत्यों से ही प्रगट है। चन्द्रगुप्त का धर्म कौन-सा था—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वह बौद्ध नहीं था पर जैनधर्म को मानता था या ब्राह्मणधर्म को। जैनग्रन्थों में लिखा है कि वह जैन था। जब उसके राज्य में बारह बरस का अकाल पड़ा तब अपने पुत्र बिन्दुसार को गद्दी सौंपकर वह मुनि हो गया और भद्रावाहु स्वामी तथा अन्य मुनियों के साथ दक्खिन की ओर चला गया। मैसूर में श्रवणवेलगोल में उन सब ने वास किया और यहाँ ही चन्द्रगुप्त ने जैनधर्म के अनुसार सल्लेखना कर के अर्थात् धीरे-धीरे सब खानपान और माया मोह छोड़कर प्राण त्याग दिये। इस जैन वृत्तान्त का समर्थन एक शिलालेख से अवश्य होता है पर यह शिलालेख अनेक शताब्दी पीछे खोदा गया था और शायद जैन-वृत्तान्त ही इसका आधार था। सम्भव है कि यह सब सच हो पर अभी तक हमें इसका पक्का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है।[1]

चन्द्रगुप्त का धर्म

विन्दुसार

चन्द्रगुप्त का राज्य लगभग ई० पू० २९८ तक रहा। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी विन्दुसार को अमित्रघात कहा है, जिससे प्रगट है कि उसने लड़ाइयाँ की और विजय पाई। अगर चन्द्रगुप्त ने दक्खिन नहीं जीता था तो विन्दुसार ने जीता होगा। क्योंकि कृष्णा नदी तक का सारा देश और उसके नीचे भी कुछ देश अशोक के सिंहासन पाने के समय मौर्यराज्य में शामिल था। विन्दुसार के समय में मौर्यराज्य उत्तर में

---

[1] चन्द्रगुप्त के लिये देखिये, विंसेण्ट ए० स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' (चौथा संस्करण) पृ० १२१-५५।

मध्य एशिया से लेकर दक्खिन में वर्तमान नेलोर नगर तक था। पूर्वी समुद्र तट पर कलिङ्ग राजा अभी स्वतन्त्र था पर अन्यत्र एक साम्राज्य की पताका फहराती थी। विन्दुसार ने पच्छिम एशिया से सम्बन्ध कायम रक्खे। मेगेस्थनीज़ के बाद डाइमेकस दूत होकर पाटलिपुत्र में आया पर उसके लेख नाममात्र को ही बचे हैं। उधर ई० पू० २८० में सेल्यूकस निकेटर की हत्या के बाद उसका लड़का एन्टायोकससोटर गद्दी पर बैठा। उससे विन्दुसार की लिखापढ़ी बराबर होती रही। एक बार विन्दुसार ने एन्टायोकस से कुछ अञ्जीर मँगाये और लिखा कि एक अध्यापक भी मोल लेकर भेज दीजिए। एन्टायोकस ने अञ्जीर इत्यादि भेज दी पर लिखा कि हमारे यहाँ अध्यापक बेचना नियम के प्रतिकूल है। मिश्र के ग्रीक राजा टालेमी फ़िलाडेल्फ़ास ने भी डायोनीसियस नामक एक दूत पाटलिपुत्र को भेजा। औरों की तरह उसने भी हिन्दुस्तान का एक वृत्तान्त लिखा। घरेलू मामलों में विन्दुसार के बारे में इतना ही मालूम है कि दो-एक प्रान्तों में अधिकारियों के अत्याचार से विद्रोह हुए थे और राजकुमार अशोक ने उन्हें दबाया था। विन्दुसार ने ई० पू० २७३ या २७२ तक राज्य किया।[1]

विदेशी राजाओं से सम्बन्ध

पिता के मरने पर अशोक ई० पू० २७३ या २७२ में साम्राज्य का शासक बना पर किसी कारण से उसका अभिषेक तीन-चार बरस पीछे ई० पू० २६९ में हुआ। बौद्ध-परम्परा के अनुसार अशोक को अपने भाइयों से लड़ना पड़ा था और विजय पाने पर उसने उनको बुरी तरह मरवा डाला था। पर स्वयं सम्राट् ने अपने किसी शिलालेख में इसका उल्लेख नहीं किया। ई० पू० २६१ में अशोक ने कलिङ्ग पर चढ़ाई की। कलिङ्ग राजा के पास बड़ी भारी सेना थी। मेगेस्थनीज़ ने लिखा है कि वहाँ ६०,००० पैदल, १,००० घुड़सवार और ७०० हाथी थे। इधर मौर्यसम्राट् की सेना इससे भी ज्यादा थी। बड़ा घमासान संग्राम हुआ। दोनों

अशोक

---

[1] विन्दुसार के लिये देखिये विंसेट ए० स्मिथ' अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया (चौथा संस्करण) पृ० १५५-५८।

ओर से एक लाख सिपाही काम आये, डेढ़ लाख कैद में आये। युद्ध के बाद अकाल पड़ा और महामारी फैली जिससे और लाखों का प्राणान्त हो गया। संग्राम में अशोक की जीत रही और एकमात्र स्वतन्त्र प्रदेश कलिङ्ग भी मौर्य राज्य का भाग हो गया। पर लोहू की नदियों से और दुखियों की आहों से अशोक का हृदय काँप उठा। उसकी सारी आत्मा हिल गयी और जीवनतन्त्री के सब तार एक साथ ही दया और पश्चात्ताप से बजने लगे। विजय, वैभव की भावनाएँ सदा के लिये त्याग कर उसने अहिंसा की प्रतिज्ञा की और बौद्ध होकर संसार की सेवा में जीवन अर्पण कर दिया।

कलिङ्ग विजय

अपने अभिमान को आप ही तोड़कर उसने हृदय संसार के आध्यात्मिक परिवर्तन सामने रख दिया और सबको अपनी रामकहानी सुना दी।

साम्राज्य भर में शिलालेख खुदवाकर उसने नीति का उपदेश दिया, छोटे-बड़े, ग़रीब-अमीर सब को प्राणियों का सुख बढ़ाने की प्रेरणा की, सबको कर्त्तव्य और शान्ति का मार्ग दिखाया। अशोक के लेखों में कहीं धार्मिक कट्टरता का नाम नहीं है; सङ्कुचित विचारों की छाया नहीं है। वह संसार भर के मनुष्यों का हित चाहता है, मनुष्यों का ही नहीं, पशु-पक्षियों का भी दुःख-निवारण करने में जी-जान से लगा हुआ है। अत्यन्त नम्र होते हुए भी इतने ऊँचे नैतिक और आध्यात्मिक आसन पर जा बैठा है कि जात-पाँत, रङ्ग, देश के भेद उसे दिखाई नहीं पड़ते। बौद्धधर्म की सहायता वह इसीलिये करता है कि उसमें अहिंसा और दया का भाव है। इसीलिये उसने धुर दक्खिन में लङ्का में, और पच्छिम की ओर, एशिया, यूरुप और अफ्रीका के देशों में अर्थात् सीरिया, मेसीडोनिया, एपिरस, मिश्र और साइरीनी में अपने धर्म प्रचारक भेजे। सीमा-प्रान्तों पर जो असभ्य और अर्धसभ्य जातियाँ थी, उनको भी धर्म का उपदेश सुनाया। सारे साम्राज्य में उपदेश और निरीक्षक नियत किये। पर उपदेश से ही उसे सन्तोष न था। जनता का सुख बढ़ाने के लिये उसने शासन और न्याय में सुधार किये, खेती की सिंचाई का प्रबन्ध किया, सराय, अस्पताल और पाठशाला इत्यादि बनाई। संसार के इतिहास में अशोक का सा राजा और कोई नहीं है। किसी देश में, किसी युग में इतने ऊँचे आदर्शों का, और प्रजा के हित में इतना निमग्न, शासक

नहीं हुआ।[1]

चालीस बरस राज करने के बाद ई० पू० २३२ में अशोक का देहान्त हुआ।

अशोक के उत्तराधिकारी

उनका पोता दशरथ अथवा एक अन्य प्राचीन लेख के अनुसार दूसरा पोता सम्प्रति बैठा। उसके बाद कई मौर्यसम्राट् गद्दी पर बैठे पर उनमें अपने पूर्वजों का-सा तेज नहीं था। अन्तिम मौर्यसम्राट् बृहद्रथ को उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने ई० पू० १८५ के लगभग मार डाला। पुष्यमित्र स्वयं गद्दी पर बैठा। मौर्यवंश के छोटे-छोटे राजा इधर-उधर अनेक बरसों तक राज करते रहे, पर ई० पू० १८५ के लगभग मौर्यसाम्राज्य समाप्त हो गया।

अशोक के शिला लेखों से, बौद्ध-ग्रन्थों से और ग्रीक-वर्णनों से मौर्य साम्राज्य की सामाजिक और राजनैतिक अवस्था का कुछ पता लगता है। मेगेस्थनीज़ ने,

समाज

शायद राज्य की दृष्टि से, सात वर्ग गिनाये हैं—एक तो तत्त्व ज्ञानी जिनकी संख्या कम थी पर प्रभाव बहुत था, जो न किसी के नौकर थे और न किसी के मालिक और जो यज्ञ कराया करते थे और भविष्य बताया करते थे। दूसरे, किसान जिनकी संख्या सबसे ज्यादा थी, जो देहात में ही रहते थे, खेती करते थे और लड़ाई या सरकारी नौकरी से अलग रहते थे। तीसरे, चरवाहे और गड़रिये जो खीमे लिये घूमा करते थे। चौथे, कारीगर जो खेती, उद्योग और लड़ाई के

---

[1]अशोक के लिये देखिये हुल्ट्ज़, 'इन्स्क्रिप्शन्स ग्राफ़ अशोक'। शिला-लेखों का पुराना कनिंघम-कृत संस्करण अब काम का नहीं है। पालिग्रन्थ दीप-वंश, महावंश और दिव्यावदान देखिये। अशोकावदान और बुद्धघोषकृत समन्त-पासादिका भी देखिये। अशोक के बारे में बहुत-सी कथाएँ अनेक बौद्धग्रन्थों में एवं चीनीयात्री युआनच्वाङ्ग में हैं। शिलालेखों पर 'इण्डियन एण्टिक्वेरी,' 'जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी में बीसों लेख हैं। हिन्दी में देखिये गौरी-शङ्कर हीराचन्द ओझा और श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'अशोक की प्रधान धर्मलिपियाँ।'

औज़ार बनाते थे, जिनसे कर नहीं लिया जाता था और जिन्हें राज्य की ओर से सहायता मिलती थी। पर स्ट्रैबो के अनुसार इस वर्ग के कई भाग थे, जैसे सौदागर इत्यादि जो कर देते थे या राज्य की ओर सेवा करते थे। पाँचवें, सिपाही थे जो शान्ति के समयों में आलस्य में बैठे रहते थे। छठे, अध्यक्ष थे जो हरएक बात की निगरानी किया करते थे। सातवें, मन्त्री और अधिकारी थे जो संख्या में सबसे कम थे पर जो चरित्र और बुद्धि के कारण सबसे अधिक आदर के पात्र थे। सेना, शासन, न्याया, कोष इत्यादि के अधिकारी इनमें से ही लिये जाते थे। मेगेस्थनीज़ कहता है कि प्रत्येक वर्ग आपस में ही ब्याह करता था।[1] सात वर्गों का यह वर्णन चातुर्वर्ण्य का वर्णन नहीं है पर शायद यह बिल्कुल गप भी नहीं है। बहुत सम्भव है कि व्यवहार में इस प्रकार के वर्ग बन गये हों। वह प्रायः अपना व्यवसाय करते थे और आपस में ही ब्याह करते थे।

ग्रीकवर्णन

इस समय के ग्रीक-लेखकों से मालूम होता है कि ब्राह्मण संन्यासी योग किया करते थे। बौद्धश्रमण प्रत्येक जाति से लिये जाते थे और फिर जातिभेद न मानते थे। साधारण ब्राह्मण अच्छे कपड़े, पगड़ी और सुगन्ध इन्यादि का प्रयोग करते थे। मामूली तौर से लोग किफायत से रहते थे पर कपड़े और जेवर का शौक सबको था। यज्ञ के अवसरों को छोड़कर और कभी कोई शराब नहीं पीता था। कोई-कोई ब्रह्मचारी तीस बरस तक गुरु के यहाँ संयम से रहते थे और विद्या पढ़ते थे। ज्यादातर लोग देहात में रहते थे और खुशहाल थे। कानून सादे थे; चोरी बहुत कम होती थी, घर-द्वार बिना चौकीदारी के पड़े रहते थे; इकरारनामे या कर्ज के वक्त गवाहों की जरूरत न होती थी। मुकदमेबाजी बहुत कम थी। बहुत से लोग एक से ज्याद शादी करते थे। सती की प्रथा इधर-उधर प्रचलित थी।[2]

---

[1] डायोडोरस, २। ४०-४१ ॥ एरियन ११-१२ ॥ स्ट्रैबो, १५। १, ४६-४६; ५८-६० ॥ प्लिनी, ६। २२ ॥ [2] स्ट्रैबो १५ ॥ प्लिनी ७। ३। २ ॥ मैक् 'इण्डिया ऐज़ डिक्राइब्ड क्रिण्डल, इन क्लैसिकल लिटरेचर' ३८, ४१, ४७, ५५-८, ६४-७६, ११३-१४, १४६, १६१, १७५, १८३, २०२।

अशोक के निषेधों से भी सामाजिक रीतियों का कुछ पता लगता है। बीमारी में, बच्चों के जन्म पर, ब्याह पर, यात्रा के समय और दूसरे अवसरों पर आदमी, खासकर स्त्रियाँ, बहुत-सी व्यर्थ और गवारू रस्में करती थीं। अशोक कहता है कि रस्में जरूर हों, पर ऐसी रस्मों से तो कुछ नतीजा नहीं निकलता। उस समय समाज अर्थात् आनन्द-प्रमोद की गोष्ठियाँ बहुत होती थीं। अशोक को इनमें भी बुराई देख पड़ी। हर जगह अशोक ने माता-पिता, बड़े-बूढ़ों की आज्ञा पालने का, ब्राह्मण और श्रमणों के आदर-सम्मान का, नौकर गुलाम, दीन-दुखियों पर दया करने का दान और सदाचार का उपदेश दिया है।

रीति-रिवाज

ग्रीक-लेखक आयलियन से प्रकट है कि सम्राट् बड़ी शान और ऐश्वर्य से रहता था।[1] सुनहरे स्तम्भों के महलों का सौन्दर्य और वैभव ईरान के सूसा और एक्बटाना से भी ज़्यादा था। सिपाहियों द्वारा सुरक्षित सम्राट् सोने से जड़े हुए महीन कपड़े पहिनकर मोतियों से झलझलाती हुई सुनहरी पालकी में बैठकर बाहर जाता था।[2] सिंहासन मौरूसी था, पर एरियन कहता है कि राजसन्तान न होने पर जनता सबसे योग्य आदमी को राजा बना देती थी।[3] राज्य की ओर से नहरें थीं, जिनके अध्यक्ष सिंचाई के लिये सबको बराबर पानी देते थे। सड़कें खूब थीं और आध-आध कोस पर फ़ासला और छोटी सड़क बताने के लिए पत्थर लगे हुये थे।

शासन

गङ्गा और सोन के सङ्गम पर कोई आठ मील लम्बी और १ मील चौड़ी विशाल वैभवशाली राजधानी पाटलिपुत्र के चारों ओर लकड़ी की दीवाल थी, जिसमें तीर मारने के लिये सूराख थे, आने जाने के लिये ६४ फाटक थे और रक्षा के लिये ५७० बुर्ज थे। चारों ओर एक खाईं थी, जिसमें शहर की नालियाँ भी गिरती थीं। नगर के प्रबन्धकों की पाँच समितियाँ थीं। एक समिति उद्योगों का प्रबन्ध करती थी।

राजधानी

समिति

---

[1]आयलियन १३। १८॥ [2]क्विण्टस कर्टियस ८-९॥ [3]एरियन ८॥

दूसरी समिति विदेशियों के निवास, स्वास्थ्य और मरने पर उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया का और उनकी सम्पत्ति को सम्बन्धियों के पास भेजने का प्रबन्ध करती थी। उनकी चाल-चलन का निरीक्षण भी यही समिति करती थी। तीसरी समिति पैदाइश और मौत का लेखा रखती थी ताकि सरकार को जनता का हाल मालूम रहे और कर लगाने में सुभीता हो। चौथी समिति व्यापार का प्रबन्ध करती थी और बाँट-नाप की देख-भाल करती थी। पाँचवीं समिति बनाये हुए माल की बिक्री की देखभाल करती थी और नये या बढ़िया माल में पुराने या घटिया माल का मिलाना रोकती थी। छठी समिति बिक्री पर दस फ़ी-सदी कर इकट्ठा करती थी, क़ीमत मुक़र्रर करती थी और इमारत, बाज़ार, बन्दर इत्यादि की देखभाल करती थी।[1] मैगेस्थनीज़ के आधार पर बहुत से लेखकों ने दुहराया है कि मुक़दमें बहुत कम होते थे और होने पर रीति-रिवाज के अनुसार फ़ैसला किये जाते थे। चोरी बहुत कम होती थी। जोहानीज़ स्टोबाइस ने वार्डिसानीज़ के लेख के आधार पर लिखा है कि कभी-कभी अभियुक्तों को पानी की परीक्षा पार करनी पड़ती थी। झूँठी गवाही देनेवालों की अँगुलियाँ काट ली जाती थीं। अङ्ग-भङ्ग करनेवाले का वही अङ्ग काट लिया जाता था और हाथ भी काट लिया जाता था। किसी मज़दूर के हाथ तोड़ने या आँख फोड़ने के अपराध में प्राणदण्डों दिया जाता था।[2] सेना के प्रबन्ध के लिये भी पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियाँ थी। पहिली समिति नावों और शायद जहाज़ों के

सेना का प्रबन्ध

इन्तिज़ाम में नौपति को मदद देती थी। दूसरी चारा, भोजन, हथियार, घोड़े, साईस, कारीगर, बैल, बैलगाड़ी इत्यादि का प्रबन्ध करती थी। बाक़ी चार समितियाँ पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथियों के विभाग का इन्तिज़ाम करती थी। सैनिक, व्यापारिक कारणों से और मुसाफ़िरों के सुभीते के लिये सरकार सड़कों का प्रबन्ध बहुत अच्छा करती थी। उदाहरणार्थ,

---

[1] स्ट्रैबो १५। १, ३५-३६।। प्लिनी, ६। २२।। यह वर्णन बहुत से ग्रीक-लेखकों ने दुहराया है। [2] मैक्क्रिंड्ल, 'इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड, बाई मैगेस्थनीज़ ऐण्ड एरियन'।

एक सड़क पाटलिपुत्र से उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त तक जाती थी और कोई १००० मील लम्बी थी। साम्राज्य के कई प्रान्त थे जिनका शासन सम्राट् की ओर से राष्ट्रीय करते थे। सुराष्ट्र अर्थात् काठियावाड़ के राष्ट्रीय पुष्यगुप्त ने एक चट्टान और किले के बीच में नदी को बाँधकर सुदर्शन झील बनवाई थी, जिसको उसके उत्तराधिकारी यवन अर्थात् ईरानी तुशास्प ने अशोक के समय में बढ़ाया। खेती का इतना खयाल रक्खा जाता था कि देश में सिंचाई का तो पूरा प्रबन्ध था ही पर किसानों से सैनिक नौकरी नहीं ली जाती थी और लड़ाई के समय में भी शत्रु खेती का नुकसान नहीं करते थे। और कर्मचारियों के अलावा राज्य की नौकरी में बहुत से जासूस थे जो हर एक बात का पता लगाते थे। रंडियाँ भी जासूसी के काम में नियुक्त की जाती थीं। राज्य की आमदनी जमीन के लगान के अलावा व्यापार कर, राज करखानों की चीजों की बिक्री, सामन्तों के खराज और बड़े-छोटों के तुहफों से होती थी। खेतीबारी की उन्नति के लिए ईजाद करने वालों से कोई कर नहीं लिया जाता था।[1]

सड़क

झील

जासूस

इस शासन-पद्धति में बिन्दुसार के किये हुए किसी परिवर्तन का उल्लेख कहीं नहीं मिलता; पर अशोक के शिलालेख कुछ परिवर्तन का और कुछ नई बातों का निर्देश करते हैं। दक्खिन और दक्खिन-पूरब के शासक अशोक को सम्राट् मानते थे पर घरेलू मामलों में वह स्वतन्त्र मालूम होते हैं। अशोक ने अपना सारा प्रभाव, सारी शक्ति, धर्म और सदाचार बढ़ाने में लगा दी और राज्य को धर्मराज्य बना दिया। पर पुरानी हिन्दुस्तानी प्रवृत्ति के अनुसार वह पूरा सहनशील था। उसने बौद्ध-भिक्षुओं के अलावा ब्राह्मणों के आदर-सत्कार पर भी जोर दिया है और दूसरे धर्मों की निन्दा को बहुत बुरा कहा है। शिलालेख में किसी तत्वज्ञान का

अशोक का समय

---

[1] मैक्क्रिण्ड्ल, पूर्ववत् ॥ ई० आई०, ७ न० ६ ॥

ज़िक्र नहीं है, सारा ज़ोर सदाचार पर है। यह जरूर है कि उसने अहिंसा का प्रचार किया और कुछ दिनों मांस बेचने की मनाई कर दी। बाक़ी सत्य, सच्चरित्र, माता-पिता का आदर, आपस में मेल, सबकी भलाई का उपदेश उसने देश भर में लेखा और अभिनयों-द्वारा तथा उसके प्रचारकों ने व्याख्यान द्वारा दिया। जुआ और मद्यपान इत्यादिक समाजों को रोक दिया, स्त्रियों को बीमारी व्याह या प्रस्थान के समयों की गँवारू निरर्थक रीतियों को छोड़ने की शिक्षा दी, बौद्धभिक्षु और भिक्षुनियों से आपसी फूट छोड़ने का आग्रह किया, बहुत से चैत्य और सङ्घाराम बनवाये। विहार-यात्राओं को धर्म-यात्रा बना कर वह सारे साम्राज्य का दौरा करता था और सब जगह धर्म की वृद्धि करता था। चारों ओर सदाचार बढ़ाने के लिये उसने धर्म महामात्र नियुक्त किये।

प्रादेशिक शासन

साम्राज्य के प्रान्त जैसे उज्जैनी, तक्षशिला, कलिङ्ग और शायद दक्खिन में सुवर्णगिरि अक्सर राजकुमारों के अधीन थे। प्रत्येक शासक को सलाह और सहायता देने के लिये महामात्रों अर्थात् अधिकारियों का एक परिषद् था जिससे मतभेद होने पर मामला अक्सर सम्राट् के पास भेजा जाता था। एक लेख में महामात्रों को प्रादेशिक भी कहा है जिससे अनुमान होता है कि वह प्रदेश या जिलों का शासन करते थे। महामात्रों के नीचे राजुक या लाजुक थे, जो कर और न्याय के काम में थे, जिनको सम्राट् ने निष्पक्षता का उपदेश दिया है और जिनके निरीक्षण के लिये उसने महामात्र तैनात किये। इनके नीचे युत लिपिकार और छोटे, बड़े और मझले पुरुष, और प्रतिवेदक थे जो साधारण राजकार्य करते थे। अशोक ने जेलखानों की हालत भी सुधारी और फाँसी पाने वालों को अपील के लिये या परलोक की तैयारी के लिये तीन दिन की मुहलत का नियम बनाया।[1]

कला

हिन्दुस्तान के इतिहास में मौर्यकाल का जैसा महत्त्व धर्म और शासन के क्षेत्र में है, वैसा ही कला के क्षेत्र में भी है। ब्राह्मणों से और वीर-काव्यों से सिद्ध होता है कि ईस्वी-सन् के कई सदी पहिले देश में कलाओं की बड़ी उन्नति हो गई थी। गौतमबुद्ध के समय के सारनाथ के अवशेष, जो बनारस के पास निकले हैं, सूचित करते हैं कि

स्मारकस्तम्भ, धर्मभवन, रहने के मकान, साधारण प्रयोग के बर्तन इत्यादि बहुत अच्छे बनाये जाते थे। मौर्यसम्राट् अशोक के समय के बहुत से निर्माण अब तक मौजूद हैं और उस समय की कला का अच्छा परिचय देते हैं। बुद्ध के असली या नकली अवशेष रखकर या बुद्ध के जीवन की या इतिहास की घटनाओं को स्मरण कराने के लिये स्तूप बहुत तरह के बनाये जाते थे। कोई-कोई एक हाथ से कम ऊँचे थे और कोई-कोई तीस-चालीस गज ऊँचे थे। मौर्यकाल में स्तूपों पर मूर्तियाँ कम रहती थीं पर शुङ्गकाल में बढ़ने लगीं और उसके बाद तो स्तूपों में सब जगह मूर्तियाँ नजर आने लगीं। वर्तमान भूपाल राज्य में साँची का स्तूप अशोक ने बनवाया था पर अशोक के बाद भी उस पर बहुत काम किया गया है। इस समय साँची के स्तूप की जमीन चारों ओर पत्थर की रेलों से घिरी है जिनके चारों ओर परिक्रमा की जाती थी। आने-जाने के लिये चार दिशाओं से चार रास्ते हैं, जिनके दरवाजों पर भीतर और बाहर बुद्ध के जीवन और बौद्ध-साहित्य के दृश्य पत्थर की नक्काशी में ऐसे बनाये हैं कि मानों पत्थर ही साहित्य का सर्वोत्तम साधन है। दुहरे जीने पर चढ़ के एक विशाल चबूतरा मिलता है, जो परिक्रमा का भी काम देता है। इसके ऊपर स्तूप है, जो लगभग अर्द्धचन्द्राकार है और चोटी पर छोटा हो गया है। साँची के दरवाजे अशोक के समय के पीछे बनाये गये थे। तभी भरहुत स्तूप के दरवाजों और चौगिर्दी रेलों पर और अमरावती के स्तूप और रेलों पर अनगिनित भिन्न-भिन्न सुन्दर चमत्कारी, पत्थर के चित्र, बौद्ध-जीवन और इतिहास, साधारण जीवन, मेला, जानवर इत्यादि को अङ्कित करने के लिये बनाये हैं। बौद्धों का विश्वास था कि सारे विश्व ने—स्त्री, पुरुष, बालक, देवता, राक्षस, जानवर सब ने—बुद्ध की पूजा की थी। इसलिये यह सब अङ्कित किये जाते हैं। इनके बनाने वालों को पत्थर पर वैसा ही अधिकार था जैसा बड़े-बड़े गायकों को आवाज पर और बड़े-बड़े कवियों को भाषा पर होता है। प्रत्येक आकार, प्रत्येक भाव, प्रत्येक क्रिया यह पत्थर के द्वारा पूर्ण चातुर्य से प्रकट करते हैं।

स्तूप

साँची

अन्य स्तूप

चातुर्य

अशोक के स्तम्भ जिन पर शिलालेख खुदे हुए हैं, भारतीय कला के सर्वोत्तम दृष्टान्तों में हैं। इनके बनाने, उठाने और खड़ा करने वाले पत्थर के काम में या इञ्जिनियरी में किसी देश या किसी समय के लोगों से कम न थे। चिकने रेतीले पत्थर का लोरियानन्दनगढ़-स्तम्भ ३२ फीट और ६½ इञ्च ऊँचा है, गोलाई में नीचे ३५½ इञ्च है और ऊपर २२½ इञ्च जिससे दृश्य बहुत सुन्दर हो गया है। स्तम्भों की चोटी पर हाथी, शेर इत्यादि की मूर्तियाँ हैं जिनका जीवन-सादृश्य उतना ही आश्चर्यजनक है जितना कि निर्माण का आदर्श और चातुर्य। सारनाथ का स्तम्भ जिसका पता १९०५ ई० में लगा था, उस स्थान का स्मारक है जहाँ बुद्ध ने पहिला उपदेश देकर धर्मचक्र चलाया था। सारनाथ-स्तम्भ की चोटी के हिस्से पर जो सात फीट ऊँचा है चार शेर हैं, जो एक-दूसरे की ओर पीठ किये खड़े हैं और जिनके बीच में पत्थर का धर्मचक्र है। इस धर्मचक्र में ३२ तीलियाँ रही होंगी। शेर एक ढोल पर खड़े हुए हैं जिसकी बगलों पर चौबीस-चौबीस तीली वाले चार छोटे धर्मचक्र हैं, जिनके बीच में एक शेर, एक हाथी, एक बैल और एक घोड़ा है। चाहे जीवन-सादृश्य की दृष्टि से देखिये और चाहे आदर्श की दृष्टि से, यह जानवर और उनके सारे अङ्ग ऐसे चातुर्य और कौशल से बने हैं कि इस कला की बराबरी संसार में कहीं नहीं हो सकती।

अशोक स्तम्भ

सारनाथ स्तम्भ

पुराने समय में यहाँ भिक्षुओं और संन्यासियों के लिये एवं मन्दिरों के लिये पहाड़ियों की बड़ी चट्टानें खोखली करके भवन बनाने की दीवारों और छत पर मूर्तियाँ छाँट देने की और चित्र बनाने की चाल भी बहुत थी। इस कला में हिन्दुओं के बराबर निपुणता किसी ने नहीं दिखाई। गया के १६ मील उत्तर *बराबर* नामक पहाड़ियों पर अशोक ने ऐसी एक सुदाम गुफा आजीवक संन्यासियों के लिये बनवाई थी। इसमें दो कमरे हैं—बाहरी कमरा ३२ फीट ९ इञ्च लम्बा और १९ फीट ६ इञ्च चौड़ा है और भीतरी कमरा जो करीब गोलाकार है लम्बाई में १९ फीट ११ इञ्च और चौड़ाई में १९ फीट है। अशोक की बनवाई हुई दूसरी कर्णचौपार गुफा में

गुफा

एक ही कमरा है, ३३ फ़ीट ६ इञ्च लम्बा और १४ फ़ीट चौड़ा। दीवारें ६ फ़ीट १ इञ्च ऊँची हैं और महराबदार छत दीवारों से ४ फ़ीट ८ इञ्च ऊपर है। इस समय की गुफ़ाओं में मूर्तियाँ कम हैं, तथापि *बराबर* पहाड़ी पर लोमस ऋषि गुफ़ा के तोरण या दरवाजे पर कुछ अच्छी मूर्तियाँ हैं।

अशोक के पोते दशरथ ने भी इसी तरह चट्टान में कई गुफायें बनवाईं।

गुफ़ाओं की कला में विकास

मौर्य-सम्राटों के बाद इस कला में यह विकास हुआ कि गुफाओं के भीतर मूर्तियाँ और चित्र बहुत बनने लगे और मूर्ति तथा चित्रकला पराकाष्ठा को पहुँच गई। बम्बई और पूना के बीच में काली गुफा १२४ फ़ीट ३ इञ्च लम्बी, ४५ फ़ीट, ६ इञ्च चौड़ी और ४५ फ़ीट ऊँची है। इसके तीन हिस्से हैं; मध्य भाग के दोनों ओर पन्द्रह-पन्द्रह स्तम्भ हैं, जिनके दूसरी ओर किनारियाँ हैं। प्रत्येक स्तम्भ आठ कोने का है और प्रत्येक की चोटी हिस्से के पिछले भाग पर बड़ी नक्क़ाशी की गई है। चोटी के हिस्से के पिछले भाग पर दो हाथी घुटने टेके हुए हैं, प्रत्येक हाथी पर एक पुरुष और एक स्त्री है या दो स्त्रियाँ ही हैं; इनके पीछे घोड़े और चीते हैं, जिन पर एक-एक आदमी बैठा है। इस सारी निर्माण-कला और मूर्ति-कला की श्रेष्ठता का पर्याप्त वर्णन भाषा की शक्ति के बाहर है। इतना ही कहा जा सकता है कि पत्थर की नक्क़ाशी का ऐसा चमत्कार संसार में कहीं नहीं देखा गया।

मध्य हिन्द की ग्वालियर रियासत में भीलसा के पड़ोस में वेसनगर के पास

मौर्यकाल की मूर्ति

६ फ़ीट ७ इञ्च ऊँची एक स्त्री की मूर्ति मिली है। यह बहुत टूटी-फूटी है जिससे असली रूप का पता ठीक-ठीक नहीं लगता। पर शायद यह एक यक्षिणी की मूर्ति है। स्त्री का आकार स्वाभाविक है। वेसनगर के भीतर तेलिन की एक ७ फ़ीट ऊँची मूर्ति और है। शायद यह भी मौर्यकाल की है, यद्यपि निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इसमें भी स्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ ऐसी कुछ और मूर्तियाँ मिली हैं जो मौर्यकाल की या आस-पास की हैं। मथुरा अजायबखाने की परखम की यक्षकुबेर-मूर्ति मौर्यकाल की है। आसन को मिलाकर इसकी ऊँचाई ८ फ़ीट

८ इञ्च है और सीने की चौड़ाई २ फ़ीट ८ इञ्च है। यह एक धोती बाँधे हुए है, धोती से ही सीने को ढके हुए है और एक हँसुली पहिने है।

अमरावती-स्तूप

मद्रास प्रान्त के गन्तूर जिले में कृष्णा नदी के किनारे अमरावती या पुराने घरनिकोट नगर में एक बड़ा स्तूप ई० पू० तीसरी सदी में बनाया गया था। यह लगभग उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक क़ायम रहा, पर उस समय पर किसी मूर्ख जमींदार ने पत्थर लेने के लिये इसे बिल्कुल नष्ट कर दिया। इसकी बची-बचाई सामग्री से और पुराने चित्रों से मालूम होता है कि वह पुराने समय की सर्वश्रेष्ठ इमारतों में से था। कुर्सी से १३-१४ फ़ीट ऊँची और ६०० फ़ीट लम्बी खड़े पत्थरों की रेल थी। सारे स्तूप का क्षेत्रफल १६,८०० वर्ग फीट था और सब जगह मूर्तियाँ ही मूर्तियाँ नज़र आती थीं। आदमी, जानवर, देवता—व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक-जीवन, इतिहास—आदि सब कुछ यहाँ पत्थर में अङ्कित था। हिन्दुस्तान की पुरानी शान का पूरा नाटक था। हर एक चीज़ जीवन की सत्यता से पूर्ण थी।

धुराक्खिन की मूर्ति कला।

द्राविड़ मूर्तिकला के पुराने नमूने बहुत कम मिले हैं। मद्रास प्रान्त के गन्तूर जिले में भदिप्रोलू स्तूप में जो ई० पू० तीसरी सदी का है, चारों ओर सङ्गमरमर की जाली थी और बहुत-सी मूर्तियाँ थीं; पर वह सब हाल में नष्ट हो गई हैं। इसी जिले में जग्गयपेट या वेटबोलू में इसी समय का एक स्तूप और है, जिसकी मूर्तियाँ थोड़ी सी बच गई हैं। मूर्तियाँ उसी तरह की हैं जैसी भरहुत के स्तूप की या पच्छिम के गुफा मन्दिरों की।[1]

---

[1]कला के लिये देखिये, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया की वार्षिक रिपोर्ट। फ़ार्गुसन-कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर' अब बहुत पुरानी हो गई है; पर हेवल-कृत 'एन्शेंट इण्डियन आर्किटेक्चर' और 'इण्डियन स्कल्प्चर एण्ड पेटिङ्ग' और वी० ए० स्मिथ-कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन' देखिये। 'जर्नल ऑफ़ इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री' में भी अच्छी सामग्री है। बहुत से लेख 'जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी' आदि की पत्रिकाओं में हैं। कुमारस्वामी-कृत 'आइडियल्स ऑफ़ इण्डियन आर्ट' भी उपयोगी है।

मौर्यकाल के बाद

१०

ई० पू० १८५ के लगभग वृहद्रथ मौर्य को हटाकर उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र की गद्दी पर शुङ्गवंश की स्थापना की।

राजनैतिक अवस्था इस घटना से प्रकट होता है कि क्षत्रियों के अलावा और लोग भी कभी-कभी शासन करते थे।[1] पुष्यमित्र ने ब्राह्मणधर्म का पक्ष लेकर बहुतेरे बौद्धमठ जला दिये और भिक्षुओं को मार भगाया। उसने दो राजसूय यज्ञ किये और इस तरह घोषणा की कि ब्राह्मण-

मगध धर्म फिर सिर उठा रहा है।[2] हाथीगुम्फा शिलालेख से मालूम होता है कि इस समय भी छोटे-मोटे राजा बहुत थे अर्थात् वही पुरानी जमींदारी सङ्घशासन-प्रथा प्रचलित थी। ई० पू० ७३ के लगभग शुङ्गवंश को हटाकर काण्ववंश पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा। इसके बहुत पहिले ही साम्राज्य टूट चुका था। कलिङ्ग आदि प्रदेश स्वतन्त्र हो गये थे। ई० पू० दूसरी सदी में ही ऐर महाराज महामेघवाहन

कलिङ्ग कलिङ्गाधिपति खारवेलन ने कलिङ्ग (उड़ीसा) को फिर बड़ी शक्ति बना दिया और हिमालय तक अपना डङ्का बजाया। इस जैन महाराज ने बहुत से जैनमन्दिर बनवाये, क्षत्रिय संन्यासियों के लिये विशेष प्रबन्ध कराया, पर ब्राह्मणों को भी हाथी-घोड़ा, रथ-सुवर्ण, वृक्ष इत्यादि दान देकर और खूब भोजन कराके प्रसन्न रक्खा। राजधानी में गाना, बाजाना, नाच, नाटक और उत्सव बहुत होते थे।[3] इसी समय के लगभग दक्खिन की ओर शातवाहन-वंश ने अपनी प्रभुता इतनी बढ़ाई कि ई० पू० २८ में काण्व-

---

[1] दिव्यावदान, पृ० ४३३-३४ ॥ तारानाथ (अनु०काइफनर) पृ० ८१ ॥ कालिदास, 'मालविकाग्निमित्र' अङ्क ५ [2] जे० वी० ओ० आर० एस०, सितम्बर १९१४, पृ० २०३ [3] हाथीगुम्फा, शिलालेख, जे०वी० ओ० आर०एस०, जिल्द ३, १९१७ ई०, भाग १, पृ० ४२५-५०७ एवं जिल्द ४, १९१८ ई०, पृ० ९६-९८; ई० आई १०, परिशिष्ट 'आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट', १९२३।

वंश को उतारकर पाटलिपुत्र पर अधिकार जमा लिया।[१]

आन्ध्र

शातवाहन या शातकर्णि राजाओं के सिक्कों और शिलालेखों से मालूम होता है कि इनके समय में भी जमीन्दारी-सङ्घशासन प्रचलित था; अमात्य, महामात्र और भण्डागारिक इत्यादि अधिकारी प्रायः एक ही जमीन्दार वर्ग से लिये जाते थे; दफ्तरों में लेखक इत्यादि भी बहुत थे। कुम्हार, जुलाहे, लुहार, बढ़ई, कारीगर सौदागर इत्यादि ने अपनी-अपनी श्रेणियाँ बना रक्खी थीं जो व्यवसायों की देख भाल, महाजनी और कुछ सामाजिक कार्य भी करती थीं। राजा इन सब का आदर करते थे और ब्राह्मण तथा भिक्षुओं को ज़मीन वगैरह दान करते थे।[२] उधर उत्तर-पच्छिम में ई० पू० दूसरी सदी में यवनों का दौर-दौरा रहा। ग्रीक और पार्थियन

उत्तर-पश्चिम

राजाओं के सिक्के साफ़ बताते हैं कि यह विदेशी हिन्दू धर्म और सभ्यता के नीचे सिर झुका रहे थे, और ब्राह्मण या बौद्ध-मत को स्वीकार कर रहे थे। मिनेण्डर जिसने ई० पू० १५५-५३ में काठियावाड़ से मथुरा तक देश अपने अधिकार में कर लिया और पाटलिपुत्र तक हमला किया। एक प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ मिलिन्दपन्हों में मिलिन्द नाम से धर्म के प्रश्न करता है।[३] पहिली ईसवी सदी के लगभग सुराष्ट्र (काठियावाड़) और आसपास के प्रदेशों में विदेशी क्षत्रप और महाक्षत्रपों ने अपने राज्य स्थापित किये पर बहुत जल्द उनको भी हिन्दू-सभ्यता ने हज़्म कर लिया। जूनागढ़ चट्टान के लेख से प्रकट है कि इनका शासन भी बाकी हिन्दूशासन के सिद्धान्तों का अनुसरण करता था;

---

[१] काण्ववंश के लिये देखिये, पार्जिटर, 'डिनैस्टीज़ ऑफ़ दि कलि एज', पृ० ७१ [२] रैप्सन, 'कौइन्स ऑफ़ दि आन्ध्र, वेस्टर्न सेट्रेप, त्रैकूटक एण्ड बोधि डिनैस्ट्रीज़'। रा० गो० भण्डारकर, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ दि दक्खिनी ॥ देखिये, रा० भण्डारकर, ई० ए०, ४७, पृ० ६६ इत्यादि। ई० ए०, ८, पृ० ८२-८८, ल्यूडर्स नं० ११२३, ११३७, ११६५, ११८०। ई० आई०, १४, नं० ६ ॥ [३] बेवन, 'हाउस ऑफ़ सेल्यूकस'। रालिन्सन, 'सिक्स्थ ओरिण्टल मानर्की'। ब्रिटिश म्यूज़ियम की इण्डोपार्थियन सिक्कों को फेहरिस्त ॥ कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया १, पृ० ५४०-६२

राजा मन्त्रियों की सलाह लेता था; मन्त्री स्वतन्त्रता से राय देते थे, कभी-कभी राजा का विरोध तक कर सकते थे। नहपान के दामाद उषवदात ने देवताओं और ब्राह्मणों को १६ गाँव दिये थे; एक लाख ब्राह्मणों को साल भर तक रोज भोजन कराया था; सराय, कुएँ, तालाब, बाग, घर, प्याऊ, सभाभवन इत्यादि प्रजा के लिये बनवाये थे, एक गाँव सब धर्मों के सन्यासियों की पालना के लिए नियत किया था। यहाँ भी व्यवसायियों की श्रेणियाँ थीं, जैसे कि गोवर्द्धन में २००० जुलाहों की एक श्रेणी थी और १००० जुलाहों की दूसरी श्रेणी थी जो महाजनी भी करती थी।[१] पहिली-दूसरी ईसवी-सदी में उज्जैनी, मथुरा, तक्षशिला, कपिश इत्यादि में भी क्षत्रप-शासन सुराष्ट्र का-सा ही था।

सुराष्ट्र

इसी समय उत्तर-पश्चिम में विदेशी यूची जाति के कुशान वंश ने अपना आधिपत्य जमाया जिसके राजा अपने को महाराजा राजाधिराज कहते थे। इस साम्राज्य में जो हिन्दुस्तान के बाहर भी फैला हुआ था, ब्राह्मण, बौद्ध, पारसी और ग्रीक सभ्यताओं का सङ्घर्षण हुआ। एक-दूसरे पर उनका प्रभाव पड़ा; उदाहरणार्थ, गान्धार मूर्तिकला और महायान बौद्धधर्म अनेक सभ्यताओं के परिणाम हैं। इस वंश के सबसे प्रतापी राजा कनिष्क ने बौद्धधर्म तिब्बत और चीन में फैलाया जहाँ से वह कोरिया जापान, मङ्गोलिया, मञ्चूरिया में और थोड़ा सा साइबीरिया तक फैल गया। राज्य में धार्मिक सहनशीलता वैसी ही थी जैसी अन्य हिन्दू सरकारों में। कनिष्क के कुछ सिक्कों पर शिव की मूर्ति है। यूची इतिहास से भी साबित होता है कि हिन्दू सभ्यता में विदेशियों को हिन्दू बनाने की बड़ी प्रबल शक्ति थी।[२] कनिष्क के दरबार के सबसे बड़े

अन्य राज्य

कनिष्क

---

[१] ई० आई० ७, नं० ७-८, नं० ८ रैप्सन, 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' पृ० १६३-६२ ॥ र० दा० बनर्जी, आई० ए०, सन् १६०८, पृ० २५-७५ ॥ आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, ३ ॥ हिन्दुस्तान के ग्रीक और सिथियन राजाओं के सिक्कों का ब्रिटिश म्यूज़ियम सूचीपत्र ॥ पञ्जाब म्यूज़ियम के सिक्कों का सूचीपत्र ॥ जे० आर० ए० एस०, १६०६ ई०, पृ० ६४५।

अश्वघोष

कवि अश्वघोष ने संस्कृत में बुद्धचरित, सौन्दरनन्दम्काव्यम् इत्यादि ग्रन्थ रचे जिनमें संस्कृत-काव्य का पहिला उदाहरण मिलता है। बज्रशूची-नामक ग्रन्थ में लेखक ने जो शायद अश्वघोष ही था, वर्णव्यवस्था पर हमला किया है और जोर दिया है कि सब आदमी जीने-मरने में, रञ्ज व खुशी में एक से ही हैं। शारद्वतीपुत्रप्रकरण में, जिसका ताड़-पत्र लेख हाल में ही तुर्फान में मिला है, कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय से उपदेश ले सकता है; नीच आदमी भी दवा दे तो फायदा करती है। अश्वघोष से यह भी मालूम होता है कि स्त्रियों की स्वतन्त्रता में कुछ फर्क़ आ गया था।

स्त्रियों का पद

शायद, इसका कारण विदेशी आक्रमण थे। सदा की तरह स्त्रियों को अच्छे कपड़े, माला, जेवर वगैरह का बहुत शौक था और वेष-भूषा में वह बहुत समय खर्च करती थीं।[1] इस समय उत्तर-पश्चिम से ग्रीक या वैक्ट्रियन लड़कियाँ खरीदकर महलों में रक्षक के काम पर नियुक्त की जाती थीं।

अन्धकार

दूसरी ईस्वी सदी से हिन्दुस्तान का इतिहास फिर अन्धकार में प्रवेश करता है। तीसरी ई० सदी की राजनैतिक घटनाओं के बारे में प्रायः कुछ नहीं मालूम है; पर साहित्य से साधारण परिस्थितियों का कुछ पता चलता है। ई० पू० चौथी सदी से लेकर सातवीं ईस्वी सदी तक अर्थात् हिन्दू सभ्यता के उत्कृष्ट काल के पूरे हजार बरस तक हिन्दुस्तान में मुख्य धर्म तीन थे—बौद्ध, जैन और ब्राह्मण—जो भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रधान थे। सारे देश की दृष्टि से बौद्धधर्म प्रधान था, पर ब्राह्मण धर्म

धार्मिक स्थिति

भी हमेशा जीता-जागता धर्म रहा। मौर्य-साम्राज्य के नाश होने के बाद ब्राह्मण धर्म ने फिर बहुत से राजाओं का सहारा पाया। गौतमी पुत्र शातकर्णि ने वर्णाश्रम-धर्म स्थापित करने का दावा किया है। ब्राह्मण-साहित्य की धारा यों तो कभी नहीं टूटी थी पर अब वह बड़े बेग से बहने लगी।

---

[1] 'अश्वघोष, बुद्धचरित,' ३। १३। इत्यादि।

मौर्य-साम्राज्य के पतन और गुप्त-साम्राज्य के उत्थान के बीच में संस्कृत में अनेक धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और दूसरे ग्रन्थ बने, जिनमें से

पहिले धर्मशास्त्र

बहुत से नष्ट हो गये हैं पर जो बच रहे हैं वह धर्म, समाज, उद्योग, व्यापार इत्यादि पर बहुत प्रकाश डालते हैं। याद रखना चाहिये कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सिद्धान्त के ग्रन्थ हैं, व्यवहार के नहीं और उनके कोई-कोई रचयिता संसार से बहुत जानकारी भी नहीं रखते थे। पर उनके बनाये हुए नियम बहुत मनोरञ्जक हैं और ग़ौर से पढ़ने पर कुछ-कुछ पता लग जाता है कि लोग उस समय कैसे रहते थे। जैमिनीयन्यायमालाविस्तर में माधवाचार्य का कहना है कि स्मृतियों ने बिखरे हुए वैदिक-सिद्धान्त और उपदेश संग्रह किये हैं, पर सच यह है कि उनमें पीछे को बहुत-सी बातें शामिल हैं। सबसे प्रामाणिक धर्मशास्त्र है मनु का जो दूसरी ईसवी सदी के लगभग रचा गया था[1], जिसमें लुप्त मानवधर्मसूत्र के अंश अवश्य ही सम्मिलित होंगे और जिसमें भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों और व्यवहारों को मिलाने के प्रयोजन से कभी-कभी परस्पर-विरोधी बातें कही हैं।

मनु

वर्णाश्रम-धर्म पर मनु ने बहुत से नियम बनाये हैं और जीवन की छोटी-से-छोटी बातों का भी सिद्धान्त के अनुसार चलाने का प्रयत्न किया है। ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, देवता हैं, विद्या ही उनका व्यसन है पर आपत्ति में वह खेतीबारी कर सकते हैं। श्राद्ध में न बुलाये जाने वाले ब्राह्मणों की फ़ेहरिस्त से साबित होता है कि उस समय कुछ ब्राह्मण नट, नर्तक, गायक, महाजन, किसान, सौदागर, तीर-कमान बनाने वाले, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बैल रखने वाले, मुर्दा ढोने वाले, क़साई वग़ैरह भी थे।[2] मनु ने

वर्णाश्रम

---

[1]मनु के समय के लिये बुहलर और बर्नेल के अनुवादों की भूमिकाएँ और जौल कृत 'लौ एण्ड कॉटम' और 'हिन्दू लॉ ऑफ़ एडाप्शन,' देखिये। [2]मनु० १। २१, ८९, ९१, ९६, ९८, १००-१०१ ॥ २। २२४ ॥ ३। १५१ इत्यादि ४। ४ ॥ ६। ३४-३७ ॥ ९। ३१३-२३ ॥ १२। ८८-९०॥

कारीगरी का अपमान किया है और शूद्रों को विद्या और ऊँचे स्थान का निषेध किया है।[1]

राजप्रबन्ध

मनु शिष्टाचार और आत्मतुष्टि को भी क़ानून का दर्जा देते हैं और आगे चलकर यह भी कहते हैं कि राजा को न्याय में देश, जाति और कुलों के रीतिरिवाज़ को मानना चाहिये।[2] मनु ने राजा को देवता माना है और दण्ड के द्वारा धर्म की स्थापना का आदेश किया है। कारीगर, सौदागर, वैद्य इत्यादि सब के व्यवसायों पर राजा को क़ानून बनाने चाहिये। यद्यपि मनु से ही सिद्ध होता है कि इस काल में भी धर्मसूत्र और जातकों के समय की तरह, व्यावसायिक आत्मशासन बहुत था। मनु के अनुसार, राजा को प्रादेशिक शासन, चीज़ों के दाम, नाप और वज़न सब नियत करने चाहिये; जो वैद्य रोगी को क्षति पहुँचाएँ, उन पर जुर्माना करना चाहिये। राजा को ब्राह्मण, पुरोहित के अलावा सात-आठ मन्त्री रखने चाहिये और रोज उनसे लड़ाई, सुलह, आय-व्यय इत्यादि पर सलाह करनी चाहिये। परराष्ट्र-सम्बन्धों के लिये होशियार दूत होना चाहिये। खान, माल, बाज़ार, गोदाम इत्यादि के प्रबन्ध के लिये और अफ़सर होने चाहिये। सभा, सराय, बाग़, नाटकगृह, चौराहे, जङ्गल, शराब और भोजन की दूकान, वेश्याभवन, तमाशे, मन्दिर के वृक्ष इत्यादि पर सिपाहियों का पहरा रहना चाहिये।[3]

प्रादेशिक शासन

प्रादेशिक शासन का आधार गाँव है जिसका प्रबन्ध मुखिया को करना चाहिये। दस, बीस, सौ और हजार गाँवों के समूहों पर अधिकारी होने चाहिये, जिनको वेतन के तौर पर ज़मीन दी जाय। सब अधिकारियों पर कड़ी

---

[1]मनु० २। १५५, १६८ ॥ ३। १३, १५४-६७ ॥ ४। ४-६, ६१, ८१ ॥ ५। ८३-८४ ॥ ८। २०, २२, ४१८ ॥ [2]मनु० २। १४ ॥ ८। ३, ८, ४६ ॥ [3]मनु० ७। ३-१२, ३७-६८, १४५-५१, १४-२४, ८०-८८, १४४ ॥ ३। १३४-३६, १४३ ॥ ८। ३०९, ३८६, ४०१-४०३ ॥ ९। २५६-६०, ३०४, ३०९, २६४-६६, २७२ ॥ ११। १८, २२-२३ ॥

नजर रखनी चाहिये; और घूसखोरों को जायदाद जब्त करके देश निकाला देना चाहिये।[1]

जमींन की पैदावार का $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{6}$ या $\frac{1}{8}$ कर-रूप में लेना चाहिये; पशु और सोने की कीमत से $\frac{1}{50}$. पेड़, गांस, शहद; घी, सुगन्ध, मसाले, फूल, फल और चमड़े के सामान, मिट्टी के बर्तन और पत्थर की चीजों पर $\frac{1}{6}$; बिक्री की चीजों पर $\frac{1}{20}$ और हाथ से काम करने वालों से महीने में एक दिन की मेहनत। इसके अलावा जमीन के नीचे से निकलने वाली दौलत का आधा हिस्सा राजा को और आधा ब्राह्मणों को मिलना चाहिये; माल की गाड़ियों से कुछ कर लेना चाहिये; लावारिस जायदाद राज्य की है। पर विद्वान् ब्राह्मणों से, सत्तर बरस से ऊपर बुड्ढों से, अन्धे और लंगड़ों से कोई कर न लेना चाहिये।[2]

कर

न्यायालय में राजा को ब्राह्मणों की सहायता से या राजा की गैरहाज़िरी में ब्राह्मण न्यायाधीश को और तीन ब्राह्मणों की सहायता से घटना, अभियुक्त, समय, गवाह इत्यादि सबकी परीक्षा करके सत्य का पता लगाना चाहिये। खेत या गाँव की सरहदों के मुकदमों में पड़ोसियों की सहायता लेनी चाहिये। दण्ड चार तरह का है—चेतावनी, डाँट, जुर्माना और शारीरिक दण्ड।[3] जनता पर और न्यायाधिकारियों पर नजर रखने के लिये बहुत से जासूस होने चाहिये।[4]

न्याय

समस्त आगामी ब्राह्मण-साहित्य पर मनु का प्रभाव दृष्टिगोचर है। उनके राजनैतिक सिद्धान्त भी बहुत से लेखकों ने जैसे-के-तैसे रख दिये हैं। उदाहरणार्थ, तीसरी ईस्वी-सदी के लगभग विष्णु

विष्णु

---

[1]मनु० ७। ११३-४४ ॥ ९। २३४ ॥ [2]मनु० ७। १२७-३८ ॥ ८। ३०-४५, ३९८-९९, ३९४; ४०४-४०७ ॥ ९। ४४ ॥ [3]मनु० ८। ४८-५०; १-२, ९-११; २०-२१, २५-२६, ७४-१२३, १२७-३०, ४३ ॥ [4]मनु० ७ १२२, १५४ ॥ ९, २५६, २९८ ॥

ने अपनी भाषा में मनु के नियम दुहराये हैं।[1]

मनु के बाद सबसे अधिक प्रभावशाली धर्मशास्त्र याज्ञवल्क्य का है; जो शायद चौथी ईसवी-सदी के लगभग रचा गया था। याज्ञवल्क्य, धर्म के चौदह स्थान मानते हैं—पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार-वेद और छः अङ्ग। संशय हो तो वेद, धर्मशास्त्र के पण्डितों के परिषद् से या उनके अभाव मे केवल एक सबसे बड़े पण्डित से तै कराना चाहिये। जान पड़ता है कि हिन्दू राज्यों में शङ्का-समाधान के लिये विद्वानों के परिषद् बराबर हुआ करते थे। उनसे एक बड़ा प्रयोजन यह सिद्ध होता था कि क़ानून समय की प्रगति के बहुत पीछे न पड़ता था। धर्मशास्त्र पर बहुत जोर देते हुए भी हिन्दू-लेखक यह मानते हैं कि व्यवहार में और बातों का भी विचार रखना चाहिये। याज्ञवल्क्य मानते हैं कि आत्मतुष्टि भी धर्म का एक स्थान है। देश, कुल और जाति के रीतिरिवाजों का भी आदर राजा को न्याय में करना चाहिये। राजा को हर तरह से प्रजा की बढ़ती करनी चाहिये और रक्षा के लिये बहुत से किले बनाने चाहिये।[2] याज्ञवल्क्य के अन्य राजनैतिक सिद्धान्तों में कोई नई बात नहीं है। सामान्यतः वह मनु से मिलते-जुलते हैं; पर हिन्दू क़ानून में आज तक याज्ञवल्क्य का बड़ा महत्त्व है। कारण यह है कि याज्ञवल्क्यस्मृति पर आगे चलकर विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा नामक टीका लिखी, जिसमें दायभाग इत्यादि की ऐसी व्यापक और विशद विवेचना है कि वह अनेक प्रदेशों में अब तक प्रामाणिक मानी जाती है।

याज्ञवल्क्य

परिषद्

राजा के कर्त्तव्य

मिताक्षरा

---

[1]देखिये, विष्णु १। ४७ ॥ २। २-३, ५-१६, ६५-६७, ९८ ॥ ३। ४-६, १६-१७ २१, २३-३२, ५५-६४। ५। ५०-५९ ॥ ६। २० ॥ १७-१३ ॥ २४। १-८ ॥ २६। ४-७ ॥ न्याय के लिये, ५। ६०-१९५ ॥ परीक्षाओं के लिये ९। ५-३२ ॥ १२-१४ ॥ [2]याज्ञ० १। ३, ५, ७, ११ ॥ २। ३०,३०५ ॥ १३। ३०९-१३, ५२७-४१, ३४४, ३५३-६१, ३६४-६८ ॥ १६। २० ॥ १८, ४-५, १२ ॥

हिन्दू-साहित्य में जीवन के चार उद्देश्य माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इसलिये धर्मशास्त्रों के साथ-साथ अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र भी रचे गये जिनमें से अधिकांश नष्ट हो गये हैं। कोई २५ बरस हुए दक्खिन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्र मिला है जो चाणक्य, कौटिल्य या कौटल्य के नाम का होने से बहुधा ई० पू० चौथी सदी के चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री का समझा जाता है, पर जिसका समय वास्तव में अनिश्चित है। शायद दूसरी-तीसरी ईस्वी सदी का होगा।[1] अर्थशास्त्र में सब जगह जमीन्दारी सङ्घशासन-प्रथा का प्रतिबिम्ब है, साम्राज्य बढ़ाने की आकांक्षा है और शत्रुओं को बस में करने के लिये परराष्ट्रनीति में मण्डल के नियम बनाकर पास वालों से वैर, उनके पास वालों से मित्रता और तत्पश्चात् मित्रता-शत्रुता या उदासीनता का विस्तारपूर्वक विधान है। विजय होने पर अधीन राजाओं को घरेलू मामलों में स्वतन्त्रता देनी चाहिये उनका सम्मान करना चाहिये पर उन पर हमेशा नजर रखनी चाहिये और साम-दाम दण्ड भेद—सच-झूठ—सब उपायों से उनको अधीन रखना चाहिये।[2]

अर्थशास्त्र

कौटिल्य

मण्डल

---

[1] भिन्न-भिन्न मतों के देखिये शामशास्त्री, गणपतिशास्त्री और जौली के संस्करणों की भूमिका। जैकोबो, आई० ए० जून-जुलाई १९। ८॥ जायसवाल 'हिन्दू पालिटी' परिशिष्ट ३ पृ० २०, ३-१५ ॥ रा० गो० भण्डारकर, पहिली पूर्वी परिषद् की कार्यवाही, पूना, १९२० ॥ विण्टरनिज, कलकत्ता रिव्यू, १९२४ कीथ, जे० आर० ए० एस०, १९१६, पृ० १३०-३८ ॥ संस्कृत-साहित्य में अर्थशास्त्र के उल्लेखों के लिये देखिये कामन्दकनीतिसार, १। ४-७ ॥ दण्डिन्, दशकुमारचरित २।८ ॥ जैननन्दिसूत्र ॥ सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृतम् ॥ वाणभट्ट, कादम्बरी ॥ हेमचन्द्र अभिधानचिन्तामणि, (बम्बई) पृ० ३४, और यादवप्रकाश वैशयन्ती (सं० ओपर्ट), पृ० ९६। कौटल्य को द्रामिल भी कहते हैं। शिलालेख के (ई० आई० १६ नं० ७) के अनुपार कौटिल्य की अपेक्षा कौटल्य का प्रयोग विशेष ठीक है। [2] अर्थशास्त्र (सं० शामशास्त्री) ७। पृ० २११—२१९; ३८०, ४०७।

मनु, विष्णु और याज्ञवल्क्य इत्यादि धर्मशास्त्रों में और कामन्दक इत्यादि नीतिसारों में भी इसी तरह के उपदेश हैं।[1]

कौटल्य के मतानुसार राजा को प्रजा के लिये सब कुछ करना चाहिये। जंगल साफ करा के, नये गाँव बसा कर, बढ़ती हुई आबादी के लिये उपनिवेश बनाकर आर्थिक अवस्था सुधारनी चाहिये। अकाल के समय शिकार करा के, अच्छे स्थानों में लोगों को लेजा के, मूल-कन्द-फल इत्यादि बोकर, अमीरों पर भारी कर लगाकर और पड़ोसी राजाओं से रुपया लाकर लोगों की जान बचानी चाहिये।

राज्य के कर्त्तव्य

आर्थिक प्रयत्न

उद्योग-व्यापार में कौटल्य ने राजा को चीजों के दाम तय करने का, उनकी बिक्री के लिये बाजार बनाने का, और लगभग हरएक चीज पर नियत कर लेने का उपदेश दिया है। राजा को राजमार्ग, राष्ट्र-मार्ग इत्यादि और सब तरफ आदमी और जानवरों के लिये सड़कें, पगडण्डी वगैरह बनानी चाहिये।[2] बीमारी, बढ़िया, साँप, टीडी इत्यादि सब आपत्तियों से जनता की रक्षा भौतिक और आधिभौतिक उपायों के द्वारा करनी चाहिये।[3] राजा को नियम और उपदेश के द्वारा प्रयत्न करना चाहिये कि गुरु-शिष्य और प्रत्येक घर में पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, चचा-भतीजे प्रीति से रहें। अनाथ, बूढ़े, कमजोर, गरीब और विपत्तिग्रस्त आदमियों की मदद राज्य को करनी चाहिये।

मार्ग

भरण-पोषण

कौटल्य से यह भी पता लगता है कि उन दिनों विधवाओं का ब्याह होता था और रोग या निर्दयता इत्यादि के कारण स्त्री या पुरुष एक-दूसरे को तलाक दे सकते थे। विधवा-ब्याह

---

[1]मनु० ७। १०४, १२२, १५४, १५८-२०७ ॥ ६। २५१, २६८ विष्णु ३ ॥ ४७-४६। ३५ ॥ याज्ञ० १३। ३२१ ॥ कामन्दक ८। १६-१७,२० ॥ ६ ॥ २,२१, ४५, ७५ ॥ १० ॥ ८-२२ ॥ १७। २-३ ॥ अग्नि २४ ॥ [2]अर्थ० पृ० १६१-६८, १४४, २०६-२०७, २२७, ३०, ४७-४६, ५४, २६५ ॥ [3]अर्थ० पृ० २०५-२०८ ॥

और तलाक़ दोनों ही राज्य को मान्य थे। यह भी मालूम होता है कि बहुत से वर्गों में ब्याह बहुधा बड़ी अवस्था में होता था और ब्याह के पहिले युवक और युवती एक-दूसरे से मुलाक़ात किया करते थे। कौटल्य ने वेश्या, नट, नाटक, जूआ, शराब, इत्यादि पर बहुत से नियम दिये हैं, वर्ग बनाये हैं, दाम या फ़ीस नियत की है, उन सबके लिये अध्यक्षों का प्रबन्ध किया है और उनकी आमदनी पर टैक्स या ऐसा ही कर लगाया है।[1]

निरीक्षण

कौटिलीय अर्थशास्त्र में राज्य के कर्त्तव्यों की कोई सीमा नहीं है। शायद उन दिनों राज्य की ओर से कार्यवाही भी बहुत की जाती थी। जान पड़ता है कि इस समय राज्य की ओर से सोना, चाँदी, लोहा इत्यादि की खानों का प्रबन्ध होता था और समुद्र से मोती वगैरह निकाले जाते थे। इनके बारे में भी कौटल्य ने बहुत से नियम दिये हैं। राज्य के बहुत से कारखाने थे जिनमें सैकड़ों स्त्री-पुरुष काम करते थे और जिनका प्रबन्ध कोष्ठागार इत्यादि अफ़सर रखते थे। इसी तरह राज्य की ओर से नाव और जहाज़ भी चलते थे।[2]

राज्य की कार्यवाही

राजा के लिये कौटल्य ने दिन-रात का कार्यक्रम बनाया है, जिसके अनुसार अधिकांश समय मन्त्रियों के सलाह में, अधिकारियों से मिलने में, दूतों को आज्ञा देने में और सेना के निरीक्षण में व्यतीत करना चाहिये। पुराने अर्थशास्त्र-लेखकों में मनु ने १२, बृहस्पति ने १६ और उशनस् ने २० मन्त्री रखने का आदेश किया था, पर कौटल्य की राय है कि जितने आवश्यक हों उतने मन्त्री रखने चाहिये। मन्त्री ऊँचे कुल, चरित्र और बुद्धि के होने चाहिये। पुरोहित के अलावा मुख्य मन्त्री हैं सेनापति, समाहर्ता (कर इकट्ठा करनेवाला), निधायक और सन्निधाता (खजाञ्ची), कर्मान्तिक (कार्यान्तों का

राजा

मन्त्री

[1] अर्थ० पृ० ४७-४८, ११६, २१, १२४-२५, २५३-५६, १८३-८४, १९७-१९९, २३२-३५, २२८-२६ ॥ [2] अर्थ० पृ० ९३-९६, ९८-१०१, ११३-१५, १२६-२८, १४०-४१ ॥

निरीक्षक), नायक (पुलिस का अध्यक्ष) इत्यादि । इनके नीचे खेती, पशु, नाप-बाँट, व्यापार, जहाज़, खान, कर, शराब इत्यादि महकमों के अध्यक्ष थे और उनके नीचे बहुत से कर्मचारी, लेखक इत्यादि थे । सेना के खास महकमे थे—हथियार, हाथी, घोड़े, रथ और पैदल । सरहदों का प्रबन्ध अन्तपाल करते थे और क़िलों का दुर्गपाल । जिलों में प्रदेष्ट्, नगर में नागरक और गाँव में गोप का प्रबन्ध था । दण्डपाल या प्रशास्तृ न्याय करते थे। इनके अलावा बहुत से दूत थे । दरबारों में दौवारिक, अन्तर्वासिक, बहुत से पण्डित, गायक इत्यादि-इत्यादि थे । वेतन ४८,००० पण से लेकर १०० पण तक थे। आवश्यकता पड़ने पर सरकारी नौकरों को और भी सहायता मिलती थी और मरने पर कुछ के परिवारों को पेंशन दी जाती थी ।

वेतन

अन्यत्र कौटल्य के कथनों से जान पड़ता है कि फ़ौजदारी के मुक़दमे अधिकतर कण्टकशोधन और दूसरे मुक़दमे धर्मस्थीय न्यायालयों में फ़ैसल होते थे । ज़्यादातर तीन न्यायाधीश होते थे । लेखक मुद्दई, मुद्दालेह और गवाहों के बयान लिखा करते थे। जासूस भी बहुतेरी बातों का पता लगा देते थे। सेना में देशी, विदेशी, पहाड़ी, जङ्गली इत्यादि सबही तरह के लोग रख लिये जाते थे। बहुत से सिपाही दस, दो-सौ, चार-सौ, आठ-सौ गाँव के प्रदेशों के केन्द्रस्थलों में संग्रहण, खारवाटिका, द्रोणमुख और स्थानीय क़िलों में रखने चाहिये। कौटल्य कहता है कि आवश्यकता पड़ने पर राजा श्रेणियों का धन ज़ब्त कर सकता है और धोखा देकर प्रजा से बहुत-सा द्रव्य वसूल कर सकता है।[1]

न्याय

सेना

धर्महीन राजनीति

राजनीति में कौटल्य के धर्म और सदाचार की पर्वाह नहीं है। राज्य का धन और बल जिन उपायों से बढ़े, वह सब

[1]अर्थ० ३०, १३-४५, ५४, ७०-७५, ८६-१४३, ६६-७०, ६२, १६०-६५, १६६-२००, २०३, २०५-२०८, २६८, २२२-२४।

ठीक है। यूरोपियन लेखक मेकियावेली की तरह कौटल्य भी धर्महीन राजनीति का पोषक है। प्राचीन भारत में कम-से-कम बीस अर्थशास्त्र रचे गये थे पर कौटल्य के सिवाय केवल एक और अर्थशास्त्र का पता लगा है। वह बहुत छोटा है और वृहस्पति के नाम से है। उसके कुछ अंश ९-१० ई० सदी के जान पड़ते हैं पर उसमें भी कौटल्य के से पुराने विचार हैं। एक जगह कहा है कि जहाँ आचार और धर्म का विरोध हो वहाँ आचार को मानना चाहिये। मन्त्रिमण्डल में मत की एकता का प्रयत्न करना चाहिये। नाविक और सैनिक रक्षा का प्रबन्ध पूरा-पूरा होना चाहिये और सुभीते, आगम और उन्नति के लिये राजा को सराय, मन्दिर, तालाब और पाठशालाएँ बनानी चाहिये।[1] वार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र बहुत महत्त्व का नहीं है पर कौटिलीय अर्थशास्त्र का प्रभाव संस्कृत-साहित्य में बहुत जगह दिखाई पड़ता है। अर्थशास्त्रों का प्रभाव इतना बढ़ा कि पुराणों में धर्मशास्त्र की प्रधानना स्थापित करने की आवश्यकता हुई।

वार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र

७-८ वीं ई० सदी के लगभग कामन्दक ने नीतिसार में कौटल्य के बहुत से सिद्धान्त पद्य में लिखे।[2] इनका भी प्रचार बहुत हुआ और यह अनेक संस्कृत-लेखकों और टीकाकारों ने उद्धृत किये हैं। कामन्दक ने कौटल्य की बहुत सी बातें छोड़ दी हैं। शायद वह ७-८ वीं ई० सदी के अनुकूल नहीं था। १० ई० सदी में शङ्कराचार्य ने कामन्दक पर एक टीका रची। उसी समय के लगभग दक्खिन में सोमदेव सूरि ने कुछ तो कौटल्य के और कुछ दूसरों के सिद्धान्त लेकर नीतिवाक्यामृतम् रचा। अग्नि और मत्स्यपुराणों में भी कामन्दक के बहुत से अंश उद्धृत हैं।

कामन्दक इत्यादि

---

[1] वार्ह० (सं० एफ० डब्ल्यू० टामस) १। ४-५, ४६-४८, ५२॥ २। ५१-५२, ५४॥ ३। १८, २६-२७, ३८, ४६, ५३-५५, ७६, ७८॥ ४। २७, ३०, ३४, ३६-४४॥ ६। ४॥ [2] ख़ासकर देखिये, 'नीतिसार' १। २-७, ११-१४ २१-६०॥ २। ६१-७१॥ ४। ३३॥ ५। ३७॥ ७। १२॥ २२। ६३॥ ३१। ५४-६८।

कौटल्य इत्यादि ने अपने सङ्गठन के सिद्धान्त बहुत-कुछ व्यवहार के आधार पर बनाये हैं, यह कई बातों से साबित है। एक तो यह सिद्धान्त

घुरदक्खिन

२-३ ई० सदी से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराण, नीतिशास्त्र, काव्य, कथा—सब जगह मिलते हैं। दूसरे, घुरदक्खिन के तामिल-साहित्य से २-३ सदी के बारे में जो बातें मालूम होती हैं, वह कौटल्य इत्यादि की सी हैं।[1] इसी समय (मद्रास के निकट) मयलापुर के कवि तिरुवल्लुवर ने अपना मुप्पाल या कुरल रचा जो अब तक तामिल-

तिरुवल्लुवर

साहित्य के सबसे अच्छे ग्रन्थों में गिना जाता है और जिसका प्रभाव सारे तामीलकम्पर १८०० बरस से खूब ही रहा है। इसमें राजा को जो उपदेश दिया है और जो राजप्रबन्ध बताया है, वह कौटल्य से बहुत मेल खाता है।[2] इस समानता से कभी-कभी तो ख़याल होता है कि कहीं कौटल्य भी तो दक्खिन का नहीं है, पर अर्थशास्त्र के बहुतेरे उल्लेखों से इस धारणा का खण्डन हो जाता है। तो भी यह साफ ज़ाहिर है कि इस समय हिन्दुस्तान के उत्तर और दक्खिन में सङ्गठन के एक से ही तत्त्व प्रचलित थे और एक से ही सिद्धान्त ग्रन्थों में लिखे गये। पर यह कह देना ज़रूरी है कि परराष्ट्र-नीति में जिस दम्भ की सलाह अर्थशास्त्र इत्यादि ने दी है,

आर्यदेव

उसका समर्थन सब लेखकों ने नहीं किया। उदाहरणार्थ, इसी समय के बौद्ध-लेखक आर्यदेव ने व्यक्ति के जीवन में सब-जगह सत्य और सदाचार के पालन पर ज़ोर दिया है।[3] उसका ग्रन्थ चतुःशतिका धर्महीन राजनीति का निराकरण करता है। इस प्रकार इस काल में राजनैतिक इतिहास की कमी में भी राजनैतिक संस्थाओं का कुछ पता

निष्कर्ष

लगता है। भाग्यवश, इधर राजनीति पर बहुत से लेखकों ने रचनाएँ कीं। राजनीति के सम्बन्ध में दो बातें स्पष्ट प्रकट

---

[1]देखिये, कनक समाइ (पिल्ले), 'तामिल्स एट्टीन हण्ड्रेड ईयर्स एगो' खासकर पृ० ११०-१२, १२३ [2]देखिये, तिरुवल्लुवर, (कुरल अनु० लाजरस) ४००-७०० ॥ [3]चतुःशतिका, पृ० ४६२-४ ॥

होती हैं—एक तो शासन का सङ्गठन बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच गया था और दूसरे, राज्य के कर्त्तव्य बहुत बढ़ गये थे। कृषि, उद्योग, व्यापार, समाज, रीति, विद्या, शिक्षा, साहित्य, कला—जीवन का कोई अङ्ग न था जिसकी स्थिरता या उन्नति के लिये राज्य की ओर से प्रयत्न न होता हो। हिन्दू-सभ्यता के विकास में राज्य सदा से एक बड़ा भारी कारण था, जीवन के अनेक अङ्गों से राज्य का सम्पर्क रहा था। पर ई० पू० चौथी सदी से यह सम्पर्क और भी घनिष्ट हो गया और राज्य की सहायता से चारों ओर बहुत से परिवर्तन हुए।

सामाजिक सिद्धान्त

सामाजिक सिद्धान्त

मौर्ययुग और गुप्तयुग (चौथी ईस्वी सदी) के बीच में सामाजिक आदर्श और आचार पर भी बहुत विचार हुआ और बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। इसका एक कारण यह था कि ब्राह्मणधर्म फिर प्रबल हो रहा था और समाज के लिये फिर से कानून बना रहा था। यों तो ब्राह्मण-लेखक संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और धर्मसूत्र की दुहाई बराबर देते हैं पर वह बहुत सी नई बातें लोकाचार के आधार पर लिखते रहते हैं।

मनु

मनु ने हिन्दू सामाजिक सिद्धान्त को जो रूप दिया वह आज तक नहीं मिटा है। व्यक्तिगत चरित्र का, वर्णाश्रमधर्म का, कौटुम्बिक जीवन का और कानून का ब्योरेवार कथन संक्षेप से पर ओजस्वी पद्य में मनु ने बहुत सदियों के लिये कर दिया है। सारी स्मृति में उन्होंने द्विजों की और खासकर ब्राह्मणों की सत्ता जमाई है। क्षेत्रों में वह मध्य-देश को प्रधान मानते हैं जहाँ काला हिरन स्वतन्त्रता से घूमता है। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के धर्म अलग-अलग हैं। वर्णों के धर्म वही हैं जो सूत्रों में देख चुके हैं।

वर्ण-धर्म

सब वर्णों का, सारी सृष्टि का स्वामी ब्राह्मण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की बालकों का यज्ञोपवीत पाँच-छः, आठ, या ग्यारह-बारह की अवस्था में क्रमशः

करना चाहिये और सोलह, बाईस, चौबीस बरस की अवस्था में क्रमशः गायत्री-मन्त्र देना चाहिये।[1] यज्ञोपवीत के बाद बालकों को गुरु के यहाँ ३६, १८ या ९ बरस या विद्यासमाप्ति तक संयम और भक्ति-पूर्वक गुरु की सेवा करते हुए, स्त्रियों से भीख माँग कर खाते हुए, सब व्रत पालन करते हुए, वेद-शास्त्र इत्यादि पढ़ने चाहिये। इसके बाद ब्याह करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य

ब्याह आठ तरह के हैं—ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। पहिले छः ब्राह्मणों के लिये और आखिरी चार दूसरे वर्णों के लिये हैं, पर पैशाच और असुर ब्याह कभी न करने चाहिये। भ्रातृहीन कन्या से ब्याह न करना चाहिये क्योंकि अगर उसका पिता उसे नियुक्त कर दे तो पुत्र का लाभ (पारलौकिक लाभ) ससुर को होगा। पिता, भाई पति, इत्यादि सब को स्त्रियों का आदर करना चाहिये, नहीं तो घर जैसे जादू से नष्ट हो जायगा। रस्मों और उत्सवों पर भोजन, वस्त्र और जेवर से स्त्रियों का सम्मान करना चाहिये। स्त्री प्रसन्न है तो सारा घर प्रसन्न है, स्त्री अप्रसन्न है तो कोई भी प्रसन्न नहीं है। पर मनु स्त्री को स्वतन्त्रता से वञ्चित करते हैं, देवता की तरह पति की पूजा और आज्ञा पालने का आदेश करते हैं।[2] आगे चलकर मनु कहते हैं कि स्त्रियों की प्रवृत्ति स्वभाव से चञ्चल और दुराचार की ओर होती है, इसलिये बड़ी होशियारी से उनकी रक्षा करनी चाहिये और घर के काम में ही उन्हें लगाये रहना चाहिये।[3] एक जगह विधवा-ब्याह का निषेध किया है;[4] पर अन्यत्र विधवाओं को या ऐसी पत्नियों को जिनके पति बरसों से लापता हों, देवर से नियोग, या शायद ब्याह की इजाजत दी है।[5] यहाँ पर विधवा-ब्याह के चलन का जिक्र है पर मनु को वह पसन्द नहीं है।[6]

ब्याह

स्त्री

---

[1] मनु० १। ८१-९९ ॥ २। १६, ३६-३८ ॥ [2] मनु० २। ५०-५८ ॥ ३। १-३३, ५५-६२, १०५, ११७ ॥ ५। १४७-१६४ ॥ [3] मनु० ९। २-१६ ॥ [4] मनु० ५। १५७, १६२ ॥ [5] मनु० ९। ५२-६६, ७६ ॥ [6] मनु० ९। ३६, ६८॥

इससे प्रतीत होता है कि विधवा-व्याह अब तक जारी था पर अब उसका कुछ विरोध होने लगा था। इसका कारण शायद यह था कि संन्यास, वर्ण-व्यवस्था और बिदेशी आक्रमणों की गड़बड़ से स्त्रियों का पद गिर रहा था। उनका बाहर आना-जाना कम हो रहा था, सामाजिक प्रभाव घट रहा था और वह सम्पत्ति समझी जाने लगी थीं। यह धारणा उत्पन्न हो रही थी कि स्त्री एक बार जिसकी हो गई, सदा के लिये उसी की रहेगी। स्त्रियों की अवनति के और भी उदाहरण मनुसंहिता में मिलते हैं। मनु कहते हैं कि जो पत्नियाँ आज्ञा न मानें, वह कुछ दिन के लिये त्यागी जा सकती हैं और उनके जेवर छीने जा सकते हैं।[1] मनु के अनुसार पुरुषों का ब्याह बड़ी उम्र पर जैसे, चौबीस, तीस, बरस पर होना चाहिये पर, वह आठ या बारह बरस तक की छोटी कन्याओं के व्याह की इजाजत देते हैं।[2] ऐसे अनमेल व्याह कभी बहुत न होते होंगे। एक ओर तो बहुत लोग ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहते थे और दूसरी ओर अब बाल-ब्याह प्रारम्भ हो रहा था। यह पारस्परिक विरोध बहुत दिन तक नहीं चल सकता था।

भोजन इत्यादि

गृहस्थ-जीवन के लिये मनु ने छोटी-बड़ी, आवश्यक-अनावश्यक बातों पर बहुत से नियम बनाये हैं। चाहे जिस समय आये अतिथि को अच्छी तरह भोजन देना चाहिये। देव, ऋषि, पितृ और कुल-देवताओं की पूजा कर के भोजन करना चाहिये, स्त्रियों के साथ नहीं और न अशुभ आदमियों की मौजूदगी में। मांस खाने और मद्य पीने में कोई दोष नही है पर उनसे परहेज करने से बड़ा लाभ है। नियत समयों पर यज्ञ, पूजापाठ और श्राद्ध करना चाहिये और जहाँ तक हो सके अपने ही वर्ण की वृत्ति से जीविका चलानी चाहिये। सच और मीठी बात बोलनी चाहिये।[3]

जब पुत्र के पुत्र हो जाय और अपने बाल सफेद होने लगे तब संसार छोड़कर इन्द्रियों को जीतकर वन में कन्द-मूल और फल-फूल खाते हुए, तपस्या करते

---

[1]मनु० ६। ७७-८०॥ [2]मनु० ६। ८६-६४॥ [3]मनु० ३। १०५, ११७, ११६, १५२-६६॥ ४॥ ५॥

हुए तथा जीवों का उपकार करते हुए शान्ति, सन्तोष, और संयम के साथ रहना चाहिये। द्विजों से भिक्षा लेकर निर्वाह करना चाहिये और अध्ययन करना चाहिये। इस तीसरे आश्रम के बाद चौथा आश्रम है, जिसमें सब मोह-ममता छोड़कर परिव्रजन करना चाहिये, एकमात्र मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिये, योग-ध्यान करना चाहिये, अकेले रहना चाहिये, तप करना चाहिये।[1] इस तरह जीवन व्यतीत करने से धर्म अर्थ, काम, मोक्ष—चारों की सिद्धि होगी। स्मृति के बारहवें अध्याय में मनु ने आध्यात्मिक विद्या का विस्तार से व्याख्यान किया है। ११ वें अध्याय में छोटे-बड़े पापों के लिये बहुत से प्रायश्चित भी बताए हैं।

बानप्रस्थ

संन्यास

चार वर्णों के अलावा जो जातियाँ नज़र आती थीं उनकी उत्पत्ति मनु ने और शास्त्रकारों या सूत्रकारों की तरह वर्णों के मिश्रण से बताई है। जैसे, वैश्य या शूद्र स्त्री से ब्राह्मण की सन्तान क्रमशः अम्बष्ठ और परश्व है; शूद्र या ब्राह्मण से क्षत्रिय की सन्तान क्रमशः उग्र और सूत है; ब्राह्मण और क्षत्रिय से वैश्य की सन्तान क्रमशः वैदेह और मगध है इत्यादि-इत्यादि। इसी तरह वर्णसंकर जातियों के आपस में या फिर वर्णों से और तत्पश्चात् इनकी सन्तान के वर्णों या वर्णसंकरों से मिश्रण होने पर बीसों जातियाँ पैदा हुईं। इन सबके लिये भिन्न-भिन्न उद्यम नियत किये गये हैं।[2] यह सम्भव है कि वैदिक काल के बाद भी वर्णों में कुछ मिश्रण हुआ हो पर इस तरह नई जाति पर जाति बनने का कोई प्रमाण इतिहास से नहीं मिलता। वर्णसंकरों में चीन, यवन इत्यादि के उल्लेख से भी मालूम होता है कि यहाँ शास्त्रकारों ने कल्पना से बहुत काम लिया है। उपजातियों की वास्तविक उत्पत्ति की विवेचना आगे की जायगी; पर यह बताना आवश्यक है कि वर्णसंकर की धारणा से धर्मशास्त्र और पुराण इतने सन्तुष्ट थे कि ऐतिहासिक कारण निश्चय

वर्णसंकर

[1] मनु० ६। २, ८-२४, २१-५०, ५६, ७०-७३॥ [2] मनु० १०। ८-३६, ४५-४६॥

करने में उनसे बहुत-कम मदद मिलती है। मनु के बाद जितने ब्राह्मण-धर्मशास्त्र रचे गये, वह मनु के बहुत ऋणी हैं।

कृष्णयजुर्वेद की चारायणीय काठक-शाखा का धर्मसूत्र जो विष्णु-स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है, आरम्भ से ही मनु से बहुत सम्बन्ध रखता है और मनु के से ही सिद्धान्तों से भरा है। उसकी केवल दो-चार विशेष बातें ही लिखने की जरूरत है। वैश्यों को खेती, पशु-पालन, व्यापार, साहूकारी इत्यादि व्यवसाय करने चाहिये। शूद्रों के लिये कला-उद्योग के सब मार्ग खुले हैं।[1] गाली, अपमान, व्यभिचार पर जो कानून हैं, वह वर्ण-भेद के आधार पर हैं अर्थात् एक ही तरह के अपराध के लिये मुद्दई मुद्दालेह के वर्ण के अनुसार भिन्न-भिन्न दण्डों का विधान है, ऊँची जाति के लिये कम, नीची जाति के लिये ज्यादा। एक और विचित्र नियम है कि साधारणतः ऋण पर भिन्न-भिन्न वर्णों के आदमियों से भिन्न-भिन्न दर से ब्याज लिया जाय।[2] खण्ड १६ में विष्णु भी मनु की तरह वर्णों और वर्णसंकरों के सम्मिश्रण से और जातियों की उत्पत्ति बताई है, उनके लिये उद्योग नियत किये हैं और अन्तर्जातीय ब्याह का निषेध किया है।[3] पर १८ वें खण्ड से सिद्ध है कि कभी-कभी अन्तर्जातीय ब्याह अवश्य होते थे। खण्ड २४ में ब्याह के वही आठ प्रकार बताये हैं और पुत्रों की अनिवार्य आवश्यकता पर जोर दिया है। विष्णु में तरह-तरह के पापों का वर्णन है और अन्यत्र प्रायश्चित्त के सामान्य विधान हैं।[4] विष्णु के समय में सती का रिवाज कहीं-कहीं प्रचलित था।[5] व्यास, शङ्ख और आङ्गिरस् की स्मृतियों में सती का बड़ा पुण्य परिणाम बताया है। ई० पू० चौथी सदी में सिकन्दर के समय में इसका उल्लेख मिलता है। जान पड़ता है कि बाहर से आने वाली

(हाशिया: विष्णु — वर्ण — ब्याह — सती)

---

[1] विष्णु० २। १०-१४॥ [2] विष्णु० ५। ३५-४३ ॥ ६। २३॥ [3] विष्णु० १६॥ [4] विष्णु० २२॥ ५३॥ ५५। ३३-४२॥ [5] विष्णु० २५। १४॥

कुछ जातियों में यह प्रथा प्रचलित थी। उन्होंने हिन्दुस्तान में बसने पर भी इसको जारी रक्खा। स्त्रियों का पद गिरने पर और निवृत्ति-मार्ग का चलन होने से कुछ हिन्दुओं ने भी इसे अङ्गीकार कर लिया। जब स्त्रियों की ओर सम्पत्ति का-सा भाव हो गया तब सती के भाव का प्रचार असम्भव नहीं था। जैसे-जैसे विधवा-ब्याह रुकता गया सती की प्रथा कुछ बढ़ने लगी। पर सब हिन्दुओं में यह कभी नहीं फैली। अहिंसा के मानने वाले जैन और बौद्ध तो इसे कभी स्वीकार कर ही नहीं सकते। बाकी हिन्दुओं में भी कुछ ही समुदायों ने इसे माना। इसमें से भी बहुत से शायद बाहर से आने वालों के वंशज थे।

याज्ञवल्क्य

विष्णु की तरह याज्ञवल्क्य, मनु पर सर्वथा निर्भर नहीं है, पर उनके ग्रन्थ में भी मनु के-से विचार बहुत से हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के तीन भाग हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। पहिले और तीसरे भाग के बहुत से अंश गरुड़ पुराण में उद्धृत किये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रमों के सामान्य नियम दिये हैं। याज्ञवल्क्य अनुलोम ब्याह मानते हैं, पर शूद्र स्त्री से द्विज का ब्याह नहीं पसन्द करते। अपने और प्रत्येक

ब्याह

नीचे द्विज वर्ण से एक-एक कन्या लेकर ब्राह्मण ३, क्षत्रिय २ और वैश्य १ ब्याह कर सकता है पर शूद्र कन्या से नहीं।[1] जान पड़ता है कि इस समय वर्णव्यवस्था के नियम और भी कड़े होते जाते थे और शूद्रों से किसी तरह का ब्याह सम्बन्ध पसन्द नहीं किया जाता

स्त्री

था। याज्ञवल्क्य ने ब्याह के वही आठ प्रकार बताये हैं जो मनु, विष्णु और अन्य धर्मशास्त्रों में मिलते हैं।[2] बीमार, दग़ाबाज़, शराबी, बांझ, कड़ा बोलने वाली, दुराचारी, या केवल लड़की पैदा करने वाली स्त्री को छोड़कर दूसरा ब्याह किया जा सकता है।[3] पति की आज्ञा मानना स्त्री का प्रधान कर्त्तव्य है। सास, ससुर और पति की सेवा

---

[1] याज्ञ० ३। ५६-५७॥ [2] याज्ञ० ३। ५८-६१॥ [3] याज्ञ० ३। ७२-७३।

करनी चाहिये, घर का कामकाज करना चाहिये। सम्बन्धियों को चाहिये कि स्त्रियों का आदर करें और बड़ी होशियारी से उनकी रक्षा करें। पति के मरने पर स्त्री को अपने पति के सम्बन्धियों के साथ रहना चाहिये पर नियोग की भी इजाज़त है।[1] अतिथि-सेवा बड़ा भारी धर्म है। बच्चों और बूढ़ों को, कन्या को, दुलहिन और गर्भवती स्त्री को, अतिथि को और नौकर को पहिले भोजन कराके गृहस्थ स्त्री-पुरुष को खाना चाहिये।[2]

आतिथ्य इत्यादि

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में दायभाग के बहुत से नियम हैं जो लौकिक रीति-रिवाज के आधार पर स्थिर जान पड़ते हैं और न्यायालयों में अब भी अंशतः माने जाते हैं। स्मृतियों में कानून है कि घर के मालिक के जीते जी पत्नी, पुत्र या दास किसी जायदाद के मालिक नहीं हो सकते।[3] वसिष्ठ ने जायदाद पर माँ का अधिकार बहुत बताया है।[4] पर इस मामले में स्मृतियों में मतभेद है। गौतम,[5] आपस्तम्ब[6] और मनु के[7] अनुसार सबसे बड़ा लड़का जायदाद का अधिकारी है; उसे पिता की तरह भाइयों की रक्षा करनी चाहिये। नारद कहते हैं कि छोटा लड़का भी यदि वह अधिक योग्य हो तो, पैतृक जायदाद का प्रबन्धक हो सकता है।[8] गौतम, मनु और विष्णु की सम्मति है कि ज़मीन, पानी, घड़ा, खाना, कपड़ा, ज़ेवर, चारपाई, दासी, घोड़ा-गाड़ी, सड़क, पुस्तक इत्यादि का बटवारा नहीं हो सकता।[9] पर यहाँ भी और लेखकों से मतभेद है। नारद शङ्खलिखित और हरित के अनुसार पिता की अनुमति से या पिता के बूढ़े, विक्षिप्त या बीमार होने पर यों ही लड़के बटवारा कर सकते हैं। ज्यादातर बटवारा पिता के मरने पर और कभी-कभी माता-पिता दोनों के मर जाने पर होना चाहिये।

दायभाग

---

[1] याज्ञ० ३ । ६८-६६, ७८-८६ ॥ [2] याज्ञ० ५ । १०२, १०५, १०८, १११ ॥ [3] मनु० ८ । ४१६ ॥ नारद० १ । ३, ३३, ३८-३६ ॥ ५ । ३६ ॥ [4] वसिष्ठ० १५ । २-४ ॥ [5] गौतम० २८ । १ । ३ ॥ [6] आपस्तम्ब २ । ५ । ६ । १४ ॥ [7] मनु० ६ । १७ ॥ [8] नारद० १३ । ५ ॥ [9] गौतम० २८ । ४६-४७ ॥ मनु० ६ । २२६ ॥ विष्णु० १८ । १४ ।

विष्णु बटवारे में पैतृक सम्पत्ति और अपनी पैदा की हुई सम्पत्ति में भेद करते हैं।[1] बटवारे में माँ के या बहिन के हिस्से के बारे में शास्त्रों में बड़ा मतभेद है—कोई-कोई तो उनका हिस्सा बिल्कुल नहीं मानते और बाकी उस हिस्से के परिमाण के बारे में अलग-अलग राय रखते हैं। अन्तर्जातीय ब्याह के पुत्रों में माँ के वर्ण के अनुसार भिन्न-भिन्न परिमाण के बटवारा होने के नियम हैं।[2] जान पड़ता है कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों, समयों या वर्गों में भिन्न-भिन्न क़ानून प्रचलित थे। मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद इत्यादि सब मानते हैं कि स्त्री को अपने पिता, भाई, पति या अन्य सम्बन्धियों से ब्याह के समय या और अवसरों पर जो द्रव्य मिले, वह स्त्रीधन है और उस पर केवल स्त्री का ही अधिकार है। अगर पति, पुत्र, भाई या और कोई स्त्री की इजाज़त के बिना उसके स्त्रीधन का उपयोग करे तो उसे क़ानून से सज़ा मिले। कात्यायन इत्यादि कुछ शास्त्रकारों की राय से स्त्री की अपनी कमाई भी स्त्रीधन है। स्त्री के मरने पर स्त्रीधन कुछ लेखकों के अनुसार पुत्र-पुत्रियों में तथा औरों के अनुसार केवल पुत्रियों में बटना चाहिये; ज्यादातर राय है कि स्त्रीधन पर पहिला हक़ कुमारी पुत्रियों का है। सन्तान न होने पर स्त्रीधन पति के और कुछ अवस्थाओं में स्त्री के माता-पिता के पास जाता है।[3] इस प्रकार के नियम स्मृति, टीका, भाष्य इत्यादि में भिन्न-भिन्न हैं और अलग-अलग समयों या स्थानों में प्रचलित रहे हैं। स्त्रीधन के बारे में कुछ लेखकों ने कहा है कि आवश्यकता पड़ने पर पति उसका प्रयोग कर सकता है।

स्त्रीधन

महाभारत के समय से ही हिन्दुओं ने जीवन के चार उद्देश्य माने थे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रत्येक उद्देश्य के ऊपर शास्त्रों की रचना हुई। मोक्ष पर तो पूरी पूरी तत्त्वज्ञान-पद्धतियाँ ही निकली, धर्मों का उद्देश्य ही आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराना

कामशास्त्र

---

[1]विष्णु० १७। १, २॥ [2]वसिष्ठ० १७। ४७-५०॥ मनु० ६। १४६-५१॥ विष्णु० १८। १-४०॥ [3]मनु० ३। ५२॥ ६। १६४-२००॥ विष्णु० १७। १८, २२॥ १८। ४४॥ याज्ञ० २। १४३-४४॥ नारद० १३। ८॥

था। मोक्षशास्त्र नाम से भी बहुत से धार्मिक ग्रन्थ रचे गये। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का परिचय दिया जा चुका है। इनके अलावा कामशास्त्र पर भी बहुत सी पुस्तकें लिखी गईं। अर्थशास्त्रों की तरह उनका भी अधिकांश लोप हो गया है; पर वात्स्यायन का महत्वपूर्ण कामसूत्र अब तक मौजूद है। लेखक ने प्रारम्भ में ही स्वीकार किया है कि पहिले कामशास्त्र के बहुत से पण्डित और लेखक हो गये हैं और उन्हीं के आधार पर मैं अपने ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ। इससे निर्विवाद सिद्ध है कि जैसे मोक्ष, धर्म और अर्थशास्त्रों की परम्परा थी वैसे ही कामशास्त्र की भी परम्परा थी। इनमें भोग-विलास की विवेचना वैज्ञानिक ढङ्ग से की जाती थी। वात्स्यायन का समय निश्चय करना उतना ही कठिन है जितना कौटल्य का। एक प्राचीन संस्कृत-लेखक हेमचन्द्र ने कहा है कि वात्स्यायन और कौटल्य एक ही हैं।[1] यद्यपि और किसी प्राचीन लेख से इस कथन का समर्थन नहीं होता पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वात्स्यायन की शैली बिल्कुल कौटल्य की सी है। चाहे दोनों एक न रहे हों पर एक ही समय के जान पड़ते हैं। यदि यह अनुमान ठीक हो तो वात्स्यायन को भी लगभग दूसरी-तीसरी ई० सदी का मानना चाहिये। पर यह निरा अनुमान है। निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कामसूत्र में बहुत सी अश्लील बातें हैं; बहुत सी बातें हैं जो सर्वथा अश्लील न होते हुए भी यहाँ लिखने योग्य नहीं हैं। अस्तु, कामसूत्र के मुख्य विषय का परिचय हम यहाँ नहीं देंगे; केवल उन प्रासङ्गिक बातों की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे जो उस समय की सामाजिक संस्थाओं पर या सिद्धान्तों पर प्रकाश डालती हैं।

वात्स्यायन

कामशास्त्र का पण्डित होने पर भी वात्स्यायन जीवन में काम को अनुचित महत्त्व नहीं देता। शास्त्र प्रारम्भ करते ही उसने घोषणा की है कि काम से

---

[1] देखिये, शामशास्त्री, 'जर्नल ऑफ़ दि मिथिक सुसायटी' भाग ४, पृ० २१०-१६॥

अर्थ श्रेयस्कर है और अर्थ से भी धर्म श्रेयस्कर है, पर जीवन में काम का कुछ महत्त्व अवश्य है। जहाँ तक हो सके, धर्म, अर्थ और काम का पालन इस तरह करना चाहिये कि आपस में उनका विरोध न हो।[1] जीवन के सामञ्जस्य का यह सिद्धान्त बहुत गम्भीर और ऊँचे दर्जे का था और वात्स्यायन के चरित्रज्ञान और अन्तर्दृष्टि का प्रमाण है। एक और सिद्धान्त वात्स्यायन में है जिस पर अब यूरप और अमरीका में शिक्षा-सुधारक ज़ोर दे रहे हैं। वात्स्यायन कहता है कि और विषयों की तरह काम की शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी शिक्षा से बालक बहुत-सी कुचेष्टाओं से बच सकते हैं। वात्स्यायन के प्रासङ्गिक कथन जीवन की बहुत सी बातों के सम्बन्ध में हैं। उदाहरणार्थ, वह स्त्रियों की ऊँची शिक्षा का कट्टर पक्षपाती है।

काम का स्थान

शिक्षा

स्त्रियों को साधारण शास्त्र पुरुषों की तरह पढ़ने चाहिये और कामशास्त्र सम्बन्धी धाय, तपस्विनी इत्यादि से सीखने चाहिये।[2] अन्य लेखकों की तरह वात्स्यायन ने भी ६४ कलाएँ गिनाई हैं। उनमें गीत, वाद्य, नृत्य, लेख्य, पुस्तकवाचन, प्रहेलिका वास्तु-विद्या, धातु-विद्या; निमित्तज्ञान, काव्यक्रिया, कसरत, सीना-पिरोना, फूलमाला, गृह-प्रबन्ध इत्यादि शामिल हैं। जो पुरुष इन्हें सीख ले वह स्त्रियों को आकर्षित कर सकेगा और जो स्त्री इन्हें सीख ले वह अपने पति को अधिकार में रख सकेगी।[3]

स्त्रियों की शिक्षा

नगरवृत्त अर्थात् नागरिक जीवन का वर्णन करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि मकान के दो हिस्से होने चाहिये—बाहर और भीतर अलग-अलग कमरे और दफ़्तर और एक उपवन जरूरी है। पलङ्ग, दरी, गद्दी, चन्दन, माला, गाना-बजाना—आदि सब घर में होना चाहिये। गाने-बजाने, गपशप और साहित्य-चर्चा के लिये गोष्ठियाँ होनी चाहिए।[3]

मकान इत्यादि

---

[1]काम० १। २। ११-४६ ॥ [2]काम० १। ३ १३ ॥ [3]काम० १। ३। १६-२४ ॥

चाहिये।[1] अनुमान है कि वेश्याएँ भी कलाओं में निपुण होती थीं, गोष्ठियाँ करती थीं और रंगीले जवानों के बाग और शराब के जल्सों में शामिल होती थीं। इस तरह के आनन्द-प्रमोद कभी-कभी रात-रात भर हुआ करते थे; बहुतेरे इससे बर्बाद हो जाते थे। हाँ, बहुत से जल्से अच्छे भी होते थे जिनमें घर के ही स्त्री-पुरुष रहते थे।[2] तीसरी पुस्तक कन्यासम्प्रयुक्तम् में वात्स्यायन के उपदेशों और सिद्धान्तों से अनुमान होता है कि कुछ वर्गों में लड़कियाँ खूब शिक्षा पाती थीं, कलाकौशल, वेषभूषा द्वारा आकर्षक बनाई जाती थीं, यज्ञ, उत्सव, त्यौहार, बरात इत्यादि के अवसरों पर लोगों से मिलती-जुलती थीं, युवक और युवतियों में प्रेम हो जाता था, आना-जाना, बातचीत, सैर, पढ़ना-पढ़ाना, गाना-बजाना हुआ करता था, एक-दूसरे को प्रसन्न करने की चेष्टाएँ होती थीं और फिर ब्याह होता था। वात्स्यायन कहते हैं कि उसी कन्या से ब्याह करने से सुख मिल सकता है जिससे वास्तव में प्रेम हो।[3] अगले अध्याय की बातें अश्लीलता के कारण यहाँ नहीं लिखी जा सकती पर उनसे बालविवाह का प्रतीकार होता है। चौथे भाग (अध्याय २) से विधवा ब्याह का प्रचार भी सिद्ध होता है।[4] घर में स्त्री को पति सास, ससुर, आदि की सेवा करनी चाहिये। शहरों की अपेक्षा देहात का जीवन बहुत सादा था। वहाँ रुपया कम था, ऐश्वर्य और भी कम था, विद्या की चर्चा भी बहुत नहीं थी।

जल्से

ब्याह

इस युग की सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात थी नई-नई उपजातियों की उत्पत्ति। ऊपर कह चुके हैं कि उपजातियाँ वैदिक काल में ही बनने लगी थीं, शायद अनार्यों में पहिले से ही अनेक जातियाँ थीं; मिश्रण से कुछ और उपजातियाँ बनी होंगी और फिर भौगोलिक और व्यावसायिक कारणों से प्रत्येक

उपजातियाँ

---

[1]काम० १।४ ४-३३॥ [2]काम० १।४। ३४-५२॥ [3]काम० ३।१॥ [4]काम० ४।२॥

वर्ण या बड़ी उपजाति के और भी विभाग होते गये। पर आगामी समय में उप-जातियों की संख्या इतनी बढ़ी कि अवश्य कुछ और विशेष कारण होंगे। धर्मशास्त्र में बहुत सी उपजातियाँ गिनाई हैं। पर यह लेखक अपने विश्वासों के कारण सारे संसार को चातुर्वर्ण्य के क्षेत्र में लाने पर उतारू थे। इसलिये वह सब उपजातियों की उत्पत्ति वर्णसंकरता के आधार पर बता के सन्तुष्ट हो गये। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, इतिहास से इस धारणा का समर्थन नहीं हो सकता पर अभाग्यवश विवेचना के लिये बहुत सामग्री भी नहीं मिलती। अनुमान से ही कुछ कारण स्थिर किये जा सकते हैं। प्राचीन हिन्दू सभ्यता में दूसरों पर प्रभाव डालने की अनुपम शक्ति थी; जो इसके सम्पर्क में आये वह अपने बहुत से विश्वासों और आचारों में हिन्दू हो गये। इस तरह एक-एक करके बहुत से अनार्य समुदाय जो इधर-उधर अपनी पुरानी सभ्यता लेकर जा छिपे थे ब्राह्मण धर्म के नीचे आये। पर वर्ण-व्यवस्थ के कारण यह हिन्दू-समाज में सर्वथा हिलमिल न सके। धर्म के कारण यह दूसरे पुराने अनार्यों से अलग हो गये, वर्ण के कारण यह हिन्दू-समाज में खप न सके। इस परिस्थिति में एक ही बात सम्भव थी—यह कि नये हिन्दू समुदाय नया समुदाय अपनी अलग एक जाति बना ले। इस तरह बहुत सी नई उपजातियाँ बनीं। पर प्रत्येक उपजाति किस वर्ण में गिनी जाय? ब्राह्मण तो शायद इन सबको शूद्र समझना चाहते थे पर अगर नया समुदाय अपने को वैश्य, या क्षत्रिय या ब्राह्मण कहने लगे तो उसे कौन रोक सकता था? कुछ दिन में लोग उनकी वास्तविक उत्पत्ति भूल जाते होंगे और नया वर्ग अपनी पसन्द के वर्ण की एक उपजाति समझा जाता होगा। इस तरह की कार्यवाही के एक और परिणाम पर ध्यान देना चाहिये। इससे उप-जातियों में अन्तर्ब्याह और भी रुक गया होगा। इन नये हिन्दू समुदायों से ब्याह करने में पुराने समुदाय स्वभावतः झिझकते होंगे और जब पृथक् ब्याह की परिपाटी एक बार प्रारम्भ हुई तो स्थिर हो गई होगी। अगर नये हिन्दू समुदाय में पहिले से आपस में ही वर्ग विभाग थे तो प्रत्येक वर्ग की अलग-अलग उपजातियां बनी होंगी।

कारण

अनार्य समुदायों की तरह विदेशी समुदाय भी हिन्दू हो रहे थे। उत्तर-पच्छिम से बहुत से लोग जैसे ग्रीक, सिथियन, शक, इत्यादि हिन्दुस्तान में आये और बस गये। अब उनके वंशज कहाँ हैं? अब वह हिन्दू समाज के अङ्ग हैं। उन्होंने शीघ्र ही कोई हिन्दू धर्म अङ्गीकार कर लिया था, वह कोई भारतीय भाषा बोलने लगे थे और यहाँ की रीतिरिवाज मानने लगे थे। पर वर्ण-व्यवस्था के कारण पुराने हिन्दू उनसे ब्याह सम्बन्ध न करते थे अथवा बहुत कम करते थे। इसलिये उन्होंने अपनी-अपनी नई जातियाँ बनाईं। सम्भवतः उनके वर्गों की अलग-अलग उपजातियाँ बनी होंगी; उनके पुरोहित-वर्ग में हिन्दू होने पर, एक ब्राह्मण उपजाति बनाई होगी; उनका शासक वर्ग अवश्य ही क्षत्रिय हो गया होगा; साधारणजन वैश्य या शूद्र हो गये होंगे। इस तरह एक साथ ही बहुत सी उपजातियाँ बनी होंगी।

विदेशी समुदाय

जिन कारणों से पहिले जातियों के भेद हुए थे उन्हीं से अब उपजातियों के भी भेद होते रहे। एक उपजाति के जो लोग व्यापार के लिये या और किसी कारण से दूर जा बसे उन्होंने अपनी छोटी सी उपजाति अलग बना ली। उदाहरणार्थ, आगामी काल में विश्वास था कि बङ्गाल के राजा आदिसूर ने मध्यदेश से कुछ ब्राह्मण वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिये बुलाये। वह बङ्गाल में ही बस गये और उनकी एक नई उपजाति बन गई। आज भी बङ्गाल की बहुत सी ब्राह्मण उपजातियाँ अपने को मध्यदेश से आनेवाले भिन्न-भिन्न समुदायों की सन्तति बताती हैं। उड़ीसा के विषय में भी यह ऐतिहासिक परम्परा है कि एक राजा ने कन्नौज से १०,००० ब्राह्मण बुलाकर बसाये थे। उसके बाद कन्नौज से इनके ब्याह सम्बन्ध स्वभावतः टूट गये, पर उड़ीसा वालों से भी सम्बन्ध नहीं हो सकते थे; अस्तु, उनकी एक नई जाति बन गई। यह क्रम बहुत प्राचीन काल से १६वीं ई० सदी तक रहा। रेल चलने के बाद ही यह बन्द हुआ। धार्मिक भेद के कारण भी शायद कुछ छोटी-छोटी उपजातियाँ बनी होंगी। एक ही उपजाति के जो लोग जैन या बौद्ध हो गये उनसे

अन्य कारण

प्रवास

शायद ब्राह्मण धर्म वालों ने ब्याह सम्बन्ध छोड़ दिया होगा और इस तरह दो या अधिक विभाग हो गये होंगे। मांस खाने या न खाने के कारण यह भेद अधिक तीव्र हो गये होंगे। सामाजिक आधार की भिन्नता का भी ऐसा ही परिणाम हुआ होगा। उदाहरणार्थ; जब विधवा-ब्याह की रोकटोक प्रारम्भ हुई तब एक ही उपजाति के समर्थकों और विरोधियों में भेद हो जाने की सम्भावना थी। व्यवसाय बदलने पर भी नई उपजातियों की उत्पत्ति सम्भव थी। कभी-कभी तो जान पड़ता है कि एक ही व्यवसाय को भिन्न-भिन्न रीतियों से करने वाले एक-दूसरे से जुदा हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, इस समय भी उड़ीसा के कुछ हिस्सों में बैठकर छोटे बर्तन बनाने वाले कुम्हार बड़े होकर बड़े बर्तन बनाने वाले कुम्हारों से ब्याह नहीं करते। कहीं-कहीं दाहिनी ओर से बाईं ओर को जाल बुनने वाले मछुए बाईं ओर से दाहिनी ओर जाल बुनने वालों से अलग हैं। एक और कारण ध्यान के योग्य है। निम्नश्रेणी के कुछ लोग किसी तरह द्रव्य या विद्या या अधिकार पाकर उपजाति के साधारण निर्धन छोटे लोगों से अलग हो जाते थे। कभी-कभी वह ऊँचे वर्ण का दावा करते थे; प्रारम्भ में चाहे उनकी हँसी हुई हो पर समय बीतने पर ऊँचे वर्ण के ही कहलाने लगते थे। इस तरह एक नई उपजाति खड़ी हो जाती थी। यह क्रम अब तक जारी है। बहुत प्राचीन समय में भी इसके सङ्केत मिलते हैं। सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण में बताया है कि नीचे व्रात्यदेव किस प्रकार ऊँचे हो गये[1]; यहाँ पर उत्प्रेक्षा यह है कि नीची जातियाँ कैसे ऊँची हो जाती थीं। अथर्ववेद में तो इसकी प्रशंसा की है।[2] किसी समय लिच्छवि या निच्छवि पतित गिने जाते थे। मनु ने भी उनको पतित व्रात्य क्षत्रिय कहा है।[3] पर अधिकार के कारण वह पूरे क्षत्रिय होने का दावा करने लगे और बड़े-बड़े राजकुलों को अपनी बेटी ब्याह ने में सकुचाने लगे। इस

धार्मिक-भेद

आचार-भेद

उन्नति

---

[1] ताण्ड्य महाब्राह्मण, १७।४।३॥ [2] अथर्व० १५।२॥ [3] मनु० १०।२२॥

प्रकार चातुर्वर्ण्य जो सदा से ही कोरा सिद्धान्त था नाममात्र को ही शेष रह गया। सारी व्यवस्था बीसों क्या सैकड़ों उपजातियों की थी।

धर्म

इस काल के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है। मुख्य धर्मों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय पहिले दिया जा चुका है। दो-एक और बातों की ओर सङ्केत करना काफ़ी होगा। धर्म बहुत व्यापक अर्थ का शब्द है। पुराने ग्रन्थों में कहा है कि धर्म वह है जो सारे संसार और विश्व को धारण करता है। जैन कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। मीमांसासूत्र में कहा है कि धर्म वह है जो चलाता है। वैशेषिक सूत्रों में कहा है कि धर्म वह है जिससे इस लोक और परलोक में आनन्द हो। शारीरिकभाष्य मानता है कि देश और समय के अनुसार धर्म बदलता है।[1] साधारण साहित्य में बहुधा धर्म शब्द जीवन के मार्ग के अर्थ में प्रयोग किया गया है। जीवन का ध्येय क्या है? उस ध्येय तक कैसे पहुँच सकते हैं? इन विषयों पर देश में अनेक भिन्न-भिन्न मत थे पर आपस के सम्पर्क से एक मत का प्रभाव दूसरे मत पर पड़ा करता था।

धर्म

धीरे-धीरे ब्राह्मण धर्म ने बौद्ध धर्म पर असर डाला। महायान नामक एक नया बौद्धग्रन्थ निकला, जिसमें बहुत से ब्राह्मण-तत्त्वों का समावेश है। २०० ई० के लगभग नागार्जुन ने जो सब ब्राह्मण शास्त्रों का भी पण्डित था इसके सिद्धान्तों की व्यवस्था कर दी।

महायान बौद्धधर्म

महायान भक्ति पर ज़ोर देता है और सब के लिये निर्वाण का द्वार खोलता है। हीनयान पन्थ के अनुसार थोड़े ही आत्मा निर्वाण तक पहुँचेंगे पर महायान सबको निर्वाण की आशा दिलाता है। बुद्ध की भक्ति से यह सब हो सकता है। सद्धर्मपुण्डरीक ग्रन्थ में जो २०० ई० के लगभग बना था बुद्ध को प्रेमी पिता के तुल्य माना है। अवलोकितेश्वरगुणकरण्डव्यूह में माना है कि अवलोकितेश्वर अर्थात् बुद्ध असीम

---

[1] शा० भा० ३। १। २५॥

करुणा से सब जीवों की ओर देखते हैं । शिक्षा समुच्चय में बोधिसत्त्व कहता है कि मैं सब जीवों के दुःख अपने ऊपर ले लेता हूँ और बर्दाश्त करता हूँ । यहाँ शान्तिदेव बुद्धों से प्रार्थना करता है कि अपने निर्वाण में देर करके सब जीवों को मुक्ति दिलाओ । वह स्वयं भी अपने पुण्य से पापियों को बचाना चाहता है ।[1]

जैन-सिद्धान्त

इस समय के लगभग जैन-सिद्धान्त या आगमन के द्वादशाङ्ग भी लिखे गये । पाँचवीं सदी में देवर्द्धिगणिन् ने सारे जैन-सिद्धान्त का सम्पादन कर दिया । जैन-चरितों और प्रबन्धों में पुराने राजा, तीर्थङ्कर; साधु, सन्त इत्यादि की जीवनी है । प्रार्थना के बहुतेरे स्तोत्र भी जैनियों ने बनाये ।

तन्त्र इत्यादि

तीसरी-चौथी सदी के लगभग असङ्ग ने योग भी धर्म में मिला दिया । ६०० ई० के बाद महायान बौद्ध-साहित्य और ब्राह्मण साहित्य एक-दूसरे के नज़दीक आते हैं । दोनों में तन्त्र भी बने और तरह-तरह के गुप्त रीति-रिवाज वाले पन्थ निकले । देवियों की प्रार्थना और प्रशंसा में बहुत-सी धरणियाँ लिखी गईं । इस समय से अनेक नई-पुरानी देवियों की आराधना प्रारम्भ होती है । कुछ लेखों से ध्वनि निकलती है कि कोई-कोई एक साथ ही बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों को मानते थे ।

भागवत-धर्म

इधर ब्राह्मण भागवत धर्म ने ज़ोर पकड़ा और भक्ति की धाराएं बहाईं । नारायण और विष्णु के स्वरूप कृष्ण की पूजा प्रारम्भ हुई । शिव की पूजा भी बहुत से पन्थों ने अङ्गीकार की । इसी तरह शक्ति, गणपति, स्कन्द, ब्रह्म, सूर्य आदि देवी-देवताओं की पूजा चली ।

दक्खिन में भक्ति

भक्ति की धारा का स्रोत वेदों में है । उसके बाद उपनिषदों में भक्ति की आवश्यकता स्वीकार की है और गीतों में उसकी कुछ व्यवस्था की है । पर भक्ति का प्राधान्य पहिले दक्खिन में हुआ । तामिल साहित्य के सब से पुराने ग्रन्थों में परमेश्वर की भक्ति का

---

[1]शिक्षा० ३ ॥ ६, ७, १७, १८ ॥

उपदेश दिया है। शङ्गम् के काव्य परिपाड़ल में विष्णु के व्यूहों का स्पष्ट उल्लेख किया है। कृष्ण और बलदेव की पूजा और भक्ति भी बहुत होती थी। बहुत से शङ्गम् ग्रन्थों में शिव की पूजा और भक्ति भी गाई है। पल्लव राजाओं के समय में अर्थात् लगभग २०० ई० से लगभग ६०० ई० तक ६३ प्रसिद्ध शैवभक्त हुए, जिनके चरित्र और कथानक बहुत से तामिल ग्रन्थों में गाये हैं।

दक्खिन में जैनधर्म

इधर दक्खिन में जैनधर्म का प्रचार भी बहुत हुआ। जैन पट्टा-बलियों के अनुसार चद्रगुप्त मौर्य के समय में अर्थात् ई० पू० तीसरी सदी में बारह बरस के अकाल से पीड़ित होकर भद्रबाहु स्वामी और उनके बहुतेरे दिगम्बर अनुयायी उत्तर से दक्खिन में वर्तमान मैसूर के श्रवणवेलगोल में आकर बसे थे। कुछ भी हो, यह अनुमान अवश्य होता है कि जैनधर्म ने ई० पू० चौथी-तीसरी सदी के लगभग दक्खिन में प्रवेश किया और धीरे-धीरे बहुत उन्नति की। इसी समय के लगभग बौद्धधर्म भी

दक्खिन में बौद्धधर्म

दक्खिन में आया और सम्राट् अशोक की सहायता से खूब फैला। ब्राह्मण, जैन, और बौद्ध पण्डितों में बहुत शास्त्रार्थ हुआ करते थे। शासकगण प्राय: सहनशील थे पर कभी-कभी एक धर्म के अनुयायी राजा दूसरे सम्प्रदायों पर अत्याचार करते थे और बलपूर्वक दूसरे मतों का नाश करके अपना धर्म फैलाने की चेष्टा करते थे।

भाषा

भाषा

इस समय तक देश में कुछ भाषा सम्बन्धी परिवर्तन भी हो गये थे। उन पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दुस्तान के इतिहास में भाषा का सबसे पुराना नमूना ऋग्वेद में मिलता है। पर ऋग्वेद की पेचीदा संस्कृत साहित्य की और ऊँचे वर्गों की ही भाषा मालूम होती है साधारण

वैदिक संस्कृत

जनता की नहीं। कुछ भी हो संसार की और सब भाषाओं की तरह ऋग्वेद की संस्कृत भी धीरे-धीरे बदलने लगी। उस पर आर्य लोक-भाषा और अनार्य-भाषाओं का प्रभाव अवश्य ही

पड़ा होगा। पिछली संहिताओं की भाषा ऋग्वेद से कुछ भिन्न है, ब्राह्मणों और आरण्यकों में भेद और भी बढ़ गया है, उपनिषदों में एक नई भाषा सी नज़र आती है। इस समय वैयाकरण उत्पन्न हुए, जिन्होंने संस्कृत को नियमों में जकड़ दिया और विकास बहुत कुछ बन्द कर दिया। व्याकरणों में सबके ऊँचा स्थान पाणिनि की अष्टाध्यायी ने पाया जो ई० पू० ७ वीं और चौथी सदी के बीच में किसी समय रची गई थी। इसके सूत्र अब तक प्रामाणिक माने जाते हैं। पर थोड़ा सा परिवर्तन होता ही गया; वीरकाव्य की भाषा कहीं-कहीं पाणिनि के नियमों का उल्लङ्घन कर गई है। साहित्य की भाषा जो वैदिक समय से ही केवल पढ़े-लिखे आदमियों की भाषा थी व्याकरण के प्रभाव से, लगातार बदलती हुई लोकभाषा से बहुत दूर हट गई। यह लोक-भाषा देश के अनुसार अनेक रूप धारण करती हुई, बोलचाल के सुभीते और अनार्य भाषाओं के सन्सर्ग से प्रत्येक समय में नये शब्द बढ़ाती हुई, पुराने शब्द छोड़ती हुई, क्रिया, उपसर्ग, वचन, लिङ्ग और काल में सादगी की ओर जाती हुई, प्राकृत भाषाओं के रूप में दृष्टिगोचर हुई। इनका प्रचार संस्कृत से ज्यादा था क्योंकि सब लोग इन्हें समझते थे। बुद्ध और महावीर ने मागधी या अर्धमागधी प्राकृत द्वारा उपदेश दिया। ग्रीक लेखकों के भारतीय शब्द प्राकृत शब्दों के ही रूपान्तर हैं—संस्कृत के नहीं। अशोक की धर्मलिपियाँ भी प्राकृत में लिखी हैं और आगे के बहुतेरे शिलालेखों का भी यही हाल है। पर ई० पू० तीसरी सदी के लगभग बौद्धों और जैनों ने एक नई साहित्यिक भाषा का विकास किया जिसका नाम पालि पड़ा। इस तरह दो भाषाएँ—संस्कृत और पालि—तो केवल साहित्य की और पढ़े-लिखे लोगों की भाषाएँ हुईं, एक इस समय मुख्यतः ब्राह्मणों की और दूसरी बौद्ध और जैनों की। इनके अलावा जनता की प्राकृत भाषाएँ थीं जिनमें लेख अवश्य लिखे जाते थे पर जो ज्यादातर बोलचाल में ही प्रचलित थीं। ऊँचे विचार प्रगट करने की शक्ति संस्कृत में सबसे ज्यादा थी, इसलिये साहित्य में उसकी प्रधानता रही। ई० पू० दूसरी सदी में शिलालेखों पर संस्कृत का

व्याकरण

प्राकृत

संस्कृत की प्रधानता

प्रभाव नज़र आता है, पहिली-दूसरी ई० सदी के कुछ शिलालेख जैसे रुद्रीदामन का जूनागढ़ लेख संस्कृत में है और प्राकृत लेखों पर संस्कृत शैली असर डाल रही है। गुप्त-साम्राज्य से बल पाकर चौथी सदी में संस्कृत-प्राकृत को शिलालेखों और ताम्र-पत्रों से करीब-करीब निकाल देती है; पाँचवीं सदी से उत्तर के लेखों में प्राकृत कहीं नजर नहीं आती।

शिलालेख

शिला और ताम्र-पत्र लेखों के अलावा साहित्य में भी इसी तरह का विकास हुआ। ललितविस्तर, महावस्तु इत्यादि बौद्ध ग्रन्थों में प्राकृत के साथ संस्कृत मिली हुई है; इस अर्धसंस्कृत या मिश्रित-संस्कृत में बहुत सा धार्मिक और लौकिक-साहित्य हिन्दुस्तान, नैपाल और तिब्बत में मिला है। पर इस समय भी संस्कृति का प्रभाव वढ़ रहा है; दूसरी ई० सदी में ही प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान शुद्ध संस्कृति में लिखा गया। बौद्ध महायान पर ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के साथ-साथ संस्कृत प्रभाव भी बढ़ता गया। तीसरी सदी के बाद बौद्धों ने सैकड़ों क्या हजारों ग्रन्थ संस्कृत में रचे जिनमें से बहुतेरे नैपाल, तिब्बत और मध्य एशिया में मिले हैं। और कुछ तो केवल तिब्बत या चीनी अनुवाद में ही मिले हैं। बौद्धों की अपेक्षा जैनियों ने ब्राह्मण धर्म के प्रभाव को और इसलिये संस्कृत के चलन को ज़्यादा रोका पर गुप्त-साम्राज्य के बाद संस्कृत का सिक्का ऐसा जमा कि जैनियों ने भी उसे अङ्गीकार कर लिया। छठी ई० सदी से जैन संस्कृत साहित्य ब्राह्मण-साहित्य से कम नहीं है। धर्म, नीति, कथा, कोष, व्याकरण छन्दस्, वैद्यक, उपन्यास, नाटक, चम्पू, इत्यादि पर हजारों संस्कृत ग्रन्थ दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनियों ने लिखे जिनमें से बहुतेरे अब तक जैसलमेर, पाटन इत्यादि पुराणे भण्डारों में अप्रकाशित पड़े हैं। इसके साथ-साथ पालि और प्राकृति में भी बहुत-सी रचनाएँ जैन लोग करते रहे। संस्कृत की प्रभुता इतनी बढ़ी कि सिक्कों के लेख जो साधारण जनता के लिये थे और रुद्रदामन के समय तक प्राकृति में थे वे धीरे-धीरे संस्कृति में लिखें जाने लगे।

मिश्रित संस्कृत

बौद्ध-संस्कृत साहित्य

जैन-साहित्य

दक्खिन में तामिल-साहित्य की पुरानी धारा बराबर बहती रही, कनाड़ी

भाषा में भी बहुत से ग्रन्थ, विशेषकर जैनों द्वारा, लिखे गये। पर यहाँ भी संस्कृत का दौरदौरा था। खासकर दक्खिन के ब्राह्मणों और जैनियों ने धार्मिक और लौकिक विषयों पर रचनाएँ करके संस्कृत साहित्य को मालामाल कर दिया। हिन्दुस्तान के साहित्य का यह क्रम मुसलमान-विजय तक अर्थात उत्तर में १२वीं सदी के अन्त तक और दक्खिन में १५-१६वीं सदी तक जारी रहा। इसके बाद राज्य का सहारा टूट जाने से संस्कृत दुर्बल हो गई; प्राकृत या अपभ्रंश से निकली हुई देशी भाषाओं ने जोर पकड़ा; फ़ारसी और अरबी ने भी कुछ हिन्दुओं पर सिक्का जमाया। पर याद रखना चाहिये कि संस्कृत की धारा कभी सर्वथा लोप नहीं हुई। मुसलमानी राज्य में ही नहीं किन्तु आज तक पुराने संस्कृत-साहित्य की पढ़ाई होती रही है और कुछ न कुछ नई रचना भी होती रही है। देश भर में संस्कृत के, और कुछ अंश में, पालि के प्रचार से सारे हिन्दुस्तान की सभ्यता बहुत सी बातों में एक समान हो गई। विद्यार्थी, विद्वान्, संन्यासी और भिक्षु देश भर का दौरा किया करते थे; हर जगह शास्त्रार्थ, पठनपाठन और वार्तालाप कर सकते थे, अच्छे ग्रन्थ, चाहे जहाँ लिखे जायँ देश भर में प्रचार, प्रसिद्धि या प्रमाण पाते थे। इस तरह धर्म, तत्त्वज्ञान, विज्ञान, नीति, समाज-सिद्धान्त, साहित्य, कानून, इत्यादि में देश के सब हिस्से एक साथ थे, एक समान थे और एक साथ ही एक सी प्रगति करते रहे।

दक्खिन में भाषाएँ

आगामी इतिहास

साहित्यिक भाषा का सामञ्जस्य

वर्ग-भेद

पर संस्कृत और पालि के प्रचार ने पठित और अपठित वर्गों के बीच में एक दीवार भी खड़ी कर दी। साधारण जनता की भाषा में साहित्य था अवश्य; खासकर जैन और बौद्ध साहित्य बहुत-सा था, पर तौभी संस्कृत न जानने वाले बहुत से साहित्य से वञ्चित थे, विद्वानों के शास्त्रार्थ सुनने में असमर्थ थे। उनकी देश-भाषाओं का साहित्यक विकास भी पूरा-पूरा नहीं हुआ। अशोक के शिलालेखों के बाद प्राकृत के नमूने प्राकृत ग्रन्थों के अलावा संस्कृत नाटकों में मिलते हैं। संस्कृत नाटकों में स्त्रियाँ, शूद्र या छोटी जातियों के पात्र संस्कृत के स्थान पर कोई न कोई प्राकृत बोलते

हैं। जान पड़ता है कि नाटक पढ़ने या देखनेवाली जनता दोनों भाषाएँ समझती थी। पहली दूसरी ई० सदी के लगभग अश्वघोष ने अपने नाटकों में

नाटकों में प्राकृत

पुरानी मगधी, पुरानी अर्धमागधी और पुरानी शौरसेनी का प्रयोग किया है। इसके बाद श्वेताम्बर जैनों ने अपने शास्त्रों के लिये महाराष्ट्री और दिगम्बरों ने शौरसेनी का प्रयोग किया है। गुणाढ्य ने अपनी वृहत्कथा पैशाची में लिखी। व्याकरण की जञ्जीरों के अभाव में प्राकृत भाषाएँ बराबर बदलती रहीं। तीसरी ई० सदी के लगभग भास के नाटकों की प्राकृत अश्वघोष से कुछ भिन्न है और पाँचवीं सदी के लगभग कालिदास के नाटकों की प्राकृत और भी दूर हट गई है। मालूम होता है कि

प्राकृत साहित्य

महाराष्ट्री में काव्य बहुत था; शौरसेनी में गद्य और पैशाची में कथाएँ। नाटकों से मागधी का दर्जा बहुत नीचा जान पड़ता है। पर कथाएँ उसमें में भी थीं। प्राकृतों के अलावा अपभ्रंश बोलियाँ थीं जिनका उल्लेख छठी ई० सदी से मिलता है, जो कुछ

अपभ्रंश

विशेष सम्प्रदायों की भाषाओं और प्राकृतों के सम्मिश्रण से बनी थीं, और जो आगे चलकर बहुत फैल गईं। इन्हीं अपभ्रंश से शायद आजकल की कुछ उत्तरी देशभाषाएँ निकली हैं पर ग्रियर्सन

वर्तमान भाषाएँ

के प्रतिकूल यह भी अनुमान होता है कि कुछ देशभाषाएँ सीधी प्राकृत से निकली हैं।[1]

साहित्य

काव्य में अब तक हिन्दुस्तान की कोई भाषा संस्कृत की बराबरी नहीं कर सकी है।

संस्कृत-काव्य

संस्कृत कवियों और लेखकों ने वाल्मीकि को आदिकवि और रामायण को आदिकाव्य माना है। वाल्मीकि ने जिस शैली से पहाड़, नदी, मौसिम, वन, शहर, सभा, दर्बार, तपोभूमि

---

[1] भाषा के विषय पर मूलग्रन्थों के अलावा देखिये, ग्रियर्सन, 'लिंग्युस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया', भाग १। कीथ, 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर'; संस्कृत 'ड्रामा'॥ मेकडानेल, वैदिक ग्रामर'। रा० गो० भण्डारकर, जे० बी० बी० ब आर० ए० एस०, १६। पृ० ३३०॥ हुल्ट्ज, 'इंस्क्रिप्शन्स ऑफ अशोक'।

इत्यादि का वर्णन किया है, जिस शैली से स्त्री-पुरुषों का, राजा, कुमार, आदि का चरित्र खींचा है, जिस ढङ्ग से वीरता, प्रेम, भक्ति, वैराग्य, आदि भाव बनाये हैं, वह सदा के लिये संस्कृत साहित्य पर अङ्कित हो गये। रामायण की कथा से कालिदास, भवभूति, आदि बड़े कवियों ने, पुराण बनाने वालों ने और अनगिनित छोटे लेखकों ने सामग्री ली है। काव्य या नाटक की सामग्री का दूसरा बड़ा भारी स्रोत महाभारत है। आदि पर्व की भूमिका कहती है कि जो कुछ है महाभारत से लिया गया है। तीसरा स्रोत है पुराना बौद्ध-साहित्य जिसका प्रयोग बौद्ध लेखों ने किया है। चौथा स्रोत जैन-परम्परा है, जो जैन-कविता का आधार है। पाँचवाँ स्रोत लोककथाएँ हैं, जो गुणाढ्य इत्यादि में साहित्यिक रूप पाकर बहुत से संस्कृत-ग्रन्थों में प्रतिबिम्वित हैं। इन पाँच स्रोतों से सामग्री ले-लेकर ग्रन्थकारों की प्रतिभा ने ऐसी-ऐसी रचनाएँ पैदा की जो संसार भर के साहित्य में ऊँचा स्थान रखती हैं। पतञ्जलि और पिङ्गल के उल्लेखों से सिद्ध है कि ई० पू० दूसरी सदी के पहिले भी लौकिक संस्कृत काव्य मौजूद था पर अभी तक कोई ग्रन्थ नहीं मिले हैं। जो अगामी काव्य मिलता है उसका बहुत बड़ा भाग ब्राह्मण, बौद्ध या जैनधर्म मानने वाले राजाओं के दर्बार में या राजाओं के प्रोत्साहन से रचा था। इसीलिये इस साहित्य में राजकथाएँ बहुत हैं, और कुछ ऐसे विषय भी हैं जो राजाओं या दर्बारियों को ही प्रिय रहे होंगे।

(वाल्मीकि; काव्य के स्रोत; राजदर्बार)

लौकिक संस्कृत-काव्य में पहिला स्पष्ट नाम अश्वघोष है जो बौद्धराजा कनिष्क के यहाँ १-२ ई० सदी में था पर अश्वघोष से इस साहित्य का आरम्भ नहीं है। उसकी शैली ही बताती है कि पहिले बहुत से कवि हो गये थे। खैर, अश्वघोष ने महावग्ग और निदानकथा के आधार पर सौन्दरनन्द काव्य में नन्द को बुद्ध से वैराग्य और निर्वाण का उपदेश दिलाया है। नन्द की स्त्री सुन्दरी के रूप का वर्णन बड़ी चतुराई से किया है, पति के वैराग्य पर वह ऐसा शोक करती है कि नन्द का मन डिग जाता है पर जब बुद्ध स्वर्ग

(अश्वघोष; सौन्दरनन्द-काव्य)

ले जाकर उसे अप्सराएँ दिखलाते हैं तब वह अप्सरा के मोह में पड़ जाता है। पर स्वर्ग में अप्सराओं का भोग तो पुण्य से ही हो सकता है। इस अवसर पर बुद्ध का मुख्य शिष्य आनन्द यह उपदेश देता है कि स्वर्ग का सुख भी क्षणभङ्गुर है, पुण्य क्षीण होने पर फिर मृत्यु लोक में लौटना पड़ता है। अस्तु, नन्द निर्वाण का प्रयत्न करता है। बुद्ध चरित में अश्वघोष ने बुद्ध के जीवन की घटनाओं का काव्य बनाया है। कुछ श्लोक कालिदास के रघुवंश की याद दिलाते हैं। सम्भव है कि कालिदास ने अश्वघोष पढ़ा हो और जानकर या अनजान में उसके कुछ भाव और रूपक अपने ढङ्ग से रघुवंश में रख दिये हों। अश्वघोष की भाव प्रगट करने की शैली का पता दो-एक उदाहरणों से लग जायगा।

बुद्ध-चरित

छठवें अध्याय में चुपके से घरबार छोड़कर वन में आकर गौतम स्वामिभक्त नौकर छन्द से कहते हैं कि बार-बार प्रणाम करके राजा से मेरी ओर से यह कहना, "बुढ़ापे को और मौत को नाश करने के लिये मैंने तपोवन में प्रवेश किया है, स्वर्ग की तृष्णा से नहीं, स्नेह के प्रभाव से नहीं, क्रोध से नहीं। इस तरह मैं घर से निकल गया हूँ, मेरे लिये शोच न करना। संयोग कितने ही दिन रहे समय पाकर अवश्य ही समाप्त होगा। विश्लेष निश्चित है, इसलिये मेरी मति मोक्ष में लगी है। स्वजनों से बार-बार का वियोग कैसे रुक सकता है? शोक का त्याग करने के लिये मैं घर से निकला हूँ; मेरे लिये शोक न करना; शोक तो उनके लिये करना चाहिये जो राग में फँसे हैं और शोक के उत्पादक कामों में आसक्त हैं। हमारे पूर्वजों का यह स्थिर निश्चय था, उसी मार्ग से जाते हुए मेरे लिये आने वाले शोक न करें।......यदि सोचते हों कि असमय में ही यह वन चला गया तो (मेरा निवेदन है कि) जीवन के चञ्चल होने से धर्म के लिये कभी असमय नहीं होता। इसलिये मेरा निश्चय है कि मैं अभी से अपने श्रेय की चिन्ता करूँ। जब मौत बैरी की तरह खड़ी है, तब जीवन का क्या ठिकाना है?........."

गौतम का गृहत्याग संदेश

यह सुनकर छन्द ने सन्ताप से विकल होकर, हाथ जोड़कर आँसुओं से रुँधे हुए

स्वर से उत्तर दिया:—"हे प्रभो ! बान्धवों को कष्ट देनेवाले तुम्हारे इस भाव से मेरा चित्त वैसे ही डूबा जाता है जैसे नदी की कीचड़ में हाथी।

छन्द का निवेदन

किस लोहे के हृदय को भी तुम्हारा यह निश्चय न हिला देगा ? फिर स्नेह से व्याकुल हृदय की बात ही क्या है ? कहाँ तो यह सुकुमारता जो महल में शयन करने के ही योग्य है और कहाँ कठोर दर्भ के अङ्कुरवाली तपोवन भूमि ? जो तुम्हारे व्यवसाय को सुनकर मैं घोड़ा लाया था सो हे नाथ ! दैव ने बलात्कार से मुझसे यह कराया था। तुम्हारे इस निश्चय को जानता हुआ अब मैं कपिलवस्तु के शोक के पास इस घोड़े को कैसे ले जाऊँ ? हे महाबाहो ! तुम्हें पुत्र की लालसा करने वाले बूढ़े स्नेही राजा को ऐसे न छोड़ना चाहिये जैसे कि कोई नास्तिक अच्छे धर्म को छोड़ देता है। और हे देव ! तुम्हें अपनी उस दूसरी माता[1] को जो तुम्हें पालते-पालते थक गई है इस तरह न भूलना चाहिये जैसे कृतघ्न उपकार को भूल जाता है। अपनी पत्नी को जो पतिव्रता है; बड़े कुल की है, गुणवती है, और जिसका लड़का छोटा है, तुम्हें इस तरह न छोड़ना चाहिये जैसे कोई डरपोक राजा लक्ष्मी को छोड़ देता है। हे यश और धर्म के धारकों में श्रेष्ठ ! यशोधरा से उत्पन्न अपने छोटे प्रशंसनीय पुत्र को तुम्हें इस तरह न छोड़ना चाहिये जैसे कि व्यसनी पुरुष उत्तम यश को छोड़ देता है। हे विभो ! अगर तुमने राज्य को और बन्धुओं को छोड़ने का ही निश्चय कर लिया है तो भी मुझे तो न छोड़ो; मेरी गति तो तुम्हारे ही चरणों में है। जैसे सुमित्र (सुमन्त्र) रामचन्द्र को वन में छोड़कर चला गया था वैसे मैं तो तुम्हें छोड़कर इस जलते हुए चित्त को लेकर नगर को नहीं जा सकता हूँ। तुम्हें छोड़कर नगर को जाऊँ तो राजा मुझसे क्या कहेंगे ? और मैं तुम्हारे अन्तःपुरवालों को कौन सा अच्छा समाचार दूँगा ?......"

शोक से विह्वल छन्द के इन बचनों को सुनकर बोलने वालों में श्रेष्ठ (गौतम) ने स्वस्थ भाव से और परम धैर्य से, उत्तर दिया :—हे छन्द ! मेरे वियोग के बारे में इस सन्ताप को छोड़ दो, बार-बार जन्म लेनेवाले देहधारियों के लिये

---

[1] ... माता का देहान्त उनके बचपन में ही हो गया था।

परिवर्तन तो नियत ही है। मोक्ष की अभिलाषा में यदि मैं स्नेह के वश होकर बान्धवों को न भी छोड़ूँ तो भी मृत्यु बलात्कार से हम सबको एक-दूसरे से छुड़ा देगी। जिस माता ने बड़ी तृष्णा से और बड़े कष्टों से मुझे गर्भ में रक्खा था उस व्यर्थ प्रयत्नवाली का अब मैं कौन हूँ, और वह मेरी कौन है? जैसे पक्षी बसेरे के वृक्ष पर जमा होते हैं और फिर उड़ जाते हैं वैसे ही यह नियत है कि सब प्राणियों का समागम वियोग में समाप्त हो। जैसे बादल जमा होकर फिर अलग-अलग हो जाते हैं—(बस) प्राणियों के संयोग और वियोग को भी मैं वैसा ही मानता हूँ। यह संसार आपस में एक-दूसरे को धोखा देता हुआ चला जाता है, इसलिये इस स्वप्न के से समागम में कोई ममत्व न मानना चाहिये।

गौतम का उत्तर

"ऐसा होते हुए, हे सौम्य, शोक न करो, तुम जाओ अथवा यदि तुम्हारा स्नेह ठहरता है तो जाकर फिर लौट आना। कपिलवस्तु में, हमें न झिड़कते हुए लोगों से कहना कि उस (गौतम) के लिये स्नेह का परित्याग करो और उसका निश्चय सुनो। या तो वह बुढ़ापे और मौत का नाश करके जल्द ही लौट आयेगा या अपने प्रयत्न में असफल होने से निरालम्ब होकर वह मर ही जायगा।......"

अन्य ग्रन्थ

अश्वघोष के सूत्रालङ्कार या कल्पनामण्डीतिक में धर्म का उपदेश देनेवाली बहुत-सी कथाएँ हैं। गण्डीस्तोत्रगाथा में बहुत से धार्मिक-गीत हैं। इसी समय के लगभग मातृचेता ने, जो शायद अश्वघोष ही था, बहुत से ग्रन्थ लिखे, जिनके अंश शतपञ्चाशतिकस्तोत्र से मिलते हैं। यहाँ बुद्ध की भक्ति गाई है। अवदानशतक में बुद्ध के जन्मों की बहुत-सी कथाएँ हैं जिनमें से कुछ सर्वास्तिवादी बौद्धों के विनय पिटक से ली गई हैं।

मातृचेता

नाटक

संस्कृत लौकिक काव्य की तरह संस्कृत नाटक के इतिहास में भी पहिला स्पष्ट नाम अश्वघोष का है पर यहाँ भी याद रखना चाहिये कि नाटक लिखने और खेलने की चाल बहुत पहिले ही शुरू हो गई थी। संस्कृत नाटक की उत्पत्ति धार्मिक साहित्य और आचार से

मालूम होती है । ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में वार्तालाप हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञों और आचारों में बहुत से अवसरों पर कई आदमियों में नियत समयों पर बातचीत होती है । यहाँ पर नाटक का बीज है। रामायण और महाभारत में समाजों के अर्थात् उत्सवों के नट-नर्तकों का बार-बार उल्लेख है । रामायण में एक जगह नाटक शब्द भी आया है ।[1] यही नाटक का पूर्वरूप मालूम होता है। पाणिनि नट सूत्रों का उल्लेख करता है ।[2] शायद उसके समय में या पहिले ही खेल-तमाशों के क़ायदे बन रहे थे । राम, कृष्ण, बुद्ध और जैन तीर्थङ्करों की कथाएँ सुनाने की परिपाटी से भी नाटक के विकास में ज़रूर बहुत सहायता मिली होगी । बहुत से यूरोपियन विद्वानों ने यह साबित करने की कोशिश की है कि हिन्दुस्तान ने नाटक ग्रीक लोगों से लिया, पर इस सम्मति के लिये इतिहास से कोई भी अटूट साक्षी नहीं मिलती । सभ्यताओं का सम्पर्क हमेशा चारों ओर प्रभाव डालता है । ई० पू० चौथी सदी के बाद हिन्दुस्तान से उत्तर-पच्छिम में ग्रीक सभ्यता का प्रचार था । ग्रीक नाटक पहिले ही पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था । सम्भव है कि ग्रीक-नाटक से हिन्दुस्तानी नाटक को कुछ प्रोत्साहन मिला हो, पर दानों का चरित्र एक-दूसरे से इतना भिन्न है, कहीं-कहीं ऐसा उल्टा है कि विपरीत साक्षी के अभाव में, इनकी उत्पत्ति और विकास स्वतन्त्र ही मानने पड़ेंगे ।

उत्पत्ति

नर्तक

धर्मकथा

ग्रीक प्रभाव

ई० सन् के प्रारम्भ तक संस्कृत नाटक की बड़ी उन्नति हो चुकी होगी । मध्य-एशिया में तुर्फ़ान के ताड़पत्र पर लिखे अश्वघोष के नौ अङ्क के शारद्वतीपुत्रप्रकरण का एक अंश मिला है । यहाँ बुद्ध ने मौद्गलायन और शारिपुत्र को अपने धर्म का उपदेश दिया है और भविष्यबाणी की है कि शिष्यों में उनके पास सबसे अधिक ज्ञान और शक्ति होगी । इस नाटक की शैली वही है जो आगे चलकर नाट्यशास्त्र ने बताई है,

शारद्वतीपुत्रप्रकरण

---

[1] रामा० अयोध्या० ६६ । ३ ॥ [2] पाणिनि, अष्टाध्यायी ४ । ३ । ११० ॥

जिससे मालूम होता है कि नाट्यशास्त्र ने वर्तमान नाटकों के आधार पर ही नियम बनाये थे।[1] जिस प्रति में शारद्वतीपुत्र प्रकरण है, उसी में दो और नाटकों के अंश हैं जो शायद अश्वघोष के हैं। एक में बुद्धि, कीर्ति और धृति की बातचीत होती है। दूसरे के पात्रों में हैं शारिपुत्र और मौद्गलायन, नायक, विदूषक, दुष्ट और गणिका मगधवती इत्यादि। यहाँ स्त्रियाँ और एक श्रमण भी प्राकृत बोलते हैं। नाटक में हिन्दू साहित्यिक प्रतिभा का ऊँचे से ऊँचा विकास मिलता है। वैराग्य का भाव भी इसके द्वारा प्रकट किया गया पर आगे चलकर इसमें वीररस, प्रेम और राजनैतिक दाँवपेच की प्रधानता रही। प्रेम की पवित्रता में बहु-विवाह की प्रथा एक बड़ी कलुषित बाधा थी; कई नाटकों में प्रेम के पेच हँसी या घृणा पैदा करते हैं, पर बहुत से नाटकों में कवि की प्रतिभा इस बाधा के ऊपर उठ गई है। दुःखान्त नाटक की प्रथा न होने से नाटक का क्षेत्र कुछ सङ्कुचित हो गया, जीवन की कई तीव्र समस्याएँ छूट गईं, पर बीच-बीच में करुण और क्लेश के भाव बराबर आये हैं। आगे चलकर बहुत से काव्यों की तरह बहुत से नाटकों के वर्णनों, पद्यों और चित्रणों में कृत्रिमता आ गई और नाटक की लोक-प्रियता एवं आवश्यक स्वाभाविकता में अन्तर पड़ गया। कुछ नाटक तो केवल पढ़ने के योग्य ही रह गये पर बहुत से नाटकों में प्रसाद-गुण भी है, प्रकृति का कोई विरोध नहीं है। हिन्दू-साहित्य के पढ़ने से इतना तो सिद्ध ही है कि नाटक आमोद-प्रमोद का एक बड़ा साधन था।

अन्य नाटक

साहित्य में नाटकगृहों का उल्लेख बार-बार आया है। नगरों में ख़ासकर राजधानियों में, बहुत से नाटक-घर थे। पर ऐसा मालूम होता है कि नाटक मञ्च पर केवल एक पर्दा रहता था; नदी, वन, पर्वत, आश्रम, नगर, गाँव, इत्यादि के वर्णन और सङ्केतों से बताये जाते थे,

नाटक-घर

---

[1] हिन्दुस्तानी नाटक के इतिहास के लिये देखिये कीथ, 'संस्कृत ड्रामा'; सिल्वाँ लेवी, 'थियेटर इण्डियन'।

सी तरह शिकार खेलना, रथ पर चढ़ना, पौधों को पानी देना, फूल तोड़ना, इत्यादि क्रियाएँ भी वर्णन और सङ्केतों से बताई जाती थीं।

पर्दे

पर्दे के पीछे नेपथ्यगृह थे जहाँ से आवश्यक आवाज़ें आती थीं। प्रारम्भ में सूत्रधार अपनी स्त्री या पात्रों से बातें करता हुआ नाटक की प्रस्तावना देता था और फिर नाटक के अङ्क प्रारम्भ होते थे। स्त्रियाँ नाट्यमञ्च पर आया करती थीं, पर कभी-कभी स्त्रियों का पार्ट पुरुष भी करते थे। स्मृतियों में लिखा है कि नाटक खेलनेवाले स्त्री-पुरुषों का आचरण नीचा होता था। सम्भव है कि यह कड़ी आलोचना नाटक संसार के आनन्द-जीवन के कारण ही हो।

सूत्रधार

पात्र

कोई बीस बरस हुए गणपति शास्त्री ने भास के तेरह नाटक खोजकर प्रकाशित किये, जिनका समय भिन्न-भिन्न विद्वान् ई० पू० ७-८ सदी से लेकर ई० ९-१० सदी तक निश्चय करते हैं और जिनको कुछ लोग भिन्न-भिन्न नाटककारों की रचना बताते हैं। पर सब सोचकर यह अनुमान ठीक मालूम होता है कि यह सब नाटक एक ही रचयिता के हैं और चौथी ई० सदी के आस-पास लिखे गये थे। इन नाटकों की कथाएँ ज्यादातर महाभारत और रामायण से ली गई हैं; शैली और भाषा में बड़ी सादगी है; कई नाटक एक ही अङ्क के हैं; सब ही एक नाट्यमञ्च के लिये बहुत उपयुक्त हैं; लगभग सर्वत्र घटनाचक्र बड़ी तेजी से चलता है और चरित्र बड़ी सफ़ाई से खीचे हैं।

भास

जैसा कि सातवीं ईस्वी-सदी में बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में प्रसङ्गवश कहा है, भास के नाटक नंदी के बिना प्रारम्भ होते हैं। इनमें प्रस्तावना के स्थान पर स्थापना शब्द का प्रयोग किया है। रचना के दो-एक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। पञ्चरात्र का आधार महाभारत है, पर कवि की कल्पना ने नई कथा रच डाली है। पाण्डव बारह बरस के बनवास में हैं और राजा विराट के साथ हैं। दुर्योधन बड़ा यज्ञ करता है और द्रोणाचार्य से गुरुदक्षिणा माँगने को कहता है। द्रोण यह

पञ्चरात्र

दक्षिणा माँगते हैं कि पाण्डवों को आधा राज्य दे दिया जाय। किन्तु इस पर दुर्योधन और शकुनि यह शर्त लगाते हैं कि पाँच रातों के भीतर ही पाण्डवों का पता लग जाय। द्रोण को क्रोध आता है पर कीचक-बध के समाचार से भीष्म अनुमान करते हैं कि यह तो भीम का ही काम हो सकता है। शर्त मान ली जाती है। कौरव विराट के राज्य पर आक्रमण करते हैं और उसकी गाय पकड़ लेते हैं। पाण्डव गायों को छुड़ाने आते हैं, उनका पता लग जाता है और दुर्योधन उनको आधा राज्य दे देता है।

(पहिले अङ्क में विष्कम्भक के बाद भीष्म और द्रोण आते हैं।)

द्रोण—सच पूछिये तो धर्म का अवलम्बन करके दुर्योधन ने मुझे ही अनुगृहीत किया है; क्योंकि शिष्य का दोष बान्धवों और मित्रों को छोड़कर गुरु को ही लगता है; गुरु के हाथ में बालक को सौंपने वाले माता-पिता का तो दोष ही नहीं है।

भीष्म—इस दुर्योधन ने (जूए में) रुपया लेने से प्रसिद्धि पाकर (पाण्डवों से) युद्ध की कामना के कारण अयश पाया था। अब बहुत दिन में धर्म (यज्ञ) की सेवा करके यह पुण्य का भाजन हुआ है और इस रूप में शोभा पा रहा है।

(दुर्योधन, कर्ण और शकुनि आते हैं)

दुर्योधन—मैंने (शास्त्रों में) श्रद्धा दिखाई है; गुरुजन सन्तुष्ट हैं; जगत् मुझमें विश्वास करता है; मेरे गुण बस गये; अयश नष्ट हो गया। यदि कोई कहे कि स्वर्ग मरनेवालों को ही मिल सकता है तो झूँठ है; स्वर्ग तो परोक्ष नहीं है; स्वर्ग तो यहीं अनेक प्रकार से फलता है।

कर्ण—हे गान्धारी पुत्र! न्याय से आये हुए धन को दान करने में आपने न्याय ही किया क्योंकि क्षत्रियों की समृद्धि बाणों के अधीन है। पुत्रों के लिये जो रुपया जमा करता है वह धोखा खाता है। राजा को चाहिये कि रुपया ब्राह्मणों पर न्योछावर कर दे और पुत्रों को एकमात्र धनुष देवे।

शकुनि—अङ्गराज (कर्ण) ने, जिसके पाप गङ्गा के उपस्पर्श (अवभृथ) से धुल गये हैं, ठीक कहा।

कर्ण—इक्ष्वाकु, शर्याति, ययाति, राम, मान्धाता, नाभाग, नृग,

अम्बरीष—यह (राजा) कोष और राज्यों के साथ शरीर से तो नष्ट हो गये हैं पर यज्ञों से अब भी जीवित हैं।

सब (लोग)—गान्धारी पुत्र ! यज्ञ की समाप्ति पर आपकी बधाई।

दुर्योधन—मैं (बहुत) अनुगृहीत हुआ। आचार्य ! आपको प्रणाम करता हूँ।

द्रोण—इधर आओ पुत्र ! यह क्रम ठीक नहीं है।

दुर्योधन—तो ठीक क्रम क्या है ?

द्रोण—क्या आप नहीं देखते ? पहिले इन भीष्म को प्रणाम करना चाहिये जो मनुष्य रूप में देवता है। भीष्म को छोड़कर मुझे प्रणाम करना, इसे मैं ठीक आचरण नहीं मानता।

भीष्म—न न ऐसा न कहिये। मैं तो बहुतेरे कारणों से आपसे घटकर हूँ। क्योंकि मैं तो माता से उत्पन्न हुआ हूँ, आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं; मेरी वृत्ति हथियारों से है, आपकी प्रेम से; मैं क्षत्रिय हूँ, आप ब्राह्मण हैं; आप गुरु हैं, मैं बूढ़ा शिष्य हूँ।

द्रोण—क्या महात्माओं में अपनी छोटाई करने की शक्ति नहीं होती ? आओ पुत्र ! मुझे ही प्रणाम करो।

दुर्योधन—आचार्य ! प्रणाम करता हूँ।

स्वप्नवासवदत्ता

स्वप्नवासवदत्ता में आधार, उदयन और वासवदत्ता की पुरानी हिन्दू प्रेम कथा का है और उस मन्त्री यौगन्धरायण का कौशल दिखाया गया है जो संस्कृत-नाटक में स्वामिभक्ति के लिये प्रसिद्ध है। पहिला अङ्क इस तरह प्रारम्भ होता है :—

(दो भट प्रवेश करते हैं)

दोनों भट—हटिये, हटिये, आप लोग हटिये।

(परिव्राजक के वेष में यौगन्धरायण और अवन्तिका के वेष में वासवदत्ता प्रवेश करते हैं)

यौगन्धरायण—(कान लगा कर) क्या ? यहाँ भी लोग हटाये जाते

हैं। जो धीर हैं और मान के योग्य हैं, आश्रम में रहते हैं, बल्कल पहिनते हैं, उनको क्यों त्रास दिया जाय ? घमण्डी, विनय से रहित, चञ्चल, भाग्य से अन्धा, यह कौन है जो इस शान्त तपोवन में गँवारपन चलाता है ?

वासवदत्ता—आर्य ! यह कौन (हमें) हटाता है ?

यौगन्धरायण—वह है जो अपने को धर्म से हटाता है।

वासवदत्ता—आर्य ! मैं यह नहीं कह रही थी, (पर) क्या मैं भी हटाई जाऊँगी ?

यौगन्धरायण—देवी ! न पहिचाने हुए धर्म भी इस तरह हटा दिये जाते हैं।

वासवदत्ता—परिश्रम से उतना खेद नहीं होता जितना इस अपमान से।

यौगन्धरायण—यह चीज़ें (मान ऐश्वर्य इत्यादि) तो देवी ने भोगकर छोड़ दी हैं। चिन्ता की बात नहीं है।...

दोनों भट—हटो, हटो।

(काञ्चुकीय प्रवेश करता है)

काञ्चुकीय—इस तरह लोगों को कभी न हटाना चाहिये। देखो, राजा का नाम बदनाम न करो, आश्रमवासियों के साथ कठोरता न करो, नगर के अपमानों से मुक्त होने के लिये ही यह मनस्वी वन में जाकर रहते हैं।

दोनों भट—आर्य ! ऐसा ही (होगा)।

(दोनों भट जाते हैं)

यौगन्धरायण—हा ! इसके दर्शन से तो विवेक मालूम होता है। पुत्री ! इसके पास चल।

वासवदत्ता—आर्य ऐसा ही (हो)।

मृच्छकटिक

चौथी ईस्वी सदी के लगभग मृच्छकटिक नाटक लिखा गया जो परम्परा से राजा शूद्रक के नाम से संयुक्त हैं, पर जो शायद किसी और प्रतिभाशाली लेखक का है। इसके पहिले चार अङ्क में भास के चारुदत्त का प्रभाव बहुत है। पर लेखक की शक्ति

अनुभव, चरित्रदृष्टि और भाषा प्रभुत्व सब जगह मौजूद हैं। कई बातों में यह संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय है। इस पुराने ग्रन्थ में एक विचित्र अर्वाचीनता है और जीवन की बहुतेरी समस्याओं का अपूर्व विश्लेषण है। पहिले अङ्क में कुछ मौज उड़ानेवाले मित्र बातें कर रहे हैं।

चारुदत्त—मोहि धन नास सोच कछु नाहीं। मिलैं भाग सन धन अरु जाहीं॥
एक दुःख मोहि नित्य जरावत। अब मित्रहु कछु ढोल जनावत॥

और भी—धन नसत उपजत लाज तेहि सन तेज सकल नसात है।
बिन तेज परिभव लहत परिभव पाइ मन भरि जात है॥
मन भरे उपजत सोच बुद्धिहु सोच बस सब नसत है।
बिन बुद्धि को छय होत दारिद सकल अनरथ बसत है॥

मैत्रेय—अजी धन के लिये कब तक सोच करोगे ?

चारुदत्त—भाई, दरिद्रता भी।

चिन्ता घेरे रहत और से लहै अनादर।
मित्रहु देखि विनात व्यर्थ ही वैर करत नर॥
सगे पराये होत करत आदर नहिं नारी।
सोचत ही दिन वितत रहे नर सदा दुखारी॥

मैत्रेय, हमने कुल देवताओं को बलि दे दी, अब तुम जाके चौराहे पर बलि दे आओ।

मैत्रेय—हम तो न जायँगे।

चारुदत्त—क्यों ?

मैत्रेय—अजी, पूजा करने से देवता तुम पर प्रसन्न नहीं होते तो क्यों पूजा करते हो ?

चारुदत्त—भाई ! ऐसा न कहो, यह तो गृहस्थ का धर्म है।

तन मन बच बलिकर्म सो, पूजे सुर संसार।
होत प्रसन्न मनुष्य पर, यहि में कौन विचार॥

तो जाओ, देवियों को बलि चढ़ा आओ ।

मैत्रेय—हम न जायँगे और किसी को भेज दिजिये । हम तो ब्राह्मण हैं, हमसे सब उलटे का पुलटा हो जाता है, जैसे दर्पनी में परछाइँ दहिने का बायाँ और बायें का दहिना...रात की बेर सड़क पर रण्डी, बटमार, राजा के लग्गू-भग्गू सब घूमते-फिरते हैं, उनके बीच में जो कहीं पड़े तो मेढ़क के धोखे साँप के मुँह में मूसे की दशा हमारी हो जायगी ।[1]

दो-एक शब्द जीवनोपयोगी शास्त्रों पर कहना यहाँ अनुचित न होगा ।

आयुर्वेद

आयुर्वेद का इतिहास वैदिककाल से प्रारम्भ होता है । वैद्यकशास्त्र अथर्ववेद का उपाङ्ग समझा जाता है । पतञ्जलि ने अङ्ग, इतिहास, पुराण और वाकोवाक्य के साथ-साथ वैद्यक का ज़िक्र किया है । शायद पहिले वैद्यक पर तन्त्र या निबन्ध लिखे गये होंगे, पर १-२ ई० सदी से संहिता रचने की परिपाटी शुरू हुई । चरक ने अपनी बड़ी संहिता लिखी जिसमें सारे वैद्यकशास्त्र का समावेश है और आयुर्वेद को धर्म और तत्त्वज्ञार्जन से जोड़ने का प्रयत्न किया है ।

चरक

चरक का नाम हिन्दुस्तान के बाहर मध्य एशिया और पूर्वी एशिया में भी फैला । पच्छिम-एशिया के साहित्य में भी चरक का नाम आया है । चरक के कुछ दिन पीछे सुश्रुत ने दूसरी बड़ी संहिता लिखी ।

सुश्रुत और अन्य ग्रन्थ

इनके अलावा मेलसंहिता, अष्टाङ्गसंग्रह, रुग्विनिश्चय इत्यादि बहुत से ग्रन्थ बने जिनका सिलसिला अब तक जारी है और जो बड़ी संहिताओं की तरह इधर-उधर संस्कृत पाठशालाओं में पढ़ाये जाते हैं ।

कला

मौर्यकाल के बाद हिन्दुस्तानी कला में चारों ओर बहुत उन्नति हुई । मन्दिर और मूर्ति बनाने की प्रथा बौद्धों और जैनों से ब्राह्मणों ने भी सीखी । जान पड़ता

---

[1] अनुवादक—लाला सीताराम ।

है कि ईस्वी-सन् के कुछ पहिले से ही ब्राह्मण भी मन्दिर बनवाकर मूर्तियाँ स्थापित करने लगे। कुछ भी हो, ईस्वी-सन् के लगभग प्रारम्भ समय

ब्राह्मण-मंदिर

का एक शैवमन्दिर उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में रामनगर अर्थात् प्राचीन अहिक्षेत्र में है। इसमें ईंट और पक्की मिट्टी पर शिव के जीवन के चित्र अङ्कित थे।

उड़ीसा में पुरी जिले में खण्डगिरि, उदयगिरि और नीलगिरि पहाड़ियों पर भिन्न-भिन्न समयों पर बहुत सी गुफाएँ जैनियों ने बनाईं। यहाँ

मौर्यकाल के बाद मूर्तिकला

के जैनी पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की पूजा विशेषरूप से करते थे। पहाड़ों की चट्टान काटकर गुफा बनाने की प्रथा प्राचीन भारत में बहुत प्रचलित थी। इसमें हिन्दुओं को अपूर्व कौशल था।

जैन-गुफा

कुछ पुरानी गुफाएँ ई० पू० दूसरी सदी की हैं। रानीगुम्फा में पार्श्वनाथ का एक जलूस पत्थर में अङ्कित है, पर कला बहुत ऊँचे दर्जे की नहीं है। उदयगिरि की जय-विजय गुफा में ६ फ़ीट ऊँची एक स्त्री-मूर्ति है जो शायद ई० पू० दूसरी सदी की है। यह स्त्री दाहिने पैर पर ज़ोर दिये खड़ी है, बाँया पैर पीछे करके झुका लिया है; सिर्फ़ उसका अँगूठा ज़मीन को छू रहा है। सिर पर ऊँची टोपी है, कमर के नीचे जाँघिया है, बाकी बदन खुला हुआ है। मूर्ति का आकार बिगड़ गया है पर इस समय भी प्रसादगुण स्पष्ट दिखाई देता है। मूर्ति की स्वाभाविकता बड़ी चित्ताकर्षक है।

मथुरा अजायबखाने में ई० पू० पहिली सदी के, महोली गाँव के पास के, एक जैन-स्तूप के अवशेष हैं। यह स्तूप लोनसोभिका-नामक

जैन-स्तूप

एक गणिका ने महावीर स्वामी की पूजा के लिये बनवाया था। यह बौद्धस्तूपों से बिल्कुल मिलता-जुलता है। मूर्तियाँ और नक्काशी वैसी ही हैं। यक्षियों की भी नङ्गी मूर्तियाँ हैं। सारनाथ के नीचे से सैकड़ों मूर्तियाँ निकली हैं जो ई० पू० चौथी सदी से लेकर बारहवीं ईस्वी सदी तक में बनाई गई थीं। सारनाथ की शैली मथुरा की शैली से मिलती-जुलती है; और प्रसाद गुण से संयुक्त है।

हिन्दू-कला के इतिहास में मूर्तिकला का स्थान बहुत ऊँचा है; जैसे हिन्दू-

मूर्तिकला

साहित्य में नाटक है वैसे ही हिन्दू कला में मूर्ति। इसमें भी मौर्य-कला के बाद बहुत उन्नति हुई। प्रदेशों के अनुसार इस कला की चार शैलियाँ थीं—गान्धार, मथुरा, सारनाथ और अमरावती। गान्धार शैली पर जो उत्तर-पच्छिम प्रान्तों में प्रचलित थी, ग्रीक-शैली का बहुत प्रभाव पड़ा। इस मिश्रित हिन्दू-ग्रीक-शैली ने पूर्वी तुर्किस्तान, मङ्गोलिया, चीन, कोरिया और जापान की कला पर बहुत प्रभाव डाला। जब तक बौद्धधर्म की प्रधानता रही तब तक कला का प्रयोग प्रायः बौद्धस्तूप, चैत्यालय, और मूर्तियों में होता रहा, जिनके बहुतेरे अवशेष अब तक उन्हीं स्थानों पर या हिन्दुस्तान और यूरूप के अजायबखानों में मौजूद हैं। जहाँ जैनधर्म का प्रचार था, वहाँ जैन मन्दिर और मूर्तियों में कला की छटा प्रकट हुई। पर याद रखना चाहिये कि बौद्ध, जैन और ब्राह्मणों की शैलियाँ एकसी ही थीं। दूसरे, धार्मिक मूर्तियों के अलावा पेड़, पौधे, नदी, तालाब, जानवर, और साधारण मनुष्यों की मूर्तियाँ भी सब लोग बनाते थे। बौद्ध प्रधानता के समय की मूर्तियों में और आगामी काल की मूर्तियों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर अवश्य है। बौद्धकाल की मूर्तियों में बड़ी स्वाभाविकता है; प्राकृतिक वस्तुओं का, जानवरों का, स्त्री-पुरुषों का चित्रण जैसे-का-तैसा है। पर ब्राह्मणधर्म के जोर पकड़ने पर स्वाभाविकता कम हो गई; प्रकृति का अनुसरण घट गया; भाव-प्रदर्शन करने का ही उत्साह रह गया; इसलिये पिछले समय की मूर्तियों में आभ्यन्तरिक अवस्था बताने के प्रयोजन से प्राकृतिक आकार का विरूप कर दिया गया है।

शैली और विषय

गान्धार-मूर्तिकला

गान्धार मूर्तिकला के हज़ारों नमूने उत्तर-पच्छिम प्रान्त और वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान से जमा हो चुके हैं। यह कई सदियों के हैं। सबसे अच्छे नमूने ई० ५०—१५० के अर्थात् राजा कनिष्क के युग के हैं। सब नमूने बौद्ध रचना के हैं और ज़्यादातर नीली चिकनी स्लेट के बने हैं, जिस पर अजन्ता इत्यादि की तरह महीन प्लास्टर कर दिया है और कई तरह के रङ्ग निकाले हैं। सिर ज्यादातर छोटे हैं; एक ही तरह के हैं, छः इञ्च से आठ इञ्च तक ऊँचे हैं और मिट्टी के शरीर पर हैं। यह सिर

गौतमबुद्ध, बोधिसत्त्व या बुद्ध होने वाले महापुरुषों के हैं। गान्धार-कला में बुद्ध सर्वव्यापी हैं। इमारतों के जो अंश बचे हैं उन पर तरह-तरह की मूर्तियाँ हैं। यहाँ पत्थर में हिन्दू जनता का सारा जीवन अङ्कित है। औज़ार, हथियार, बर्तन, चौकी, जानवर, मकान, रास्ता, बाग़, तालाब सब कुछ बनाया गया है। सब जगह स्वाभाविकता है। गान्धार की पहिली मूर्तियों में बुद्ध के लम्बे बाल और मूँछें हैं पर पीछे यह चाल नहीं रही। सीकरी के सङ्घाराम के ध्वंस से १८८६ ई० में एक मूर्ति तपस्वी दुर्बल बुद्ध की निकली थी पर यह प्रथा भी बहुत प्रचलित न रही। ज़्यादातर बुद्ध का शरीर स्वाभाविक परिमाण में और शान्त विरक्त रूप में ही दिखाया है।

रामायण और महाभारत से सिद्ध है कि चित्रकारी हिन्दुस्तान में बहुत पुराने समय से प्रचलित थी। ई० पू० दूसरी सदी से हिन्दुस्तानी चित्रकला के उदाहरण अब तक मिलते हैं। वर्तमान मध्यप्रदेश में सरगुजा रियासत में रामगढ़ पहाड़ी पर जोगिमारा गुफा में ई० पू० दूसरी सदी के कई चित्र हैं जो दीवार पर खिचे हैं। एक चित्र में पेड़ के नीचे एक पुरुष बैठा है, बाईं ओर एक जुलूस है जिसमें एक हाथी भी है। एक दूसरे चित्र में फूल, घोड़े और कपड़े पहिने हुए आदमी दिखाये गये हैं। अन्यत्र एक नङ्गा पुरुष बैठा है, पास में तीन आदमी कपड़े पहिने हुए खड़े हैं, दो और आदमी बैठे हैं और एक किनारे पर तीन और हैं। यह चित्र सफेद ज़मीन पर लाल या कभी-कभी काले खिचे हैं; कपड़े सफ़ेद हैं पर किनारे लाल है, बाल काले हैं, आँखें सफ़ेद हैं। यह चित्र शायद जैन या बौद्ध हों, पर यह भी सम्भव है कि किसी धर्म से इनका कोई सम्बन्ध न हो, आनन्द-प्रमोद के लिये ही बनाये गये हों। यह चित्र बुरे नहीं हैं, पर भावों का प्रदर्शन ऊँचे दर्जे का नहीं हुआ है।

हिन्दू-चित्रकला
ई०पू० दूसरी सदी

व्यापार और उपनिवेश

हिन्दुस्तान की सभ्यता पर दूसरे देशों का प्रभाव बहुत कम पड़ा था पर पुराने समय में हिन्दुस्तान का सम्पर्क बराबर दूसरे देशों से था और उसने पूरबी और

पच्छिमी देशों पर प्रभाव भी बहुत डाला। हिन्दुस्तान से जल और थल से दूसरे देशों के साथ व्यापार बहुत पुराने समय में ही शुरू हो गया था। ई० पू० नवीं-अठवीं सदी में ईराक, अरब, फिनिशिया और मिस्र से बराबर व्यापार होता था। धीरे-धीरे यह व्यापारी वस्तुओं के संस्कृत या तामिल नाम इन दूर देशों में अपभ्रंश रूप में प्रचलित हो गये। पच्छिम में हिन्दुस्तानी मल्लाह जर्मनी और इंग्लिस्तान के बीच उत्तर समुद्र तक पहुँचे। पहली ईस्वी सदी में अफ्रीका के किनारे एक टापू में हिन्दुओं ने अपना उपनिवेश बनाया था। पच्छिमी देशों में हिन्दुस्तान से मसाले, गन्ध, सूती कपड़े, रेशम, मलमल, हाथी-दांत, कछुये की पीठ, मिट्टी के बर्तन, मोती, हीरा, जवाहिर, चमड़ा, दवा वगैरह जाते थे। उन देशों से हिन्दुस्तान में कपड़ा, दवा, शीशे के बर्तन, सोना, चाँदी, ताँबा, टीन, सीसा, और जवाहिरात आते थे। पहिली ईस्वी सदी का रोमन-लेखक पिल्नी कहता है कि इस व्यापार से हिन्दुस्तान को बहुत फ़ायदा होता था और रोमन साम्राज्य की बहुत-सी दौलत हर साल हिन्दुस्तान चली जाती थी।[1] इस समय के ग्रीक और रोमन लेख से स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान के तट पर बड़े अच्छे-अच्छे बन्दरगाह थे और उनमें बहुत से जहाज आते-जाते थे। तामिल-साहित्य से पता लगता है कि चोल-प्रदेश में कावरीपटम्, तोंड़ी और पुहार समुद्री व्यापार के बड़े केन्द्र थे। दूसरी ओर पूरब के देशों से भी बहुत व्यापार होता था। बङ्गाल की खाड़ी के बन्दरगाहों से जहाज पूर्वी द्वीपसमूह और चीन आया-जाया करते थे। पाँचवीं सदी में चीनी यात्री फ़ाहियान हिन्दुस्तानी जहाज में बैठकर चीन से आया था और फिर हिन्दुस्तानी जहाज में ही बैठकर लौटा था। हाल में पूर्वी बोर्नियो में चार यूपलेख मिले हैं जिनमें ब्राह्मण-प्रवासियों के यज्ञ और

विदेशी व्यापार

पच्छिम से

पूरब से

---

[1] हिन्दुस्तान के पुराने समुद्री व्यापार के लिये देखिये रालिंसन, 'इंटर कोर्स बिट्बीन इण्डिया ऐण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड', । शौफ़, 'पेरिप्लस आफ़ दि एरिथ्रियन सी।' राधाकुमुद मुकर्जी, इण्डियन शिपिंग ऐण्ड मैरिटाइम ऐक्टिविटी।

दान का उल्लेख है। इसी तरह जावा के बीच में पहाड़ों पर हिन्दू लेख मिले हैं।

व्यापार के कारण हिन्दुओं को अपने उपनिवेश बनाने का भी प्रोत्साहन हुआ,

हिंदुस्तानी उपनिवेश

उन्होंने अपने देश के बाहर बहुत-सी बस्तियाँ क़ायम कीं, मानों दूर-दूर तक हिन्दुस्तान के टुकड़े गाड़ दिये। ई० पू० तीसरी सदी के लगभग लङ्का के टापू में, वर्मा में और उसके भी पूरब स्याम में हिन्दुओं ने अपने उपनिवेश बसाये। पहिली-दूसरी ईस्वी सदी के लगभग कम्बोडिया में, दक्खिन अनाम में जिसका नाम चम्पा रक्खा गया; दक्खिन-पूरब में जावा, सुमात्रा, वाली और बोर्नियों के द्वीपों में और मलय प्रायद्वीप में हिन्दू उपनिवेश बसाये गये। इन सब देशों में हिन्दुओं की सभ्यता फैल गई;

हिन्दू सभ्यता का प्रभाव

संस्कृत साहित्य का प्रचार हुआ, हिन्दू सिद्धान्तों के अनुसार चित्रकारी, मूर्तिनिर्माण और भवननिर्माण हुआ, हिन्दू धर्मों के विश्वास माने गये, कहीं-कहीं समाज का संगठन भी हिन्दू-वर्ण-व्यवस्था के अनुसार हुआ। कुछ सदियों के बाद हिन्दुस्तान से बहुत कुछ सम्बन्ध टूट जाने से परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन न करने से और दूसरी जातियों और धर्मों का प्रभाव बढ़ जाने से हिन्दू प्रधानता मिट गई। पर हिन्दू-सभ्यता के आश्चर्यकारी चिह्न अब तक मौजूद हैं। स्याम इत्यादि में राज्याभिषेक अब तक हिन्दू रस्मों के अनुसार होता है; ब्राह्मण-ग्रन्थों के मन्त्र उच्चारण किये जाते हैं, ब्राह्मण अभिषेक करते हैं, वैदिक रीतियों के अनुसार राजा आसपास के लोगों को सम्बोधन करता है। बाली द्वीप में महाभारत, शुक्रनीति आदि बहुत से संस्कृत-ग्रन्थ मिले हैं। जावा में अब तक ६०० हिन्दू इमारतों के अवशेष विद्यमान हैं। यहाँ

बरबोदूर

बरबोदूर के मन्दिर तो हिन्दू निर्माणकला के सर्वोत्तम उदाहरणों में हैं। बरबोदूर का प्रधान मन्दिर संसार के सबसे सुन्दर भवनों में गिना जाता है। इसकी कुर्सी ४०० फ़ीट से ज्यादा है और इसमें सात ऊँचे-ऊँचे खन हैं। निर्माण की शैली बड़ी सुन्दर है। चारों ओर पत्थर की बहुत-सी मूर्तियाँ नक्काश की हैं जो, अगर एक कतार में रक्खी जायँ तो ३ मील तक फैल जायँ। मूर्तियाँ उसी तरह की हैं जैसी हिन्दुस्तान में अजन्ता इत्यादि जगहों में। मूर्तियों के द्वारा बौद्ध और ब्राह्मण-ग्रन्थों की कथाएँ बयान की गयी हैं और

इस खूबी से बयान की गयी हैं कि सदा के लिये चित्त पर अंकित हो जाती हैं। सब जगह कारीगरी वही है जो अलोरा, नासिक, और अजन्ता इत्यादि में दिखाई देती है।

कम्बोडिया में अङ्गकोरवात का मन्दिर हिन्दूकला का एक दूसरा चमत्कार है। यह लगभग एक मील लम्बा और लगभग एक मील चौड़ा है और क्षेत्रफल में भी एक वर्गमील है। एक खण्ड के बाद दूसरा खण्ड है जो पहिले खण्ड से कुछ ऊँचा है और इसी तरह खण्ड पर खण्ड चले गये हैं। सीढ़ियों के बाद सीढ़ियाँ स्तम्भ-समूह के बाद स्तम्भ-समूह लाँघते हुए दर्शक चारों ओर शैली के चातुर्य की और मूर्तिकला की निपुणता की प्रशंसा करता हुआ घण्टों तक घूमा करता है।

अङ्गकोरवात

नगर

इन सब उपनिवेशों में बहुत-से नगरों या प्रान्तों के नाम हिन्दुस्तान से लिये गये थे। दूर देशों में चम्पा और कलिङ्ग थे, द्वारावती और कम्बोज थे, अमरावती और अयोध्या थे।[1] इन देशों के जङ्गलों में अब भी नई-नई हिन्दू इमारतें और मूर्तियाँ निकल रही हैं। इनकी सभ्यता पर अब भी हिन्दू प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

---

[1] हिन्दुस्तान के पूर्वी उपनिवेशों के लिये देखिये र० च० मजूमदार, 'ऐन्शेण्ट इण्डियन कालोनीज़ इन दि फ़ार ईस्ट'। राधाकुमुद मुकर्जी, 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन शिपिङ्ग एण्ड मैरिटाइम एक्टिविटी'। ग्रेटर इण्डिया सुसायटी के ग्रन्थ भी देखिये। कला के लिये हेवेल, 'इण्डियन आर्किटेक्चर; इण्डियन स्कलपचर ऐण्ड पेटिङ्ग।'

गुप्त-साम्राज्य और उसके बाद

११

ई० पू० दूसरी सदी के प्रारम्भ में मौर्य-साम्राज्य के गिरने पर देश में राजनैतिक विच्छेद हो गया। कुछ बड़े-बड़े राज्य अवश्य बने पर तीसरी ई० सदी तक देश में राजनैतिक एकता न हुई। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि उत्तर-पच्छिम में बहुत से विदेशी समुदाय घुस आये और बहुत बरसों तक देश के अनेक भागों में राज करते रहे। चौथी ई० सदी में संयोजक शक्तियों ने फिर ज़ोर पकड़ा और देशवर्ती साम्राज्य की स्थापना प्रारम्भ हुई।

नैतिक विच्छेद

पाटलिपुत्र में या कहीं आस-पास तीसरी ईस्वी सदी में गुप्त नामक एक राजा राज्य करता था। उसका लड़का था घटोत्कच। घटोत्कच के बाद उसका लड़का चन्द्रगुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने ३०८ ई० के लगभग लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से ब्याह किया और जान पड़ता है कि दोनों राज्यों को संयुक्त कर दिया। उसके सिक्कों पर कुमारदेवी का चित्र है और पीछे लिच्छवयः लिखा हुआ है।[1] शक्ति बढ़ जाने पर चन्द्रगुप्त ने तिरहुत, दक्खिन बिहार, अवध और आस-पास के प्रदेशों पर भी अपनी सत्ता जमाई और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। ३२० ई० में शायद एक महान् अभिषेक के बाद उसने एक नया संवत् अर्थात् गुप्त-संवत् चलाया जिसका प्रयोग कई सदियों तक बहुत-से प्रदेशों में होता रहा। चन्द्रगुप्त-प्रथम के राज्य से गुप्त साम्राज्य प्रारम्भ होता है। ३३० या ३३५ ई० स० में उसके मरने पर उसका लड़का समुद्रगुप्त जो लिच्छिवि कुमार-

चन्द्रगुप्त प्रथम

लिच्छवि-ब्याह

गुप्त-संवत्

---

[1] गुप्त वंश के सिक्कों के लिये देखिये एलन, 'कैटेलोग ऑफ़ दि कौइंस ऑफ़ दि गुप्त डिनैस्टीज़', इत्यादि।

देवी से था, गद्दी पर बैठा। समुद्रगुप्त दिग्विजय करके चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। आर्यावर्त में उसने बहुत से राजाओं पर अपनी प्रधानता जमाई और बहुतों के राज बिल्कुल ही छीन लिये। पराजित नौ राजाओं के नाम इलाहाबाद अशोक-स्तम्भ पर खुदी हुई कवि हरिषेण की प्रशस्ति में दिये हैं। इनके अलावा और भी बहुतेरे राजाओं को समुद्रगुप्त ने जीता था। जङ्गली जातियों पर भी उसने सत्ता जमाई थी और सीमाप्रान्त के जातिनायकों को भी बस में किया था। पञ्जाब की ओर अनेक गणराज्य या प्रजातन्त्र राज्य बन गये थे, उनके पास बड़ी-बड़ी सेनायें थीं, उनके निवासी बहुत युद्ध-प्रिय थे; वह ई० पू० चौथी सदी के उन प्रजातन्त्रों की याद दिलाते हैं जिन्होंने बड़ी वीरता से सिकन्दर का सामना किया था। इन सबको जीतकर समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य में मिला लिया। उत्तर के और राज्यों को भी जीतने के बाद समुद्रगुप्त ने दक्खिन में प्रवेश किया और शासकों पर अपनी सत्ता जमाता हुआ समुद्रतट तक जा पहुँचा। लौटते हुए उसने पच्छिम की ओर महाराष्ट्र पर भी प्रभुता स्थापित कर दी। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघु की ओट में शायद समुद्रगुप्त के दिग्विजय का ही वर्णन किया है। कोई ३५० ई० के लगभग समुद्रगुप्त ने यह दिग्विजय समाप्त कर दी थी। गुजरात, मालवा, काठियावाड़ इत्यादि कुछ प्रदेशों को छोड़कर लगभग सारा देश उसकी प्रधानता मानता था, पर सब जगह उसका शासन प्रचलित नहीं था। अधीन राजा-महाराजा दक्खिन में, महाराष्ट्र में, आसाम में, उड़ीसा में और उत्तर के कुछ अन्य भागों में शासन करते रहे। शेष प्रदेशों पर स्वयं समुद्रगुप्त शासन करता था। दिग्विजय के बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया जो शायद उत्तर-भारत में पुष्यमित्र के बाद किसी ने नहीं किया था। इस यज्ञ में धूमधाम की कोई सीमा, न थी। न जाने कितने लाख ब्राह्मणों का भोज हुआ और न जाने कितने लाख सिक्के उनको दान में

समुद्रगुप्त

दिग्विजय

प्रजातन्त्र

दक्खिन

अधीन राजा

अश्वमेध

दिये गये। अश्वमेध के स्मारक में बहुत से सिक्के ढाले गये जो अब तक मिलते हैं। लखनऊ अजायबघर में जो घोड़े की मूर्ति रक्खी है, वह इस यज्ञ के घोड़े की जान पड़ती है। अश्वमेध से प्रकट है कि गुप्त-वंश के राजा ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे, यद्यपि इनके क्षत्रिय होने का कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला है। किसी भी वर्ण के रहे हों, वह ब्राह्मणों की आवभगत करते थे, ब्राह्मण-धर्म को बहुत सहारा देते थे। पर धार्मिक नीति में हिन्दू-परम्परा के अनुसार वह सहनशील अवश्य थे। लङ्का के बौद्धराजा सिरिमेघवन्न अर्थात् श्रीमेघवर्ण को बौद्ध यात्रियों के लिये गया में बोधिवृक्ष के पास एक मठ बनवाने की इजाज़त समुद्रगुप्त ने बड़ी प्रसन्नता से दी थी। यह मठ उन बौद्ध मठों का अच्छा उदाहरण है जो राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार बहुतायत-से बनवाया करते थे। इसके चारों ओर तीस-चालीस फ़ीट ऊँची मज़बूत दीवार थी। इसके तीन खन थे, और तीन बुर्ज थे। बहुत बड़े-बड़े छः कमरे थे और कमरे बहुत ज्यादा थे। कला के सौन्दर्य की सीमा न थी। चारों ओर मूर्तियाँ थीं, चित्र थे, जो हृदय को सहज ही बस में कर लेते थे। गौतमबुद्ध की मूर्ति तो सोने-चाँदी की थी और मणियों से जड़ी थी। इस बड़ी इमारत के आसपास बहुत से स्तूप थे जो बुद्ध की अस्थियों के भागों को रखने के लिये बनाये गये थे। यह मठ कई सदियों तक बना रहा। जब सातवीं ई० सदी में चीनी यात्री युआनच्वांग यहाँ आया तब मठ में बौद्ध महायान-पन्थ के स्थविर-सम्प्रदाय के एक हज़ार भिक्षु रहते थे। लङ्का से आने वाले यात्रियों का आतिथ्य स्वभावतः यहाँ बहुत होता था और उनको सब तरह की सुविधाएँ मिलती थीं।

बौद्धमठ

जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त के समय में राजधानी पाटलिपुत्र से उठकर अयोध्या में आ गई थी। अयोध्या अधिक केन्द्रिक है और साम्राज्य की राजधानी होने के अधिक उपयुक्त है। गुप्त-काल में यह बहुत बड़ा नगर था। पाटलिपुत्र का महत्त्व कम हो गया पर छठवीं ई० सदी तक वह भी महानगर रहा। कौशाम्बी भी बड़ा नगर था। उसकी स्थिति का पता हाल में ही इलाहाबाद ज़िले में लगा है।

राजधानी

हिन्दू-परम्परा के अनुसार समुद्रगुप्त भी विद्वानों का बड़ा आदर करता था और शिक्षा तथा साहित्य की उन्नति के लिये प्रयत्न करता था।

विद्या की उन्नति

इलाहाबाद प्रशस्ति में लिखा है कि महाराजाधिराज बड़े भारी कवि थे और गाने-बजाने में भी बहुत निगुण थे। यों तो दरबारी-कवि राजाओं की प्रशंसा में सब कुछ कह जाते हैं पर हरिषेण के यह कथन सच मालूम होते हैं। कई सोने के सिक्के मिले हैं जिन पर सम्राट् की मूर्ति सितार बजा रही है। सम्राट् के इस उदाहरण से गाने-बजाने की विद्या को बड़ा प्रोत्साहन मिलता होगा और उसके आचार्य फूले न समाते होंगे। दरबार में बहुत से गवैये थे; राज्य की सहायता से उन्होंने अपनी कला की उन्नति अवश्य की होगी। हरिषेण यह भी कहता है कि सम्राट् विद्वानों की सङ्गति को बहुत पसन्द करते थे, उनको बहुत सहायता देते थे और उनके साथ शास्त्र इत्यादि की विवेचना करते थे तथा काव्य पर वार्त्तालाप करते थे। सारे दरबार में कविता की चर्चा बहुत थी। इससे साहित्य की प्रगति में बहुत सुविधा होती होगी।

चालीस-पैंतालीस बरस राज करने के बाद, ३७५ ई० के लगभग समुद्रगुप्त का देहान्त हो गया और युवराज गद्दी पर बैठा। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध है और उसने विक्रमादित्य की पदवी भी धारण की। उसने मालवा, गुजरात, सुराष्ट्र अर्थात् वर्तमान काठियावाड़ को भी जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसके राज्य में संस्कृत-साहित्य ने और भी अधिक उन्नति की।

चन्द्रगुप्त द्वितीय

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ४१३ ई० तक राज्य किया। उसके बाद उसका लड़का गद्दी पर बैठा जो कुमारगुप्त प्रथम के नाम से प्रसिद्ध है। समुद्रगुप्त की तरह उसने भी एक बड़ा अश्वमेध यज्ञ किया।

कुमारगुप्त प्रथम

कुमारगुप्त प्रथम ने ४५५ ई० तक राज्य किया और साम्राज्य को घटने न दिया पर राज्य के अन्तिम काल में देश को पुष्यमित्र नामक एक जाति के युद्धों से और हूणों के आक्रमणों से बड़ी क्षति पहुँची।

पुष्यमित्र जाति

पुष्यमित्र जाति का ठीक-ठीक पता न तो पुराणों से लगता है और न शिला-लेखों या ताम्रपत्रों से; पर यह सिद्ध है कि

४५० ई० के लगभग उन्होंने गुप्त-साम्राज्य से युद्ध छेड़ा और कुमारगुप्त की सेना को हरा दिया। तब युवराज स्कन्दगुप्त ने खेत लिया और बड़े कौशल और परिश्रम से पुष्यमित्रों को दूर भगाया। इसी बीच में मध्य-एशिया से हूणों के झुण्ड के झुण्ड निकल पड़े। यह यूरुप की ओर गये और उत्तर-पच्छिमी दर्रों से होकर हिन्दुस्तान में आ धमके। यूरुप और एशिया-भर में इन्होंने हलचल मचा दी, जातियों को इधर से उधर ढकेल दिया और अनेक देशों को बहुत दिन के लिये नष्ट कर दिया। अगर हिन्दुस्तान में इस समय राजनैतिक एकता न होती तो यह असभ्य हूण शायद हिन्दुस्तान को तहस-नहस कर देते और हमारे इतिहास का सारा क्रम बदल देते। पर गुप्त-साम्राज्य की संयुक्त-शक्ति ने उनका सामना किया और तीव्र संग्रामों के बाद उनको पीछे हटा दिया।

हूण

४५५ ई० में कुमारगुप्त प्रथम के देहान्त पर युवराज स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठा। हूणों ने फिर हमले किये और फिर हारे, तथापि यह आक्रमण सातवीं सदी तक बन्द न हुए। ४६५ ई० के लगभग हूण फिर पञ्जाब में घुस आये। स्कन्दगुप्त ने फिर मुक़ाबिला किया पर जान पड़ता है कि इस बार वह हार गया। ४६७ ई० के लगभग स्कन्दगुप्त का देहान्त हुआ और गुप्त-साम्राज्य टूट गया। हूणों से उसने हिन्दुस्तान को बहुत-कुछ बचा लिया था पर युद्ध से उसकी शक्ति जर्जर हो गई थी। स्कन्दगुप्त के बाद कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी न मिलने से साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। सातवीं सदी के प्रारम्भ तक विभाजक शक्तियों की प्रधानता रही।

स्कन्दगुप्त

साम्राज्य का अन्त

इस प्रकार गुप्त-साम्राज्य कोई डेढ़-सौ बरस तक अर्थात् लगभग ३२० ई० से लगभग ४६७ ई० तक स्थिर रहा। हिन्दू-सभ्यता के विकास में इसका केन्द्रिय स्थान है। हिन्दू राजनैतिक सङ्गठन की अनोखी प्रवृत्तियाँ इस समय पराकाष्ठा पर पहुँचीं और आगामी समयों का यह शासन गुप्त-साम्राज्य के ढाँचे पर ही चलता रहा। संस्कृत-साहित्य का यह सुवर्ण युग है और आगामी काव्य वास्तव में गुप्तकाव्य की कोरी

गुप्तकाल का स्थान

नकल है। गणित तथा ज्योतिष आदि ने भी गुप्तकाल में आश्चर्यजनक विकास पाया। इस समय ब्राह्मणधर्म ने और भी सिर उठाया और वह रूप धारण किया जो कुछ परिवर्तनों के बाद आज तक मौजूद है। अवतार, भक्ति, मूर्तिपूजा, शिव, पार्वती, विष्णु आदि की आराधना—इन सब सिद्धान्तों ने गुप्तकाल में ज़ोर पकड़ा। नये ब्राह्मणधर्म के अनुसार पुराणों का नया संस्करण हुआ।

गुप्त-साम्राज्य के बाद

गुप्तकाल के धर्म, साहित्य और विज्ञान का विकास साम्राज्य के बाद भी होता रहा और राजनैतिक संगठन के सिद्धान्त भी वही बने रहे, पर राजनैतिक इतिहास की धारा बिल्कुल पलट गई। बहुत से छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए और हूणों ने जोर पकड़ा। मगध में गुप्तवंश बहुत दिन तक सिंहासन पर बना रहा। स्कन्दगुप्त

मगध

के बाद उसका भाई पुरगुप्त गद्दी पर बैठा। पुरगुप्त का उत्तराधिकारी हुआ उसका लड़का नरसिंहगुप्त बालादित्य, जो बौद्धधर्म का समर्थक था और जिसने नालन्द का मठ और विद्यालय बनवाया। इन इमारतों का पूरा वर्णन सातवीं सदी में युआनच्वाङ्ग

बालादित्य

ने किया है। पर धर्म और शिक्षा के अलावा समर-भूमि में भी बालादित्य ने नाम किया। ४७० ई० के लगभग हूणों के झुण्ड फिर आगे बढ़े, पर बालादित्य ने उनको पीछे हटा दिया। ४७३ ई० के लगभग बालादित्य का देहान्त होने पर उसका लड़का

अन्य राजा

कुमारगुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा, पर शायद उसने बहुत थोड़े दिन राज्य किया। उसके बाद लगभग ५०० ई० तक बुद्धगुप्त ने मगध पर राज्य किया। उसके उत्तराधिकारी एक शताब्दी तक और राज करते रहे, पर उनके शासन का क्षेत्र और भी संकुचित हो गया था।

वलभी

गुप्त-साम्राज्य के अन्य प्रदेशों में दूसरे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे। सुराष्ट्र अर्थात् काठियावाड़ के पूरब में एक प्रभावशाली राज्य बना जिसकी राजधानी वलभी में थी। वलभी के राजाओं ने धीरे-धीरे अपनी प्रभुता बहुत दूर तक फैलाई। विदेशी लेखकों में इसका उल्लेख अनेक बार आया है। सातवीं सदी

के बीच में युआनच्वाङ्ग ने और अन्त में इत्सिंग ने वलभी के ऐश्वर्य और विद्यापीठों की प्रशंसा की है। जान पड़ता है कि यहाँ भी एक बड़ा विश्वविद्यालय था जिसकी कीर्ति सारे देश में फैली हुई थी और जिसमें सैकड़ों अध्यापक और हजारों विद्यार्थी थे। आठवीं सदी में अरब-लेखकों ने बलभी राय को बल्हरा नाम से पुकारा है और कहा है कि वह बहुत से राजाओं का अधिराज था। आठवीं सदी में वलभी राज्य, शायद अरबों के आक्रमण से नष्ट हो गया।

दक्खिन के सब राज्य तो गुप्त-साम्राज्य का ह्रास होते ही स्वतन्त्र हो गये थे। मध्यहिन्द में भी ऐसा ही हुआ। यहाँ छठवीं ई० सदी में यशोधर्मन् नामक एक राजा ने एक तेजस्वी राज्य की स्थापना की। शिलालेखों में उसने चक्रवर्ती महाराज होने का दावा किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने हूणों को भगाने में बड़ा भाग लिया।

यशोधर्मन्

पाँचवीं सदी के अन्त में हूणों ने फिर धावा मारा। इस समय उनका नेता था तोरमाण, जो निस्सन्देह बड़ा साहसी और योग्य सेनापति था। उसने बहुत से प्रदेश जीत लिये और ५०० ई० के लगभग मालवा में अपना राज्य स्थापित किया और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। जान पड़ता है कि तोरमाण ने पञ्जाब से लेकर मालवा तक सब राजाओं को बस में कर लिया था या उखाड़कर फेंक दिया था। ५०२ ई० के लगभग उसका देहान्त होने पर उसका लड़का मिहिरगुल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। मिहिरगुल की राजधानी उत्तर-पञ्जाब में साकल अर्थात् सियालकोट में थी।

तोरमाण

कल्हण की राजतरङ्गिणी से और युआनच्वाङ्ग के वर्णन से सिद्ध होता है कि मिहिरगुल अन्याय और अत्याचार की मूर्ति था। उसके बुरे शासन से तङ्ग आकर यशोधर्मन् और दूसरे राजाओं ने एक सङ्घ बनाकर युद्ध छेड़ा। ५२८ ई० के लगभग घमासान लड़ाई हुई और मिहिरगुल हारकर पच्छिम की ओर भाग गया। पर छलवल से उसने काश्मीर और गान्धार पर राज्य जमा लिया। ५४२ ई० के लगभग उसका देहान्त हुआ। उसके बाद हूणों का सितारा डूब गया। मध्य-एशिया में तुर्कों ने हूणों की शक्ति मिटा दी; हिन्दुस्तान में मिहिरगुल के बाद उनकी रही-सही

मिहिरगुल

हूणों की पराजय

प्रभुता भी समाप्त हो गई। जो हूण यहाँ बस गये थे, वह हिन्दू हो गये; उन्होंने अपनी अलग-अलग जातियाँ बना ली और साधारण हिन्दू जनता की तरह रहने लगे। पर अपने प्राबल्य के समय में हूणों ने बहुत से राज ध्वंस कर दिये थे, जनता को बहुत क्लेश पहुँचाया था, और बौद्ध धर्म को एक गहरी चोट दी थी। बौद्धमठ ही धर्म के केन्द्र थे तथा बौद्ध-साहित्य, शिक्षा और पूजा-पाठ के मुख्य स्थान थे। हूणों ने इतने मठ नष्ट किये कि बौद्धधर्म की क्षति फिर कभी पूरी न हुई।

छठवीं सदी का उत्तरभाग

यशोधर्मन् के वंश का आगामी इतिहास नहीं मिलता। सच यह है कि छठवीं सदी के उत्तरभाग के बारे में बहुत कम पता लगा है। हूणों के आक्रमणों से राजनैतिक एकता न पैदा हुई; छठवीं सदी में बराबर विभाजन शक्तियों का प्राबल्य रहा। सातवीं सदी में संयोजक शक्तियों ने सिर उठाया और उत्तर में बर्द्धन-साम्राज्य की और दक्खिन में पुलकेशिन् के साम्राज्य की सृष्टि हुई।[1]

चौथी-छठवीं सदी की सभ्यता

चौथी ईस्वी-सदी से छठवीं ईस्वी-सदी तक का यह राजनैतिक इतिहास सामग्री की कमी के कारण अबतक अधूरा है, अगर भविष्य में कोई अन्य शिलालेख या ताम्रपत्र लेख मिलें तो शायद कुछ और बातें मालूम होंगी। पर वर्तमान सामग्री के आधार पर ही इस काल की सभ्यता के बारे में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। शासन-व्यवस्था का चित्र शिलालेख, ताम्रपत्र, धार्मिक और साधारण साहित्य, एवं विदेशी लेखों के आधार पर खींचा जा सकता है।

---

[1] चौथी ईस्वी-सदी से छठवीं इस्वी सदी तक के राजनैतिक इतिहास के लिये देखिये, फ्लीट 'कोर्पस इंक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्', भाग ३। इसमें शिलालेख और ताम्रपत्रलेख हैं। सुसम्बद्ध राजनैतिक इतिहास विनसेण्ट ए स्मिथ—'अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' (चौथा संस्करण) पृ० २९५-३४१ में है। कल्हण की 'राज-तरङ्गिणी' और युआनच्वाङ्, यात्रा में कुछ बातें हैं। इण्डियन एंटिक्वेरी और 'जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सुसायटी', आदि पत्रिकाओं में बहुत से लेख हैं।

शासन

शासन

गुप्त-साम्राज्य के शासन के बारे में चीनी यात्री फ़ाहियान (४०५-४११ ई०) जो बौद्धतीर्थों के दर्शन और बौद्ध-ग्रन्थों का संग्रह करने आया था, कहता है कि देशका शासन बहुत अच्छा था; शान्ति थी जान-माल की रक्षा बहुत अच्छी तरह होती थी, सरकार लोगों के जीवन में अधिक हस्तक्षेप नहीं करती थी। ब्राह्मणधर्म के अनुयायी होने पर भी गुप्त-सम्राट् बौद्धमठों को बहुत सी ज़मीन देते थे और किसी सम्प्रदाय को क्षति नहीं पहुँचाते थे। देश में माँस या शराब की प्रवृत्ति नहीं थी; बहुत से मुफ़्ती अस्पताल थे। पाटलिपुत्र के अस्पतालों में बहुत से लँगड़े, बीमार और गरीब आदमी थे, जिनको दवा, खाना-पीना और आराम की चीजें मुफ़्त दी जाती थीं। फ़ाहियान कहता है कि प्राणदण्ड कभी किसी को नहीं दिया जाता था। शायद यह कथन अक्षरशः सत्य नहीं है; पर यह ठीक मालूम होता है कि प्राणदण्ड बहुत कम था। डकैती या बलबे के जुर्म में हाथ काट लिया जाता था। ज्यादातर सज़ा जुर्माने की होती थी। राज का खर्च ज्यादातर राजा की ज़मीन से चलता था।[1]

शासकों की पदवियाँ और सम्बन्ध

गुप्त-समय के बहुत से शिलालेखों और ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है कि जमींदारी सङ्घ-शासनप्रथा अब पराकाष्ठा को पहुँच गई। इस समय से लेकर बारहवीं ई० सदी तक प्रत्येक सम्राट् महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक कहलाता था। कभी-कभी सम्राट्, एकाधिराज, राजाधिराज, चक्रवर्ती और परमदैवत—यह पदवियाँ भी लिखी जाती थीं। सम्राज्ञी महादेवी कहलाती थीं और बड़ा लड़का कुमार-भट्टारक या युवराज। सम्राट् का आधिपत्य माननेवाले बड़े राजा महासामन्त या महाराज कहलाते थे और छोटे केवल सामन्त या राजा। महासामन्तों और महा-राजाओं के भी अधीन बहुत से राजा थे जो सामन्त, राजा या नृपति कहलाते थे। यह सब शासक घरेलू मामलों में बहुधा स्वतन्त्र थे, पर इनको अपने से

---

[1] फ़ाहियान [अनु० जाइल्स] अध्याय २७। ३६-३७॥

ऊपर के महाराजा या महाराजाधिराज की सहायता करनी पड़ती थी और बाहर के सब मामलों में उनकी आज्ञा माननी पड़ती थी; वह बहुधा उनके दरबारों में और सेना में जाते थे और कभी-कभी उनके शासन में ऊँची नौकरी भी कर लेते थे। यह सब सम्बन्ध शिलालेखों और ताम्रपत्रों में पादानुध्यात शब्द से प्रकट किये हैं।[1] साम्राज्य के मुख्य अधिकारियों में थे—सेनापति या महासेनापति, बलाध्यक्ष या बलाधिकृत, महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत, भटाश्वपति (घोड़े और पैदलों के सरदार), कटुक (हाथियों के सरदार), रणभाण्डागाराधिकरण (सैनिक द्रव्य के खजाञ्ची), सन्धिविग्रहिक या महासन्धिविग्रहिक, सन्धिविग्रहिन्, सन्धिविग्रहाधिकृत या सन्धिविग्रहाधिकरणाधिकृत (एक तरह का परराष्ट्रसचिव), चमू (एक फ़ौजी अफ़सर), न्याय करने के लिये थे दण्डनायक, महादण्डनायक, सर्वदण्डनायक, महा-सर्वदण्डनायक, दण्डाधिप, दण्डनाथ, दण्डाभिनाथ, दण्डाधिपति, दण्डेश या दण्डेश्वर। दण्डपाशाधिकरण पुलिस का अफ़सर मालूम होता है। दूत, दूतक या आज्ञादापक सम्राट् के शासन को अधिकारियों या प्रजा तक पहुँचाता था। बड़े महकमों की निगरानी सर्वाध्यक्ष करते थे। इन राजनैतिक अधिकारियों के अलावा महल और दरबार में कुछ अन्य अफ़सर भी थे। प्रतीहार या महाप्रतीहार महल की रखवाली करता था, विनयासुर मुलाक़ातियों को सम्राट् के पास ले जाता था, स्थपालिसम्राट् शायद नौकरों की देख-रेख करता था और प्रति-नर्तक शायद भाट था।

अधिकारी

साम्राज्य कई सूबों में बटा हुआ था जो भुक्ति कहलाते थे और जिनके शासक भोगिक, भोगपति, गोप्ता, उपरिक महाराज या राजस्थानीय नाम से प्रसिद्ध थे। कभी-कभी राजकुमार इस पद पर नियुक्त किये जाते थे और उनकी सहायता के लिये

प्रादेशिक शासन

[1]फ़्लीट, पूर्ववत् लगभग सब ही नं० देखिये। ई० आई० १० नं० २, १२, १३, ॥ १५ नं० ४ आई० ए० १२ ॥ पृ० २४६ ॥ ३ पृ० २६ ॥ ६ पृ० १६८, १७२ ॥ १० पृ० १०३, १८६ ॥ ११ पृ० १२५ ॥ १४ पृ० ६८ ॥

कुमारामात्य या महाकुमारामात्य रहते थे। भुक्ति-शासन के दफ़्तरों में और बहुत से कर्मचारी थे जैसे तन्नियुक्तक और उपरिक। प्रत्येक भुक्ति में बहुत से ज़िले थे जिनको विषय या कभी-कभी आहार कहते थे, जिनका मुख्यस्थान अधिष्ठान, दफ़्तर, अधिकरण और शासक विषयपति कहलाता था। दामोदरपुर ताम्रपत्र से अनुमान होता है कि विषयपति को सलाह देने के लिये एक समिति-सी थी जिनमें नगरश्रेष्ठी, प्रथमकुलिक और सार्थवाह—अर्थात् भिन्न-भिन्न श्रेणियों के प्रतिनिधि होते थे। अधिकरण में बहुत-से लेखक थे जो कुछ आगे चलकर कायस्थ कहलाने लगे और जिनका अफ़सर प्रथम कायस्थ की पदवी रखता था। प्रत्येक शहर का प्रबन्ध एक द्राङ्गिक के हाथ में था जिसको नियुक्ति बहुधा भुक्ति-शासक करता था। गाँव का इन्तिज़ाम ग्रामिक करता था और हिसाब तल्वाटक रखता था। महत्तर और महत्तम शब्द जो ताम्रपत्रों में बहुत बार आये है और अष्टकुलाधिकरण शब्द जो कभी-कभी आया है, प्रकट करते हैं कि गाँव के शासन में गाँव के बड़े आदमियों की सलाह हमेशा ली जाती थी। जिले में चारों ओर दण्डपाशिक, दण्डक, चौरोद्धरणिक, चाट, भट इत्यादि पुलिस के अफ़सर और आदमी अपराध का पता लगाने के लिये थे। कर-विभाग में प्रमातृ ज़मीन नापते थे, सीमा-प्रदातृ खेतों की हद्दबन्दी करते थे। न्याय-करणिक नाप-जोख के झगड़े फ़ैसले करते थे, ध्रुवाधिकरण या उत्खेतयिता निगरानी करते थे। पुस्तपाल, अक्षपटलिक, महाक्षपटलिक करणिक, कर्तृ या शासयितृ बन्दोबस्त वग़ैरह का लेख और हिसाब रखते थे। शौल्किक आने-जाने वाले माल पर चुङ्गी वसूल करते थे; गौल्मिक जङ्गल या किला का इन्तिज़ाम करते थे। इनके अलावा चारों ओर दफ़्तरों में आयुक्त विनियुक्त, दिविर, लेखक आदि कर्मचारी थे। कभी-कभी एक ही आदमी छोटे या बड़े दो पदों पर नियुक्त कर दिया जाता था। किसी-किसी वंश के बहुत से लोग

भुक्ति-विषय

समिति

लेखक

द्राङ्गिक गांव

पुलिस

कर-विभाग

सरकारी पदों पर थे और एक तरह का मौरूसी हक़-सा रखते थे। ताम्रपत्रों से साबित होता है कि उद्रङ्ग, उपरिकर, धान्य, हिरण्य, वात, भूत, यह कर लिये जाते थे पर इनकी विशेषता का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इतना ही कहा जा सकता है कि ज़मीन की पैदावार का एक हिस्सा, और धातुओं का शायद एक बहुत बड़ा हिस्सा राज्य के ख़ज़ाने में जाता था। जब कभी सेना चलती थी तब भी बस्ती वालों को उनके खाने-पीने को कुछ देना पड़ता था। मज़दूरों से कुछ बेगार भी ली जाती थी। अपराधियों के जुर्माने से भी खासी आमदनी होती थी। राजाओं या ज़मींदारों से खराज के रूप में कुछ मिल जाता था। आने-जाने वाले माल पर चुंगी लगती थी। साम्राज्य में जैसी शासन-पद्धति थी, वैसी ही आवश्यक परिवर्तनों के साथ महाराजाओं या राजाओं के प्रदेशों में भी प्रचलित थी।[1]

करो के बदले में सरकार जानमाल की रक्षा और न्याय के अलावा सड़क, नहर, पुल, तालाब, कूएँ, बाग़, भवन, सराय, मन्दिर, पाठशाला, विहार, मठ इत्यादि भी प्रजा के लिये बनवाती थी। राजा ब्राह्मणों को,

राजा के कर्त्तव्य

बौद्धों को और दूसरों को बहुत से गाँव या ज़मीन के टुकड़े या और चीज़ दान में बहुत देते थे।[2] यह शुभ काम अक्सर अपने या किसी सम्बन्धी के पारलौकिक हित के नाम पर किये जाते थे। इलाहाबाद अशोक-स्तम्भ-लेख में हरिषेण की प्रशस्ति कहती है कि दरबार में बहुत से कवि और विद्वान् थे। सरकार ग़रीब और दुखियों की मदद करती थी। एक दूसरे लेख में एक राजा के बारे में कहा है कि वह ब्राह्मणों, पुरोहितों और संन्यासियों से बड़ा प्रेम करता था।[3] खाह ताम्रपत्र में महाराजा संक्षोभ को नृपति परिव्राजक कहा है। उसने चौदहों विद्याएँ पढ़ी थीं और वह ऋषितुल्य था।[4] पर प्रजा सब

---

[1] पूर्ववत् तथा बसाढ़ मुहर 'आर्कयोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०३-१९०४, पृ० १०१ इत्यादि। आई० ए० ४ पृ० १७५; ६। पृ० १२४॥ ७। पृ० ७०॥ ८। पृ० २०॥ १०। पृ० २५२॥ १३ पृ० १२३॥ १४ पृ० १९०-९१। १७ पृ० १८२॥ ई० आई० ११ न० २।॥ १५ पृ० १३८॥ १२ पृ० ७५॥ [2] पूर्ववत्। फ्लीट नं० १७॥ [3] फ्लीट, नं० १५॥ [4] फ़्लीट, नं० २५॥

बातों के लिये सरकार पर निर्भर नहीं थी। इस समय भी व्यवसायियों की बहुतेरी श्रेणियाँ थीं जिनकी अपनी मुहर थी, जिनका आदर राजा-महाराजा भी करते थे और जो बहुत से आर्थिक और सामाजिक काम करती थीं।[1]

श्रेणी

शासन के बारे में जो नतीजे शिलालेख और ताम्रपत्रों से निकलते हैं, उनका समर्थन कालिदास के काव्यों और नाटकों से भी होता है। परम्परा के अनुसार कालिदास ई० पू० पहिली सदी में मालवा की राजधानी उज्जैनी में शकारि विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्नों में से एक थे। पर ऐसे किसी विक्रमादित्य का पता इतिहास की प्रामाणिक सामग्री से नहीं लगता। इस समय भी कुछ विद्वानों की राय है कि ई० पू० पहिली सदी ही कालिदास का समय था, पर कुछ विद्वान् महाकवि को छठी ई० सदी में रखते हैं। ज़्यादातर राय है कि वह पाँचवी ई० सदी में हुए थे। सब बातों का विचार करने पर यही मत ठीक मालूम होता है।[2] कालिदास के रघुवंश में आदर्श है चक्रवर्ती राज्य का, पर दिलीप का पुत्र दिग्विजय में राजाओं को बिल्कुल नष्ट नहीं करता है, उनसे अपनी प्रभुता भर मनवा लेता है। अन्यत्र भी अधीन राजा बहुत हैं। रघुवंश के पहिले सर्ग के

कालिदास और शासन

कालिदास का समय

चक्रवर्ती राज्य

---

[1]फ्लीट, पूर्ववत् नं० ६, नं० १८। 'आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट', १९०३-१९०४, पृ० १०२ इत्यादि। [2]देखिये, रा० गो भाण्डारकर (जे० बी० बी० आर० ए० एस० २०, पृ० ३९९; दे, रा० भाण्डारकर), 'ऐनेल्स ऑफ़ दि भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट' १९२६-२७, पृ० २००-२०४॥ हरप्रसाद शास्त्री, जे० बी० ओ० आर एस० १९१६, पृ० ३९१। मैक्डानेल, 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर' पृ० ३२३-२५॥ कीथ, 'क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर' पृ० ३१-२२; 'संस्कृत ड्रामा,' पृ० १४३-४७; जे० आर० ए० एस० १९०९, पृ० ४३३ पाठक, 'जे० बी० बी० आर० ए० एस० १९, पृ० ३९॥ आई० ए०, १९१२, पृ० २६६-६७॥

आदर्श

प्रारम्भ में ही कवि ने राजा के चरित्र का आदर्श बहुत ऊँचा रक्खा है, पर नाटकों से मालूम होता है कि कोई-कोई राजा आदर्श से बहुत नीचे थे। करके रूप में पैदावार का $\frac{1}{6}$ लिया जाता था।[1] विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र नाटकों से यह भी मालूम होता है कि अनेक ब्याह के कारण राजाओं को सौतों के झगड़ों से कभी-कभी बड़ा क्लेश होता था। मालविकाग्निमित्र में मंत्रिपरिषद् और अमात्यपरिषद् का भी जिक्र आया है, जिससे मालूम होता है कि राजाओं के या भोगिक इत्यादि के लिये सलाह करने के वास्ते परिषद् हुआ करते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल बताता है कि राजाओं को शिकार का शौक था, वह बहुत से ब्याह करते थे, ऋषियों की सेवा करते थे और पुलिस का प्रबन्ध अच्छा करते थे। छठे अङ्क के सौदागर के वृत्तान्त से प्रकट है कि लावारिश जायदाद राजा की होती थी, पर धर्मशील राजा पहिले वारिसों का पता लगाने की पूरी कोशिश करते थे।

कर

अनेक ब्याह

परिषद्

मृच्छकटिका न्याय

मृच्छकटिक के ९वें अङ्क से मालूम होता है कि अदालत में न्यायाधीश मुद्दई, मुद्दालय और गवाहों से बहुत से सवाल पूछता था, पर अदालत में भले आदमी भी कभी-कभी झूठ बोल जाते थे। कभी-कभी आग, पानी, जहर और तराजू से अभियुक्त की परीक्षा होती थी।

उत्तराध्ययन सूत्र

जैन उत्तराध्ययनसूत्र जो गुप्त-साम्राज्य के बाद छठी सदी में बना था, बताता है कि राजा बड़ी शान-शौक़त से रहते थे, नगरों के चारों ओर दीवाल, बुर्ज, और खाई होती थीं और शतघ्नियों के द्वारा रक्षा की जाती थी। यहाँ भी जमींदारी शासन-प्रथा के चिह्न हैं।[2]

---

[1] राजनैतिक विचारों के लिये देखिये, रघुवंश १। ७, १९, २४, ६०॥ २। १२, ४७, ६६ ॥ ३ । २५, २९-३१, ३५, ॥ ९ । ४९, ५३ ॥ १२ ॥ १८ ॥ १५ ॥ [2] अध्ययन ९ । २२-३९ ॥ ब्राह्मणों के बारे में कुछ कथनों के लिये देखिये, २५ । २४, ३३ ॥

सामाजिक अवस्था

कालिदास के ग्रन्थों में उस समय की सामाजिक अवस्था और आदर्शों की भी झलक मिलती है। कभी-कभी गुरु अपने शिष्यों से बड़ी भारी दक्षिणा माँगते थे[१]। रघुवंश में कहा है कि गृहस्थ-आश्रम से सब का उपकार होता है।[२] शिक्षा में १४ विद्याएँ शामिल थीं।[3] राजा-लोग बड़ा दान करते थे और यज्ञ में कभी-कभी सब कुछ लुटा देते थे।[४]

कालिदास और सामाजिक अवस्था

बनों में मुनि अपने परिवार के साथ रहते थे। उन आश्रमों में उनकी कन्याएँ पौधों को पानी दिया करती थीं।[५] अभिज्ञानशाकुन्तल में कण्व का आश्रम आदमी, देवता, पक्षी, हिरन, वृक्ष तथा बेल इत्यादि का स्नेहमय कुटुम्ब है।[६] राजदरबार पहुँचने पर शार्ङ्गरव कहता है कि इन व्यसनियों को ऐसा समझता हूँ जैसा कि स्नान किये हुए आदमी मैले आदमी को समझते हैं, पवित्र अपवित्र को, जागते हुए सोते आदमी को और स्वतन्त्र बँधुए को समझते हैं। शकुन्तला को न पहचानने पर ऋषि के शिष्यों ने राजा को खूब डाँटा।[७] बुढ़ापा आने पर बहुत से राजा पुत्रों को गद्दी देकर बन चले जाते थे।[८]

मुनि

क्षत्रियों में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी और उसके बाद ब्याह की रस्में होती थीं।[९] कोई-कोई स्त्रियाँ सब मामलों में अपने पतियों की विश्वासपात्र सलाहकार होती थीं।[१०] घर के मामलों में भी स्त्रियों की बहुत चलती थी।[११] कहीं-कहीं सती का भी प्रचार था।[१२] कभी कभी स्त्रियाँ भी संसार से तङ्ग आकर तपस्विनी हो जाती थी[१३] और कोई-कोई

स्त्री

---

[१]रघुवंश ५। २१॥ [२]रघुवंश ५। १०॥ [3]रघु० ३। २९-३०॥ [४]रघु० ५। १-२, ११, १७॥ [५]रघु० १। ५१॥ ११। १२॥ १२। १५। १४। ७५-८०॥ १८। २६, २८, ३९। [६]अभिज्ञान० अङ्क ४॥ [७]अभिज्ञान० अङ्क ५॥ [८]रघु० ८। १२-१४॥ [९]रघु० ५। ३९-४०॥६॥ [१०]रघु० ८। ६७॥ [११]कुमार० ६। ८५॥ [१२]कुमार० ४। ३३॥ [१३]कुमार० ५। ४२॥

इच्छानुसार पति पाने के लिये तपस्या करती थीं।[१] कुमारसम्भव में शिव और उमा के ब्याह में कहीं पर्दा नहीं नज़र आता।[२] अभिज्ञानशाकुन्तल में भी जवान लड़कियाँ पुरुषों से स्वतन्त्रतापूर्वक बातें करती हैं। शकुन्तला आप ही दुष्यन्त से ब्याह करने को राजी होती है। नाटक के तीसरे अङ्क से जाहिर है कि यह लड़कियाँ इतिहास, निबन्ध, इत्यादि पढ़ती थीं। पहिले अङ्क में सखियाँ लजीली शकुन्तला को ठहरने को कहती हैं क्योंकि आतिथ्य उसका कर्त्तव्य था। चौथे अङ्क में आतिथ्य न पाने पर दुर्वासा शकुन्तला को शाप देते हैं। छठे अङ्क से मालूम होता है कि पुत्र की लालसा बहुत प्रबल थी।

शूद्र

कालिदास ने उस पुरानी कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार राजा रामचन्द्र ने तपस्या करनेवाले शूद्र को मार डाला।[३] पर यह नहीं कहा जा सकता कि कालिदास के समय में भी किसी राजा की ओर से शूद्रों को तपस्या की मनाही थी। ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान से शूद्रों की कठिनाइयाँ शायद बढ़ गई हों पर शिलालेखों में या विदेशी लेखकों में कहीं यह कथन नहीं मिलता कि शूद्र आध्यात्मिक जीवन से वञ्चित थे।

नगर

कालिदास ने अयोध्या नगरी का बड़ा चित्ताकर्षक वर्णन किया है। यह अनिश्चित है कि कवि ने गुप्त-साम्राज्य की राजधानी देखी थी या नहीं। अगर वह आप न आये थे तो कम से कम उन्होंने हाल तो सुना ही होगा। अयोध्या बड़े आनन्द-मङ्गल की जगह थी; इधर-उधर हाथियों की और सुन्दर स्त्रियों की बहुत-सी मूर्तियाँ नज़र आती थी।[४] जान पड़ता है कि शहरों में बहुत से मनोहर उपवन थे जहाँ पुरुष ही नहीं, किन्तु स्त्रियाँ भी सैर के लिये जाया करती थीं।[५] पूर्व-काल की तरह इस समय भी उद्योगियों और व्यापारियों की श्रेणियाँ इतनी बहुतायत से थीं कि साहित्य में भी उनका उल्लेख है। रघुवंश में शिल्पियों के सङ्घों

---

[१] कुमार० ५।४७॥ [२] कुमार ७।७५॥ [३] रघु० १५।४६॥ [४] रघु० १६।१६॥ [५] रघु० १४।३०॥

श्रेणी

का उल्लेख है।[1] कहीं-कहीं राज दरबारों के नैतिक आदर्श कुछ नीचे थे। मृच्छकटिक में दरबारी वेश्याओं का जिक्र है। यह बहुत पढ़ी-लिखी होती थीं, गाने-बजाने में और शिष्टाचार में निपुण होती थीं और बड़े-बड़े आदमियों को अपने प्रेमपाश में फँसाया करती थीं।

वेश्या

चीनी यात्री फ़ाहियान से मालूम होता है कि चण्डाल शहर के बाहर रहते थे और आते समय एक लकड़ी बजाते थे कि छू न जायँ। राजा, जमींदार और बड़े आदमी बौद्ध-भिक्खुओं को जमीन, मकान, बाग़, नौकर, बैल वग़ैरह देते थे और दस्तावेज लिख देते थे। वह कपड़े वग़ैरह भी बाँटते थे। मठों में स्थायी या अतिथि भिक्खुओं के लिये चटाई, बिस्तर, भोजन और वस्त्र हमेशा तैयार रहते थे। बौद्ध-भिक्खुनी आनन्द को बलि देती थीं क्योंकि उसने उनको मठ में आने की इजाजत बुद्ध से दिलाई थी।[2] इस समय हिन्दुस्तान से पच्छिमी एशिया, अफ्रीका और यूरोप से एवं जावा और चीन से व्यवहार और आमदरफ्त थी। जैसा कि कह चुके हैं, हिन्दुओं ने लङ्का, वर्मा, स्याम, कम्बोडिया, मलय प्रायद्वीप, अनाम और पूर्वी-द्वीपसमूह में उपनिवेश बसाकर अपनी सभ्यता का प्रचार किया। बाली द्वीप में बहुत सा हिन्दू साहित्य अब भी मौजूद है, जिसमें धर्म, साहित्य, राजनीति, कला इत्यादि के ग्रन्थ शामिल हैं। इस द्वीप में ब्राह्मण और बौद्ध, दोनों धर्मों के तत्त्व मौजूद हैं पर दोनों का सम्मिश्रण हो गया है। यहाँ सूर्य की पूजा मन्दिर और मूर्ति के बिना होती है। अग्नि, यम, कुबेर, वरुण आदि वैदिक देवता भी मौजूद हैं। काम और रति की पूजा होती है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वैखानस और यति—यह चार आश्रम माने जाते हैं। बेला अर्थात् सती की प्रथा का बहुत सम्मान था पर सती बहुधा राजवंशों में ही होती थीं। बाली के राजवंश क्षत्रिय, या वैश्य हैं। बाली और जावा में चार वर्ण थे—हद अर्थात् ब्राह्मण, देव अर्थात् क्षत्रिय, गुस्ति अर्थात् वैश्य

सामाजिक अवस्था और फ़ाहियान

विदेशी सम्पर्क

---

[1] रघु० १६। ३८॥ [2] फ़ाहियान (अनु० जाइल्स), पृ० २१-२२॥

और शूद्र। मिश्रित जातियाँ न थीं। राजा लोग महल में बहुत-सी शूद्र स्त्रियाँ रखते थे। ब्राह्मण भी दूसरे वर्णों से शादी करते थे पर उनकी सन्तान ब्राह्मण ही मानी जाती थी। ब्राह्मणों में यदन्द ऊँचे होते थे और गुरुओं का काम करते थे, पर राजा साधारण ब्राह्मणों को भी इस पदवी तक पहुँचा देते थे। पुराने हिन्दुस्तान की तरह यहाँ भी जमींदारी शासन-प्रथा प्रचलित थी।

गुप्त-साम्राज्य के बाद

गुप्त-साम्राज्य के बाद भी शासन-पद्धति की मुख्य-मुख्य बातें वैसी ही बनी रहीं, यह बहुत से ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है। हूण सरदार तोरमाण और मिहिरगुल ने भी छठी सदी में उसी पद्धति को जारी रक्खा।[1]

नारद और बृहस्पत्ति

छठी ई० सदी के लगभग नारद और बृहस्पति ने अपनी स्मृतियाँ रचीं जो विशेषकर क़ानून की पुस्तकें हैं। राजा को वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करनी चाहिए; जाति, देश, कुल के धर्म की भी रक्षा करनी चाहिये, नहीं तो बलवा हो जाने का डर है। छुट्टियों के दिनों को छोड़कर रोज़ दोपहर तक राजा को अदालत करनी चाहिये। अदालतें चार तरह की होती हैं — राजा की, मुख्य न्यायाधीश की, स्थिर, घूमनेवाली। जङ्गल में घूमने वालों के लिये जङ्गल में, सिपाहियों के लिये छावनी में और सौदागरों के लिए क़ाफ़िले में अदालत करनी चाहिये। नारद और बृहस्पति दोनों ने पानी, अग्नि, तराज़ू इत्यादि की परीक्षाएँ अपराधों का निर्णय करने के लिये लिखी हैं।[2]

अन्य स्मृति

इसके बाद और बहुत-सी स्मृतियाँ रची गईं जैसे अत्रि, हरित, उशनस्, अङ्गिरस्, यम, समव्रत, कात्यायन, पराशर, व्यास, शङ्ख-लिखित, दक्ष, शरतातप, काश्यप, गार्ग्य, प्रचेता इत्यादि। पद्मपुराण ने ३६, वृद्धगौतम ने ५६ या ५७, नन्दपण्डित ने

---

[1] देखिये फ्लीट, नं० ३०, ३१, ३३, ५५-५६ ॥ ई० आई० ३। नं० ४६ ॥ १०। नं १६ ॥ ११। नं० २, ५, ९ ॥ १७। नं० ७ ॥ [2]नारद० १२। ९५ ॥ १६। २०॥ १८। १२, ५४ ॥ बृहस्पति० १। २-३, २०, २३-३१, ३३॥ २। १२, २४, २६-२८ ॥ २०। ५-१५ ॥ २४। १२ ॥ १०। १-३३ ॥

वैजयन्ती में ५७ और वीरमित्रोदय में मित्र मिश्र ने ५७ स्मृतियाँ गिनाई हैं। इनमें साधारण वर्णाश्रम-धर्म, राजा के कर्त्तव्य, श्राद्ध और प्रायश्चित्त इत्यादि लिखे हैं। राजनैतिक सिद्धान्त बहुधा वही हैं जो पुरानी स्मृतियों में हैं। अत्रि कहता है कि यज्ञ न करने वाले ब्राह्मणों को जो दान दे, उसे राजा से दण्ड मिलना चाहिये।[1]

भारवि

दण्डिन्

सुबन्धु

छठी ई० सदी के लगभग भारवि ने किरातार्जुनीय महाकाव्य रचा। इससे मालूम होता है कि राजा लोग दूत और जासूस बहुत रखते थे।[2] छठीं-सातवीं ई० सदी के लगभग दण्डिन् ने दशकुमारचरित् में कुत्सित राज दरबार का चित्र खींचा है जिससे मालूम होता है कि कभी-कभी राजा, राजकुमार और मन्त्री एक-दूसरे से बड़ा द्वेष करते थे और हर तरह से नुक़सान पहुँचाने की कोशिश करते थे। इसी समय के लगभग सुबन्धु के वासवदत्ता में जमींदारी सङ्घशासन-प्रथा का उल्लेख मिलता है।

पञ्चतन्त्र

चौथी ई० सदी के लगभग बौद्धजातक और अवदान-कथाओं के प्रभाव से हिन्दुस्तान में कथाएँ लिखने की प्रणाली बहुत फैली। काश्मीर में तन्त्राख्यायिका लिखी गई जिसके आधार पर विष्णु शर्मा ने पञ्चतन्त्र लिखा। पञ्चतन्त्र का एक पुराना संस्करण छठीं सदी में पहलवी में अनुवाद किया गया जो ५७७ में सिरियक और ७५० में अरबी में अनुवाद हुआ। अरबी-संस्करण १२५१ में पुरानी स्पैनिश में अनुवाद किया गया, जिससे लैटिन और अन्य यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद हुए। पञ्चतन्त्र में पशु-पक्षियों की चमत्कारी कथाओं द्वारा नीति का उपदेश दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से इसमें बताया गया है कि राजकुमारों की शिक्षा अच्छी होनी चाहिये, राजाओं को प्रजा का हित सदा करना चाहिये।

प्रबोधचन्द्रोदय

सातवीं सदी के लगभग आध्यात्मिक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय में एक स्थान पर राज के उत्सवों का ओजस्वी वर्णन है।

---

[1] अत्रि० १। २२-२३॥ [2] किरातार्जुनीय १-३॥

सामाजिक सिद्धान्त

गुप्त-साम्राज्य के बाद सामाजिक सिद्धान्त उन स्मृतियों में मिलता है जिनके नाम राजनैतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में अभी गिना चुके हैं। सामाजिक सिद्धान्तों में भी कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है, पर सामाजिक संस्था और रीति-रिवाज स्थिर नहीं थे। व्यवहार में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता ही रहा। उसके अनुसार स्मृतियों के सिद्धान्तों में भी कुछ नई बातें दृष्टिगोचर हैं। याद रखना चाहिये कि स्मृति बनाने की प्रथा के द्वारा प्राचीन हिन्दू अपने सिद्धान्त और क़ानून को समय की परिस्थिति के अनुकूल किया करते थे। इसके अलावा हिन्दूशास्त्रकारों ने यह भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि राजा को लोकाचार का आदर करना चाहिये।

सामाजिक सिद्धान्त

माधव ने एक श्लोक उद्धृत किया है जो कुछ प्रतियों के अनुसार मनु का और कुछ के अनुसार यम का है और जिसका अर्थ है कि पुराने समय में लड़कियों का भी यज्ञोपवीत होता था, वह सावित्री मन्त्र पढ़ सकती थीं, वेद पढ़ सकती थीं और पढ़ा सकती थीं। ऐसे कथनों से इतिहास का यह नतीजा और भी दृढ़ हो जाता है कि पहिले स्त्रियों को बहुत से अधिकार थे पर इस समय निवृत्ति के प्रचार से, विदेशियों के आक्रमण से, वर्ण-व्यवस्था से और अनुलोम के नियम से उनका पद गिर गया था। तो भी नारद के सामाजिक नियमों में स्त्रियों की अवस्था उतनी खराब नहीं है, जितनी आगे चलकर हो गई। अगर पहिला पति नपुंसक हो जाय तो स्त्री दूसरा ब्याह कर सकती है।[1] ऐसी स्त्रियों का भी उल्लेख है जो कुछ अवस्थाओं में अपने पतियों को छोड़कर दूसरे पुरुषों के साथ रहने लगती थी।[2] अन्यत्र नारद ने स्पष्टतः माना है कि अगर पति खो जाय या मर जाय, नपुंसक या संन्यासी हो जाय या जाति-च्युत हो जाय तो स्त्री दूसरा पति कर सकती है। पति के खो जाने पर दूसरा पति करने के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्त्रियों को क्रमशः आठ, छः और

स्त्री

नारद

[1] नारद० १२। १०॥ [2] नारद० १२। ४७-६१॥

चार बरस इन्तिजार करना चाहिये, पर शूद्र स्त्रियों के लिये यह क़ैद भी नहीं है।[1] पर नारद स्त्री-पुरुषों के स्वतन्त्रता से मिलने-जुलने के प्रतिकूल हैं क्योंकि इसमें दुराचार का डर है।[2] वर्णसंकर, जाति सम्मिश्रण, वर्णाश्रम-धर्म और उसे चलाने का राजकर्त्तव्य, इत्यादि के नियम नारद में वैसे ही हैं जैसे मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु इत्यादि में। क़ानून का भी एक आधार जाति-भेद है।[3] नारद ने अनुलोम-ब्याह की इज़ाजत दी है पर कहा है कि अपने ही वर्ण में ब्याह करना उत्तम है।[4] यहाँ वर्णव्यवस्था कुछ और कड़ी हो रही है। इन सब बातों पर बृहस्पति की राय नारद से मिलती-जुलती है। नारद और बृहस्पति उत्तर हिन्दुस्तान में ५-६ सदी के लगभग हुए थे। इनके बाद बहुतेरे धर्मशास्त्र रचे गये। आगामी धर्मशास्त्रों में बहुधा पुराने सिद्धान्त ही दुहराये गये हैं। केवल दो-चार विशेषताओं का निर्देश यहाँ आवश्यक है। यम की राय में बानप्रस्थ से फिर संसार में लौटने से दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं।[5] शूद्र के साथ भोजन करने पर चान्द्रायण ब्रत करना चाहिये।[6] अत्रि कहते हैं कि अपना धर्म पालने से शूद्र भी स्वर्ग पाता है पर जो शूद्र यज्ञ करे या गायत्री जाप करे, उसे राजा प्राणदण्ड दे;[7] दूध बेचने से ब्राह्मण तीन दिन में ही शूद्र हो जाता है।[8] पुत्र के उत्पन्न होते ही पिता पितृऋण से मुक्त हो जाता है। समब्रत के धर्मशास्त्र में वही सामान्य व्याह हैं[9] और उसी तरह ब्रह्मचारी को माला, सुगंध, शहद, मांस इत्यादि का निषेध किया है।[10] कात्यायन में कोई भी ख़ास बात नहीं है। दक्ष की राय में आश्रमों का क्रमशः अनुसरण करना चाहिये, उल्टे-सीधे नहीं, गृहस्थ होकर जो फिर ब्रह्मचारी हो जाता है वह न यति और न बानप्रस्थ हो सकता है, वह चारों आश्रमों

बृहस्पति

यम

अत्रि

समब्रत

कात्यायन

---

[1]नारद० १२। ९८-१०० ॥ [2]नारद० १२। ६२-६३ ॥ [3]नारद० १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ [4]नारद० १२। ४-६ ॥ [5]यम० ४ ॥ [6]यम० २१ ॥ [7]अत्रि० १८-१९ ॥ [8]अत्रि० २१ ॥ [9]सम० ३५-३७ ॥ [10]सम० ५ ॥

के बाहर है।[1] गृहस्थों को विधिपूर्वक नित्य यज्ञ-पूजापाठ करना चाहिये।[2] गृहस्थी का मूल है पत्नी; अगर पत्नी कहे में है तो गृहस्थाश्रम से बढ़कर और कुछ नहीं है; गृहस्थाश्रम सुख के लिये है; घर का सुख स्त्री पर निर्भर है। यदि दो पत्नी हों तो बड़ी कलह होती है। स्त्रियाँ जोंक सी होती हैं, रोज उन्हें चाहे जितना भोजन, वस्त्र, जेवर, दो वह और ज्यादा ही माँगा करती हैं। जो स्त्री अपने गरीब या बीमार पति को त्याग देती है वह दूसरे जन्म में कुतिया, गिद्ध, या घड़ियाल होती है। जो अपने पति के साथ सती हो जाती है वह स्वर्ग में आनन्द करती है।[3] संन्यासी होकर जो संन्यास-धर्म का पालन न करे उसे राजा तुरन्त ही देश से निकाल दे; बुरे संन्यासी जमा होकर दूसरों की निन्दा और ईर्षा करते हैं और शास्त्र बेचते हैं।[4] शातातप में सब प्रकार के दुराचारों के लिये भयङ्कर यन्त्रणाएँ बताई गयी हैं।[5] लिखित कहते हैं कि तालाब बनवाने से, पेड़ लगवाने से, पुराने कुएँ, तालाब, झील या मन्दिर की मरम्मत कराने से सात पुरखे तर जाते हैं, और स्वर्ग और मुक्ति मिलती है।[6] भ्रातृहीन कन्याओं से व्याह न करो क्योंकि पिता उन्हें 'नियुक्त' समझ सकता है।[7] व्यास की राय में पुराणों से स्मृति प्रबल है, स्मृति से श्रुति प्रबल है।[8] द्विजों को यज्ञ, कर्मकाण्ड का अधिकार है; शूद्र न तो कोई वैदिक मन्त्र पढ़ सकता है[9] और न स्वाहा, स्वधा, वषट् शब्दों का उच्चारण ही कर सकता है।[10] वर्णव्यवस्था, अनुलोम-व्याह तथा कर्मकाण्ड इत्यादि पर वही सामान्य नियम हैं। ब्रह्मचारी को गुरु की आज्ञा लेकर

दक्ष

गृहस्थ-जीवन

शातातप

लिखित

व्यास

---

[1]दक्ष० १। ६-१२ ॥ [2]दक्ष० २। १-५८ ॥ [3]दक्ष० ४। १-१६ ॥ [4]दक्ष० ७। ३१-४५ ॥ [5]शाता० २ ॥ ५ ॥ [6]लिखित० १-४ ॥ [7]लिखित० ५१-५३ ॥ [8]व्यास० १। ४ ॥ [9]व्यास० १। ५-६ ॥ [10]व्यास० १। ७-२७ ॥

दोपहर के बाद भले आदमियों से भिक्षा माँगनी चाहिये।[१]

ब्रह्मचारी

गुरु की आज्ञा न मानने से सारा वैदिक अध्ययन निष्फल हो जाता है।[२] व्याह, अनुलोम इत्यादि पर सामान्य नियम हैं[३] पर अपने ही वर्ण की पत्नी धर्मपत्नी है। शास्त्रों में लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम में स्त्री पति से अलग नहीं है; स्त्रियों को घर का सब काम करना चाहिये, चरित्र में श्रेष्ठ होना चाहिये, महापातकी पति को भी न त्यागना चाहिये पर पति को चाहिये कि दुराचारिणी स्त्री का मुँह न देखे और डाँट-फटकार कर उसे दूर देश में निकलवा दे। इसके विपरीत एक श्लोक में कहा है कि ऋतु-स्नान के बाद दुराचारिणी स्त्री फिर पहिले की तरह रक्खी जा सकती है। ब्राह्मण की विधवा सती हो जाय या सिर मुड़ाकर, भोगविलास छोड़कर, ब्रह्मचर्यव्रत धारण करे।[४] अतिथि का आदर, पूजा और भक्ति करनी चाहिये।[५] नाई, किसान, ग्वालों और दासों का पका हुआ भात द्विज खा सकते हैं; यज्ञ में ब्राह्मण को मांस अवश्य खाना चाहिये; होम, संध्या, नित्य नैमित्तक काम हमेशा करना चाहिये।[६] माता-पिता की पूजा करनी चाहिये, रोज़ ब्राह्मणों को और दूसरों को दान देना चाहिये; कंजूसी बहुत बुरा दोष है।[७]

पत्नी

अतिथि

ब्राह्मण सब में प्रधान हैं पर जो ब्राह्मण वेद नहीं पढ़ता वह काठ का हाथी है, चमड़े का हिरन है, ऊजड़ झोपड़ा है या निर्जल कुँआ है।[८] पराशर कहता है कि भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न धर्म होते हैं; सतयुग का धर्म था तप, त्रेता का आत्मज्ञान, द्वापर का यज्ञ, कलियुग का धर्म और दान। सतयुग में प्रमाण था मनु का, त्रेता में गौतम का, द्वापर में शङ्खलिखत का, कलियुग

ब्राह्मण

पराशर

---

[१] व्यास० १। ३०-३१ ॥ [२] व्यास० १। ३९ ॥ [३] व्यास० २। ५-१२ ॥ [४] व्यास० २। १९-५४ ॥ [५] व्यास० ३। ४०-४४ ॥ [६] व्यास० ३। १-५, ५३-७३ ॥ [७] व्यास० ४। १२-३६ ॥ [८] व्यास० ४। ३७-६८ ॥

में पराशर का प्रमाण है।[1] यहाँ पर मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया है कि युग के अनुसार धर्म बदलता है। पराशर ने अपने नियम बड़ी ओजस्वी भाषा में लिखे हैं।

जो कोई अतिथि अपने यहाँ आवे, पापी हो, चण्डाल हो, पितृघ्न हो या और कोई हो उसे देवता समूह समझ कर पूजना चाहिये और बड़े आदर-सम्मान से खिलाना-पिलाना चाहिये।[2] शूद्रों का सबसे बड़ा धर्म ब्राह्मणों की सेवा है; उनके और सब धर्म निष्फल हैं।[3] जो आत्महत्या करता है वह ६०,००० बरस घोर नरक में रहता है, उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह न करना चाहिये और न किसी को उसके लिये रोना चाहिये। पर जो स्त्री सती हो जाती है वह एक करोड़ बरस स्वर्ग में रहती है और पति के आत्मा को भी नरक से अपने पास खींच लेती है। जो विधवा ब्रह्मचर्य से रहती है वह ब्रह्मचारियों की तरह स्वर्ग जाती है। प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है कि सन्तान पैदा करे। जो जवानी में निर्दोष स्त्री को त्यागता है वह सात जन्म तक स्त्री होकर बिधवा होता है।[4] पराशर लड़कियों का ब्याह १२ बरस के पहिले कराना चाहते हैं और तीव्र अश्लील शब्दों में विलम्ब की निन्दा करते।[5] यों तो सब जगह धर्म की दुहाई देते हैं पर एक जगह कहते हैं कि अकाल, महामारी, या गड़बड़ में और विदेश में सबसे पहिले अपने बचाव की कोशिश करनी चाहिये; धर्म पीछे देखा जायगा।[6] धर्म के संशय में तीन या पाँच ब्राह्मणों के परिषद् से या एक ही तपस्वी ज्ञानी ब्राह्मणों से पूछना चाहिये। एक ओर पराशर कहते हैं कि गायत्री मन्त्र-विहीन ब्राह्मण शूद्र से भी नीचा है; दूसरी ओर कहते हैं कि पापी ब्राह्मण भी संयमी शूद्र से अच्छा है।[7] पराशर ने हत्या,

अतिथि

शूद्र

आत्म-हत्या

स्त्री

बाल-ब्याह

धर्म

[1] परा० १।१-२४॥ [2] परा० १। ३६-५५॥ [3] परा० १।६१॥ २।१६॥ [4] परा० ४।२-१५, २७-२६॥ [5] परा० ७।६-८॥ [6] परा० ७।४१-४३॥ [7] परा० ८।४-३३॥

व्यभिचार, चोरी, मद्यपान, निषिद्ध भोजन, निषिद्ध व्यापार इत्यादि के लिये भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये बहुत से प्रायश्चित्त लिखे हैं।[1] शङ्ख कहते हैं कि ब्राह्मणों का उपनाम शर्मा, क्षत्रियों का वर्मा, वैश्यों का धन और शूद्रों का दास होना चाहिये।[2] स्त्री को प्यार भी करना चाहिये और डांटना भी चाहिये; पुचकारना भी चाहिये और रोकथाम भी करनी चाहिये।[3] ब्राह्मण को शूद्र से कभी कुछ न मांगना चाहिये।[4] वानप्रस्थ के समय स्त्री को अपने साथ बन ले जाना चाहिये या पुत्रों के सुपुर्द कर देना चाहिये। वानप्रस्थों को भी श्राद्ध करने चाहिये।[5] यतियों को घूमते-फिरते जहाँ जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तोष करना चाहिये।[6] इस धर्म-शास्त्र के अध्याय १३-१४ में ब्राह्मण-भोज के बहुतेरे अवसर बताये हैं।[7] शङ्ख के अठारहों अध्यायों में वर्णाश्रम, अनुलोम, तप, प्रायश्चित्त, श्राद्ध इत्यादि के साधारण नियम हैं। हरित में भिन्न-भिन्न विषयों पर वही सामान्य नियम हैं।[8] उशनस् ने बड़ों के शिष्टाचार के नियम बताये हैं[9] और आगे चलकर कहा है कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र चाहे कैसे ही विद्वान् और पुण्यात्मा हों पर ब्राह्मण उन्हें कभी प्रणाम न करे।[10] अग्नि द्विजों को पूज्य है, ब्राह्मण सब वर्णों को पूज्य हैं; पति पत्नियों को पूज्य है; अतिथि सब को पूज्य है।[11] चण्डाल, म्लेच्छ, शूद्र या दुराचारिणी स्त्रियों से बातें करने के बाद मुँह साफ करना चाहिये।[12] उशनस् ने बहुत से ब्राह्मण गिनाये हैं जिनको श्राद्ध में न बुलाना चाहिये। इनमें वह भी शामिल हैं जो विधवा से ब्याह करें या ब्याहता विधवा के पुत्र हों। इससे प्रकट है कि इस तरह के ब्याह होते अवश्य थे पर बुरे

शङ्ख

हरित

उशनस्

अङ्गिरस

---

[1] परा०, अध्याय ५-११ ॥ [2] शङ्ख० २। ३-४। [3] शङ्ख० ४। १५-१६ ॥ [4] शङ्ख० ५। १६ ॥ [5] शङ्ख० ६। १३ ॥ [6] शङ्ख० ७। १-३ ॥ [7] शंख० १३ ॥ १४ ॥ [8] उदाहरणार्थ देखिये, हरित० १-४ ॥ [9] उश० १। २० इत्यादि ॥ [10] उश० १। ४१ ॥ [11] उश० १। ४७ ॥ [12] उश० २। ४-६ ॥

समझे जाते थे।[1] श्रद्धा, प्रायश्चित्त इत्यादि के मामूली नियम यहाँ दिये हैं।[2] अङ्गिरस् कहता है कि स्मृतियों में धोबी, चमार, नट, वरुड़, कैवर्त और भिल्ल—यह सात नीच जाति हैं।[3] नीच जाति का भात खाने पर द्विजों को चान्द्रायण, कृच्छ्र आदि व्रत करने चाहिये। चण्डाल या नीच जाति के कुएँ या बर्तन से पानी पीने पर भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये भिन्न-भिन्न प्रायश्चित हैं।[4]

बाल-ब्याह

इस समय के लगभग बाल-ब्याह का जो प्रचार आरम्भ हुआ उसका एक कारण तो था जातिबन्धन, दूसरा था परदेशी आक्रमण, तीसरा था स्त्रियों के पद का ह्रास। साधारणतः जब पुरुषों की संख्या स्त्रियों से कम होती है तब बाल-ब्याह की प्रवृत्ति होती है। अगर किसी कारण से हिन्दुस्तान में स्त्रियों की संख्या कम हो गई थी या परदेशी लोग अपने साथ स्त्रियाँ न लाये थे तो बाल-ब्याह की प्रवृत्ति बढ़ी होगी। यदि कुछ वर्गों में बहुविवाह बढ़ गया हो तो दूसरे वर्गों के लिये स्त्रियाँ कम रह गई होंगी और जल्दी-जल्दी ब्याह करने की अभिलाषा हुई होगी।

पुराण

पुराण

इस समय के धार्मिक साहित्य में स्मृतियों की तरह पुराणों का भी बड़ा महत्व है। हिन्दुस्तान में किसी न-किसी तरह के पुराण अथर्ववेद के समय से चले आते थे। कौटल्य ने राजकुमारों के लिये पुराण पढ़ना जरूरी बताया है। स्मृतियों में पुराणों को प्रामाणिक बताया गया है। बहुत उलट-फेर के बाद ई० ५-१० सदियों में पुराणों ने बौद्ध-धर्म के ह्रास पर जागते हुए ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव में वह रूप धारण किया, जो कुछ परिवर्तनों के साथ अब तक मौजूद है। १८ पुराणों में कुल मिलाकर चार लाख के करीब श्लोक हैं। पुराणों की तीन कोटियाँ हैं—ब्राह्म, शैव और वैष्णव। प्रत्येक पुराणों में सृष्टि,

समय

[1] उश० ४। २०-३१॥ [2] उश० ६-६॥ [3] अंगि० १। २-३॥
[4] अंगि० १। ५-७॥

विषय

देव, मनु और सूर्य या चन्द्रवंशी राजाओं का हाल है, किसी विशेष देवता की महिमा है, बहुत-सी कथाएँ हैं, अवतारों का वर्णन है, किन्हीं तीर्थों, यज्ञों और पूजा-विधानों की महिमा और वर्णाश्रमधर्म, सदाचार इत्यादि का उपदेश है। श्रीमद्भागवत भी जिसमें कृष्ण की भक्ति बड़ी सुन्दर संस्कृत में गाई है, पुराण माना जाता है। १८ उपपुराण भी हैं, जिनके विषय और सिद्धान्त पुराणों के-से ही हैं।

उपपुराण

पुराणों में राजनीति भी बहुत है पर वह अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मसूत्र या स्मृतियों से बहुत करके ली गई है। अग्निपुराण कहता है कि राजा को अपना सारा जीवन प्रजा की उन्नति में लगा देना चाहिये, लोगों से रोज मिलना चाहिये, कुमारों को अच्छी से अच्छी शिक्षा देनी चाहिये।

राजनीति

पुराणों में भी राजनैतिक अवस्था उसी जमींदारी सङ्घशासन पद्धति की है जो बाकी साहित्य और शिलालेख या ताम्रपत्रों में झलकती है।[1] वृहन्नारदीय पुराण कहता है कि प्रत्येक

---

[1] पुराणों की राजनीति के लिये खासकर देखिये, अग्नि०, उत्तरखण्ड, २१८। २-३४ ॥ २२०। २२-२३ ॥ २२२। १५-१८ ॥ २२३ । ४-२६ ॥ २२५ । १-१७ ॥ २२६। ६-१२ ॥ २१६। १७-२० ॥ ११६। १-८ ॥ २१७। २०-२२ ॥ २१२। १५-१८, ३०-३२ ॥ २२७। १-१७, ४०-४८। २५३ ॥ ३, ५० ॥ २४१। १-२८; ४७-५३ ॥ १३६। १७-२५ ॥ २२६। ४-८ ॥ मार्क० १५। १-४, ६, १३-१६, १६ ॥ १७। २१ ॥ २७। १-१६, २१-३१ ॥ २८। ३३-३६ ॥ ११२ ॥ १६-२१ ॥ १३१। २७-२८ ॥ वायु०-(सं० राजेन्द्रलाल मित्र) ८। ६०-६१, ६४-६५, ७८-८०, ८४-६०, ६२-१२३, १४२-४३, वर्णाश्रम-धर्म के लिये १४२-६४ ॥ विष्णु०-(सं० व्यासाचार्य) ६। ६, १७-२० ॥ १३ ॥ मत्स्य० ४७ ॥ १४४ ॥ २२२-२२८ ॥ वराह० (सं०-हरप्रसाद शास्त्री) २१८। १८-२० ॥ कूर्म० (सं०-नीलमणि मुखोपाध्याय) प्रथम खण्ड, सर्ग २६-३० ॥ स्वयम्भू० ७ ॥ पद्म० (सं०-महादेव चिमनजी आपटे) २१६-२२६ ॥ गरुण०

युग का धर्म पृथक् है; कलियुग में समुद्र यात्रा, वानप्रस्थ, अन्तर्वर्णब्याह का निषेध है।

धर्म

पुराणों में धार्मिक और सामाजिक इतिहास की सामग्री बहुत है, पर कठिनाई यह है कि एक ओर तो वह पुराने ग्रन्थों से बड़ी स्वच्छन्दता से बहुत सी बातें ले लेते हैं और दूसरी ओर उनमें आगामी युगों में क्षेपक बहुतायत से मिला दिये हैं तो भी इतना प्रकट है कि परमात्मा के तीन रूप, ब्रह्मा, विष्णु, महेश; विष्णु के १० या २४ अवतार; इन सब की पूजा; मूर्तिपूजा; नदी, पर्वत और कुछ अन्य विशेष स्थानों के तीर्थ—इन सब का प्रचार इस समय बढ़ रहा था। अग्निपुराण में विष्णु इत्यादि की मूर्ति और मन्दिर बनवाने के ब्योरेबार नियम दिये है।[1] ब्रह्मभोज और दान की महिमा बढ़ रही है, जातपात के बन्धन, रोटी-बेटी के नियम, और कड़े हो रहे हैं। बौद्ध-धर्म का प्रभाव कम हो रहा था; कुल बौद्ध-सिद्धान्त और रीति रिवाज़ तो ब्राह्मणों ने अपना लिये; बाकी नये ढंग जोर पकड़ रहे थे।

संघर्षण

इस समय से जिस ब्राह्मण-धर्म का दौर-दौरा शुरू हुआ उसमें पुराने वैदिक धर्म के, बौद्ध धर्म के, और दर्शनों के कुछ सिद्धान्त थे; अनार्य जातियों से लिए हुए कुछ विश्वास और रिवाज़ थे; इन सब तत्वों के सङ्घर्षण से, इनके आधार पर तर्क से बहुत-सी बातें पैदा हो रही थी;

व्यापकता

इस धर्म में कोई एकता न था; किसी एक सिद्धान्त की परमसत्ता न थी, यह भी एक तरह का संघ शासन थी; ईश्वर, आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म—आदि बातों को किसी-न-किसी रूप में मानते हुये आदमी चाहे और किसी देवी-देवता को मान

१११--११४ ॥ १४३-४४ ॥ उपपुराणों में देखिये, बृहद्ध धर्म० (सं० हरप्रसाद शास्त्री) ३ । ६-५४ ॥ ४ । १०, १८-२४ ॥ १२ । ५-४२ ॥ १३ । १३-४९, ५४-६० ॥ १४ । ३-८० ॥ १ । ४-६, १४, २२-२३ ॥ २ । ८-६२ ॥ बृहन्नदार० (सं—हृषिकेश शास्त्री) २२ ॥ भाग० ४ । १३-३५, ४५ ॥ १०-२६, ६१ ॥ ११ । ३, १४-१५, १७, १९ ॥ [1]अग्नि ३९-४१ ॥

सकता था, चाहे जिस सामाजिक शिष्टाचार का पालन कर सकता था, चाहे जो यज्ञ, कर्म, योग, दान पूजा, तीर्थ कर सकता था, चाहे जिस दर्शन में विश्वास करता था। यहाँ विस्तार, व्यापकता और सहिष्णुता की हद हो गई; कोई भी क्षेत्र न था जिसे ब्राह्मण धर्म ने अपने सङ्घराज्य में न मिला लिया हो; किसी से उसे विरोध न था।

साधारण रिवाज़

इस नतीजे के अलावा पुराणों से कुछ और बातें उस समय की हालत जताने के लिये संक्षेप से कही जा सकती हैं। अग्नि पुराण कहता है कि पतित आदमी को मरा हुआ समझना चाहिये, उसका श्राद्ध करा देना चाहिये और उसकी सम्पत्ति दूसरों को बाँट देनी चाहिये।[1] क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चण्डाल, म्लेच्छ का छुआ हुआ या अपवित्र किया भोजन खाने पर या पानी पीने पर ब्राह्मण को भिन्न-भिन्न निश्चित व्रत और प्रायश्चित्त करने चाहिये।[2] अगर कोई वेश्या या नीच जाति का कोई आदमी मूर्ति को छूले तो भक्त को उस देवता के मन्त्र का सौ बार जप करना चाहिये।[3] मार्कण्डेय पुराण में सत्य और दान की प्रशंसा करते हुए हरिश्चन्द्र की कथा कही गयी है; जिसने अपना सब कुछ विश्वामित्र को दे डाला।[4] बृहन्नारदीय पुराण कहता है कि सब द्विजों को काल और गाँव का धर्म जो श्रुति के प्रतिकूल न हो, पालना चाहिये।[5] जो स्त्री शरीर, मन या आचार से दोषी हो, अथवा पति या पुत्रों पर निर्दय हो, उसे त्याग देना चाहिये।[6] श्रीमद्भागवत में कहा है कि भक्ति मनुष्य के सब दुःखों को दूर करती है; भगवान् के भजन से मुक्ति होती है; कृष्ण भगवान् ही मुक्ति के मार्ग हैं।[7] कृष्ण को यज्ञ की अपेक्षा प्रेम पसन्द है।[8] पर एकमात्र भक्ति होनी चाहिये।[9] तथापि एक

छूत

सत्य

कलाधर्म

स्त्री

---

[1]अग्नि० १७० । १-१७ ॥ [2]अग्नि० । १७० । १८-३६ ॥ १७३ । ३७-३८ ॥ [3]अग्नि० ७४ ॥ [4]मार्क० ८ ॥ [5]बृहन्नार० २२ ॥ [6]बृहन्नार० २४ ॥ [7]भाग० १ ॥ [8]भाग० ७ । १४ । १७ ॥ [9]भाग० ११ । १४ । ४२ ॥

भक्ति

स्थान पर यह भी कहा है कि भिन्न-भिन्न अर्थों के लिये भिन्न-भिन्न देव-देवियों की पूजा करनी चाहिये ।[1] प्राणायाम प्रारम्भ करने के पहिले अहिंसा, सत्य, संयम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य और तप का पालन करना चाहिये ।[2]

सृष्टि

वायुपुराण में सृष्टि के पहिले समय का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन है। तब न वर्ण थे, न आश्रम थे, न ऊँच-नीच का कोई भेद था, अवस्था सौन्दर्य इत्यादि में सब बराबर थे, पूर्ण सुख था, कल्पवृक्ष थे, जो मनमाने सब पदार्थ देते थे। जब भावनाएँ बिगड़ीं तब कल्पवृक्ष लोप हो गये; कपड़े, घर, गाँव, नगर, किले बनाने पड़े, खेती होने लगी। तब वर्ण बने, सच बोलनेवाले ब्राह्मण हो गये, जो कमज़ोर थे और खेती करते थे वह वैश्य हो गये, जो तेजहीन थे और सेवा करते थे वह शूद्र हो गये। ब्रह्मा ने इनके धर्म नियत किये। इसके बाद आश्रम स्थापित किये गये।

नारायण

सब आश्रमों का मूल है गृहस्थ ।[3] वाराहपुराण विष्णु की प्रधानता प्रतिपादन करता है। अगर कोई अपने सब काम नारायण को समर्पण कर दे तो वह कर्म में लिप्त नहीं होता ।[4] वृहद्धर्म पुराण कहता है कि धर्म ही सब कुछ है—माता-पिता, पितामह,

धर्म

भाई, गुरु शरण, आत्मा, तीर्थ, धन, देवता इत्यादि सब धर्म ही है ।[5] कूर्मपुराण में तथा दूसरे पुराणों में भी प्रकृति और पुरुष को शक्ति और परमात्मा करके माना है और अनेक बार कहा है कि ब्रह्म ही सत्य है, और सब माया है।

कलियुग

कूर्मपुराण भी और पुराणों की तरह कलियुग का भयङ्कर चित्र खींचता है, कलियुग में सब धर्म लोप हो जाता है हर बात उल्टी होती है ।[6]

---

[1]भाग० २ । ३ । २-१२ ॥ [2]भाग० ३ । २८ । ४-८ ॥ [3]वायु० १ । ४५-१७३ ॥ [4]वाराह० १ ॥ ५ ॥ [5]वृहद्धर्म० १ । ३०-३५ ॥ [6]कूर्म० २९-३० ॥

स्मृति और पुराण ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। इस काल में बौद्धों ने बहुत से साहित्य की रचना की। उदाहरणार्थ, तीसरी-चौथी सदी के लगभग हीनयान बौद्ध-ग्रन्थ दिब्यावदान रचा गया जिसमें बुद्ध आनन्द, अशोक आदि की कथाएँ हैं। आर्यदेव ने चतु:शतिका में ब्राह्मणों के पाखण्ड की व्यङ्गमय आलोचना की है। चौथी सदी के लगभग आर्यशूर ने कुछ जातकों को अपनी जातकमाला में काव्य की शैली से संस्कृत में लिखा है।

बौद्ध-साहित्य

संस्कृत-काव्य

स्वाभाविक विकास से और गुप्त-सम्राटों के प्रोत्साहन से चौथी और छठी ई० सदी के बीच में संस्कृत-काव्य की अपूर्व उन्नति हुई, शिलालेखों और ताम्रपत्रों में भी कभी-कभी बहुत अच्छी कविता नज़र आती है। इलाहाबाद के अशोक स्तम्भ पर हरिषेण की लिखी हुई समुद्रगुप्त प्रशस्ति शब्दविन्यास और भाव में बहुत सुन्दर है। इसी समय कालिदास ने रघुवंश, मेघदूत, कुमारसम्भव और ऋतु-संहार में कविता के सब गुण पूर्णमात्रा में दिखाये। एक के बाद दूसरी उपमा द्वारा अर्थगौरव बढ़ाने में, दो-चार पंक्तियों में आदमी के चरित्र का या आदर्श का चित्र खींच देने में, प्रकृति के दृश्यों का नकशा बना देने में, तेज़ी से बड़ी-बड़ी कथा कह जाने में, गौण को पीछे रखकर प्रधान स्थिति को दृष्टिगोचर कराने में कालिदास की समता कोई कवि नहीं कर सका है। रघुवंश में रघुकुल की कथा दिलीप के समय से उठाई गयी है, राम का वृतान्त विस्तार से दिया है और फिर संक्षेप से उनके वंशजों का चरित्र कहा गया है। पहिले सर्ग में रघुवंशियों के गुण इस तरह कहे हैं:—

काव्य

हरिषेण

कालिदास

कविता के गुण

रघुवंश

"रघुकुल में उत्पन्न हुए पुरुषों के गर्भाधान आदि सब संस्कार उचित समय में होने के कारण वे जन्म से ही शुद्ध हैं। जिस काम का वे आरम्भ करते हैं उसे पूरा किये बिना नहीं छोड़ते। समुद्र के तटों तक सारी पृथ्वी के वे स्वामी हैं। उनके रथों की गति को

रघुवंशियों के गुण

रोकने वाला त्रैलोक्य में कोई नहीं है। स्वर्गलोक तक वे आनन्दपूर्वक अपने रथों पर बैठे हुए जा सकते हैं। वे यथाशास्त्र अग्नि की सेवा करते हैं; याचकों के मनोरथ पूर्ण करते हैं; अपराध के अनुसार अपराधियों को दण्ड देते हैं; समय का मूल्य जानते हैं; सत्पात्रों को दान करने ही के लिये धन का संग्रह करते हैं। कहीं मुँह से असत्य न निकल जाय, इसी डर से वे थोड़ा बोलते हैं। कीर्ति की प्राप्ति के लिये ही वे दिग्विजय और सन्तान की प्राप्ति के लिये ही वे गृहस्थाश्रम को स्वीकार करते हैं। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करके वे विद्याभ्यास करते हैं; युवावस्था प्राप्त होने पर विवाह करके विषयों का उपभोग करते हैं; वृद्धावस्था आने पर वन में जाकर वानप्रस्थी हो जाते हैं और अन्तकाल उपस्थित होने पर समाधिस्थ होकर योग द्वारा शरीर छोड़ देते हैं।"

आठवें सर्ग में आकाश से गिरती हुई फूलों की माला से इन्दुमती के मर जाने पर राजा अज विलाप करता है:—

अज का विलाप

"शरीर में छू जाने से, हाय हाय! फूल भी यदि प्राण ले सकते हैं तो फिर ऐसी और कौन सी चीज संसार में होगी जो मनुष्य को मारने में समर्थ न हो? विधाता जब मारने पर उतारू होता है तब तिनका भी बज्र हो जाता है......अथवा यह कहना चाहिये कि यमराज कोमल वस्तु को कोमल ही से मारता है।...अच्छा यदि इस मामले में प्राण ले लेने की शक्ति है तो यह मेरे प्राण क्यों नहीं ले लेती?... इसने पेड़ को तो नहीं गिराया, पर उसकी डालों पर लपटी हुई लता का नाश कर दिया?.........प्रिये! बोल, बड़े-बड़े सैकड़ों अपराध करने पर भी तूने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया। सदा ही तू मेरे अपराध क्षमा करती रही है। इस समय तो मुझसे कोई अपराध भी नहीं हुआ। फिर भला क्यों तू मुझ निरपराधी से नहीं बोलती? बोलना क्यों एकाएक बन्द कर दिया? क्या मैं अब तेरे साथ बातचीत करने योग्य भी नहीं रहा? तेरी मन्द और उज्ज्वल मुसकान मुझे नहीं भूलती। मुझे इस समय यह सन्देह हो रहा है कि तूने मुझे सच्चा प्रेमी नहीं, किन्तु छली और शठ समझा।......इसीसे तू बिना मेरी अनुमति लिए ही, अप्रसन्न होकर परलोक को चली गई......। मुझे इस बात का बड़ा ही दुःख

है कि तुझे निष्प्राण देखकर मेरे भी प्राण, जो कुछ देर के लिए तेरे पीछे चल गये थे, तुझे छोड़ कर क्यों लौट आये ? क्यों न वे तेरे ही पास रह गये ? अब वे दुस्सह दुःख सहते हुए अपनी करनी पर रोवें।···हे सुन्दर जङ्घाओंवाली ! पवन की प्रेरणा से तेरी फूल से गुँथी हुई, बल खाई हुई, भौंरों के समान काली-काली ये अलकें, इस समय हिल रही हैं। इन्हें इस तरह हिला-डुलाकर पवन मुझे इस बात की आशा सी दिला रहा है कि तू अभी, कुछ देर में, फिर उठ बैठेगी, तू मरी नहीं। इससे, प्रिये ! सचेत होकर—रात के समय, एकाएक चमक कर, हिमालय की गुफा के भीतरी अन्धकार को ओषधि की तरह—शीघ्र ही तू मेरे दुःख को दूर कर दे·············। नये निकले हुए लाल-लाल पत्तों के बिछौने पर भी लेटने से तेरा मृदुल गात दुखने लगता था। सो वही अब जलती हुई चिता पर कैसे चढ़ेगा...·········? मेरे घर की तू स्वामिनी थी। सलाह करने की आवश्यकता होने पर मेरी तू सलाहकार थी, एकान्त में मेरी तू सखी थी············निर्दयी मृत्यु तेरा नाश करके, मेरे सर्वस्व ही का नाश कर दिया············।[1]

लङ्का से अयोध्या के मार्ग का वर्णन

तेरहवें सर्ग में रामचन्द्र रावण को मार कर सीता के साथ विमान पर लङ्का से अयोध्या की ओर जाते हैं।

चलत मार्ग मह सिन्धु निहारी। कह्यो सीय सन राम मुरारी॥
समुद्र देखहु सीय, सेतु बस काँटा। फेनिल सिन्धु मलय लगि बाँटा॥
जिमि अकास सुचि तारन सङ्गा। शरद माहि काटत नभ गङ्गा॥
जब सुरपति मखतुरग चोराई। बांध्यो कपिल पास लै जाई॥
खोदत महि हय खोजन बारा। मो पुरखन यहि कीन्ह अपारा॥
यहि सन भानुकिरन जल पावत। यह दै मणि महि धनहि बढ़ावत॥
जो सुख देत सुधा बरसाई। यह सोइ चन्द्र जोति उपजाई॥
जो पानिहि इन्धन सम जारत। सो बाड़व निज मँह यह धारत॥

---

[1] अनुवादक—पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी

महासिन्धु हरिरूप समाना। इतना कहि नहिं जात बखाना ।।
नित-नित दशा अनेकन पावत । निज महिमा बस दश दिस छावत ।।
बैठे नाभि मूल जल जाता। गावहिं निज जस जासु विधाता ।।
सोइ युग अन्त लोक संहारी। सोवत यहि महँ पाइ मुरारी ।।
काटत पङ्ख इन्द्रसन भागी। यहि सन सरन गिरिन बहु माँगी ।।
घर्मिक मध्य भूप ढिग आवत । ज्यों रिपुसन नृप निजहि बचावत ।।

आगे चल कर रामचन्द्र सीता से कहते हैं :—

पर्वत

यह गिरि माल्यवान तब आगे। जाके शृङ्ग प्रकासहि लागे ।।
विरह आँसु नव नीर सुहावा। मैं अरु घन इह सङ्ग बरसावा ।।
यहाँ मधुर मोरनहु अलापा। तव बिन मोहिं दीन्ह सन्तापा ।।
परत नीर तरु गन्ध सुहावन। जहँ कदम्ब केशर मन भावन ।।
जहँ सुन्दरि तव संग विहारा। सुमिरि-सुमिरि यहि रुचिर पहारा ।।
परत गुहन प्रतिधुन कर मारी। सोई घन धुन कोउ भाँति निवारी ।।

पम्पासर

लगे जासु तट बहु वानीरा। सोइ पम्पासर निर्मल नीरा ।।
लखत दूर सन सारस चञ्चल। पियत खेद सन दृग जनु सोइ जल ।।
इक-इक देत कमल रज धूरी। तिनहि सीय रहि तो सन दूरी ।।

सीता का परित्याग

चौदहवें सर्ग में राजा रामचन्द्र एक जनरव से व्याकुल होकर गर्भवती निरपराध पत्नी का त्याग करते हैं। लक्ष्मण उसे गङ्गा पार जङ्गल में छोड़ते हैं।

सीता का उलहना

सियहि लखन बहुविधि समुझाई। बालमीकि घर राह दिखाई ।।
पराधीन मैं मातु अभागी। छमा करहु बोले पद लागी ।।
तेहि उठाइ बोली सिय बाता। तुम सन अति प्रसन्न मैं ताता ।।
सुरपति बस तुम विष्णु समाना। सदा रहहु महिपति—परवाना ।।
सब सासुन सन लै मम नामा। क्रम सन कह्यो मोर परनामा ।।
मोहि महँ अंश पुत्र कर जोई। ताकी कुसल मनावै सोई ।।

राजा सन विनती यह मोरी। कह्यो तात कर जोरि बहोरी॥
पैठि अग्नि महँ तनहि जराई। जिन निज शुद्धि प्रगट दिखराई॥
तजन ताँहि सुन जन अपवादा। कै यह तव कुल की मरजादा॥
नहिं यह त्याग बुद्धिगुन खानी। मैं कहि सकत बात मन मानी॥
पूर्वजन्म पापन कर एहा। प्रबल उदय मम नहिं सन्देहा॥
तजि श्रिय तव आई तव पासा। तुम मो संग बन कीन्ह निवासा॥
तव घर आदर सहित बसेखी। रहत मोहिं सोइ सकी न देखी॥
तव प्रसाद मुनि तियन बचावा। जिनके पति निस चरन सतावा॥
तुम आछत अब केहि विधि नाथा। माँगव सरन और के हाथा॥
अवधि होन तव दुसह वियोगा। व्यर्थ प्रान नहिं राखन जोगा॥
रक्षनीय जो अंश तुम्हारा। होत न मोहित विघ्न अपारा॥
अब यहि सन निवृत्ति प्रभुताई। करिहौं तप रवि दृष्टि लगाई॥
दूजे जन्म होई फल सोई। तुम पति मिलहु वियोग न होई॥
वर्णाश्रम पालन कर कर्मा। मनु गावत नरपति कर धर्मा॥
तव घर सन प्रभु यदपि दुहाई। जान्यो मोहिं तपसिनि की नाईं॥[1]

इस उलहने में तीक्ष्ण व्यङ्ग, करुणा और भक्ति का विचित्र सामञ्जस्य है। पति का अपराध सीता को प्रत्यक्ष है पर वह अपने उचित क्रोध को दबाकर भक्ति को स्थिर रखना चाहती हैं।

कुमारसम्भव

कालिदास ने कुमारसम्भव में शिव और पार्वती का व्याह और स्वामी-कार्त्तिकेय के जन्म का वर्णन किया है। उमा या पार्वती का जन्म और रूपवर्णन करके कवि दिखाता है कि असुर तारक से परेशान होकर देवता ब्रह्मा की शरण गये। ब्रह्मा बोले—

---

[1] अनुवादक—लाला सीताराम

शङ्कर अंश छाड़ि को जाना। सम्मुख सहै असुर बलवाना॥
अब सब मिलि सोइ करेहु उपाई। उमारूप निज करहु सहाई॥
जेहि विधि चुम्बक खींचत लोहहिं। उमारूप शङ्कर मन मोहहिं॥
ब्रह्मा और देवता
तिमि जौ ता सङ्ग शङ्कर भोगू। सोइ शिव तेज सम्भारन जोगू॥
गिरिजा भूतनाथ सुत सोई। सुरसेना सेनापति होई॥
करिहै तेज जनाय अपारा। सुरबन्दी बेनिन संहारा॥

पर देवताओं के भेजे हुए कामदेव को शिव ने अपनी भृकुटी से ही भस्म कर दिया। उसकी स्त्री रति मूर्च्छित हो गई और होश आने पर विलाप करने लगी—

उपमा देत सकल संसारा। रह्यो रूप जो नाथ, तुम्हारा॥
सो लखि भस्म न दरकत छाती। अहो कठोर नारि की जाती॥
तुम जु नाथ परलोक सुधारे। आय सकत मैं पास तुम्हारे॥
रति-विलाप
पै, कहु काह करै संसारा। जासु सकल सुख तव आधारा॥
निज प्रिय बन्धु नाश अब जानी। शशि निज उदय व्यर्थ अनुमानी॥
पावत बीतेहु पाख अँधेरे। तजत छीनता दुःख घनेरे॥
जाकी रुधिर अरुन रङ्ग गासीं। जो गति कोयल बैन प्रकासी॥
सोई तुम बिना बौर के बानहि। मधु ऋतु पाय कौन सन्धानहि॥

किन्तु पार्वती ने कठिन तपस्या करके शिव को बस में कर लिया। जब—

तिथि जामित्र युक्त शुभ बारा। हिमगिरि सुता विवाह संचारा॥
घर घर करत विवाह तयारी। साजत मङ्गल विधि पुर नारी॥
पार्वती का ब्याह
तेहि अवसर भूधर अनुरागा। सकल नगर एक कुल सम लागा॥
पथ मन्दार फूल छितराये। घर घर सुन्दर ध्वजा लगाये॥
निज-निज अङ्ग बन्धु बैठारी। दै भूषन आसीस उचारी॥
पहिरि दुकूल स्वेत गिरिबाला। लै दरपन सोही तेहि काला॥
कुलदेवन तब बन्दि भवानी। गहे सतिन के चरन सयानी॥
लहु पतिप्रेम अखण्ड कुमारी। सुनि असीस लजानि गिरिबारी॥[1]

[1] अनुवादक—लाला सीताराम

शिव और पार्वती के कुमार ने तारकासुर को मारकर देवताओं को और संसार को निर्भय किया।

कालिदास की एक अपूर्व कल्पना मेघदूत है। यहाँ स्वामी कुवेर के बरस भर के शाप से घरबार से दूर चित्रकूट में पड़ा हुआ एक यक्ष असाढ़ के बादल के हाथ अपना सन्देसा अपनी स्त्री को भेजता है। कहता है :—

मेघदूत

मेघ

पुष्करावर्तक हैं प्रसिद्ध लोक लोकन में,
वंश तिनही के तैने जन्म पायो है।
इच्छा रूप धारण की गति है दई न दई,
मन्त्री सुरराज ने आपनो बनायो है।
एते गुन जानि तो पै भङ्गिता भयोहूँ मेघ
बन्धुन ते दूर मोहि विधि ने बसायो है।
सज्जन पै मागनो बिना हू सरें काज भलो,
नीच पै सरे हू काज आछो ना बतायो है ॥

पन्थ

गैल बताऊँ मेघ अब जिहि चलि पावै चैन।
फिर सुनियो सन्देस मम कानन अति सुख दैन ॥
कानन अति सुख दैन थके वा मग में जब तू।
चलियो धरि धरि पांव शिखर ऊँचिन पै तब तू ॥
भूख लगे सोता मिलें उथरे अरु बिन मैल।
पी तिनकौ पानी तुरत लीजो अपनी गैल ॥
थक्यो पन्थ चलि गात निकट रहे जब जाय तू।
चित्रकूट विख्यात ऊँचे सिर तुहि धारि है ॥
करियो धारासार हरन तासु ग्रीषम-अगिनि।
सज्जन सङ्ग उपकार फलत बिलम्ब न कछु करे ॥
बिलमि तहाँ कछु बार बिहरति जहाँ बनचर बधू।
करियो धारासार फिर द्रुतगति मग लांघियो ॥

लखियो रेवाजाहु विन्ध्यशिलन पै यों बहे।
मानहु दई रचाई गज तन रजरेखा बिशद ॥......

अलकापुरी में पहुँच कर—

बिंबाधर दाड़िम दशन निम्ननाभि कृशगात।
बसति तहाँ मृगलोचनी युवति छीन कटि तात ॥
श्रोणिभार अलसान गति झुकति कछुक कुचभार।
मानहु ललना सृष्टि में मुख्य रची करतार ॥
ताहि सजन घन जानियो मेरी आधो उजी।
रहति अकेली मो बिना चकई ज्यों बिन पीउ ॥

यक्षिणी मितभाषिनि उत्कण्ठिता बिरह कठिन दिन जात।
शीतहनी जिमि कमलिनी औरहि रूप दिखरात ॥
फिर जल शीतल पवन करि दीजो वाहि जगाय।
मृदुल मालती कलिन सङ्ग प्रफुलित चित ह्वै जाय ॥
चमकत बारी मांहि तुहि लखि है दीठि उठाय।
तब तू बातें मन्द धुनि यों कहियो समुझाय ॥
"सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ पतिव्रती।
संदेसो लै वाको तब निकट आयो सुनि सखी ॥
चलें मेरी मन्दी धुनि बिदेसी तुरत ही।
करें वाञ्छा खोलें पहुँचि घर वेनी तियन की ॥"

मम बचनन निज बचन मिलाई। यों वासों कहियौ समुझाई ॥

सन्देश क्षेम सहित भरता तेरो तिय। करत रामगिरि माँहि बसेरो ॥
पूछत है तेरी कुशलता कहि। बिरहिनि अपनी तू बाता ॥
प्रानी सबहि काल के भोगू। प्रथम कुशल ही पूछन जोगू ॥

मिले भामा तेरी सुभग तन श्यामा लतन में।
मुखाभा चन्दा में चकित हरिणी में दृग मिलें ॥
चलोर्मी में भौंहें चिकुर बरही की पुछन में।
न पै हाँ काहू में मुहि सकल तो आकृति मिले ॥

मैं अपनो तन राखि रह्या धरि के अभिलाष हिये बिच भारी।
धीरज तूहु धरें किनि भामिनि जाइ मरी मति सोच की मारी॥
काहु पै दुःख सदा न रह्यो न रह्यो सुख काहु के नित्त अगारी।
चक्रनिमी सम दोऊ फिरें तर ऊपर आपनी आपनी बारी॥
मम शाप की औधि मिटे तब ही जब शेष की सेज पै जागें हरी।
इन चार महीनन को अब तू दृग मीचि बिताय दे भागि भरी॥
मिलिहैं फिर कातिकी रातिन में हम देखिहैं चाँदनी चारु खरी।
बुझि जायगी हौंस सबै जिय की बिरहा दुःख जो दिन दूनी करी॥[1]

काव्य और नाटक दोनों की ही पराकाष्ठा कालिदास में है। विक्रमोर्वशी में राजा

नाटक

पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी का प्रेम है। अभिज्ञानशाकुन्तल जिसकी कथा महाभारत से ली गई है, सबसे बढ़िया संस्कृत-

विक्रमोर्वशी

नाटक है और संसार की सर्वोत्तम रचनाओं में से है। लक्ष्मण सिंह के अनुवाद से कुछ उदाहरण लीजिये। शिकार

अभिज्ञानशाकुन्तल

खेलता हुआ, हिरन के पीछे रथ दौड़ाता हुआ राजा दुष्यन्त कण्व के आश्रम के पास पहुँचता है।

(नेपथ्य में) हे राजा, इसे मत मारो, मत मारो—यह आश्रम का मृग है।

सारथी—(शब्द सुनता और देखता हुआ महाराज, बान के सामने हरिन

आश्रम में राजा

तो आया, परन्तु, बीच में ये तपस्वी खड़े हैं।

दुष्यन्त—(चकित सा होकर) अच्छा तो घोड़ों को रोको।

सारथी—(रथ को ठहराता है) जो आज्ञा।

(एक तपस्वी दो चेलों समेत आता है)

तपस्वी—(बाँह उठाकर) हे क्षत्री! यह मृग आश्रम का है, मारने योग्य नहीं है।

---

[1] अनुवादक—राजा लक्ष्मण सिंह

दोहा—नाहिन या मृग मृदुल तन लगन जोग यह बान।
ज्यों फूलन की राशि में उचित न धरन कृसान॥
कहा दीन हरिनान के अति ही कोमल प्रान।
ये तेरे तीखे कहाँ सायक वज्र समान॥
लै उतारि यातें नृपति भलो चढ़ायो बान।
निरदोषिन मारक नहीं यह तारक दुखियान॥

दुष्यन्त—लो मैं बान उतारे लेता हूँ।

तपस्वी—(हर्ष से) हे पुरुकुलदीपक, तुम्हें ऐसा ही चाहिये।

दोहा—उचित ताहि भूपति यही, जन्म पौर कुल पाय।
जनमैगो तो घर सुवन, गुनी चक्कवे आय॥

दोनों चेले—(बाँह उठा कर) तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र हो।

दुष्यन्त—(प्रणाम करके)—ब्राह्मण वचन सिर माथे।

आश्रम में शकुन्तला से गन्धर्व ब्याह करके राजा के लौट जाने के कुछ दिन बाद शकुन्तला ससुराल जाती है।

कण्व — आज शकुन्तला जायगी मन मेरो अकुलात।
रुकि आँसू गदगद गिरा आँखिन कछु न लखात॥
शकुन्तला की विदाई — मोसे वनवासीन जो इतौ सतावत मोह।
तो गेही कैसे सहें दुहिता प्रथम विछोह॥

(इधर-उधर टहलते हैं)

दोनों सखी—(अनुसूया और प्रियंबदा) हे शकुन्तला! तेरा सिङ्गार हो चुका, अब कपड़े का जोड़ा पहन ले (शकुन्तला उठकर साड़ी पहनती है)।

गोतमी—हे पुत्री! आनन्द के आँसू भरे नेत्रों से तुझे देखने गुरुजी आते है, तू इन्हें आदर से ले।

शकुन्तला—(उठ कर लज्जा से) पिता, मैं नमस्कार करती हूँ।

कण्व—हे बेटी !

दोहा—तू पति की आदरवती हूजो ता घर जाय।
जैसे सरमिष्ठा भई नृप ययाति वर पाय ॥

अब पुत्री, तू शुभ घड़ी में बिदा हो ।........................(सब चलते हैं)।

कण्व—हे तपोवन के सहवासी वृक्षो !

पाछे पीवति नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूल पात तो पल नहीं गहने की हू चाय ॥
जब तुम फूलन के दिवस आवत हैं सुखदान।
फूली अङ्ग समाति नहि उत्सव करति महान ॥
सो यह जाति शकुन्तला आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह ॥

शकुन्तला— ......प्रियंबदा से हौले-हौले) हे प्रियंवदा ! आर्यपुत्र से फिर मिलने का तो मुझे बड़ा चाव है, परन्तु आश्रम को छोड़ते हुए दुःख के मारे पाँव आगे नहीं पड़ते।

प्रियंबदा—अकेली तुझी को दुःख नहीं है; ज्यों-ज्यों तेरे वियोग का समय निकट आता है, तपोवन भी उदास-सा दीखता है।

दोहा—लेत न मुख में घास मृग, मोर तजत नृत जात।
आँसू जिमि डारति लता पीरे-पीरे पात ॥

शकुन्तला—(सुध करती हुई सी) पिता, मैं इस माधवीलता से भी मिल लूँ। इससे मेरा बहन का-सा स्नेह है।

कण्व—बेटी, मैं भी जानता हूँ तेरा इसमें सहोदर का-सा प्यार है। माधवीलता यह है दाहिनी ओर।

शकुन्तला—(लता के निकट जाकर) हे बन-ज्योत्सना ! यद्यपि तू आज से लिपट रही है, तो भी इन शाखारूपी बाँहों से मुझसे मिलले क्योंकि अब मैं तुझ से दूर जा पड़ूँगी।

कण्व—हे बेटी ! विलम्ब मत कर, अब बिदा हो ।

शकुन्तला—(दोनों सखियों से) हे सखियो ! इसे मैं तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ ।

दोनों सखी—(आँसू गिराती हैं) हमें किसके हाथ सौंपती है ।

कण्व—हे अनुसूया ! अब रोना त्यागो । तुम्हें तो चाहिये कि शकुन्तला को धीरज बँधाओ (सब चलते हैं) ।

शकुन्तला—हे पिता ! जब यह कुटी के निकट चरनेवाली ग्यांभन हरिनी क्षेमकुशल से जने, तुम किसी के हाथों यह मङ्गल समाचार मुझे कहला भेजना—भूल मत जाना ।

कण्व—अच्छा न भूलूँगा ।

शकुन्तला—(कुछ चल कर और फिर कर) यह कौन है जो मेरा अञ्चल नहीं छोड़ता ?

(पीछे फिर देखती है)

सवैया

कण्व—कहुँ दाभन तें मुख जाको छिद्यो जब तू दुहिता लखि पावति हो ।
अपने करतें तिन घावन पै तुही तेल हिंग लगावति हो ॥
जिहि पालन के हित धान समानित मूठिहि मूठि खवावति हो ।
मृग छौना सो क्यों पग तेरे तजै जाहि पूत लों लाड़ लड़ावति हो ॥

शकुन्तला—अरे छौना ! मुझ सहवास छोड़ती हुई के पीछे तू क्यों आता है । तेरी माँ तुझे जनते ही छोड़ मरी थी, तब मैंने तेरा पालन किया; अब मेरे पीछे पिताजी तुझे पालेंगे; तू लौट जा । (आँसू ढालती हुई चलती हैं)........।[1]

---

[1] अनुवादक—राजा लक्ष्मण सिंह

मालविकाग्निमित्र में, जो शायद कालिदास का पहिला नाटक है, शुङ्ग सेनापति पुष्यमित्र के बेटे अग्निमित्र और विदर्भराजकुमारी मालविका के प्रेम की कथा है। इसमें राजमहल के प्रेम और सौतियाडाह की घटनाएँ नाट्यमञ्च पर आती हैं। दूसरे अङ्क में रङ्गशाला में राजा, धारिनी, योगिनी, विदूषक और नौकर-चाकर देख पड़ते हैं।

मालविकाग्निमित्र

राजा—(अलग विदूषक से) मित्र !

सो बैठी नेपथ्य तेहि देखत चित घबरात।
परदा खींचन हेत कर आगे खैंचो जात ॥

विदूषक—(अलग राजा से) आपकी आंखों का मधु तो आ गया है पर मक्खी भी लसी है। अब सावधान हो के देखिये।

(मालविका आती है और गणदास भी उसके अङ्ग की शोभा देखता हुआ आता है)

विदूषक—(अलग राजा से) देखिये, देखिये, इसकी सुन्दरताई चित्र से कम नहीं है।

राजा—(अलग) मित्र !

चित्र देखि मो मन भयो सुन्दरता संदेह ।
अब जान्यो धरि ध्यान कछु लखी चितेरन देह ॥

गणदास—बेटी घबड़ाओ नहीं।

राजा—(आप ही आप) अरे, इसका रूप कैसा नख-सिख से सुन्दर है।

झुके कन्ध सुन्दर दोऊ सोहत नैन विसाल ।
केस उठे मुख मनहुँ शारद शसि निशि काल ।
विधुल जांघ कटि मूठ भरि अति सुडौल दोउ पाँव ।
रचे नाच के जोग ही अङ्ग अङ्ग सबै लखाय ॥

मालविका—(अलाप के चतुष्पद गीत गाती है)

पिया मिलन है कठिन छाँड़ि ताकी आशा हिय।
फरकत बाईं आँखि सगुन केहि कर यहि मानिय ॥
अब फिर दरसन होय हाय कब तरसत मो जिय ॥
हौं परबस मैं परी हियो अरझो तोसन पिय।

[इसके पीछे उसी रस का भाव बताती है।]

विदूषक—(अलग) समझे। इसने तो चतुष्पदी गीत गा के अपने को आपके अर्पन कर दिया है।

राजा—हम दोनों की प्रीति एकही है, देखो—

हिय अरुझौं तो सद पिया प्रथम आय यह बाल।
निज शरीर दिशि हाय किय भाव बतावन काल ॥
प्रेम जनावन रीति कोउ रानि सौंह नहिं पाय।
नायक तोषन मिस कह्यो यहि विधि सेन बताय ॥[1]

काव्य, छठवीं सदी के लगभग

किरातार्जुनीय

छठवीं सदी के लगभग भारवि ने किरातार्जुनीय में महाभारत के आधार पर कौरवों को जीतने के लिए शिव से अर्जुन के वर पाने की कथा कही है। पाण्डव और द्रौपदी बन में पड़े हैं, उनका भेजा हुआ एक दूत लौटकर दुर्योधन के शासन-कौशल का वृत्तान्त सुनाता है। जलन के मारे द्रौपदी युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए कहती है—"...............जो लोग हमारे साथ छलकपट करें उनके साथ साधुता का व्यवहार करना अविवेक के सिवा और कुछ नहीं। मायावियों के साथ मायावी होना ही चाहिये। ....बिना कवच के शरीर को छेदकर तीखे बाण

[1]अनुवादक—लाला सीताराम

जैसे मनुष्य के प्राण ले लेते हैं वैसे ही भोले-भाले साधु स्वभाव वाले मनुष्यों के हृदय में घुसकर शठ मनुष्य उनका नाश किये बिना नहीं रहते............

द्रौपदी की झिड़क

आपके सिवा संसार में ऐसा कौन मनुष्य होगा जो परम्परा से प्राप्त हुई विवाहिता भार्या के सदृश अपनी राज्यलक्ष्मी को इस तरह निकाल बाहर करे ?..............................हाय ! हाय ! इस विगर्हणा का कहीं ठिकाना है ! भला कहीं मनस्वी महीप ऐसे पथ में भूल कर भी पैर रखते हैं ! ऐसा निन्द्य काम आपने कर डाला; फिर भी आप चुपचाप बैठे हुए हैं ? सूखे हुए शमी के पेड़ को दावाग्नि जलाकर जिस तरह खाक कर देता है उसी तरह अपने शत्रुओं के विषय में उत्पन्न हुआ क्रोधाग्नि आपको क्यों नहीं जलाकर खाक कर देता ? दुष्टों के अत्याचारों और दुष्कृत्यों का स्मरण करके भी आपको क्रोध न आवेगा तो फिर आवेगा कब ? याद रखिये; जो मनुष्य क्रुद्ध होकर दण्ड और प्रसन्न होकर अनुग्रह करने में समर्थ होता है उसकी अनुकूलता सब लोग, आपही-आप, बिना किसी प्रेरणा के, करने लगते हैं।............परन्तु जिसे कभी क्रोध आता ही नहीं उसके स्नेह और सत्कार की कोई परवा नहीं करता। ....आपका जी न मालूम किस तरह का है।.........आप तो निरन्तर दुःख उठाने ही को सुख समझ रहे हैं।......सम्भव है, आपकी बुद्धि दुःख को ही सुख समझती हो परन्तु मैं तो इस प्रकार की चित्तवृत्ति को महा अनर्थकारिणी समझती हूँ.........आपकी जिन विपत्ति का स्मरण मात्र करने से मुझे मर्मान्तिक व्यथा होती है, उन्हीं का आप प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। तिस पर भी आपको कुछ भी दुःख, कष्ट या सन्ताप नहीं होता।"[1]

दण्डिन्

सुबन्धु

इसी समय के लगभग दण्डिन् ने दशकुमारचरित में बड़ी चतुराई से चरित्र खींचे हैं और समाज की, खासकर, दर्बारों की दशा अङ्कित की है। सुबन्धु ने वासवदत्ता में एक प्रेम-कथा कही है। कह चुके हैं कि पञ्चतन्त्र पुरानी पुस्तक है। इसमें पशु-

---

[1] अनुवादक—पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी

पक्षियों की कथाओं द्वारा राजकुमारों को उपदेश दिया गया है और जीवन साधारण के सम्बन्ध में भी बहुत-सी नीति कही गयी हैं।

पञ्चतन्त्र

पञ्चतन्त्र के सहारे बहुत से ग्रन्थ लिखे गये—जैसे तन्त्राख्यायिका, पञ्चाख्यानोद्धार, हितोपदेश आदि।

कथासरित्सागर इत्यादि की तरह पञ्चतन्त्र में भी कथाओं के अन्तर्गत कथाओं की तह-पर-तह लगाई गयी है, और गद्य के साथ पद्य मिला हुआ है। शैली का अनुमान पाँचवें तन्त्र के एक कथांश से हो जायगा।

सेठ की कथा

(पाटलिपुत्र नगर में) मणिभद्र नामक सेठ रहता था। धर्म के लिए काम करते-करते दैवसंयोग से उसका धन जाता रहा। सम्पत्ति के नाश होने से अपमान पाते-पाते बहुत दुःखित हो रात को लेटा हुआ वह विचार करने लगा कि हाय, इस दरिद्रता को धिक्कार है। कहा भी है—

दरिद्रता

शील शुद्ध आचार, क्षमा मधुरता कुल जनम।
पर चित वृत्ति विचार, सोह न धन बिन पुरुष के॥
सोभा बुद्धि विचार, मान गर्व अभिमान सब।
बिनसत हैं एक बार, धन विहीन जब होत नर॥
लगत बसंत बयार, नित्य शिशिर की श्रिय सरिस।
सोचि कुटुम कर भार, नसत बुद्धि मतिमान की॥
बड़ा चतुर अस कौन, घटै जासु मति धन घटे।
इन्धन चाउर नोन, तेल वस्त्र घी सोच से॥
बिन तारा आकास, मरघट भीषण सूख सर।
धन बिन कर आवास, होत सुन्दरहु रूक्ष इमि॥
धन बिन लहैं न मान, छोटे आगे हू रहत।
जल बुलबुला समान, जल ही में उपजैं मरैं॥

इस भाँति विचार कर उसने फिर सोचा कि ऐसे वृथा जीने से क्या? तो मैं

आहार न करके प्रान छोड़ दूँ, ऐसा निश्चय करके सो गया। तब सपने में बौद्ध-संन्यासी का रूप धर पद्मनिधि ने उसे दरसन देकर कहा कि "हे सेठ! तुम उदास मत हो मैं पद्मनिधि हूँ, तुम्हारे पुरखों ने मुझे मनाया था, सो मैं इसी भेष से सवेरे तुम्हारे घर आऊँगा। तब तुम मुझको लाठी से सिर पर मारना। इससे मैं सोने का बन कर अक्षयवन हो जाऊँगा।" सवेरे वह सेठ जागा और सपने के चेत के चिन्ता के चक्कर में पड़ा कि अरे! यह सपना सच्चा है या झूठा होगा, कुछ जान नहीं पड़ता। वरन् यह झूठा ही होगा क्योंकि मैं धन की ही सोचा करता, हूँ। कहा भी है :—

रोगी चिन्ता सोचयुत बुरी चाह जेहि होइ।
मत्त पुरुष नित व्यर्थ ही सपना देखैं सोइ॥

इसी बीच में उसकी स्त्री का नँह रँगने एक नाई आया। उस समय वह बौद्ध-संन्यासी, जैसा देख पड़ा था, तुरन्त ही प्रगट हुआ। तब सेठ ने उसे देख प्रसन्न मन हो पास से एक लाठी उठा उसके सिर पर मारी और वह सोने का होकर उसी छन पृथ्वी पर गिर पड़ा।................नाई भी घर जा सोचने लगा कि हो-न-हो नङ्गे सिर पर डण्डा मारने से सब सोने के हो जाते हैं। तो मैं भी बहुतों को सवेरे बुला के लाठी से सिर पर मारूँ तो मेरे बहुत-सा सोना हो जाय।[1]......

भिन्न-भिन्न शास्त्र

साहित्य का विश्लेषण

इस समय के लगभग साहित्य का एक नया अङ्ग प्रारम्भ होता है। साहित्य कभी समालोचना के बिना पूरा नहीं हो सकता। क्योंकि समालोचना से एक तो साहित्य का आदर्श ऊँचा रहता है और दूसरे साहित्य का मर्म समझने में पाठकों को सहायता मिलती है। समालोचना के कारण साहित्य के गुणा-वगुण का विश्लेषण अच्छी तरह हो जाता है और लेखकों को भी मदद मिलती

---

[1] अनुवादक—लाला सीताराम

है। प्राचीन भारत में सर्वाङ्गीण समालोचना अवश्य रही होगी, पर यहाँ विभाग-उपविभाग करने की और हर एक विषय का अन्त तक विश्लेषण करने की ऐसी परिपाटी थी कि समालोचना ने भी मुख्यतः विश्लेषण का रूप धारण कर लिया। भाव, रस, चरित्र इत्यादि सब विषयों पर विचार किया जाता था पर विश्लेषण की रीति से ही।

अलंकार इत्यादि

नियम बनाने की परिपाटी के अनुसार लेखकों ने काव्यरचना की, हर एक बात पर नियम बना डाले। उपमा, रूपक, दीपक और यमक, शब्दालंकार और अर्थालङ्कार इत्यादि पर पहिले ग्रन्थों में बहस की है। फिर इनके बहुतेरे भेद किये गये हैं। काव्य के गुण हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार, कान्ति। छठवीं सदी के लगभग दण्डिन् ने काव्यादर्श में कवित्व की कई किस्में बताई हैं—सर्गबन्ध या महाकाव्य, मुक्तक, कुलक, कोश, संघात। गद्य में कथा, आख्यायिका और चम्पू के कई प्रकार हैं। विस्तार से इनका वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर इतना कह देना आवश्यक है कि अलङ्कार पर संस्कृत में अठारहवीं इस्वीं सदी तक ग्रन्थ बनते रहे हैं और उनकी देखा-देखी हिन्दी, बंगला आदि देश-भाषाओं में भी ग्रन्थों की कमी नहीं है। इन सब की शैली एक सी है, विषय एक सा है, निष्कर्ष एक से हैं।

ध्वनि

ध्वनियों का भी एक पूरा शास्त्र विद्वानों ने गढ़ दिया। नवीं ईस्वी-सदी में आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में, पीछे भट्टनायक ने हृदय-दर्पण में, एवं अन्य लेखकों ने ध्वनियों के बहुत से प्रकार बताये हैं। ११-१२ ई० सदी में मम्मट ने काव्यप्रकाश में, हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में, क्षेमेन्द्र ने अनुचित्य विचार और कविकंठा भरण में; १४ सदी में विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में, सारे अलङ्कारशास्त्र की विवेचना की है।

विज्ञान

साहित्य के अलावा विज्ञान की चर्चा भी देश में प्राचीन समय से हो रही थी। हिन्दू-विज्ञानों की उत्पत्ति वैदिक धर्म की कुछ आवश्यकताओं से हुई थी। वैदिक-पाठ शुद्ध रखने के लिए व्याकरण बना; यज्ञों का समय ठीक-ठीक निश्चय करने के लिये ज्योतिष की

उत्पत्ति हुई; ठीक-ठीक उच्चारण करने के लिए छन्दस् बना।

कोष

जनता की साधारण भाषा न होने से संस्कृत को कोष की बहुत आवश्यकता थी। सबसे पुराना कोष है निघंटवस् जिसमें वैदिक शब्दों के संग्रह हैं। यास्क ने निरुक्त में वैदिक शब्दों के अर्थ बताये हैं और टीका-सी की है। कहा जाता है कि लौकिक संस्कृत के कोष बाण, मयूर, मुरारि और श्री हर्ष ने भी बनाये थे पर इनका पता अभी तक नहीं लगा है। ५-६ ई० के लगभग अमरसिंह ने नामलिंगानुशासन रचा जो अमरकोष के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके अर्थ बीसों संस्कृत टीकाओं में उद्धृत किये गये हैं और स्वयं जिस पर क्षीरस्वामी, वन्द्यघटीय सर्वानन्द इत्यादि ने टीकाएँ लिखी हैं। १०-१२ ई० सदी में हलायुध ने अभिधानरत्नमाला में, यादवप्रकाश ने वैजयन्ती में, धनञ्जय ने नाममाला में, महेश्वर ने विश्वप्रकाश में और दूसरे लेखकों ने दूसरे कोषों में शब्दों के संग्रह और अर्थ दिये हैं। १० वीं ई० सदी में धनपाल ने पाइयलच्छीनामक प्राकृत कोष रचा।[1] १२ सदी के लगभग मौद्गलायन ने पाली का एक कोष बनाया जो अभिधानप्पदीपिका नाम से प्रसिद्ध है।

व्याकरण

साधारण जनता की मातृभाषा न होने से संस्कृत को कोष के साथ-साथ सुव्यवस्थित व्याकरण की भी आवश्यकता थी। ई० पू० ६०० या ३०० के लगभग पाणिनि ने अष्टाध्यायी में लगभग ४००० सूत्रों के द्वारा संस्कृत के सब रूपों पर नियम बना दिये। पाणिनि ने कुछ वैयाकरणों का उल्लेख किया है जिससे जाहिर है कि उसके पहिले भी कुछ व्याकरण रचे जा चुके थे, पर सबसे अधिक व्यापक और वैज्ञानिक होने के कारण पाणिनि का व्याकरण ही सदा के लिए प्रमाण हुआ। तो भी, कहीं पाणिनि, का मत अग्राह्य था। कुछ दिनों के बाद पञ्जलि ने महाभाष्य में पाणिनि के कुछ विवादग्रस्त नियम समझाये और कहीं-कहीं विपरीत मत प्रकट किया। तीसरी ई० सदी के लगभग कात्यायन ने वार्त्तिकों में पाणिनि की आलोचना की और कुछ अन्य नियम लिखे। आगे चलकर और भी व्याकरण बने जैसे

---

[1] कीथ, 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर', पृ० ४१३-४१५।

६-७ ई० सदी के लगभग जैनेन्द्र व्याकरण, चांद्र व्याकरण; नवीं सदी में शाकटायन व्याकरण, उसके पीछे सिद्धहेमचन्द्र इत्यादि, पर इनमें पाणिनि से भेद बहुत कम है। ६-७ ई० सदी के लगभग बररुचि ने प्राकृतप्रकाश नामक व्याकरण रचा। मध्यकाल अर्थात् मुसलमान राज्यकाल में भी संस्कृत और प्राकृत के बहुत से व्याकरण बने और पुराने व्याकरणों पर भाष्य लिखे गये या उनके संक्षेप बनाये गये।

ज्योतिष्

गणित-ज्योतिष् का आरम्भ भी वैदिक-काल के आस-पास हुआ था। धीरे-धीरे गणना के कई प्रकार निकले और थोड़ी बहुत उन्नति होती रही। पांचवी-छठवीं ई० सदी में आर्यभट्ट ने आर्यभटीय दशगीतिकासूत्र, आर्याष्टशत, कालक्रिया आदि में शास्त्र का कथन किया है। उसने माना है कि जमीन गोल है और चारों ओर मानो अपनी कील पर घूमती है। छठवीं ई० सदी के लगभग वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका में पुराने पाँच सिद्धान्तों का जिक्र किया है जिनमें से दो रोमक और पौलिश-ग्रीक सिद्धान्त के प्रभाव में रचे गये थे। ७वीं ई० सदी में ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धातों या स्फुटसिद्धान्त में और खंडखाद्यक में; लल्ल ने शिष्यधीवृद्धितंत्र में; १२वीं सदी में भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में एवं और विद्वानों ने और समयों पर अन्य ग्रन्थों में ज्योतिष् के सिद्धान्त लिखे हैं।

फलित ज्योतिष्

गणित, ज्योतिष् के साथ-साथ फलित ज्योतिष् की भी उत्पत्ति हुई। वराहमिहिर ने फलित के कई पुराने आचार्यों का जिक्र किया है। आगे चल कर इस पर ग्रीक फलित का बहुत प्रभाव पड़ा। फलित के ग्रन्थ लिखने की परिपाटी आज तक चली आती है, पर इस ओर अधिक ध्यान जाने से हिंदू-गणित-ज्योतिष् का विकास रुक गया।

गणित

जिस समय ज्योतिष् का विकास हो रहा था उसी समय गणित का भी विकास हुआ। अङ्कगणित, बीजगणित और रेखागणित पर बहुत से ग्रन्थ रचे गये। भारतीय गणित का प्रभाव अरब गणित पर और उसके द्वारा तमाम यूरोपियन गणित पर पड़ा। रेखागणित की

अपेक्षा अङ्कगणित और बीजगणित की ओर हिन्दुस्तानियों ने अधिक ध्यान दिया। वैद्यक के कारण रसायनशास्त्र पर भी कुछ रचनाएं हुई पर भौतिकशास्त्र—फ़िज़िक्स—की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

रसायन

कला

गुप्त-काल में धर्म और साहित्य के साथ-साथ कला का भी बड़ा प्रसार हुआ। इस समय की मूर्तियाँ और इमारतें प्रायः नष्ट हो गई हैं, पर जो बची हैं वह साबित करती हैं कि भारतीय प्रतिभा ने कला में भी खूब विकास पाया। कानपुर जिले में भीतरगांव के मन्दिर में पक्की मिट्टी की मूर्तियाँ खूब ही बनाई गयी हैं।

गुप्त-कला

समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के राजत्व में बनारस के पास सारनाथ में और दूसरे स्थानों पर पत्थर के विशाल मन्दिर बनाये गये थे जिनकी दीवारों, स्तम्भों और छतों पर बहुत-सी मूर्तियाँ थीं। उनमें से कुछ अब तक बची हुई हैं।

पत्थर के अलावा सोने और तांबे से भी काम लिया जाता था। समुद्रगुप्त के समय का दिल्ली का लोहे का स्तम्भ प्रकट करता है कि इस समय लोहे की कारीगरी में बड़ी निपुणता प्राप्त हो चुकी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की बुद्ध की एक साढ़े-सात फीट ऊँची तांबे की मूर्ति सुल्तागञ्ज में मिली थी। वह आजकल इंग्लिस्तान के बकिङ्घम नगर के अजायबखाने में है। शरीर के सब अङ्गों का आकार खूब बना है और चेहरे से शान्ति, करुणा, संयम और सामञ्जस्य टपकता है। छठी ईस्वी सदी के अन्त में मगध—नालन्द में बुद्ध की एक अस्सी फीट ऊँची मूर्ति तांबे में ढाली गई थी। इसमें शरीर का आकार इत्यादि बहुत सुन्दर है।

स्तम्भ बनाने की प्रथा इस समय भी कुछ-कुछ प्रचलित थी। ४५६ ई० के लगभग सम्राट् स्कन्दगुप्त ने हूणों और पुष्यमित्रों पर विजय के स्मरण के लिये वर्तमान गाज़ीपुर जिले में भितरी स्तम्भ खड़ा कराया। ४६०-६१ ई० से

एक जैन ने वर्तमान गोरखपुर जिले के कहावन स्थान पर एक स्तम्भ बनवाया जिस पर पाँच जैनसिद्धों की मूर्तियाँ हैं—एक नीचे और चार चोटी पर। इसी तरह और भी बहुत से स्तम्भ हैं।

स्तम्भ

गुप्तकाल की गुफायें

पाँचवी ईस्वीं-सदी में अजन्ता की दो गुफायें (नं० १६ और १७) बनाई गईं जो कार्ली गुफा का मुकाबिला करती हैं। पत्थर में गुफा बनाना एक चमत्कार-सा है। गुफाओं में बाहर की किसी वस्तु का प्रयोग नहीं किया जाता था। कारीगर चट्टान को ही इस तरह काटते थे कि दर्वाजे बन जायँ, बन जायँ, कमरे, खम्भे खड़े रह जायँ, सुन्दर से सुन्दर मूर्ति भी निकल आये, देवी-देवता, स्त्री-पुरुष, हाथी इत्यादि सब प्रकट हो जायँ, यहाँ तक कि छोटे-छोटे मोती और जवाहिर भी चट्टान काटते-काटते मानों आप ही बन जाय। गुफाओं के ऊपर पहाड़ की जमीन साफ़ कर दी जाती थी और पानी बहने की नालियाँ इस तरह बनाई जाती थीं कि गुफा में एक बूँद भी न टपके। गुफा का मुँह ऐसा रक्खा जाता था कि कुछ प्रकाश आता रहे। इसके अलावा कारीगर शीशे से सूरज की किरणें जमा करके अपने लिये अधिक प्रकाश की सृष्टि कर लेते थे। गुफा बनाने की ऐसी कला आज संसार में कहीं नहीं है और प्राचीन समय में केवल भारत में थी। गुप्त-काल की अजन्ता गुफाओं में चित्र बहुत हैं। यह चित्र सर्वोत्तम भारतीय चित्रों में गिने जाते हैं। आकार की उत्तमता के अलावा भाव का प्रदर्शन बड़ी उत्कृष्टता से किया गया है। इस समय के भारतीय चित्रों से सिद्ध होता है कि यहाँ चित्रकला का प्रधान उद्देश्य आभ्यन्तरिक भावों को प्रगट करना था। मानसिक अवस्था—शृङ्गार या वैराग्य, शान्ति या क्रोध, हर्ष या शोक, आह्लाद या निराशा—हर तरह से जाहिर करने का प्रयत्न है; बाहरी बातों पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। अजन्ता की गुफा नं० २६ में बुद्ध की मृत्यु-समय की एक २३½ फीट लम्बी मूर्ति है। ग्वालियर रियासत की बाग गुफाओं में भी अजन्ता की-सी मूर्तियाँ हैं। सातवीं सदी की दक्खिनी औरङ्गाबाद गुफाओं में भी इसी तरह की कला है। गुफा नं० ३ में शराबी की १६ दशाओं के चित्र मूर्तियों के द्वारा खींचे हैं।

चित्र

अन्य दृष्टान्त

मध्यहिन्द में भूपाल रियासत में वेसनगर के पास उदयगिरि पहाड़ी पर ४०१ ई० की चन्द्रगुप्त गुफा में देवियों की बहुत-सी गुफाएँ हैं। झाँसी जिले की ललितपुर तहसील में देवगढ़ के मन्दिर में महायोगी शिव की एक मूर्ति है। इसके पास एक और योगी है और बहुत से उड़नेवाले गन्धर्व-किन्नर हैं। योग की अवस्था बहुत अच्छी तरह चित्रित की गयी है। इसी मन्दिर के दक्खिन-भाग में एक ओर अनन्त सर्प पर विष्णु विराजमान हैं। इलाहाबाद से २५ मील दक्खिन-पच्छिम में गढ़वा के बौद्ध मन्दिर में साँची और भरहुत की शैली की मूर्तियाँ स्वाभाविक रूप की बनी हैं। मथुरा-अजायबखाने की पाँचवीं सदी की, खड़े बुद्ध की ७ फीट २½ इंच लम्बी मूर्ति भी इस समय की कला का अच्छा उदाहरण है।

गुप्त-काल के बाद अजन्ता के चित्र

गुप्त-काल के बाद भी पुरानी भारतीय चित्रकला के अच्छे उदाहरण अजन्ता की २६ गुफाओं में मिलते हैं। ६ और १० नं० गुफाओं के चित्र तो शायद ईस्वी-सन् से पहिले के हैं पर बाकी पहिली ईस्वी-सदी से लेकर ७वीं सदी तक बनाये गये थे। अधिकांश चित्र ५५०-६४२ ई० के हैं। पक्षियों ने और आदमियों ने इन चित्रों को बहुत नुकसान पहुँचाया है और अकसर अङ्ग-भङ्ग कर दिया है पर तो भी इनसे पुरानी कला का अनुमान हो सकता है। चित्र खींचने में सफेद प्लास्टर पर गहरी लाल लकीरें खींचकर फिर तरह-तरह के हल्के या गहरे रङ्ग प्रयोग किये गये हैं, ज्यादातर लाल, सफेद और बादामी रङ्ग गहराई के भिन्न-भिन्न परिमाणों में प्रयोग किये गये हैं; हल्के हरे और नीले का भी प्रयोग किया गया है।

कारीगरी

अधिकांश चित्र गौतम बुद्ध के जीवन की या जातकों में वर्णित बोधिसत्वों के जीवनों की घटनाओं के हैं। गुफा नं० १७ में अवलोकितेश्वर, धर्मचक्र और शायद लङ्का-विजय के पहुँचने के भी चित्र हैं। गुफा नं० १ में दक्खिनी राजा द्वितीय पुलकेशिन् के दरबार का ६२६ ई० का एक दृश्य हैं; फ़ारस के नरेश खुशरू पर्वेज के एलची आये हैं।

विषय

जैसे चित्रों का विषयक्षेत्र विस्तृत है, वैसे ही चित्रकारों की प्रतिभा भी बलवान है। प्रायः प्रत्येक विषय को बड़ी अच्छी तरह निभाया गया है। पहिली गुफा में ऊपर एक प्रेमी और प्रेयसी का चित्र है, जिसमें स्नेह की तस्वीर खींच दी है। फूल, पत्ते, हाथी, घोड़े, आदमी—सब ही या तो जीवन के सदृश हैं या कोई विशेष भाव सूचित करते हैं। गुफा नं० १६ में ५०० ई० के लगभग दीवार पर एक ऐसा दृश्य खींचा गया है कि उसका सामना शायद संसार का कोई चित्र नहीं कर सकता। एक राजकुमारी के अन्त समय का दृश्य है। शायद उसे कोई ऐसा दुखद समाचार मिला है कि शोक से विह्वल होने के बाद वह संसार से कूच कर रही है। राजकुमारी चारपाई पर बैठी है, तकिये पर बाँया हाथ रक्खे हुए है; एक सेविका पीछे से उसे सहारा दे रही है। चारपाई के कुछ पीछे एक लड़की छाती पर हाथ रक्खे राजकुमारी की ओर देख रही है। एक दूसरी लड़की अङ्गिया पहिने पङ्खा लिए है। बूढ़ा आदमी सफ़ेद टोपी पहिने दर्वाजे पर झाँक रहा है, एक दूसरा बूढ़ा स्तम्भ के नीचे बैठा है। चारपाई के आगे दो स्त्रियाँ बैठी हैं। एक दूसरे कमरे में एक आदमी फ़ारसी टोपी पहिने कलश और प्याला लिए खड़ा है; एक दूसरा काले बालवाला आदमी उससे कुछ माँग रहा है। दाहिनी ओर अलग कमरे में दो कञ्चुकिनियाँ बैठी हैं। नीचे फ़र्श पर कुछ लोग बड़े रञ्ज में बैठे हैं, एक स्त्री हाथ से मुँह ढककर आँसू बहा रही है, इस तरह राजकुमारी संसार से बिदा हो रही है। चित्रकार की प्रतिभा ने चारों ओर स्नेह, चिन्ता, निराशा और शोक की वर्षा कर दी है। राजकुमारी का सिर गिरा जाता है, आँखे आधी बन्द हो गई हैं, अङ्ग शिथिल हो गये हैं। उसकी परिचर्या करनेवालियों के चेहरे मानों चिन्ता के रूप ही बन गये हैं। इधर-उधर खड़े या बैठे लोग शोक से विह्वल हैं। केवल एक ही विचार उनके मन में आता है—राजकुमारी ने अब आखिरी साँस ली, अब आखिरी साँस ली। यह सब भाव जैसे कवि शब्दों में प्रकट करता है वैसे ही चित्रकार ने अपनी पेंसिल से प्रकट किये हैं।

प्रतिभा

राजकुमारी का अन्त समय

गुफा नं० १७ और १९ में एक माता अपने छोटे बच्चे से गौतमबुद्ध को

आहार दिला रही है। गुफा नं० २ में एक स्त्री एक पैर से खड़ी है, दूसरा पैर उठाये हुए एक स्तम्भ पर सम्हाले है; कुछ सोच रही है। ध्यान का भाव चित्रकार ने बड़ी सफ़ाई से दिखाया है। सारे चित्र ऐसे बनाये गये हैं कि देखते ही सारा रहस्य समझ में आ जाता है, किसी को किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं है। देखते-देखते आदमी घटनाओं के रस में डूब जाता है, आपे को भूल जाता है और सौन्दर्य के संसार में लीन हो जाता है। चित्रों में जो बात है वही चट्टान से निकाली हुई मूर्तियों में है। कला में मानवी-प्रतिभा किस सीमा तक पहुँच सकती है, इसका पता अजन्ता इत्यादि से ही लग सकता है।

अन्य दृष्टान्त

सतवीं ई०-सदी के बाद पुरानी भारतीय-चित्रकला के कोई नमूने नहीं मिले हैं; पर साहित्य के ग्रन्थों से साफ़ जाहिर हैं कि चित्रकारी बराबर होती रही।

पुरानी इमारतों और मूर्तियों के उल्लेखों से स्पष्ट है कि हिन्दुस्तानी कला बहुधा धर्म से संयुक्त थी और धर्म की सेवा करती थी। पर यह न समझना चाहिये कि सारी कला धार्मिक ही थी। मथुरा में और आस-पास बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। एक मूर्ति ऐसी है जिसमें एक आदमी बाँए हाथ से एक शेर को पकड़े है। मूर्ति का दाहिना हाथ टूट गया है, शायद उसमें शेर को मारने के लिए गदा रही होगी। बहुत-सी मूर्तियों में शराब पीने के दृश्य अङ्कित किये हैं। एक जगह फूले हुए अशोक वृक्ष के नीचे शराब पीने के बर्तन पड़े हैं और चार आदमी खड़े हैं—दो पुरुष और दो स्त्री। एक आदमी सिर्फ़ एक लँगोट पहिने है, शराब में मस्त है और एक हाथ एक स्त्री की कमर पर डाले है, स्त्री ने दूसरा हाथ स्वयं पकड़ लिया है कि कहीं यह नशे में गिर न जाय। बाकी दो आदमी—एक स्त्री और एक पुरुष—ठीक कपड़े पहिने खड़े हैं पर यहाँ मूर्ति इतनी विकृत हो गई है कि उनका भाव अच्छी तरह नहीं जान पड़ता। दोनों स्त्रियाँ भारी हँसुली, पहुँची, कड़े वगैरह

कला और धर्म

धर्महीन कला

शराब पीने के दृश्य

पहिने हैं। इसके पीछे मूर्ति समूह में पाँच प्राणी हैं। इनमें से एक अधेड़ मोटा पुरुष ढीली धोती पहिने शराब में चूर पत्थर पर बाँया पैर उठाये बैठा है। बाँई ओर एक पुरुष और एक लड़का और दाहिनी ओर एक स्त्री उसे पकड़े है कि कहीं यह लोटपोट न हो जाय। सारा दृश्य बड़े कौशल से खींचा गया है; जीवन से पूरा सादृश्य है। एक और जगह फिर अशोक के नीचे पाँच आदमी नज़र आते हैं। एक मोटा नङ्गा आदमी पत्थर की छोटी चौकी पर बाँया पैर उठाये बैठा है और काठ के प्याले से शराब पी रहा है। एक सेवक प्याला भरने के वास्ते शराब लिए खड़ा है। एक पुरुष, एक स्त्री और एक छोटा लड़का, इस दृश्य को देख रहे हैं। एक और मूर्ति में फिर एक मोटा नङ्गा गंवार बैठा है, दाहिने हाथ में शराब का प्याला है जिसमें एक स्त्री सुराही से शराब भरने जा रही है। इसी तरह शराब पीने वाले नागों की बहुत-सी मूर्तियाँ हैं। सम्भव है कि यह यक्ष-पूजा करने वालों की या पुराने वाममार्गियों की हों, पर शायद यह यों ही आनन्द-विनोद के लिये बनाई गई थीं। कुछ भी हो, इनकी स्वाभाविकता और जीवन-सादृश्य ऊँचे दर्जे के हैं।

सातवीं ईस्वी-सदी

१२

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, सातवीं सदी के लगभग फिर संयोजक शक्तियों का प्राबल्य हुआ और विशाल साम्राज्यों का उदय हुआ।

थानेसर

हिन्दुस्तान के पहिले साम्राज्य, मौर्यसाम्राज्य का केन्द्र मगध में पाटलिपुत्र था; दूसरे साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य का केन्द्र पश्चिम की ओर हटकर अयोध्या नगर हुआ; तीसरे साम्राज्य का केन्द्र और भी पश्चिम में स्थाण्वीश्वर या स्थानेश्वर अर्थात् वर्तमान थानेसर हुआ। थानेसर जमुना नदी के पश्चिम में है। पश्चिम की ओर साम्राज्य के केन्द्र के हटने का रहस्य यह मालूम होता है कि उत्तर-पच्छिम से बहुत हमले हो रहे थे और उनका सामना करने के लिये सम्राट् को अपनी राजधानी पच्छिम की ओर रखना आवश्यक था।

प्रभाकरवर्धन

स्थाण्वीश्वर में छठवीं-सदी के अन्त में प्रभाकरवर्धन नामक एक राजा राज्य करता था। उसकी मां गुप्तवंश की राजकुमारी थी। उसने चारों ओर के बहुत से राजाओं पर अपनी प्रभुता जमाई, और कुछ प्रदेश अपने ही शासन में मिला लिये। उसके पूर्वज नरवर्धन, राज्यवर्धन, और आदित्यवर्धन महाराजा कहलाते रहे थे; अब तक प्रभाकरवर्धन भी महाराज कहलाता था पर प्रभुता बढ़ने पर उसने महाराजाधिराज की पदवी धारण की। उसे हूणों से युद्ध करना पड़ा।

हूणों से युद्ध

मिहिरगुण के बाद हूणों की शक्ति मिट-सी गई थी पर सातवीं ईस्वी-सदी के आरम्भ के लगभग उत्त र-पच्छिम से कुछ और हूण आ गये। उनको भगाने के लिए ६०४ ई० में महाराजाधिराज ने अपने बड़े लड़के राज्यवर्धन को सेनानायक बनाकर पच्छिम की ओर भेजा और छोटे लड़के हर्षवर्धन को भी कुछ घुड़सवार देकर भाई के पीछे रवाना किया। राज्यवर्धन ने विजय पायी पर इसके पहिले ही प्रभाकरवर्धन एक भयङ्कर रोग से पीड़ित होकर चारपाई पर पड़ चुका था। समाचार पाते ही हर्षवर्धन पिता के

पास दौड़ा गया था पर उसकी अवस्था बहुत शोचनीय थी। बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में राजकुमारी की चिन्ता का विशद वर्णन किया है।

देहान्त

राज्यवर्धन के लौटने के पहले ही प्रभाकर का देहान्त हो गया। इस प्रकार ६०५ ई० में राज्यवर्धन महाराजाधिराज की पदवी धारण करके स्थाण्वीश्वर के सिंहासन पर बैठा। पर उसे कोई शान्ति नहीं मिली। उसकी बहिन राज्यश्री ग्रहवर्मन् मौखरि को ब्याही थी। ब्याह की धूमधाम के वर्णन में हर्षचरित के लेखक ने कलम तोड़ दी है पर यह ब्याह राजकुमारी के लिए बहुत दुखदायी निकला। ग्रहवर्मन् शायद कन्नौज का राजा था; मालव नामक किसी प्रदेश के राजा से उसका युद्ध हुआ। ग्रहवर्मन् मारा गया और राज्यश्री पैरों में बेड़ी पहिना के कैदखाने में पटक दी गई। यह समाचार पाते ही राज्यवर्धन ने १०,००० घुड़सवार लेकर धावा किया; मालवा के राजा को हरा दिया पर इसके बाद जो घटनाचक्र प्रारम्भ हुआ उसमें एक बड़ी दुर्घटना हो गई। मध्य बङ्गाल के राजा शशाङ्क ने जो मालवा के राजा का मित्र था, राज्यवर्धन को सभा के लिये बुलाया और धोखा देकर उसकी हत्या कर दी। इस बीच में राज्यश्री भी किसी तरह कैदखाने से निकल भागी और बिन्ध्यपर्वत के जङ्गल में जा छिपी।

राज्यवर्धन

राज्यश्री की विपत्ति

हत्या

इन विपत्तियों के समाचार से व्याकुल मन्त्रियों ने स्थाण्वीश्वर में सभा की। सबसे आवश्यक बात यह थी कि सिंहासन पर कोई राजा बैठे। भण्डी ने जो प्रधानमन्त्री मालूम होता है, प्रस्ताव किया कि हर्षवर्धन गद्दी पर बैठें। सबको उसकी वीरता और योग्यता में विश्वास था। शायद राज्यवर्धन को कोई लड़का भी न था; या अगर था तो बहुत छोटा था। हर तरह से हर्षवर्धन का सिंहासन पर बैठना ठीक था। पर स्वयं उसे किसी कारण से सङ्कोच था। युआनच्वाङ्ग लिखता है कि अन्त में अवलोकितेश्वर के मन्दिर में राज्य के लिए दैवी अनुज्ञा पाकर हर्ष ने सिंहासन स्वीकार किया। कुछ भी हो, ६०६ ई० में महाराजाधिराज होने पर हर्ष ने सब

हर्षवर्धन

से पहिले अपनी बहिन राज्यश्री की चिन्ता की। बिन्ध्यपर्वतों की घाटियों में चारों ओर खोज आरम्भ हुई। अन्त में भील सर्दारों की सहायता से हर्षवर्धन बहिन के पास जा पहुँचा। वह तो इस समय निराश हो चुकी थी और अग्नि में प्रवेश करने वाली ही थी कि भाई उसके सामने आ खड़ा हुआ। इसके बाद राज्यश्री हर्षवर्धन के साथ ही रही। जान पड़ता है कि किसी तरह उसके पति का राज्य भी हर्षवर्धन के साम्राज्य में मिल गया। राजकुमारी बहुत पढ़ी लिखी थी, बौद्ध-धर्म की पण्डित थी और राजकार्य में कुशल थी। शासन में वह भाई की बहुत सहायता करती रही।

राज्यश्री

बाणभट्ट ने लिखा है कि आरोहण के बाद हर्ष ने दिग्विजय की। इस समय उसके पास ५,००० हाथी, २०,००० घुड़सवार और ५०,००० पैदल थे। शायद अब रथों से युद्ध करने की परिपाटी कम हो गई थी। अब बहुत से राजाओं ने योंही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उत्तर-भारत के कुछ अन्य राजाओं से युद्ध करके उसने अपना लोहा मनवाया। कोई साढ़े-पाँच बरस में उत्तर का अधिकांश भाग हर्ष की प्रभुता में आगया। बङ्गाल में शशाङ्क ने कुछ दिन तक विरोध किया पर अन्त में उसने भी शायद हर्ष का आधिपत्य स्वीकार किया। तथापि जान पड़ता है कि मध्य बङ्गाल पर हर्ष का पूरा अधिकार न हो सका। ६१९-२० ई० के एक ताम्रपत्र-लेख में शशाङ्क को महाराजाधिराज कहा है जिससे उसकी स्वतन्त्रता प्रमाणित होती है। शायद ६१९ ई० के लगभग वह फिर स्वतन्त्र हो गया था। बङ्गाल के पूरब में वर्तमान आसाम में कामरूप का ब्राह्मण राजा भास्करवर्मन् या कुमार हर्ष का अनुयायी हो गया, शायद इसलिये कि उसे अपने पड़ोसी शशाङ्क के विरुद्ध सहायता की आवश्यकता थी। बलभी के राजा ध्रुवभट ने एक युद्ध में हार खाकर हर्ष की प्रधानता मान ली। सोरठ अर्थात् दक्खिन काठियावाड़ में भी वर्धन-आधिपत्य की पताका फहराई। पच्छिम में चम्बल नदी तक हर्ष का राज्य था और उस पार के सीमा प्रान्त तक के राजा उसका थोड़ा-बहुत प्रभाव मानते थे। नैपाल को भी उसने विजय कर लिया।

दिग्विजय

बङ्गाल

कामरूप

दक्खिन-पूरब की ओर बङ्गाल की खाड़ी के किनारे गञ्जाम पर भी उसने ६४३ ई० के लगभग अपनी प्रभुता जमा ली। नर्मदा नदी के नीचे दक्खिन में उसकी कुछ न चली।

वलभी इत्यादि

तीसरी ईस्वी-सदी के आरम्भ तक दक्खिन में आन्ध्रों की प्रभुता रही थी। उसके बाद कई सदियों तक दक्खिन का राजनैतिक इतिहास बहुत कम मिलता है। कुछ ताम्रपत्रों से हाल में इतना पता लगा है कि तीसरी ई०-सदी से छठवीं ई०-सदी तक कदम्ब-वंश के ब्राह्मण-राजाओं ने कनारा पर और उत्तर मैसूर पर राज्य किया। महाराष्ट्र में राष्ट्रकूटवंश का राज्य था। छठवीं सदी में चालुक्य-वंश का उदय हुआ। यह अपने को राजपूत कहते थे और उनकी धारणा थी कि उनके पूर्वज पहिले अयोध्या में रहते थे। इतिहास से इसका पूरा समर्थन तो नहीं होता पर सम्भव है कि चालुक्यों के पूर्वज किसी उत्तरी प्रदेश से दक्खिन में आये हों। इस तरह का आना-जाना प्राचीन समय में भी यहाँ बहुधा हुआ करता था। ५५० ई० के लगभग चालुक्य पुलकेशिन् प्रथम ने एक राज्य स्थापित किया जिसकी राजधानी बातापि या बादामी वर्तमान बीजापुर जिले में थी।

दक्खिन

पुलकेशिन् प्रथम

जान पड़ता है कि पुलकेशिन् प्रथम ने इधर-उधर के राजाओं पर अपनी प्रभुता जमायी और अपने आधिपत्य को प्रकाश करने के लिये अश्वमेध-यज्ञ किया। उसके बाद उसके लड़के कीर्तिवर्मन् और मङ्गलेश ने चारों ओर अपनी प्रभुता फैलायी। उनके बाद सिंहासन की आकांक्षा करने वाले राजकुमारों में लड़ाई हुई। परिवार के इस युद्ध में कीर्तिवर्मन् के पुत्र की जीत हुई और उसने ६०८ ई० के लगभग पुलकेशिन् द्वितीय की पदवी ग्रहण करके वातापि में शासन करना आरम्भ किया। वंश की नीति के अनुसार उसने अपना साम्राज्य बढ़ाने का घोर प्रयत्न किया और अन्त में सारे दक्खिन पर अपना आधिपत्य जमा लिया। ६११ ई० के लगभग उसने गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच का प्रदेश जीता। वहाँ उसके भाई विष्णुवर्धन ने वह पूर्वी चालुक्य राजवंश स्थापित किया जो १०७० ई० तक

पुलकेशिन् द्वितीय

पूर्वी चालुक्य

अर्थात् धुरदक्खिन के चोल साम्राज्य में मिलने के समय तक स्थिर रहा। स्वयं पुलकेशिन् द्वितीय ने धुरदक्खिन के चोल, पाण्ड्य, केरल, और पल्लव राजवंशों से घमासान युद्ध किये, पर धुरदक्खिन को विजय करने में वह सर्वथा असमर्थ रहा। तथापि उत्तर में नर्मदा और दक्खिन में कृष्णा नदी तक सारा देश उसके शासन या आधिपत्य में था। पूरब में बङ्गाल की खाड़ी और पच्छिम में अरबसागर उसके साम्राज्य की सीमा थे। समुद्री राह से पुलकेशिन् द्वितीय ने ईरान से सम्बन्ध स्थापित किये थे। ६२५-२६ ई० में ईरान के शाह खुशरू द्वितीय के दर्बार में पुलकेशिन् के एलची पहुँचे और उसके बाद खुशरू के एलची हिन्दू-सम्राट् के दर्बार में आये। उनके स्वागत का चित्र अजन्ता की गुफा नं० १ में आज तक बना हुआ है।

ईरान से सम्बन्ध

इस प्रकार सातवीं ई०-सदी के पूर्व भाग में हिमालय पर्वत और कृष्णा नदी के बीच का देश वर्धन और चालुक्य नाम के दो विशाल साम्राज्यों में विभाजित था। दोनों की सीमाएँ मिल चुकी थीं और दोनों सम्राट् अपना आधिपत्य जमाने की आकांक्षा में व्यग्र थे। अतएव उन दोनों का संघर्षण अश्वयम्भावी था। ६१६ के लगभग युद्ध छिड़ा। चारों ओर से पैदल, घुड़सवार और हाथी जमा करके और बहुत से अधिन राजा-महाराजाओं को साथ लेकर हर्षवर्धन ने दक्खिन की ओर धावा किया पर पुलकेशिन् ने नर्मदा के तट की ओर के मार्गों की रक्षा ऐसे कौशल से की कि उत्तरी सम्राट् को पीछे हटना पड़ा। प्रत्येक सम्राट् ने समझ लिया कि दूसरे को जीतना असम्भव है। ६२० ई० के लगभग सन्धि हो गई।

हर्षबर्धन और पुलकेशिन्

युद्ध

सन्धि

हर्षवर्धन ने ६४७ ई० तक राज्य किया और हिन्दू-परम्परा के अनुसार हर तरह से प्रजा का हित करने का प्रयत्न किया। वह स्वयं बौद्धधर्म का पक्ष लेता था; उसका झुकाव पहिले तो हीनयान की ओर और फिर बाद में महायान की ओर था। किन्तु वह सब धर्मों के अनुयायियों पर कृपा करता था, सब को दान देता था और किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाता था। जैसे पुलकेशिन् ने ईरान से सम्बन्ध स्थापित किये थे. वैसे ही हर्षवर्धन ने चीन से सम्पर्क पैदा किया। ६४१ ई० में उसने एक

चीन से सम्बन्ध

ब्राह्मणदूत को कुछ और आदमियों के साथ चीन-सम्राट् के दर्बार में भेजा। ये लोग ६४३ ई० में एक चीनी दूत और कुछ अन्य चीनियों के साथ लौटे। चीनी दूत हर्षवर्धन के दर्बार में ६४५ तक रहा। उसके लौटने पर एक दूसरा चीनी दूत तीस घुड़सवारों के साथ ६४६ ई० में फिर हिन्दुस्तान आया। पर इन चीनियों को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। ४१ बरस राज करने के बाद ६६७ ई० में हर्षवर्धन का देहान्त हुआ। उसके किसी पुत्र या स्त्री का उल्लेख न तो बाणभट्ट ने, न युआन-च्वाङ्ग ने और न किसी ताम्रपत्र ने किया है। शायद उसने ब्याह नहीं किया था। कुछ भी हो, वर्धन-वंश का कोई उपयुक्त राजकुमार न होने से हर्ष के मन्त्री अर्जुन या अरुणाश्व ने गद्दी दबा ली। उसने चीनियों को लूट लिया और उनमें से अधिकांश को मार डाला। जो बचे, वह नैपाल की राह से तिब्बत भाग गए। तिब्बत का राजा स्रोङ्गसन गम्-पो चीन-सम्राट् का और नैपाल के राजा का सम्बन्धी था। वह हिन्दूसभ्यता का भक्त था। उसने तिब्बत में बौद्धधर्म फैलाया, और हिन्दू विद्वानों की सहायता से तिब्बती लिपि की रचना की। पर अर्जुन के हत्याकाण्ड पर उसे बड़ा क्रोध आया। उसने १२०० तिब्बती और ७००० नैपाली सिपाहियों की सेना चीनीदूत वङ्गह्यू नूसी की अध्यक्षता में हिन्दूस्तान पर चढ़ाई करने को भेजी। इन लोगों ने तिरहुत जीत कर दीवारों से घिरे हुये ५३८ कस्बों पर अधिकार कर लिया, हजारों हिन्दुओं का वध किया और अर्जुन को क़ैद करके चीन भेज दिया। चीनियों का बदला चुक गया, शायद कुछ दिन तिरहुत में तिब्बती शासन रहा पर विदेशी सेना वापिस लौट गई।

अर्जुन

तिब्बत से हमला

वर्धन साम्राज्य का अन्त

हर्ष के मरते ही वर्धन-साम्राज्य का अन्त हो गया था और उत्तरभारत फिर छोटे-छोटे अनेक राज्यों में बँट गया था। कामरूप का राजा कुमार तुरन्त ही स्वतन्त्र हो गया था। उसने तो उस तिब्बती सेना की सहायता की जो हर्ष के उत्तराधिकारी के ताक में दम कर रही थी। उत्तर-पच्छिम के सब राजा बिल्कुल स्वतन्त्र हो गये। सिन्ध के राजा जो बौद्ध और शूद्र थे, अपनी राह पर चलते रहे। मालवा और सुराष्ट्र में

स्वतन्त्र राजा प्रकट हुए।

उधर दक्खिन में भी बहुत से परिवर्तन हो गये थे। पुलकेशिन् द्वितीय ने अभिषेक के बाद ही धुरदक्खिन से लड़ाई छेड़ दी थी। ६२० ई० में हर्षवर्धन की ओर से एक सन्धि के द्वारा निश्चिन्त हो जाने पर उसने अपनी सारी शक्ति दक्खिन की ओर लगा दी। काञ्ची के पल्लव राजाओं को उसने कई बार हराया पर अन्त में ६४२ ई० में पल्लव-राजा नरसिंहवर्मन् ने उसके दाँत खट्टे कर दिए, उसकी राजधानी छीन ली और शायद स्वयं उसे मार डाला। इस तरह पुलकेशिन् का अन्त होने पर कुछ दिन दक्खिन में पल्लवों का ही दौर-दौरा रहा; पर ६५५ ई० में पुलकेशिन् द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने घटनाचक्र को एक बार फिर पलट दिया। बड़ी नीति और चतुराई से उसने चालुक्यों की टूटी शक्ति को ठीक किया, पल्लवों का सामना किया और ६७४ ई० में पल्लव-राजधानी काञ्ची पर अधिकार करके ३२ बरस पुरानी क्षति का बदला लिया। इसी समय के लगभग चालुक्य-वंश की एक शाखा ने गुजरात में अपना राज्य स्थापित किया। चालुक्यों और पल्लवों की बराबर की लड़ाई थी; वह बहुत बरसों तक जारी रही; कभी इनकी, कभी उनकी जीत रही। इस संग्राम का तत्त्व यह है कि दक्खिन और धुरदक्खिन एक-दूसरे पर अधिकार जमाकर विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य बनाना चाहते थे; बार-बार ऐसा प्रतीत हुआ कि इधर का या उधर का प्रयत्न सफल हो रहा है; पर प्राकृतिक रुकावटें ऐसी विकट थीं कि दोनों प्रदेशों का संयोग बहुत दिन तक सम्भव न था।

पुलकेशिन् का अन्त

पल्लवों की प्रधानता

चालुक्यों का पुनरुत्थान

धुरदक्खिन की राजनीति का इतिहास उत्तर से कम पुराना न रहा होगा। यह तामिल सभ्यता का केन्द्र था जो प्राचीन संसार की बड़ी सभ्यताओं में थी। पर अभाग्यवश यहाँ का प्रामाणिक राजनैतिक इतिहास बहुत पीछे प्रारम्भ होता है। यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि ईस्वी पूर्व ८-७ वीं सदी के लगभग या शायद उससे भी बहुत पहिले आर्य-सभ्यता ने दक्खिन में प्रवेश किया; ब्राह्मण-धर्म फैला, संस्कृत का

धुरदक्खिन

पठन-पाठन प्रारम्भ हुआ। ई० पू० चौथी सदी में जैनधर्म और बौद्धधर्म भी आये। उत्तर की तरह यहाँ भी ये तीनों धर्म हजार बरस तक साथ-साथ प्रचलित रहे। तामीलकम् प्रदेश में तामिल भाषा और साहित्य सदा प्रचलित रहे हैं। सारे दक्खिन में शासन और कला उत्तर से कुछ भिन्न थे। राजनैतिक इतिहास में धुर-दक्खिन का सम्पर्क उत्तर से कई बार हुआ जैसे मौर्य और गुप्तकालों में, और दक्खिन से तो बराबर ही रहा। पर इसके अलावा धुरदक्खिन के राजनैतिक इतिहास का अपना-अलग चक्र है। यहाँ प्राचीन समय में तीन बड़े राज्य स्थापित

तीन बड़े राज्य

हुए थे—चोल, पाण्ड्य और चेर या केरल। चोल राज्य पेनार और दक्खिनी वेलरू नदी के बीच में था। इसके दक्खिन में पाण्ड्य राज्य था जो कन्याकुमारी तक फैला हुआ था और पच्छिम में अर्थात् मलाबार तट पर चेर या केरल राज्य था। इनकी सीमाएँ बदलती रहती थीं। इनके अलावा बहुत से छोटे राज्य थे, संख्या में कोई १२०

छोटे राज्य

थे, जो कभी स्वतन्त्र हो जाते थे और कभी इस बड़े राज्य को और कभी उस बड़े राज्य की अधीनता में रहते थे।

चोल

चोल राज्य का पहिला उल्लेख ई० पू० चौथी सदी के लगभग वैय्याकरण कात्यायन में मिलता है। अशोक के समय में चोल राज्य स्वतन्त्र था। तामिल ग्रन्थों से तथा ग्रीक और रोमन लेखकों से मालूम होता है कि ईस्वी-सन् की पहिली दो सदियों में चोल राज्य के व्यापारी एक ओर तो बङ्गाल की खाड़ी पार करके बङ्गाल और बर्मा के बन्दरगाहों से और महासागर पार करके पूर्वी द्वीपों से व्यापार करते थे और दूसरी केरल के द्वारा मिश्र तक से माल मँगाते थे। कावेरी-नदी के मुहाने पर कावेरिपम्पट्टिनम् कुछ दिन तक मुख्य बन्दरगाह था जहाँ बहुत से देशी और विदेशी व्यापारी रहते थे; पर दूसरी-तीसरी ई० सदी में समुद्र की लहरों ने इसे नष्ट कर दिया। यह नगर राजा करिक्काल ने बसाया था जो चोल-इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। शायद वह ईस्वी-सन् की पहिली या दूसरी सदी में हुआ था। पाण्ड्य और केरल राज्यों से उसने बड़े युद्ध किये यद्यपि वह उनको जीत न सका। दक्खिन की ओर उसने लङ्का पर आक्रमण किया और कई युद्ध जीते। तामिल-कवियों ने लिखा है कि

करिक्काल लङ्का से हजारों आदमियों को क़ैद करके लाया और उनसे कावेरी नदी पर सौ मील का बाँध बनवाया। तीसरी ई० सदी के लगभग चोल-वंश का प्रभाव कुछ समय के लिये कम हो गया और केरल राज्य का दौरदौरा शुरू हुआ।

केरल

केरल राज्य का उल्लेख भी अशोक के शिलालेखों में आया है। यह भी सिद्ध है कि ईस्वी-सन् के प्रारम्भ में यह प्रदेश अरब, मिश्र और रोमन साम्राज्य से समुद्री व्यापार करता था। तीसरी बात यह भी मालूम है कि चोल और पाण्ड्य राज्यों से केरल के युद्ध हुआ करते थे। पर इसके सिवाय बारहवीं ई० सदी के पहिले केरल इतिहास की बहुत कम बातें मालूम हैं।

पाण्ड्य

पाण्ड्य राज्य भी बहुत पुराना था। ई० पू० चौथी सदी के लगभग कात्यायन ने इसका उल्लेख किया था और ग्रीक-राजदूत मेगस्थनीज़ ने वर्णन किया था। ग्रीक-वर्णन की दन्तकथाओं से यह भी अनुमान होता है कि पाण्ड्य राजाओं के पास हाथी-घोड़े और पैदलों की बड़ी भारी सेना थी और सिंहासन पर स्त्रियाँ भी बैठी थीं। ई० पू २० में पाण्ड्य राजा ने रोमन-सम्राट् आगस्टस के पास एक दूत भेजा था। दूसरी ई० सदी में रोमन लेखकों ने पाण्ड्य राज्य के बन्दरगाहों का वर्णन किया है। यहाँ से भी दूर-दूर के देशों के साथ व्यापार होता था। इसी शताब्दी में नेदुमचेलियन नामक प्रतापी राजा हुआ। राजधानी मदुरा या मजूरा नगर में थी जो धर्म और साहित्य का केन्द्र था। यहाँ पर तामिलशंगम् था जिसने तामिल में बड़े-बड़े ग्रन्थ निकाले और साहित्य का आदर्श बहुत ऊँचा रक्खा। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पाण्ड्य राजा केरल और चोल राज्यों से बराबर लड़ाई किया करते थे।

पल्लव

चौथी ई० सदी के लगभग धुरदक्खिन में एक नयी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। चोल साम्राज्य के अधीन एक राजा ने, जो काञ्ची में राज्य करता था, पल्लव-वंश को बढ़ाया। थोड़े ही दिन में पल्लव-राजा स्वतन्त्र हो गये और अनेक प्रदेशों के अधिकारी हो गये। सातवीं-सदी में पल्लवों का प्रभाव खूब बढ़ा और उन्होंने चालुक्य-साम्राज्य से बराबरी का

संग्राम किया। सातवीं ई० सदी तक राजनैतिक इतिहास का यह क्रम रहा। दक्खिनी राज्यों की शासन व्यवस्था का पता आगामी काल के लेखकों से लगता है और इसलिये उसका वर्णन आगामी अध्याय में किया जायगा।[1] यहाँ पर अब सातवीं सदी के उत्तरी शासन का और देश की साधारण सभ्यता का दिग्दर्शन करना है।

शासन

वर्धन-साम्राज्य का शासन उन्हीं सिद्धान्तों पर स्थिर था जो गुप्त-साम्राज्य के थे। ताम्रपत्रों से, चीनी यात्री युआनच्वाङ्ग (६३०-४५ ई०) के यात्रावर्णन से और बाणभट्ट के 'हर्षचरित' एवं उपन्यास कादम्बरी से राजप्रबन्ध की बहुत-सी बातों का पता लगता है। सातवीं सदी में जमीन्दारी-संघ शासन-प्रथा और भी गहरी हो गई है। महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक के चारों ओर बहुतेरे महाराजे, महासामन्त इत्यादि हैं और इनमें से बहुतों के चारों ओर अधीन राजा और सामन्त हैं। छोटे-छोटे राजा और सामन्त सैकड़ों क्या हजारों नजर आते हैं। यह लोग घरेलू मामलों में बहुधा स्वतन्त्र थे पर अपने प्रभुओं के दरबार में जाते थे, उनकी सैनिक सहायता करते थे, उनका सम्मान करते थे, उनसे पदवी पाते थे। महाराजाधिराज हर्षवर्धन के सबसे बड़े अधीन राजा-महाराजा १८ थे जिनमें कामरूप का राजा सबसे बड़ा था।

वर्धन-साम्राज्य

संघ-शासन

---

[1] सातवीं ईस्वी सदी के राजनैतिक इतिहास के लिये देखिये, बाणभट्ट, हर्षचरित, युआनच्वाङ्ग, बील, 'सीयूकी' और वाटर्स का अनुवाद; युआनच्वाङ्ग का आत्मचरित, कल्हण, 'राजतरङ्गिणी'॥ शिलालेख और ताम्रपत्रों के लिये फ्लीट, 'कोर्पस इन्स्क्रप्शनम्', इण्डिकेरम्, भाग ३, 'एपिग्राफ़िया इण्डिका' आई० ए०॥ सुसम्बद्ध इतिहास विंसेण्ट ए० स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया' में है। रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर-कृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ दी दक्खिन' भी देखिये। राधाकुमुद मुकर्जी का 'हर्ष' भी देखिये।

हर्ष ने भी दिग्विजय की थी पर राजाओं की जड़ नहीं उखाड़ी थी।[१] इस समय बहुत से अक्षत्रिय राजा थे। स्वयं हर्षवर्धन को युआनच्वाङ्ग ने एक जगह वैश्य और दूसरी जगह वैश्य-राजपूत कहा है। कामरूप के राजा बहुत पीढ़ियों से ब्राह्मण जाति के थे। पार्यात्र (वैरात) का राजा वैश्य और सिन्ध का शूद्र था।[२]

सम्राट् अपनी विधवा बहिन राज्यश्री के सहयोग से शासन करता था जिससे प्रकट है कि उन दिनों कम-से-कम कुछ स्त्रियाँ बहुत पढ़ी लिखी और होशियार हुआ करती थीं। हर्षवर्द्धन अक्सर दौरा किया करता था और दिन-रात प्रजा की सेवा में लगा रहता था। यों तो बड़ी शान-शौक़त से रहता था पर हर पाँचवें बरस प्रयाग में मोक्ष-परिषद् पर सब कुछ दान में लुटा देता था। बौद्ध होने पर भी ब्राह्मण और दूसरे धर्म वालों की बहुत मदद करता था। हाँ, बौद्धों को दान ज्यादा मिलता था जिससे नाराज होकर एक बार ब्राह्मणों ने उसे मार डालने का षड्यन्त्र रचा। युआनच्वाङ्ग कहता है कि और बहुत से हिन्दू शासक भी साधु, विद्वान्, अनाथ, विधवा, और गरीब आदमियों को बहुत दान दिया करते थे और कोई-कोई तो हर्ष की तरह मोक्ष-परिषद् भी किया करते थे। हर्ष की आमदनी का कोई आधा हिस्सा विद्या और धर्म के कामों में खर्च होता था। इस समय हिन्दुस्तान में राज्य की सहायता से बड़े-बड़े विद्यापीठ चलते थे। नालन्द के सङ्घाराम को १०० गाँवों का कर मिलता था। इसकी ऊँची बुर्जें पहाड़ी-सी

सम्राट्

परोपकार

विद्यापीठ

---

[१] फ्लीट न० ५२ ॥ ई० आई० ७, नं० २२ ॥ १ नं० २ ॥ युआनच्वाङ्ग (वाटर्स) १ । पृ० १४०-४१; १२३, ३४९-५०, २६६ ॥ २ । २४५-४७ ॥ युआनच्वाङ्ग (जीवनचरित्र, बील) पृ० १८१, १८५-६, १८९-९० ॥ बील सि-यू-की, १ । पृ० १४३-४७ ॥ २ । २६६, २६८ ॥ बाणभट्ट, 'हर्षचरित' पृ० १५४-५८, १७०, १८८, २१८, २३१, २४०, २५६, ६८, ७८, १९०-९१, १९३, १९६ । [२] पूर्ववत् ।

मालूम होती थीं और आसमान से बातें करती थीं। हिन्दुस्तान भर से आकर यहाँ १५१० अध्यापक और १०,००० विद्यार्थी जमा थे। जिनके लिये रहने, खाने-पीने, दवा इत्यादि का पूरा प्रबन्ध था। सङ्घाराम का प्रधान शीलभद्र सर्वज्ञ-सा था और बहुत से अन्य अध्यापकों ने विद्या के दस-दस अङ्गों पर प्रभुता पाई थी। युआनच्वाङ्ग से जाहिर है कि इस तरह के छोटे-छोटे विद्यापीठ देश में बहुत से थे। हर्षचरित में बाणभट्ट ने भी इनका उल्लेख किया है। विद्या की उन्नति का एक और उपाय इस समय प्रचलित था। राजा-महाराजा विद्वानों की सभाएँ करते थे, शास्त्रार्थ कराते थे और इनाम देते थे। कन्नौज में हर्षवर्धन ने एक बड़ी सभा की थी, जिसमें दूर-दूर से ३००० महायान और हीनयान बौद्ध, नालन्द के १००० बौद्ध विद्वान् और ३००० ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ मौजूद थे। कभी-कभी स्त्रियाँ भी इन विशाल सभाओं में शास्त्रार्थ करती थीं। एक बार माधव नामक विद्वान् की अकस्मात् मौत के बाद उसकी विधवा पत्नी ने उसका स्थान तुरन्त ग्रहण किया और खूब शास्त्रार्थ किया। कभी-कभी इन सभाओं में मनमुटाव बढ़ जाता था; एक बार युआनच्वाङ्ग का जीवन खतरे में आ गया। पर इन सभाओं से विद्या की उन्नति अवश्य होती थी। ७ वीं ई०-सदी के अन्त में चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने लिखा है कि बहुत से युवक विद्वानों को राजा की नौकरी मिल जाती थी। इससे भी विद्या-व्यसन बढ़ता था। कहते हैं कि स्वयं हर्ष ने तीन नाटक लिखे,—नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका। बाणभट्ट ने लिखा है कि हर्ष के दरबार में भी बौद्ध, ब्राह्मण, जैन, आर्हत, पाशुपत तथा पराशर इत्यादि पन्थों के विद्वान् रहते थे। इस समय बङ्गाल के राजा शशाङ्क ने बौद्ध पर अत्याचार किया, गया में बोधि वृक्ष को कटा दिया पर साधारणतः देश में पूरी सहनशीलता थी। शासन-पद्धति लगभग वैसी ही थी जैसी गुप्त-साम्राज्य में देख चुके हैं। वैसे ही अधिकारी थे, वैसे ही करते थे और न्याय भी वैसा ही था। युआनच्वाङ्ग ने पानी, गर्म लोहा और विष की परीक्षाओं का

नालन्द

शास्त्रार्थ

सहनशीलता

विस्तार से वर्णन किया है।[1] हर्ष ने सारे राज्य में हिंसा और मांस-भक्षण की मनाही कर दी थी; गङ्गा के किनारे कई हजार स्तूप बनवाये थे, बौद्ध-तीर्थों पर सङ्घाराम बनवाये थे। रास्तों पर राज्य की ओर से सरायें थीं और अस्पताल थे जहाँ खाना-पीना, दवा—सब मुफ्त मिलती थी। युआनच्वाङ्ग कहता है कि कर हल्के थे। दूसरों पर अत्याचार के अपराध में नाक, कान, हाथ या पैर काट लिया जाता था या अपराधी देश से निकाल दिया जाता था या जङ्गल में भगा दिया जाता था। जेलखानों की हालत बड़ी खराब थी; कैदी योंही जीने-मरने के लिये छोड़ दिये जाते थे। साधारण अपराधों के लिये जुर्माना किया जाता था। देश की रक्षा के लिये हर्ष के पास १,००,००० घुड़सवार, ६०,००० हाथी, और ५०,००० से ज़्यादा पैदल थे। घोड़े सिन्ध, अफ़गानिस्तान या फ़ारस से लाये जाते थे। नगरों के चारों ओर अक्सर दीवाल होती थी।[1] व्यवसायियों की श्रेणियाँ इस समय और भी बढ़ गई थीं। कुमारी राज्यश्री के ब्याह पर बढ़ई, चित्रकार इत्यादि की श्रेणियाँ सामान ठीक करने को बुलाई गई थीं। शिलालेखों और ताम्रपत्रों में श्रेणियों के मन्दिर इत्यादि बनवाने का जिक्र है। याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति ने श्रेणियों के लिये बहुत से नियम बनाये हैं जिनसे मालूम होता है कि प्रत्येक श्रेणी में विचार

न्याय

रक्षा

श्रेणी

---

[1] फ्लीट न० १२ ॥ हर्षचरित्र, ८५, १००, १०३, २२७, २३७, ८०, ८३, १७७, ७८, १४२, १८१, २२०, ७०, ६८, ९८, १६१, १७१, १७८, २००, १८६, १५१, १५४, १६६, ८७-९०, २३०, २४३, २८६ ॥ आई० ए० ४ न० २९ ॥ १ न० ११, १३ ॥ १५ न० १९ ॥ ८। न० २० ॥ आई० ए० २६ पृ० ३२ ॥ युआनच्वाङ्ग (वाटर्स) १। पृ० १२२-२३, १५४, १७१-२, १७६, १९१ ॥ २। ३४४, १६४-६५ ॥ बील, सि-यू-की १। २१८, २१०-१५ २२० २१, २३३, २२, ८३, ८७-८८ ॥ २। १७०-७१ युआनच्वाङ्ग, जीवनचरित्र (बील) १९०-९१, १७०-७१, १८७, ११०-१२ ॥ इत्सिङ्ग (अनु० टकाकुसू) पृ० १७७-७८ ॥

के लिये सदस्यों की एक सभा होती थी, साधारणतः श्रेणी के लोग जैसा चाहते, अपना प्रबन्ध करते रहते थे, पर झगड़ा फ़साद होने पर सरकार हस्तक्षेप करके मामले ठीक कर देती थी। प्रत्येक श्रेणी में बहुत से नवसेवक या उम्मेदवार रहते थे जो काम सीखने पर पूरे सदस्य होते थे। आर्थिक मामलों के अलावा कुछ सामाजिक सेवा भी श्रेणियाँ करती थीं और अक्सर आपस के छोटे-छोटे झगड़े तै कर दिया करती थी।[1]

दक्खिन

दक्खिन के ताम्रपत्रों में भी इस समय वैसा ही शासन-पद्धति नज़र आती है जैसी उत्तर में थी। पर कहीं-कहीं सम्राट् महाराजाधिराज परमेश्वर परम भट्टारक की उपाधि नहीं रखता था और कहीं-कहीं महासामन्त एक नई उपाधि पञ्चमहाशब्द रखते थे जिसका अर्थ यह मालूम पड़ता है कि वह पाँच खास बाजे बजाने के अधिकारी थे।[2] बाणभट्ट के कादम्बरी उपन्यास से ऊपर की राजनैतिक बातों का समर्थन होता है।

साधारण-जीवन

सामाजिक व्यवस्था

इस काल की ऐतिहासिक सामग्री से जान पड़ता है कि कम से कम कुछ वर्गों में अब भी युवक-युवतियों को प्रेम और गन्धर्व-व्याह के अवसर थे। युवक, युवतियों को प्रसन्न करने की बड़ी चेष्टाएँ करते थे। दोनों एक-दूसरे के पास तुहफे भेजते थे। इस वर्ग की स्त्रियाँ अनेक ब्याह-प्रथा को स्त्री-जाति का अपमान और सबसे बड़ा दुख समझती थीं। एक बार चन्द्रापीड़, कादम्बरी से कहता है कि अगर पति दूसरा ब्याह करे तो स्त्री उसे एकदम त्याग दे; अगर न त्यागे तो स्त्री पर लानत है। इस उपन्यास से मालूम होता है कि सुख, भोगविलास, ऐश्वर्य की सामग्री बड़े घरानों में अपरम्पार

---

[1] हर्षचरित्र १५८ ॥ ई० आई० ६ न० २५ ॥ याज्ञ० २। १८६-९२ ॥ नारद १०। २-६ ॥ ५। १६-२१ ॥ बृह० १। २८, ३० ॥ १७। ५-२१ ॥

[2] ई० आई० ६। न० २९, १ ॥ ५। न० ५, २ ॥ १४। न० ८ ॥ ३। न० ८ ॥ ६ न० ५३ ॥ २। न० ४ ॥ ८। नं० २२, २४ ॥ ११। न० १७ ॥ 'एपिग्राफ़िया कर्नाटिका' ८ पृ०. १६८। आई० ए० १८ पृ० २६५ ॥ १२। पृ० ९५ ॥

थी। कादम्बरी में चण्डाल-कन्या बिना रोक-टोक के राजा के पास जाती है, कथा सुनाती है और यह भी कहती है कि आवश्यकता पड़ने पर ऊँचे वर्ण वाले चण्डालों से भोजन और पानी ले सकते हैं। बहुत से स्थानों में ब्रह्मा, विष्णु, और शिव की पूजा होती थी, श्राद्ध और यज्ञों के नियम पढ़ाये जाते थे। बहुत से नङ्गे और परिव्राजक साधु भी थे। कभी-कभी साधुओं का गृहस्थ-कन्याओं से प्रेम हो जाता था। सुबन्धु के वासवदत्ता से भी यही नतीजे निकलते हैं। यहाँ प्रेमियों के बीच में दूतियाँ दौड़ती हैं। इधर-उधर वेश्याएँ भी हैं जो दरबारों में आती-जाती हैं। नागानन्द से मालूम होता है कि रानियों की दासियों पर भी कभी-कभी राजा मुग्ध हो जाते थे। राजकुमारियों को पढ़ना, गाना-बजाना इत्यादि सब कुछ सिखाया जाता था।

धर्म

बाणभट्ट के हर्षचरित से मालूम होता है कि साधारण-गृहस्थ भी बहुत से यज्ञ करते थे और शिव इत्यादि देवों की पूजा करते थे। जैन, आर्हत, पाशुपात, पाराशर्य, ब्राह्मण, बौद्ध इत्यादि बहुत तरह के साधु होते थे। यात्रा के पहिले स्त्रियाँ बहुत से नेग करती थीं। कुछ लोग नौकरी को बुरा समझते थे पर राजदरबारियों का मान सब जगह होता था। जहाँ कोई विद्वान् थे वहाँ देहात में भी व्याकरण, मीमांसा, न्याय इत्यादि की खूब पढ़ाई और बहस होती थी। शहरों में उत्सवों पर जैसे राजकुमारों के जन्म पर, राजकुमारियों के ब्याह पर, बहुत प्रमोद होता था, स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े गरीब-अमीर, सब नाचते-गाते थे।[1] रत्नावली नाटक से मालूम होता है कि होली खूब मनाई जाती थी; लाल अशोक पीछे कामदेव की पूजा होती थी। नाट्यमञ्च पर स्त्रियाँ भी

नौकरी

विद्या

उत्सव

---

[1] बाणभट्ट, हर्षचरित, (कावेल और टामस), १४, ४६, ५८-५६, ६२, ६७, ६२, १०२, १०७, १११-१३, ११७, १३६, १४२-४४, १४७, १५७, १६३, २८६॥[2] युआनच्वाङ्, वाटर्स, २। पृ० २४२॥

आती थीं। भवभूति के मालतीमाधव और उत्तररामचरित में पति-पत्नी के अटूट, घनिष्ट और आध्यात्मिक सम्बन्ध का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। दूसरे देशों से व्यापार खूब होता था। युआनच्वाङ्ग लिखता है कि अकेले वलभीनगर में कोई सौ घर थे जो एक-एक करोड़ की दौलत रखते थे। दूर-दूर के देशों से कीमती जवाहिरात यहाँ जमा थे।

होली

व्यापार

इस समय विद्या और शास्त्र में मालवा और मगध सब प्रान्तों से बढ़कर थे। चीनी यात्रियों के यहाँ बौद्धों और दूसरे लोगों में खूब शास्त्रार्थ होते थे पर सब जगह सहिष्णुता थी।[२] नगरों के चारों ओर ऊँची और मोटी दीवालें थीं पर अन्दर गलियाँ तङ्ग और टेढ़ी थीं। कसाई, मछुए, नट, जल्लाद और मेहतर, शहर के बाहर रहते थे और बस्ती में चुपके-चुपके बाईं ओर चलते थे। मकानों के अन्दर बीच में एक बड़ा कमरा होता था और छोटे-छोटे कमरे होते थे। बड़े आदमी अपनी कुर्सी वग़ैरह खूब सजाते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय सफ़ाई और सादगी से रहते थे। खासकर ब्राह्मण, स्नान इत्यादि का बहुत ख्याल करते थे। वैश्य लोग व्यापार करते थे और शूद्र खेती। इनके अलावा बहुत सी मिश्रित जातियाँ थीं जो हर तरह के व्यवसाय करती थीं। ऊँचे वर्गों में बालकों की शिक्षा बहुत जल्दी शुरू होती थी। पहिले धर्म की कुछ पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। फिर सात बरस की अवस्था होने पर व्याकरण, शिल्प, ज्योतिष्, आयुर्वेद, न्याय और अध्यात्म-विद्या पढ़ाई जाती थी। ब्राह्मण चारों वेद भी पढ़ते थे। तीस बरस की उम्र पर अध्ययन पूरा करके युवक अपना व्यवसाय शुरू करता था और सबसे पहिले गुरुओं को दक्षिणा देता था। बहुत से परिव्राजक गुरु थे।

वर्णन

नगर

मकान

शिक्षा

हिन्दुस्तानियों के बारे में युआन ने यह राय क़ायम की कि इनका चाल-चलन पवित्र है, यह ईमानदार हैं पर बड़े जल्दबाज हैं और इरादे के कच्चे हैं। युआन कहता है कि ग़रीब और अमीर एक-दूसरे से शादी नहीं करते, स्त्रियाँ दुबारा ब्याह नहीं करतीं।

चरित्र

घर के बरतन ज्यादातर मिट्टी के होते थे, पीतल के कम। काश्मीर के लोग जादू-टोना बहुत करते थे।[1] एक दूसरा चीनीयात्री इत्सिङ्ग कहता है कि ब्राह्मण हाथ-पैर धोकर छोटी-छोटी चौकियों पर बैठकर भोजन करते थे। छात्र लोग नौकरों की तरह गुरुओं की सेवा करते थे और हर छोटी-बड़ी बात के लिए उनकी इजाजत लेते थे। खाने या व्याख्यान के कमरों में बड़े-बड़े गद्दे नहीं होते थे; लकड़ी की ही मेज कुर्सी थीं।[2]

भोजन

युआनच्वाङ्ग ने इस समय बौद्ध-भिक्खुओं के अलावा और बहुत तरह के साधु-संन्यासी देखे थे जो मोरपङ्ख पहिनते थे, या खोपड़ियों की माला डालते थे, या घास या नङ्गे रहते थे, या केशनोच करते थे या बालों की चुटिया बनाते थे। वस्त्रधारियों के कपड़े तरह-तरह के रङ्ग के होते थे। बौद्ध-श्रमणों के कपड़े पन्थों के अनुसार तीन रङ्ग के होते थे। श्रमणों की प्रत्येक मण्डली छोटे-बड़े के नियम अपने आप बनाती थी जो एक शास्त्र की व्याख्या करता था, वह मुखिया की सेवा करने से मुक्त कर दिया जाता था; जो तीन शास्त्रों की व्याख्या करता था उसकी सहायता के लिये बौद्धभिक्खु नियत किये जाते थे; जो चार की व्याख्या करता था उसे बौद्ध-गृहस्थ सेवा के लिये मिलते थे; जो पाँच की व्याख्या करता था वह हाथी की सवारी करता था; जो छः की व्याख्या करता था वह जलूस के साथ हाथी की सवारी करता था। जो इससे बढ़कर था, उसे और भी अधिक प्रतिष्ठा मिलती थी। शास्त्रार्थों में जो भिक्खु सबसे अच्छे साबित होते थे, वह हाथियों पर बड़े जलूसों के साथ निकाले जाते थे। जो बिल्कुल निकम्मे और पाखण्डी सिद्ध होते थे, उनके चेहरे लाल और सफ़ेद मिट्टी से पोते जाते थे, उनके शरीर धूल से भर दिए जाते थे और वह जङ्गल या खाई में फेंक दिये जाते थे। जो विनय (शास्त्र) के विरुद्ध भिन्न-भिन्न अपराधों के दोषी ठहरते थे, वह भिक्खु डाँटे जाते थे, या बोलचाल बन्द कर दी जाती थी या बिल्कुल

साधु-संन्यासी

श्रमण

---

[1] युआनच्वाङ्ग, वाटर्स, १। पृ० १४७, १५१, १५४-५५, १५६-६०, १६८, १७१, १७५, २२५॥ [2] इत्सिङ्ग (अनु० टकाकुसू), पृ० २२, ११६, १२३-२४॥

उनका बहिष्कार कर दिया जाता था। बहिष्कार के बाद भिक्खु या तो क्लेश से आवारा घूमता था या फिर संसार में प्रवेश करता था। भिक्खुओं के सङ्घ बहुत-से थे और सारे देश में फैले हुए थे[1]।

साहित्य

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में सातवीं ईस्वी-सदी में पूर्वकाल की प्रवृत्तियाँ जारी हैं। कालिदास की-सी प्रतिभा का कोई कवि नहीं हुआ पर बहुत से ग्रन्थ लिखे गये जो संस्कृत-साहित्य में ऊँचा स्थान रखते हैं।

भट्ट इत्यादि

सातवीं सदी के लगभग भट्टि ने रावण-बध या भट्टिकाव्य में राम की कथा ऐसी भाषा में कही है कि व्याकरण के सब मुख्य नियमों के ब्यौरेबार उदाहरण आ गये हैं। कुमारदास ने जानकी-हरण में रामकथा विशुद्ध काव्य की शैली से वर्णन की है। सातवीं सदी के लगभग

माघ

माघ ने शिशुपालवध में कृष्ण के हाथों से फुफेरे भाई चेदि राजा के मारे जाने की कथा भारवि की शैली के अनुसार, अर्थात्, महाकाव्य के ढङ्ग पर कही है। दूसरे सर्ग में अधिवेशन में कृष्ण से हलधर कहते हैं :—

राजहि उचित नाहिं सन्तोषा। नृपन माँहि लानत तेहि दोषा॥
सदा बारिनिधि पूरन रहई। वृद्धि हेत पूरन ससि चहई॥
थोरेहि धन जो रहे अघाना। तेहि नहिं देत और भगवाना॥
जब लगि होइ न रिपु कर नासा। रहे न सुचित होन की आसा॥
मग धूरहि जब कीच जनावत। तब जल लखहु और मग धावत॥
एकहु रिपु जाके जग रहई। सो संकित रहि सुख नहिं लहई॥
जब सन भीम मगध नृप मारा। रहै दुखी अति शत्रु तुम्हारा॥
[illegible] पर करब चढ़ाई। यदपि उचित अति नीति बताई॥

---

[1] युआनच्वाङ्, वाटर्स १ पृ० १४४, १४८-४९, १६२, २०२-२०३, २१४-१५, २१८॥ २। ११, १६१॥

झिझकत करत काज सोइ सूरा। ग्रहै राहु ज्यों हिम कर पूरा॥
यह विचारि शङ्का जनि करहू। निगम नीति निज चित महँ धरहू॥...
यहि विधि हली बचन जब कहे। चकित चित्र से सुर जनु रहे॥
सभा भीति सुनि गूंज सुनाई। अनुमोदन जनु कीन्ह डेराई॥
हरि सोइ सुनि कछु उतर न दीन्हा। उद्धव ओर सैन तब कीन्हा॥
अर्थ युक्त हित बचन गम्भीरा। लगे कहन तब उद्धव धीरा॥...
"जानत शास्त्र भेद तुम ताता। तुम सन कहब नीति की बाता॥
ज्ञान दिखावन हित जनि जानहु। पाठ गुनन सब मम बच जानहु॥
श्रिय राखन चाहत अनुकूला। है द्वय तासु सिद्ध के मूला॥
मन्त्र शक्ति इक, इक उत्साहा। धरै सो दोउ निज मह नरनाहा॥
राखै युक्ति सहित जो दृढ़ मति। लहै न खेद परेहु संकट अति॥...
बारह नृप आदित्य समाना। तिन महँ जय ज्यों चहत सुजाना॥
उत्साही इक ज्यौं दिन नायक। रहिहै उदय होन के लायक॥[1]"

काव्यों के अलावा बहुत से स्वतन्त्र श्लोक भी लिखे गये जिनमें से प्रत्येक में नीति, शृङ्गार या वैराग्य की कोई बात है। सातवीं ई०-सदी के लगभग भर्तृहरि ने नीति, शृङ्गार और वैराग्य पर एक-एक शतक लिखा। इनकी शैली कुछ दृष्टान्तों से प्रकट होगी:—

शतक
भर्तृहरि

निकसत । वारू तेल, जतन कर काढ़त कोऊ।
मृगतृष्णा कौ नीर, पिये प्यासौ है सोऊ॥
लहत शशा को शृङ्ग, ग्राह मुखतें मणि काढ़त।
होत जलधि के पार, लहर बाकी जब बाढ़त॥
रिस भरे सर्प को पुहुप ज्यों, अपने सिर पै धर सकत।
हठभरे महासठ नरन को, केऊ बस नहिं कर सकत॥४॥५॥

[1]ला० सीताराम के अप्रकाशित अनुवाद से

जब हों समझों नेक तबहि सर्वज्ञ भयो हौ।
जैसे गज मदमत्त अन्धता छाय गयो हौ ॥
जब सतसंगति पाय कछुक हों समझन लाग्यौ।
तदपि भयो अति गूढ़ गर्वगण को सब भाग्यौ ॥
ज्वर चढ़त-चढ़त अति ताप ज्यों उतरत सीतल होत तन।
त्यों ही मन को मद उतरिगौ लियो शील सन्तोष पन ॥८ ॥
मांगे नाहिं जो दुष्ट सों लेत मित्र कौं नाहिं।
प्रीति निबाहत विपद में न्याय वृत्ति मन माहिं ॥
न्यायवृत्ति मन माहि उच्च पद प्यारो जिनको।
प्राणन हूँ के जात अकृत नहि भावत तिनको ॥
खड्गधारव्रत धार रहै के हूँ नहि त्यागें।
सन्तन कौ यह मन्त्र दियों कौने बिन माँगे ॥ २८ ॥
सत पुरुषन की रीति, सम्पत् में कोमलहि मन।
दुखहू में यह नीति, बज्र समानहि होत तन ॥ ६६ ॥
पुत्र चरित तिय हिय करन, सुख दुख मित्र समान।
मनरुञ्जन तीनो मिलें, पूरब पुण्यहि जान ॥ ६८ ॥
भूमि शयन कहुँ पलंग पै, शाकाहार कहुँ मिष्ट।
कहूँ कन्था सिर पाव कहुँ, अर्थी कहुँ सुख इष्ट[1] ॥ ८२ ॥

नाट्य-शास्त्र हिन्दुओं की रीति थी कि संसार में जो कुछ हो, उनके नियम बना देते थे। जैसे धर्म, आचार, अर्थ, काम के नियम बना दिये थे वैसे ही काव्यों और नाटकों का प्रचार बढ़ने पर इनके भी नियम बना दिये—वैसे ही व्योरेबार, हर चीज के बारे में। ईसवी चौथी-सदी के लगभग वह नाट्यशास्त्र बना जिसके रचयिता भरत माने जाते हैं और जिसमें नाटक-गृह, मञ्च, पर्दे, पात्र, वस्त्र, आभूषण, कविता, भाव, रस, गाना तथा नाच आदि पर बहस की है। आगे चल कर दसवीं ईसवी सदी में

---

[1]अनु० - बाबू हरिदास वैद्य।

ानञ्जय ने दशरूप में इस शास्त्र की पूरी व्यवस्था कर दी। यहाँ नाटक से सम्बन्ध
खने वाली हर एक बात पर कड़े नियम बनाये हैं, जिनसे साधारण-लेखकों को
ूरूर बहुत मदद मिली होगी पर जिनकी कड़ाई ने प्रतिभा का विकास, जो
वतन्त्रता पर निर्भर है, बहुत कुछ रोक दिया। नाट्यशाला के और बहुतेरे लेखकों
ो भरत और धनञ्जय का अनुकरण किया है।

कालिदास के बाद चन्द्र या चन्द्रक नाटककार हुआ पर उसके समय और रचना का ठीक-ठीक पता नहीं है। ७-८ वीं सदी में भवभूति ने मालतीमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित लिखे। पहिले नाटक में पेचीदी प्रेमकथा है। महावीरचरित में राम की कथा व्याह के समय से रावण-बध के बाद अयोध्या में अभिषेक तक है। उत्तररामचरित में सीता के निर्वासन की कथा बड़ी करुणा से कही गयी है। चरित्र-चित्रण में ही नहीं, प्रकृति के वर्णन में भी भवभूति ने बड़ा चमत्कार दिखाया है। पर बहुत से श्लोक बड़े विकृष्ट हैं, समास बहुत लम्बे हैं, नाटक मञ्च की अपेक्षा पाठशाला के अधिक योग्य हैं। लङ्का से लौट कर राज्याभिषेक के बाद दुर्मुख-नामक दूत से प्रजा में प्रचलित अपवाद को जानकर राम अपनी बाँह पर सिर रक्खे सोती हुई गर्भवती सीता को वन में त्यागने का इरादा करते हैं। पर तो भी कहते हैं:—

नाटक

भवभूति

उत्तररामचरित

सीता का त्याग

हाय हाय, मैं भी कैसा कठोर हो गया। हाय, मेरी इस चाल को लोग बुरा कहेंगे।

बालपने सन पोषी प्यारी। जानी कबहुँ न हिय सों न्यारी॥
मैना सम तेहि बिन अपराधा। सौंपत मृत्यु हाथ जिमि व्याधा॥

हाय, मैं पापी अब रानी को क्यों छूऊँ (सीता का सिर उठा के अपना हाथ खींच के)—

ए भोरी मोहिं छांड़ि दे मैं पापी चण्डार।
चन्दन के धोखे लसी तू विषतरु की डार॥

(उठकर) हाय ! संसार उलट गया, हाय ! आज मेरे जाने का कुछ काम न रहा, हाय ! संसार सूना, उजाड़ जङ्गल-सा हो गया । मैं तो समझता हूँ कि—

मिली चेतना राम को दुख भोगन के काज ।
बज्र कील सन जनु जड़े निसरत प्रान न आज ॥

हाय ! माता ! अरुन्धती ! हाय ! महात्मा बसिष्ठ ! विश्वामित्र ! हाय ! अग्निदेवता ! हाय धरती-देवी ! हाय ! जनकजी ! हाय पिता ! हाय माता ! हाय प्यारे मित्र महाराज सुग्रीव ! हाय हनुमानजी ! हाय ! परम उपकार करने वाले लङ्का के राजा विभीषण ! हाय सखी त्रिजटा ! आज राम पापी ने तुम सब का अनादर किया, आज सब को राम ने धोखा दिया ! हाय ! मैं उनका अब कैसे नाम लूँ ।

ते साजन गुनधाम, उन कहँ लगि है दोष जो ।
तिन सब के सुभ नाम, मैं कृतघ्न पापी लिये ॥

हा बेचारी इन्हें इसका कभी ध्यान भी न होगा ।

सोई बाँह सीस निज धारो । शोभा निज घर की प्रिय नारी ॥
बाढ़ो गर्भ होत दिन पूरा । देहुँ पशुन तेहि बलि मैं क्रूरा ॥

(रोता है)

बन में त्यागी हुई सीता को ऋषि वाल्मीकि ने अपने आश्रम में शरण दी । यहाँ पर, नाटक के चौथे अङ्क में जनक जी आते हैं ।

जनक—पीर हाय मम सीय पर, ऐसी बिपति गंभीर ।
बेध्यो सोइ मेरो हियो, दूखत सकल शरीर ॥
भे दिन बहु तउ नव सरिस, बहत मनहु जलधार ।
खैंचत सो प्रानहिं तऊ, घटै न सोक अपार ॥

हाय, हाय ! बुढ़ापा आ गया, ऐसी गाढ़ी विपत्ति पड़ी, पराक सान्तपन आदि तप करने से शरीर का लोहू सूख गया, अब भी मुझको मौत नहीं आती । ऋषि लोग तो कहते हैं कि जो लोग आत्महिंसा करते हैं वह घोर अन्धेरे नरक में

पड़ते हैं। बरसों हो गये तो भी हर घड़ी सोचने से मेरा दुःख और भी बढ़ता हुआ नया ही देख पड़ता है। हाय सीता देवी! तुम्हारा जन्म यज्ञभूमि से हुआ तो भी तुम्हारा ऐसा परिणाम हुआ कि लाज के मारे मैं रो भी नहीं सकता। हाय बेटी!

रोवत हँसत बालचन्द तोरे। दांत लखात कली सम थोरे।
कहत मनोहरि तोतरि बाता। सुमिरिहु आज बदन जल जाता॥

भगवती धरती महारानी तुम बड़ी कठोर हो।

उधर राम के यज्ञ के घोड़े को सीता के पुत्र लव और कुश ने पकड़ लिया और राम की सेना से लड़ाई छेड़ दी। लव ने बहुत से सिपाही मार डाले। मा रचन्द्रकेतु सुमन्त से कहता है:—

गिरि कुञ्जन में नागयूथ जो सोर मचावत।
तिनहू के यह शब्द कान में पीर उठावत॥
उपजत धुनि गम्भीर बीर दुन्दुभ। बजावत।
मिलि धनु के टङ्कार गूँजि आकाश चढ़ावत॥

सुमन्त—(आप ही आप) हम इसके साथ चन्द्रकेतु को कैसे लड़ने दें। (सोच के) क्या करें, हम लोग इक्ष्वाकु के घर में पले हैं। जब काम पड़ जायगा तो क्या करेंगे?

चन्द्रकेतु—(आश्चर्य और लाज से) हाय, क्या मेरे सिपाही सब तितर-बितर हो गये?

सुमन्त—(रथ दौड़ा कर) भैया! देखो, वह बीर अब तुम्हारी बात सुन सकता है।......

चन्द्रकेतु—सुनो, वीर लव!

का मिलि है तुम को भला सैनिक नीच हराइ।
इत आओ मो सन भिरो तेजहिं तेज बुझाइ॥[1]

तीन नाटक—नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका—सम्राट् हर्षवर्द्धन के

---

[1] अनुवादक—लाला सीताराम।

कहे जाते हैं। नागानन्द में विचित्र परोपकार का कथानक है। दूसरे की जान

नागानन्द

बचाने के लिये एक राजा अपने को गरुड़ को अर्पण कर देता है। पांचवें अङ्क में राजा को आगे रक्खे हुए भूमि पर बैठा गरुड़ दिखाई देता है।

गरुण—जन्म से आजतक मैंने साँपों का ही आहार किया है; पर ऐसा आश्चर्य कभी नहीं देखा। यह कि मरने के समय सभी को भय और दुःख होता है। यह महात्मा जिसका अब मरण निकट आ गया है, केवल व्यथा को ही सहन नहीं किये हैं किन्तु कुछ प्रसन्न-सा भी दीखता है। देखो—

नहिं गलानि मन माँहि भई जिहि रुधिर पिए ते।
करत मांस की व्यथा रोकि मुख सुखी भये ते॥
चित उदार अति रोम हर्ष पुनि प्रगट लखाता।
ताते केवल छीन भयो बलहीन न गाता॥
जो मैं अपकारी हौं न तरु उपकारी सम अजहुँ इत।
है परत दीठि जाकी सरस सदानन्द धरि धीर चित॥

सो, इसके ऐसे धैर्य्य से आश्चर्य ही होता है। हो, पर इसे अब नहीं खाऊँगा। अच्छा भला पूछूँ तो यह कौन है?

राजा— नाड़ी मुख ते रुधिर हू स्त्रवत अहै बनि धार।
अजहुँ माँस मम देह बिच कत नहिं करत अहार॥
महाराज देखन अहौं तृप्ति न भई तुम्हारि।
ह्वै निवृत्त किमि रमि रहो भक्षण है भख मारि॥

गरुण—(आप ही आप) अहह! क्या ऐसी दशा में भी अपने प्राणों को रखे हुए हैं[1]? (प्रकट) मैंने अपनी चोंच से तेरे हृदय से खींचकर रुधिर पान किया सही, परन्तु अब तू अपनी धीरता से मानो मेरा रक्त पी रहा है, सो तू कौन है, मैं भी सुनना चाहता हूँ।

राजा—तू भूख से ऐसा विकल हो रहा है कि अभी सुनाने योग्य नहीं है। इसलिये मेरे माँस और रक्त से अपनी तृप्ति कर।

---

[1] अनुवादक—पण्डित सदानन्द अवस्थी।

अधिकांश हिन्दू-साहित्य—यहाँ तक कि वैज्ञानिक साहित्य भी—पद्य में है, पर कुछ उपन्यास तथा अन्य ग्रन्थ गद्य में भी लिखे गये।

हर्षचरित के लेखक बाणभट्ट ने कादम्बरी उपन्यास रचा जिसमें प्रधान चरित्रों के कई जन्म होते हैं। कथा कहनेवाले तोते को लानेवाली चण्डाल लड़की का वर्णन इस तरह किया है—"वह कन्या गमनशक्ति वाली इन्द्रनीलमणि की पुतली सी लगती थी, उसका श्यामरङ्ग था, इस कारण वह दैत्यों से लिये गये अमृत को हरण करने के लिये माया से मोहनी रूप धारण करने वाले—विष्णु का मानो अनुकरण करती थी। पैर की गाँठ तक पहुँचते हुये नीले अधोवस्त्र से उसका शरीर ढँका हुआ था, और ऊपर उसने लाल डुपट्टा ओढ़ लिया था। इनसे वह ऐसी लगती थी मानो सूर्य की किरणें जिस पर पड़ी हों ऐसी—नीलकमलों की एक भूमि हो। एक कान में पहने हुए कर्णभूषण की प्रभा से उसके गोरे गाल दिखाई देते थे, इस कारण वह—उदय होते हुये चंद्रबिम्ब की किरणों से व्याप्त मुख वाली—मानो रात्रि थी। कुछ-कुछ पीले रङ्ग के गोरोचन से उसने तिलक रूपी तीसरा नेत्र बना लिया था, जिससे मानो वह महादेव के वेष के समान ही भीलनी का वेष धारण करने वाली—पार्वती थी। नारायण के वक्षःस्थल में निवास करने से लगी हुई उनकी देह प्रभा के कारण काली पड़ी हुई मानों वह साक्षात् लक्ष्मी थी। कुपित हुए महादेव की अग्नि से जलते हुए कामदेव के धुएँ से मलिन हुई मानों वह रति थी। कामावेश में आये बलराम के हल से खिच जाने के भय के कारण भागी हुई मानों वह यमुना थी। उसके चरण-कमलों पर बहुत गाढ़ी लाल लाख के रङ्ग से फूल पत्ते बनाये गये थे। इनसे वह तत्काल मारे हुये महिषासुर के रुधिर से लाल चरणवाली दुर्गा के समान लगती थी। लाल उँगलियों की प्रभा से उसकी नख-किरणें लाल हो गई थीं। उसके चरणों में जो फूल-पत्ते कढ़ रहे थे, उनकी परछाइँ ज़मीन पर पड़ती थी। इससे ऐसा लगता था, मानों बहुत कठिन मणिमय भूमि का स्पर्श असह्य होने के कारण वह फूल-पत्ते बिछाती हुई उन पर चलती है। नूपुरमणि में से निकलते

कादम्बरी

चण्डाल की लड़की

हुए अच्छे पीले रङ्ग के प्रकाश से उसका शरीर रँग गया था, जिससे ऐसा लगता था मानों भगवान् अग्नि ने, केवल उसकी कान्ति का पक्षपात कर और प्रजापति की आज्ञा को लोप कर, उस जाति को पवित्र करने के लिये, उसके शरीर को आलिङ्गन किया है। उसकी कमर में तागड़ी की लड़ पड़ी थी। वह कामदेव रूपी हाथी के मस्तक के ऊपर की मोतियों की माला और रोमावली रूपलता की क्यारी के समान लगती थी। बड़े-बड़े मोतियों की स्वच्छ माला उसने गले में पहन रक्खी थी। वह ऐसी लगती थी मानों उसे यमुना जानकर गङ्गा मिलने के लिये आई हो। शरद् के समान उसके कमलनयन प्रफुल्ल थे; वर्षा ऋतु की भाँति उसके केश घन थे; मलयाचल के मध्य-भाग के समान वह चन्दनपल्लवों से भूषित थी; नक्षत्रमाला के समान वह चित्र श्रवणाभरण से अलङ्कृत थी; लक्ष्मी की भाँति वह हस्त-स्थित कमलशोभा थी; मूर्छा के समान वह मन को हर लेती थी; बनभूमि के समान वह अक्षतरूप-सम्पन्न थी; देवाङ्गना के समान अकुलीन थी; निद्रा की भाँति वह नेत्रग्राहिणी थी; वन-कमलनी की भाँति वह मातङ्गकुल से दूषित थी; उसका स्पर्श नहीं किया जा सकता था, इस कारण वह मानों निराकार थी; उसका केवल दर्शन ही हो सकता था, इस कारण वह मानो तसवीर थी; चैत्रमास की पुष्प समृद्धि की तरह वह विजाति थी; कामदेव के पुष्प-धनुष की डोरी के समान उसकी कमर मुट्ठी में आने के योग्य थी और कुबेर की लक्ष्मी के समान वह अलकोद्भासिनी थी।"

आश्रम

शिकारियों के हमले के बाद जाबालि ऋषि के जिस आश्रम में शरण पाई थी, उसका चित्रण तोता करता है—"वह मानों दूसरा ब्रह्म-लोक था। उसके चारों ओर बन थे। उनमें बहुत से वृक्ष लग रहे थे। वे फूल-फलों से लद रहे थे। वहाँ ताड़, तिलक, तमाल, हिताल और मौलसिरी के बहुत वृक्ष थे। नारियलों पर इलायची की बेल चढ़ी हुई थी। लोध्र, लवली और लौङ्ग के पत्ते हिल रहे थे। आम की मञ्जरी की रज ऊची उड़ रही थी। भ्रमरों की झङ्कार से आम के वृक्षों में शब्द हो रहा था। उन्मत्त कोकिलाओं का समूह कोलाहल कर रहा था। फूले हुए केवड़े की रज के ढेर से वहाँ के बन पीले दीखते थे। सुपारी के लता रूपी हिंडोले में वनदेवियाँ

झूलती थीं।...............बालक स्वर से पाठ पढ़ते थे। बारबार सुने हुए वषट्कार शब्द का उच्चारण करने से तोते वाचाल हो रहे थे। असंख्य मैना वेद का घोष कर रही थीं। जङ्गली मुर्गे वैश्वदेव में दिया हुआ बलि खाते थे।............वहाँ मलिनता केवल यज्ञ-धूम में थी, चरित्र में नहीं; मुखराग तोतों ही में था, कोप में नहीं; तीक्ष्णता दर्भाग्र में ही थी, स्वभाव में नहीं; चञ्चलता केले पत्तों में थी, मन में नहीं; चक्षुराग कोकिलों में ही था, पर स्त्रियों में नहीं; कण्ठग्रह कमण्डल ही में था रतिविलास में नहीं; मेखलावध व्रतही में था, ईर्षाकलह में नहीं; होम की गायों के स्तन का ही स्पर्श होता था, स्त्रियों के नहीं; मुर्गों का ही पक्षपात होता था, विद्याविवाद में नहीं; अग्नि की प्रदक्षिणा में ही भ्रान्ति होती थी, शास्त्रार्थ में नहीं; दिव्यकथाओं में ही वस्तु सङ्कीर्तन होता था, धन-तृष्णा में नहीं; रुद्राक्ष की माला की ही गणना होती थी, शरीर की नहीं; मुनि बालों का नाश यज्ञ-दीक्षा में ही होता था, मृत्यु से नहीं; रामानुराग रामायण से होता था, यौवन से नहीं; मुख पर भङ्गविकार बुढ़ापे में ही होता था, धनाभिमान से नहीं, इसी प्रकार शकुनि वध महाभारत ही में था; वायुप्रलाप पुराणों में ही था; द्विजपतन बुढ़ापे में ही होता था; जाड्य उपवन के चन्दनवृक्षों में ही था; भूति अग्नि में थी; गति सुनने का शौक मृगों ही को था; नृत्यपक्षपात मोरों ही को था; भोग सांपही को था; श्रीफल का प्रेम बन्दरों ही को था; और अधोगति केवल वृक्षों के मूल की ही थी।"

कादम्बरी का निवेदन

अपने प्रेमी चन्द्रापीड़ को देख मरा समझ कर कादम्बरी धीरज दिलाने वाली सखी मदलेखा से कहती है—". . . अपने को केवल आँसू बहाने से हलका बनाकर क्यों मैं पतित करूँ? रुदन से मैं स्वर्ग में जाते हुए देव का अमङ्गल क्यों करूँ? चरणों की धूलि के समान, उनके चरणों का अनुगमन करने को तत्पर हुई मैं हर्ष के स्थान पर भी रुदन करूँ, ऐसा मुझे क्या दुख है!......जिसके लिये कुल की मर्यादा नहीं गिनी, गुरुजनों की अपेक्षा नहीं की, धर्म का अनुरोध नहीं किया, जनापवाद का भय नहीं किया, लज्जाका त्याग किया, मदनोपचार करा-करा कर सखीजनों को खेद दिया, अपनी प्रिय सखी महाश्वेता को दुःखित किया और उसके साथ जो प्रतिज्ञा की थी

उसके अन्यथा होने का भी मैंने विचार न किया, उस मेरे प्राणनाथ ने मेरे लिये ही प्राण-त्याग किये।......प्रियसखी, तुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि पिता-माता कोई मेरे शोक से प्राणों का त्याग न करें और मुझसे वाञ्छित मनोरथ तुझसे पूर्ण करें जिससे मेरे परलोक जाने पर भी तेरे अञ्जलि देनेवाला पुत्र उत्पन्न हो। मेरी सखियाँ या मेरे परिजन जिसमें मेरी याद न करें या महल शून्य देखकर भाग न जाँय वैसा ही करियो। महल के आँगन में लगे हुए—मेरे पुत्र के समान—छोटे से आम के पौधे का जैसा मैंने विचारा था, वैसा ही मालती लता के साथ तू स्वयं विवाह करियो। मेरे चरण के तल के स्पर्श से बढ़े हुए अशोक-वृक्ष में से कर्णपूर के लिये भी पत्ता मत तोड़ियो।...... मेरे महल में सिरहाने की तरफ़ रक्खा हुआ मेरा कामदेव-पट फाड़ डालियो।......बिचारी कालिन्दी मैना तथा परिहास तोते को पिञ्जरे में रहने के दुःख से छुड़ा दीजियो। मेरी गोद में सोने वाली नकुलिका को तू अपनी ही गोद में सुलाइयो। मेरे पुत्र-बालहिरन—तरलक को किसी तपोवन में भिजवा दीजो। मेरे हाथों से पाला हुआ चकोरों का जोड़ा क्रीड़ा-पर्वत पर जिसमें मर न जाँय, ऐसा कीजियो।......जिसे घर में रहने को आदत नहीं है, ऐसी जबरदस्ती लाई गई बिचारी [illegible] को वन में ही छुड़वा दीजियो। क्रीड़ा-पर्वत किसी शान्त तपस्वी को दे दीजियो। मेरे वस्त्र तथा भूषण आदि को ब्राह्मणों को दान कर दीजियो; परन्तु वीणा को तो अपनी ही उत्सङ्ग में प्रेम से रखियो और जो कुछ तुझे अच्छा लगे ले लीजियो।"[1]

कला

निर्माण-कला

निर्माण-कला में भी यह युग बड़े मार्के का है। मत्स्य, स्कन्द, अग्नि, नारद, लिङ्ग और भविष्यपुराणों में एक या अधिक अध्याय भवन-निर्माण, मूर्ति-निर्माण, नगर-व्यवस्था इत्यादि पर लिखे हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र और शुक्रनीति में भी निर्माण की बहुत-सी बातें लिखी हैं। संस्कृत में शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र और चित्रशास्त्र कई-सी हैं। इन सारे

[1] अनुवादक—पं० [illegible] भट्ट।

शास्त्र को ६-७ ई० सदी के लगभग मानसार में ब्योरेवार लिखा है। मानसार (अध्याय १) कहता है कि यह विद्या ऋषियों को इन्द्र, वृहस्पति, नारद इत्यादि के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और शिव से मिली थी। अध्याय ९ में कहा है कि गाँव के चारों ओर लकड़ी या पत्थर की दीवाल होनी चाहिये, चार सदर फाटक और उनको मिलाने के लिये सड़कें होनी चाहिए। जहाँ-जहाँ बस्ती हो वहाँ-वहाँ तालाब चाहिये। ढाल की तरफ़ नालियाँ होनी चाहिये। सबसे अच्छे स्थान ब्राह्मणों को रहने के लिये मिलने चाहिये। चण्डालों के स्थान और मरघट गाँव के बाहर होने चाहिये, खासकर उत्तर-पच्छिम की तरफ भयङ्कर देवताओं के मन्दिर भी दीवाल के उस पार होने चाहिये। शहर आठ तरह के होते हैं—राजधानी, नगर, पुर, नगरी, खेट, खर्वाट, कुब्जक, पट्टन। मानसार ने क्षेत्रफल के हिसाब से कुल ४० तरह के शहर और गाँव माने हैं। शहर के चारों तरफ़ दीवाल और खाई होनी चाहिये तथा सदर दर्वाजे, सड़क-नाली, चरागाह उसी ढङ्ग से होनी चाहिये जैसे गाँव में। बाज़ार, दूकान, मन्दिर, सराय और पाठशाला सब तरतीब से नियमानुसार होने चाहिए (अध्याय १०)। मानसार ने चक्रवर्ती, महाराज, नरेन्द्र, मण्डलेश इत्यादि के महलों के नौ प्रकार बनाये हैं। राज-सिंहासन और मुकुट भी नौ तरह के थे (४१-४२)। नाव्यगृह और मञ्च भी नौ तरह के होते थे, जिनके लिए व्योरेवार नियम दिये हैं (४७)।

इलूरा

दक्खिन में वर्तमान निज़ाम-राज्य में इलूरा की गुफ़ाओं में मूर्तियों की बहुत-सी पट्टियाँ हैं। ७०० ई० के लगभग यहाँ दशावतार की और बहुत से देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। कैलाश मन्दिर के लङ्केश्वर विभाग में शिव का ताण्डव-नृत्य दिखाया है। भावप्रदर्शन के लिहाज़ से यह मूर्ति बड़े मार्के की है। नृत्य में शिव इतने मस्त हैं, इतने ग़र्क़ हैं कि अपने को भूल गये हैं, नृत्य ही नृत्य रह गया है। एक दूसरी मूर्ति में शिव सात लोकों को तीन क़दमों से नाप रहे हैं।

आठवीं-सदी के लगभग बम्बई बन्दर के पास वर्तमान ऐलीफ़ेण्टा टापू में भी

अन्य दृष्टान्त

कुछ देवताओं की बड़ी मूर्तियाँ हैं पर उनमें कला का चातुर्य बहुत नहीं है। बम्बई प्रान्त के थाना ज़िले में अमरनाथ या अम्बरनाथ के ११ वीं ई०-सदी के ब्राह्मण-मन्दिर में चारों ओर स्तम्भों पर ब्रह्मा, सरस्वती आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अच्छी हैं। इसी तरह काठियावाड़ में थान के सूर्य-मन्दिर में लगभग सातवीं ई०-सदी की मूर्तियाँ गुफ़ाओं की-सी हैं और बहुत अच्छी बनी हैं।

———

१३

अन्तिम-काल

सातवीं सदी के उत्तर-भाग से हिन्दू राजनैतिक इतिहास में फिर विभाजक शक्तियों की प्रबलता हो गई थी। उत्तर-पच्छिम से आने वाले मुसलमानों की विजय तक अधिकतर यही हालत रही अथवा यों कहिए कि राजनैतिक विच्छेद के कारण बारहवीं सदी में उत्तरभारत को मुसलमानों ने विजय कर लिया और तेरहवीं सदी में दक्खिन पर भी छापा मारा। सामान्यत: आठवीं-सदी से बारहवीं-सदी तक हिन्दुस्तान के प्राचीन इतिहास का अन्तिम-काल माना जा सकता है। इस काल के राजनैतिक इतिहास में कोई एकता नहीं है अर्थात् घटना-चक्र का कोई एक केन्द्र नहीं है। केवल मुख्य-मुख्य राज्यों की प्रधान घटनाओं का सङ्केत किया जा सकता है। स्मरण रखना चाहिये कि इन राज्यों में आपस की लड़ाई बहुत हुआ करती थी।

कन्नौज

आठवीं ई०-सदी में कन्नौज एक विस्तृत राज्य की राजधानी था, पर ७४०ई० के लगभग कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ ने कन्नौज-नरेश को हरा कर और गद्दी से उतार कर मार डाला। कन्नौज को अपने राज्य में मिलाना कश्मीर राजाओं की शक्ति के बाहर था; पर कुछ दिन बाद ललितादित्य के लड़के जयापीड़ ने कन्नौज के दूसरे राजा वज्रायुध को फिर हरा कर गद्दी से उतारा। उसके बाद इन्द्रायुध सिंहासन पर बैठा, पर ८१० ई० के लगभग उसे मगध के राजा धर्मपाल से हार खानी पड़ी। तथापि मगधराज ने भी कन्नौज को अपने शासन में नहीं मिलाया। चक्रायुध कन्नौज की गद्दी पर बैठा पर उस की तीसरी पीढ़ी में विपत्ति आई। गुर्जर-प्रतीहार राजा नागभट्ट ने जिसका राज्य राजपूताना में था और जिसकी राजधानी भिल्लमाल थी, कन्नौज पर धावा किया और चक्रायुध को गद्दी से उतार दिया। जान पड़ता है कि इस बार कन्नौज गुर्जर-प्रतीहार राज्य में मिला

लिया गया और उसकी राजधानी हो गया। इस प्रकार फिर एक साम्राज्य की सृष्टि हुई। यद्यपि इस नये साम्राज्य को एक बार दक्खिन के राष्ट्रकूटों के सामने सिर झुकाना पड़ा तथापि यह कुछ दिन तक और बढ़ता ही गया। नागभट्ट के बाद राजभद्र गद्दी पर बैठा और ८३४ ई० के लगभग से ८४० ई० तक राज्य करता रहा। उसका लड़का हुआ मिहिरभोज जिसने लगभग ८४० ई० से ८९० ई० तक शासन किया। उसका राज्य पूरबी पञ्जाब से लेकर मगध, काठियावाड़, गुजरात और मालवा तक था। उसके लड़के महेन्द्रपाल ने लगभग ८९०-९०८ ई० तक राज्य किया। उसके लड़के भोज द्वितीय ने कोई दो बरस राज्य किया। तत्पश्चात महिपाल लगभग ९१० से ९४० तक गद्दी पर बैठा, पर अब साम्राज्य का

साम्राज्य

ह्रास होने लगा। राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने ९१६ ई० में कन्नौज पर अधिकार कर लिया। कुछ दिन बाद महिपाल ने कन्नौज तो ले लिया पर साम्राज्य के कुछ सीमा प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। देवपाल (लगभग ९४० ई० ९५५) और विजयपाल (लगभग ९६० ई० ९९०) के समय में भी साम्राज्य का कुछ ह्रास हुआ।

ह्रास

विजयपाल के उत्तराधिकारी राज्यपाल के समय में बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए। पञ्जाब के राजा जयपाल के अनुरोध से कन्नौज के राजा, चन्देल राजा और कुछ अन्य राजाओं ने मिलकर लगभग ९९१ ई० में ग़ज़नी के अमीर सुबुक्तिग़ीन का लड़का सुल्तान महमूद ग़ज़नी के तख़्त पर बैठा। उसने हिन्दुस्तान के ऐश्वर्यशाली मन्दिर और नगरों को लूटने के लिये कोई १७ हमले किये। १०१९ ई० में उसने कन्नौज पर धावा किया। राज्यपाल के छक्के छूट गये, कुछ करते-धरते न बना, तुरन्त ही घुटने टेक दिये। कन्नौज के सातों किले एक ही दिन में महमूद के हाथ में आ गये। जब ख़ूब लूटमार करके महमूद ग़ज़नी लौट गया तब और हिन्दू राजाओं ने कायर राज्यपाल पर अपना क्रोध

मुसलमान-आक्रमण

महमूद ग़ज़नवी

उतारा और उसे मार कर त्रिलोचनपाल को गद्दी पर बैठाया। महमूद ने तुरन्त ही इसका बदला लिया पर १०३० ई० में उसके मरने पर पच्छिमी पञ्जाब को छोड़ कर बाक़ी हिन्दुस्तान फिर अपने पुराने चक्र पर घूमने लगा। कोई साठ बरस तक कन्नौज में पुराने वंश के राजा राज्य करते रहे पर लगभग १०९० ई० में गहरवार राजा चन्द्रदेव ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

गहरवार

इसका शासन वर्तमान उत्तर प्रदेश के अधिकांश भाग पर और शायद दिल्ली पर भी था। यही वंश कुछ दिन बाद राठौर कहलाया। सदा की भाँति इनके राज्य की सीमा में परिवर्तन होते रहे पर बारहवीं-सदी के लगभग अन्त तक उत्तरभारत में इनका पद बहुत ऊँचा रहा। अन्तिम राजा जयचन्द की अजमेर के चौहान रायपिथौरा पृथ्वीराज से ऐसी खटपट हुई कि वह कन्नौज को और अपने साथ और हिन्दू-राज्यों को भी ले डूबा। अपनी लड़की संयोगिता के स्वयंवर में जयचन्द ने पृथ्वीराज को न बुलाया वरन् उसकी प्रतिमा बना कर द्वारपाल की जगह खड़ी कर दी। अपमान सहना पृथ्वीराज को स्वीकार न था; छल-बल से वह राजकुमारी को ले भागा। उधर अफ़ग़ानिस्तान में ग़जनवी-वंश के बाद गोरी-वंश की प्रभुता जम गई थी। शहाबुद्दीन ग़ोरी ने जिसे मुहम्मद ग़ोरी भी कहते हैं, हिन्दुस्तान जीतने की ठानी। पृथ्वीराज ने उसका सामना किया पर जयचन्द ने साथ न दिया वरन् ग़ोरी का रास्ता साफ़ कर दिया। ११९१ ई० में पृथ्वीराज ने ग़ोरी को परास्त किया पर ११९२ में वह ऐसा हारा कि उसका सारा राज्य ग़ोरी के हाथों में चला गया। जयचन्द के भी दिन आ गये थे। ११९४ ई० में ग़ोरी ने कन्नौज भी जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया।[1]

---

[1] कनौज के इतिहास के लिए ताम्रपत्र और सिक्के ऐतिहासिक पत्रिकाओं में मिलेंगे। जयचन्द और पृथ्वीराज की कथा बहुत नमक-मिर्च मिलाकर चन्दवरदाई ने हिन्दी अथवा यों कहिये हिन्दी के डिङ्गल-रूप में पृथ्वीराजरासो में लिखी है। ब्योरेवार इतिहास के लिए देखिए, विंसेण्ट ए स्मिथ—'अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' (चौथा संस्करण), पृ० ३९०-४०३। मुसलमान-आक्रमणों के लिये इलियट और

राजनैतिक महत्त्व में कन्नौज के बाद दूसरा नम्बर मगध का है। हर्षवर्धन के बाद मगध और बङ्गाल में बहुत से छोटे-छोटे राजा राज्य करते रहे जिससे बड़ी गड़बड़ी हुई और जनता को बहुत हानि पहुँची। ७३०-७४० ई० के लगभग बहुत से लोगों ने मिलकर गोपाल को महाराज बनाया जो बौद्ध था और जिसने बहुत से मठ बनवाये। गोपाल के बाद धर्मपाल ने ८०० ई० के लगभग अपनी प्रभुता बङ्गाल से कन्नौज और दिल्ली तक फैलाई। इस समय के लगभग इस साम्राज्य की राजधानी मगध में पाटलिपुत्र थी। धर्मपाल ने गङ्गा के किनारे विक्रमशिला में बौद्ध-मठ और विद्यापीठ की स्थापना की जिसमें १०७ मन्दिर थे और छः बड़ी-बड़ी पाठशालाएँ और यों, सैकड़ों शिक्षक और हज़ारों विद्यार्थी थे। पाल राजाओं ने धर्म और विद्या को पूरा आश्रय दिया और मूर्तिकला एवं चित्रकला को भी बड़ा प्रोत्साहन दिया। संग्रामों के कारण इनके राज्य की सीमा समय-समय पर बदलती रही। ९वीं ई०-सदी के बीच में तो कुछ बरस के लिये कन्नौज के महेन्द्रपाल ने मगध को अपने ही शासन में मिला लिया पर साधारणतः १२वीं सदी के लगभग अन्त तक इनकी प्रभुता मगध और कुछ अन्य प्रान्तों पर बनी रही। ९वीं सदी में इस वंश के महाराजाधिराज देवपाल के सेनापति लवसेन ने आसाम और कलिङ्ग को जीता। १०२३ ई० के लगभग मगध के महिपाल और काञ्ची के चोल राजा राजेन्द्र का सङ्घर्ष हुआ पर कोई भी एक-दूसरे को जीत न सका। १०१३ ई० में महिपाल ने कुछ बौद्ध गुरु भेजकर तिब्बत में बौद्ध-धर्म का पुनरुद्धार किया। ११वीं सदी के बुरे शासन और राजद्रोह से राज्य का बल बहुत घट गया। जब ११९७ में शहाबुद्दीन ग़ोरी के सेनापति

मगध

पाल-वंश

धर्म-विद्या इत्यादि

डाउसन 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स' भाग २, भी देखिए।

बख़्तियार ख़िलजी का हमला

खिलजी ने २०० घुड़सवार लेकर बिहार नगर पर छापा मारा तो राजा की सेना से कुछ करते-धरते न बना। बख़्तियार ने किले पर अधिकार जमाकर सारा नगर लूटा और मठ के सारे बौद्ध-भिक्षुओं की हत्या की। थोड़े दिन बाद ही और मठ भी तहस-नहस कर दिये गये और अपनी जन्मभूमि से बौद्धधर्म सदा के लिये मिट गया।[1]

बङ्गाल

सेन-वंश

वल्लाल सेन

तन्त्र

लक्ष्मण सेन

पाल-राजाओं ने बङ्गाल पर भी कुछ दिन तक राज्य किया था पर ११वीं सदी में एक नया सेन-वंश उत्पन्न हुआ जिसने बङ्गाल पर प्रभुता जमाई। यह लोग ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे। ११०८ ई० के लगभग वल्लाल सेन गद्दी पर बैठा। उसने शायद वर्णव्यवस्था का फिर से सङ्गठन किया; ब्राह्मणों, वैद्यों और कायस्थों में कुलीन प्रथा चलाई; एक ओर अराकान तक और दूसरी ओर नैपाल तक ब्राह्मण-धर्म के उपदेशक भेजे और हर तरह से ब्राह्मण-धर्म को प्रोत्साहन दिया। इसी समय के लगभग बङ्गाल में तन्त्रवाद का दौर-दौरा हुआ जिसमें मन्त्रों से सिद्धियाँ की जाती थीं, अनेक देवी-देवता पूजे जाते थे और तरह-तरह की अनोखी रस्में होती थीं। तान्त्रिक-ग्रन्थ भी बड़ी संख्या में बने और उनकी परिपाटी अब तक मिटी नहीं है। वल्लाल सेन के बाद १११९ ई० में लक्ष्मण सेन गद्दी पर बैठा। उसने न्याय और उदारता के लिये देश भर में यश पाया और संस्कृत-साहित्य की बड़ी सेवा की। इसी समय जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की पर अन्य हिन्दू राजाओं की तरह सेन भी सैन्य-सङ्गठन और कौशल में अन्य देशों से पीछे पड़ गए थे। यहाँ भी धार्मिक पन्थ और जाति के भेदों और बन्धनों ने देशभक्ति और देशसेवा का

[1]मगध के लिये पत्रिका, इलियट और डाउसन पूर्ववत् देखिये। विंसेण्ट स्मिथ, पूर्ववत् पृ० ४१०—२०।

भाव बिल्कुल दबा दिया था। परलोक की तैयारी में इस लोक की अवहेलना हो रही थी। जिस सुगमता से मुहम्मद ग़ोरी के सेनापति बख़्तियार खिलजी ने बङ्गाल पर विजय पाई, इसका दूसरा उदाहरण संसार के इतिहास में कहीं न मिलेगा। बिहार को जीतकर लगभग ११९९ ई० में बख़्तियार ने बङ्गाल में प्रवेश किया। सेना को जरा पीछे छोड़ कर वह १८ घुड़सवारों के साथ नदिया नगर में घुसा। नदिया के लोग इतने भोलेभाले और बे-ख़बर थे कि समझे कि यह घोड़े बेचने आये हैं। किसी ने कोई रोक-थाम न की। घुड़सवार तेजी से राजा के महल पर जा पहुँचे। वहाँ भी किसी के कान में आक्रमण की भनक न पड़ी थी। किसी की समझ में न आया कि यह परदेशी कौन हो सकते हैं? बख़्तियार ने तलवार खींच कर महल वालों पर वार किया। राजा इस समय भोजन कर रहा था। तलवार चलने पर हक्का-बक्का सा रह गया, नङ्गे पाँव महल के पिछले फाटक से अपनी जान बचा कर भागा और महल की स्त्रियाँ, बच्चे, नौकर-चाकर, धन-दौलत—बख़्तियार के हाथ आये। इस बीच उसकी सेना भी आ पहुँची। नादिया के बाद शेष बङ्गाल तुरन्त ही मुसलमानों के शासन में आ गया।[1]

मुसलमान-विजय

मालवा में हिन्दुओं की स्वतन्त्रता कुछ ज्यादा दिन तक रही। ९वीं ईस्वी-सदी में यहाँ परमार-वंश का राज्य स्थापित हुआ था जिसकी राजधानी धारा थी। परमार-वंश के दो राजा बड़े नामी हुए। ९७४ ई० से ९९५ ई० तक मुञ्ज ने राज्य किया और संस्कृत साहित्य की बड़ी उन्नति की। बहुत से कवि और लेखक उसके दर्बार में थे और वह स्वयं कवि था। छः बार उसने चालुक्य राजा को हराया पर अन्त में वह स्वयं हारा और मार डाला गया। मुञ्ज से भी अधिक यशस्वी था राजा भोज जो मुञ्ज का भतीजा था और जिसने १०१८ ई० से लगभग १०५९ ई० तक राज्य किया। संस्कृत-लेखकों ने उसे

मालवा

मुञ्ज

---

[1] बङ्गाल के लिये पूर्ववत् ग्रन्थ और पत्रिका देखिये।

भोज

दूसरे विक्रमादित्य की उपाधि दी है। परम्परा के अनुसार, उसने योग, दर्शन, ज्योतिष्, वैद्यक तथा अलङ्कार इत्यादि पर बहुत-से ग्रन्थ लिखे। राजनीति पर उसने युक्तिकल्पतरु की रचना की, जिसमें न्याय, शासन, सेना, जहाज, भवन इत्यादि की विवेचना विस्तार से की गई है। भोज के दर्बार में बहुत से कवि थे जिनमें से एक का नाम कालिदास था। भोज ने बहुत-सी पाठशालाएँ खोलीं और हर तरह से विद्या का प्रचार किया। उसके मरने पर एक कवि ने श्लोक बनाया कि आज धारा निराधार हो गई, सरस्वती निरावलम्ब हो गई और सब पण्डित खण्डित हो गये। विद्या के अलावा भोज ने खेती-बारी में भी प्रजा की बड़ी सेवा की। उसने २५० वर्गमील से अधिक भोजपुर नामक एक झील बनवाई जिसका घेरा और बाँध ऐसा था कि पहाड़ियों से आनेवाला सारा पानी जमा हो जाय। खेतों की सिंचाई में इससे बहुत मदद मिलती थी और वर्षा न होने पर तो मानो यह अमृत की झील थी। और राजाओं की तरह भोज को भी पड़ोसी राज्यों से बहुत युद्ध करने पड़े। अन्त में वह गुजरात और चेदि के राजाओं से हार गया और उसके राज्य की सीमा सङ्कुचित हो गई। तेरहवीं सदी के आरम्भ में तोमर-वंश के हाथ में सिंहासन चला गया और उनके बाद चौहान आये। १४०१ ई० में मुसलमानों ने मालवा को जीत लिया।[1]

चेदि

चेदि-राज्य जिसका सङ्घर्षण मालवा से हुआ था, वर्तमान मध्यप्रदेश में था। यहाँ कलचुरि-वंश का शासन था। ११वीं ई० से गाङ्गेयदेव कलचुरि (लगभग १०१५-४० ई०) ने साम्राज्य बनाया, १०१९ में तिरहुत पर प्रभुता जमाई, १०३५ में मगध पर हमला किया और आसपास के राजाओं पर आधिपत्य जमाया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी कर्णदेव (लगभग १०४०-१०७० ई०) ने गुजरात के राजा से मिलकर भोज को हराया पर कुछ ही दिन पीछे स्वयं उसे जेजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मन् चन्देल से मुँह की खानी पड़ी। कलचुरिवंश का प्रभाव बहुत कम हो गया और

---

[1]पूर्ववत्। विंसेण्ट स्मिथ, पूर्ववत्, पृ० ४१०-१२। 'युक्तिकल्पतरु' का संस्करण, कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज़ में है।

१२वीं सदी के अन्त के लगभग राज्य रीवाँ के बघेलों के हाथ में चला गया। तेरहवीं-सदी के बाद मुसलमानों का प्रभाव प्रारम्भ हुआ पर पहाड़ों, घाटियों और जङ्गलों की ओट में बहुत से हिन्दू-राजा बहुत दिन तक बिल्कुल स्वतन्त्र या आधे स्वतन्त्र बने रहे।[1]

जेजाकभुक्ति

१२वीं सदी तक चेदि राजाओं ने जेजाकभुक्ति अर्थात् वर्तमान बुन्देलखण्ड के चन्देल राजाओं से घनिष्ट सम्बन्ध रक्खा था। इस वंश की प्रभुता भी नवीं-सदी में प्रारम्भ हुई थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि चन्देल राजा अपने पड़ोसियों से बराबर लड़ा करते थे, कभी हारते थे और कभी जीतते थे। दसवीं-सदी के पूर्व भाग में यशोवर्मन् ने कालिञ्जर का मजबूत किला अपने अधिकार में कर लिया और दूर-दूर तक अपना यश फैलाया। उसने खजुराहे में एक मन्दिर बनवाया। यशोवर्मन् के लड़के धङ्ग ने ९५० ई० से ९९९ ई० तक राज्य किया और खजुराहे में बहुत से मन्दिर बनवाये जो अब तक मौजूद हैं। चन्देल राजाओं ने महोबा, कालिञ्जर इत्यादि नगरों में भी बहुत से मन्दिर बनवाये एवं अन्य हिन्दू राजवंशों की तरह सिंचाई का यथोचित प्रबन्ध किया। पहाड़ियों को काटकर या घेरकर पत्थर के ऐसे लम्बे और मजबूत बाँध बनाये कि बहुत-सा पानी आप-से-आप जमा हो जाता था और बड़ी-बड़ी झीलें बन जाती थीं। यह झीलें सिंचाई के लिये जितनी उपयोगी थीं उतनी ही देखने में भी सुन्दर थीं। छोटे-छोटे तालाबों की तो कोई गिनती ही न थी। आज भी उनमें से बहुत से मौजूद हैं या कम-से-कम उनके खँडहर देखे जा सकते हैं। धङ्ग ने पञ्जाब के राजा ब्रजपाल के साथ गज़नी के अमीर सुबुक्तगीन का सामना किया था और हार खाई थी। उसके लड़के गण्ड (९९९ ई० १०२५ ई०) को कुछ युद्धों के बाद महमूद गज़नवी के सामने सिर झुकाना पड़ा। पर ११ वीं सदी के उत्तर भाग में

(हाशिये पर: मन्दिर; झील)

---

[1] पूर्ववत्। विंसेण्ट स्मिथ, पूर्ववत् पृ० ४०५-४०९।

कीर्तिवर्मन्

मुसलमान-विजय

कीर्तिवर्मन चन्देल (१०४९-११०० ई०) ने फिर वंश का उद्धार किया और जेजाकभुक्ति के अनेक प्रदेशों पर अपना झण्डा फहराया। चन्देल राजा भी आस-पास के और दूर-दूर के राज्यों से लड़ाइयाँ किया करते थे, कभी उनकी जय होती थी और कभी पराजय। १२०३ ई० में मुहम्मद ग़ोरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने चन्देलों को हराया और कालिञ्जर छीन लिया। पर बुन्देलखण्ड में हिन्दू राजा थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता के साथ बराबर राज्य करते रहे और अब भी राज कर रहे हैं।[1]

दिल्ली

उत्तर की ओर एक नया राज्य दिल्ली में स्थापित हो चुका था। दिल्ली नगर [illegible]-३४ ई० में बसाया गया था। यहाँ १०५२ ई० में तोमर-वंश के राजा अनङ्गपाल ने मथुरा या और किसी स्थान से चौथी ई०-सदी की एक लोहे की कीली लाकर गाड़ी थी। यह कीली अपने ढङ्ग की निराली है और अबतक कुतुबमीनार की बगल में मौजूद है। इससे प्रकट होता है कि सोलह-सौ बरस पहिले हिन्दुओं ने लोहे की चीज़ बनाने में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। १२वीं सदी के लगभग दिल्ली-प्रदेश अजमेर के चौहान राज्य में मिल गया। अजमेर का

अजमेर

पृथ्वीराज रायपिथौरा दिल्ली का भी शासक था। उसने चन्देलों को और गहरवारों को नीचा दिखाया और ११९१ ई० में तराइन के युद्ध में मुहम्मद ग़ोरी को ऐसा हराया कि वह सीधा अफ़ग़ानिस्तान भाग गया। हिन्दू राजनैतिक-काव्यों में माना गया है कि पृथ्वीराज ने ग़ोरी को सात बार हराया और क़ैद कर-करके छोड़ दिया, पर इतिहास से

पृथ्वीराज

इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। एक बार उसने अवश्य ग़ोरी को भारी शिकस्त दी, पर ११९२ ई० में ग़ोरी फिर एक बड़ी भारी सेना लेकर लौटा। अब के हिन्दुओं की हार हुई, पृथ्वीराज क़ैद हो गया और मार डाला गया।

---

[1] पूर्ववत्।

अब अजमेर तथा दिल्ली मुसलमानों के वश में आ गये। चन्दबरदाई के पृथ्वीराज-रासो से और मुसलमान-इतिहासकारों से प्रकट है कि चौहान-राजा के पास ग़ोरी से भी ज्यादा फ़ौज थी। यह भी सिद्ध है कि उसके सिपाही वीरता में किसी से कम न थे; सदा हथेली पर जान लेकर लड़ते थे। तो भी उनकी हार क्यों हुई? रासो से तो नहीं पर मुसलमान-इतिहासकारों के युद्ध-वर्णनों से यह समस्या हल हो जाती है। हिन्दू-सेना में शूरता थी पर उनकी सैनिक शिक्षा पुराने ढङ्ग की थी और सैन्य-सङ्गठन बहुत दोषपूर्ण था। हिन्दुस्तान के बाहर सैनिक विद्याओं में बहुत उन्नति हो चुकी थी, नये-नये व्यूहों का आविष्कार हो चुका था, सैन्यविन्यास के नये ढङ्ग प्रयोग में आ रहे थे, नई तरह की क़वायद हो रही थी और इन उपायों से सेनाओं का बल बढ़ रहा था, पर हिन्दुओं को इनकी खबर न थी। वह अभी तक पुरानी लकीर पीट रहे थे। एक बात में तो वह खास कर कमज़ोर थे। १३वीं-१४वीं सदी के फ़ारसी इतिहासों से यह नतीजा निकलता है कि मुसलमान-सेना की विजय बहुधा घुड़सवारों की विजय थी। उत्तर-पच्छिम देशों के घोड़े यों ही अच्छे होते हैं, फिर खिला-पिला के उनको वे खूब तैयार करते थे और खूब सिखाते थे। हिन्दुओं के घोड़े उतने अच्छे नहीं थे और वह उनको यथेष्ट शिक्षा भी नहीं देते थे। अगर उनको ज़माने की रफ़्तार का पता होता तो वह उत्तर-पच्छिम से घोड़े मोल ले सकते थे। उनकी ठीक-ठीक देखरेख कर सकते थे और शिक्षा का भी ठीक-ठीक प्रबन्ध कर सकते थे। पर पूर्वजों की रीति के वह ऐसे दास हो गये थे कि उन्होंने अपने को परिवर्तनशील समय के अनुकूल नहीं बनाया और अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे।[1]

पराजय

कारण

घुड़सवार

---

[1] पृथ्वीराज के लिये देखिए चन्दबरदाई-कृत पृथ्वीराजरासो। यह प्रचलित विश्वास भ्रममूलक है कि चन्द, पृथ्वीराज का समकालीन था। रासो की रचना कई सदियों में हुई थी और १६वीं ई०-सदी तक भी पूरी नहीं हुई थी।

दिल्ली के पच्छिम में पञ्जाब में एक और हिन्दू राज्य था जिसकी राजधानी भटिण्डा में थी। सबसे पहले इसी राज्य पर ग़ज़नी के अमीर सुबुक्तगीन ने ९८६-८७ ई० में लूट-मार के हमले शुरू किये थे। भटिण्डा के राजा जयपाल को स्वभावतः क्रोध आया। यह भी सम्भव है कि पञ्जाब के हिन्दू-राजाओं को पास ही ग़ज़नी में प्रभावशाली मुसलमान-राज्य की स्थापना अच्छी नहीं लगती थी। ९८९ में जयपाल ने अफ़ग़ानिस्तान पर हमला किया और लग़मान में डेरा डाला। सुबुक्तगीन अपनी सेना लेकर युद्ध करने को आया। दोनों

पञ्जाब

अफ़गानिस्तान पर हमला

इसमें १७वीं ई०-सदी के प्रारम्भ तक की घटनाओं का उल्लेख है। बहुत-सी रचना मेवाड़ के आस-पास हुई थी। समय के लिये कविराज श्यामलदास, 'जर्नल ऑफ़ दि एशियाटिक सुसाइटी ऑफ़ बङ्गाल' १८८६, भाग १, पृ० ५-६५। श्यामलदास के मत को खडण्न करने की चेष्टा मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने 'ए डिफेन्स ऑफ़ पृथ्वीराजरासो' (बनारस, १८८७) में की है। रासो का संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। रासोसार नाम से एक सुपाठ्य संक्षेप श्यामसुन्दरदास का है। संक्षिप्त परिचय के लिये मिश्रबन्धु-कृत 'हिन्दी नवरत्न,' अध्याय १ और 'मिश्रबन्धुविनोद,' भाग १, पृ० २२७-३३ भी देखिये। पृथ्वीराज के सम्बन्ध में और भी वीरकाव्य हैं, पर रासो के टक्कर का कोई नहीं है। मुसलमान-इतिहासकारों के वर्णन इलियट और डाउसन के सङ्कलित अनुवाद 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स', भाग २, में मिलेंगे। फ़ारसी इतिहास 'तबक़ तनासिरी' विशेष कर देखिये। इसका अंग्रेजी अनुवाद रैवर्टी ने किया है। कश्मीर से बुह्लर ने पृथ्वीराजविजय नामक एक संस्कृत-ग्रन्थ का पता लगाया है। यह पृथ्वीराज का समकालीन मालूम होता है। इसका संक्षेप हरबिलास सार्डा ने 'जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सुसायटी,' १९१३, पृ० २५९-८१ में दिया है। मुख्य घटनाओं के संक्षिप्त वर्णन के लिये देखिये, 'विंसेण्ट ए स्मिथ', पूर्ववत्, पृ० ४००-४०५। एल्फिन्सटन, 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया,' पृ० ३६२-६५।

फ़ौजें संग्राम का अवसर देख रही थीं कि आँधी-पानी और बिजली के भयङ्कर तूफ़ान ने पञ्जाबियों के छक्के छुटा दिये। समझे कि दैव हमारे प्रतिकूल है और हताश हो गये। शायद लड़ाई हुई और जयपाल हार गया। कुछ भी हो, जयपाल ने सन्धि का प्रस्ताव किया और सुबुक्तग़ीन को ५० हाथी दिये और चार क़िले तथा बहुत-सा रुपया देने का वादा किया। पर हिन्दुस्तान लौटकर उसने अपना वादा तोड़ दिया। सुबुक्तग़ीन ने चढ़ाई की और जयपाल को नीचा दिखाया। ९९१ ई० के लगभग जयपाल ने कन्नौज, जेजाकभुक्ति आदि राजाओं के साथ मिलकर सुबुक्तग़ीन का मुक़ाबिला किया, पर फिर सब हार गये। १००१ ई० में सुबुक्तग़ीन के लड़के सुल्तान महमूद ने फिर जयपाल को हराया। इन अपमानों से खिन्न होकर जयपाल ने अग्नि के द्वारा आत्मघात कर लिया। उसके लड़के आनन्दपाल ने गद्दी पर बैठ कर अन्य हिन्दू-राजाओं की सहायता से महमूद को रोकने का प्रयत्न जारी रक्खा, पर फिर मुँहकी खाई। थोड़े दिन में महमूद ने पञ्जाब को अपने राज्य में मिला लिया।[1]

पराजय

आनन्दपाल

प्राचीन समय के अन्तिम युग में सबसे अधिक व्योरेवार राजनैतिक इतिहास कश्मीर का मिलता है। सौभाग्य से यहाँ कल्हण नामक एक लेखक ने बहुत जाँच-पड़ताल करके १२वीं-सदी में एक बड़ा इतिहास संस्कृत-पद्य में लिखा जो राजतरङ्गिणी के नाम से प्रसिद्ध है। बहुत प्राचीन काल के विषय में कल्हण ने जो लिखा है, वह तो मुख्यत: किंवदन्ती है, पर ८वीं ईस्वी-सदी से वह सुसम्बद्ध इतिहास देता है। इस सदी में राजा चन्द्रापीड़ और मुक्तापीड़

कश्मीर

कल्हण

[1] इलियट और डाउसन, पूर्ववत्। एल्फ़िन्सटन, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया; (ई० बी० कावेल द्वारा सम्पादित संस्करण) पृ० ३२१-२७। विंसेण्ट स्मिथ पूर्ववत्, पृ० ६९६-९७; रैवर्टी कृत, 'नोटस् आन अफ़गानिस्तान' भी देखिये। मुहम्मद हबीब-कृत 'महमूद ऑफ़ ग़ज़नी' भी उपयोगी हैं। [2] राजतरङ्गिणी का सबसे अच्छा संस्करण ओरल स्टाइन का है।

ललितादित्य नाम के लिये चीन-सम्राट् को मानते थे पर वास्तव में स्वतन्त्र थे। ललितादित्य कश्मीर का सबसे प्रतापी राजा हुआ। उसने साहित्य, कला और गान-विद्या को प्रोत्साहन दिया, और मार्तण्ड का अनुपम मन्दिर बनवाया जिसका अधिकांश भाग अब तक मौजूद है। उसने चारों ओर लड़ाइयाँ कीं, भूटियों को नीचा दिखाया, तिब्बत को हराया और सिन्ध के किनारे तुर्कों को परास्त किया। हिन्दुस्तान के मैदानों में उसने कन्नौज के राजा यशोवर्मन् को जीता। उसके बाद जयापीड़ ने भी कश्मीर को हिन्दुस्तान की एक बड़ी शक्ति बनाये रक्खा। पर उसका आन्तरिक शासन बड़ी निर्दयता और अत्याचार का था। अवन्तिवर्मन् (८५५-८८३ ई०) ने सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया। उसके बाद बहुत से राजा हुए जिनमें से कुछ ने प्रजा का बहुत उपकार किया और कुछ अत्याचार की मूर्ति थे। ९५० ई० से १००३ ई० तक एक रानी दिद्दा ने शासन किया पर वह भी अत्याचार से बाज़ न आई। १३३९ ई० में मुसलमानों ने कश्मीर पर अधिकार जमा लिया।[1]

ललितादित्य

उत्तराधिकारी

हिन्दू-राज्यों पर अधिकार करने वाले जिन मुसलमानों का उल्लेख अब तक हुआ है, वह सब उत्तर-पश्चिम से आये थे और अफ़गान या तुर्क थे। पर उनसे कई सदी पहिले अरब-मुसलमानों ने एक प्रदेश को जीता था और कुछ दिन उस पर शासन किया था। सातवीं ईस्वी-सदी में पैग़म्बर मुहम्मद ने अरबों को संसार की एक बड़ी धार्मिक और राजनैतिक शक्ति बना दिया था। ६३२ ई० में पैग़म्बर के मरने के बाद अरबों ने अपने ख़लीफ़ाओं की अध्यक्षता में एशिया-कोचक, इराक, फ़ारस, काबुल, मिस्र और उत्तर-अफ्रीका जीते। ७१२ में एक ओर यूरोपियन

सिंध

अरब

---

[1]कश्मीर के लिये 'राजतरङ्गिणी' देखिये। संक्षिप्त इतिहास विंसेण्ट ए स्मिथ, पूर्ववत्, पृ० ३८६-८९ में है।

देश स्पेन पर और दूसरी ओर हिन्दुस्तान में सिन्ध पर उन्होंने हमला किया। खलीफा वलीद के समय में इराक के हाकिम हज्जाज ने अपने भतीजे मुहम्मद बिनकासिम की अध्यक्षता में कोई ७ हजार फ़ौज सिन्ध के राजा दहिर के विरुद्ध कुछ डूबे हुए अरब जहाजों का बदला लेने के लिये भेजी। इस समय दहिर की प्रभुता सारे सिन्ध पर, और वर्तमान दक्खिनी पञ्जाब पर थी पर उसके अधीन बहुत से राजा थे जो अनेक बातों में स्वतन्त्र थे। यह सङ्घशासन जो देश भर में उत्तर-वैदिक काल से प्रचलित था कुछ बातों में बहुत अच्छा था; स्थानिक स्वराज्य का एक रूप था, स्वतन्त्र विकास के लिये सदा अवसर देता था, साहित्य और कला की वृद्धि के लिये उपयोगी था, सभ्यता की प्रगति में सहायक था। पर इससे राजनैतिक और सामरिक शक्ति कम हो जाती थी, केन्द्रिक अधिकार की निर्बलता से नेतृत्व में बाधा होती थी, किसी भी असन्तोषी अधीन राजा को शत्रु से मिल जाने का अवसर रहता था, देश क्या प्रान्त की एकता का भाव भी निर्बल हो जाता था।

सङ्घशासन

आठवीं सदी में और फिर ११वीं सदी से जब हिन्दुओं को विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा तब सङ्घशासन विपत्तिजनक सिद्ध हुआ। एक तो धार्मिकता और वर्णव्यवस्था ने सैनिक और राजनैतिक शक्ति, सामाजिक दृढ़ता और देश-भक्ति का भाव पहिले ही कम कर दिया था दूसरे, देश में नाम के लिए भी राजनैतिक एकता तीन ही अवसरों पर हुई, और ७वीं ई०-सदी के बाद तो कभी नज़र ही न आई। तीसरे सैन्य-सङ्गठन और शिक्षण में हिन्दू-राज्य संसार के पीछे रह गये थे। चौथे, सङ्घशासन-प्रथा ने सामरिक बल और भी घटा दिया। इन कारणों से हिन्दू राजा बहुत बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखते हुए भी छोटी-छोटी विदेशी सेनाओं से अपने ही देश में बराबर हारते रहे।

कासिम का हमला

मुहम्मद बिनकासिम ने सिन्ध के देवलनगर को घेर कर यन्त्रों से पत्थर बरसाने की तैयारी की। नगर के भीतर एक बड़ा भारी मन्दिर था जिसका झण्डा दीवालों से बहुत ऊँचा फहराता था। कासिम को पता लगा कि हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार नगर

का दारमदार इसी झण्डे पर है। पत्थर फेंक-फेंक कर उसने झण्डे को नीचे गिरा दिया। मन्दिर के पवित्र झण्डे के गिरते ही साधारण लोग क्या; राजपूत सिपाही भी निराश हो गये। जल्द ही देवल पर अधिकार करके

देवल

क़ासिम ने खूब लूटमार की, बहुत से ब्राह्मणों को मुसलमान बनाया और फिर बहुत से लोगों का वध किया। आगे बढ़कर उसने कुछ और किले तथा नगर लिए और फिर राजधानी अलोर के पास स्वयं राजा का सामना किया। राजा के पास ५०,००० सिपाही थे, पर लड़ाई के बीच में राजा का हाथी चौंक कर भागा और पास की नदी में जा कूदा। हिन्दू-सेना में खलबली मच गई। राजा ने हाथी और नदी से छूटते ही फिर युद्ध आरम्भ किया, पर इस बीच में क़ासिम ने उसकी सेना का बल तोड़ दिया था। राजा और उसके हज़ारों सिपाही खेत रहे; बहुत से कैद में आये

युद्ध

और बाक़ी भाग गये। इस लड़ाई के वृत्तान्त से प्रगट है कि जो लोग ऐसे अवसरों पर घोड़े छोड़कर हाथी की सवारी करते थे या जो सैनिक शिक्षा और नियम से इतने कोरे थे कि एक राजा के ओझल होते ही घबड़ा जायँ उनके लिए विदेशियों पर विजय पाना टेढ़ी खीर थी। संख्या में वह बहुत ज्यादा थे, वीरता में संसार में किसी से कम न थे; पर शिक्षण, नियमन और सङ्गठन के सामने न तो संख्या काम आती है और न वीरता। युद्ध के बाद ही शूरता और त्याग का रोमाञ्चकारी दृश्य आँखों में समा आया। परलोकगत राजा दहिर का लड़का तो कायरों की तरह भाग गया पर रानी ने राज्य का नेतृत्व तुरन्त ही अङ्गीकार किया, पराजित सेना के बचे-खुचे सिपाहियों को इकट्ठा करके ढाढ़स दिया, नगर की रक्षा का सब प्रबन्ध किया। विजय के उत्साह से भरी हुई सेना को लेकर क़ासिम

रानी का नेतृत्व

ने शहर को जा घेरा। रानी की अध्यक्षता में सिपाहियों ने क़ासिम के सब प्रबन्ध निष्फल कर दिये। पर शहर की आमदरफ्त सब टूट गई थी, बाहर से कोई चीज़ अन्दर न जाने पाती थी; भोजन की सामग्री समाप्त हो रही थी। कष्ट बढ़ रहा था; पर हार मानने को कोई तैयार न था। जब खाने को कुछ न रहा और भूखों मरने की नौबत आ गई

जौहर

तब रानी ने और राजपूतों ने आत्मसमर्पण के बजाय आत्म-मरण का निश्चय किया। उन्होंने उस जौहर का एक दृष्टान्त दिखाया जो भविष्य के राजपूत इतिहास में अनेक बार प्रयोग में आने को था। ढेर-की-ढेर लकड़ियाँ जमा की गईं; घी, चन्दन और दूसरे पदार्थ आये, हँसते-हँसते रानी ने और दूसरी स्त्रियों ने आग सुलगा दी और बच्चों के साथ सब प्रसन्नता से जल मरीं। इधर पुरुषों ने केसरिया बाना पहिन कर एक दूसरे से बिदा ली और फिर सब शत्रुओं पर टूट पड़े। एक-एक कर के सब मारे गये, पर किसी को आत्मसमर्पण की ज़रा कल्पना भी न हुई। जौहर के भीषण घटनाचक्र के सामने ऐतिहासिक समालोचना भी चुप रह जाती है, पर यह बताना आवश्यक है कि जौहर से देश की रक्षा नहीं हो सकती थी। क़ासिम की फ़ौज आगे बढ़ती गई और एक के बाद दूसरे शहर और ज़िले पर अधिकार जमाती गई। कुछ हिन्दू-राजा उससे जा मिले। शीघ्र ही अर्थात् ७१४ ई० में सारे सिन्ध और दक्खिन पञ्जाब पर अरबों का शासन स्थापित हो गया। जैसा कि साधारणतः विजय में होता है; अब तक अरबों ने बड़ी निर्दयता से काम लिया था। पर विजय के बाद अपने शासन में उन्होंने बड़ी सहनशीलता दिखाई। बहुत से हिन्दू राजाओं से केवल ख़राज लेकर वह सन्तुष्ट हो गये। उद्योगियों और व्यापारियों को उन्होंने कोई क्षति न पहुँचाई और न हिन्दूओं के धर्म पर बलात्कार किया। क़ासिम के पूछने पर खलीफ़ा ने परवाना भेजा कि हिन्दू अपने टूटे हुए मन्दिरों को फिर से बना सकते हैं, अपनी सब रीति-रिवाजों का पालन कर सकते हैं; ब्राह्मणों की ज़मीन और रुपया वापिस कर दिया जाय, और पहिले की तरह तीन फ़ी-सदी कर उनको पूजापाठ के लिये दिया जाय। इस तरह

क़ासिम की प्रगति

अरब शासन

अरब राज्य का अन्त

८वीं सदी में अरबों ने सिन्ध पर हुकूमत की; पर पच्छिम में आपसी झगड़ों से ख़लीफ़ाओं का बल कम होने से वह सिन्ध में भी निर्बल हो गये। हिन्दुओं ने आसानी से उनको बाहर निकाल दिया। नवीं सदी से बारहवीं सदी तक फिर उसी तरह का हिन्दू-राज्य सिन्ध में जारी रहा जैसा कि सातवीं सदी तक था। जिन कारणों से आठवीं सदी

में हिन्दू राजाओं का पराजय हुआ था उन्हीं कारणों से

दूसरी मुसलमान विजय

१२वीं सदी के अन्त में वह फिर हारे और सिन्ध छः सौ बरसों के लिये मुसलमानों के अधिकार में चला गया। पहिली पराजय से हिन्दुओं ने कोई सबक़ न सीखा था; १२वीं सदी तक तो वह उसे बिल्कुल भूल गये होंगे। किसी हिन्दू-ग्रन्थ में अरब-विजय का सङ्केत तक नहीं है; ऊपर जो वर्णन किया है वह सब अरब लेखकों के आधार पर है।[1]

यह तो हुआ उत्तर-भारत के इस समय के राजनैतिक इतिहास का दिग्दर्शन

दक्खिन

अब दक्खिन के अर्थात् नर्मदा और कृष्णा नदी के बीच के प्रदेशों के इतिहास पर एक नज़र डालनी है। सातवीं ईस्वी-सदी तक की घटनाओं का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। आठवीं सदी के मध्य में राष्ट्रकूटों का प्राबल्य हुआ और १०वीं सदी के

राष्ट्रकूट

लगभग अन्त तक उनका ही दौर-दौरा रहा। चारों ओर के राजाओं से वह युद्ध करते रहे और अधिकतर जीतते रहे। ९१४-१६ ई० में तो इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर छापा मारा। राष्ट्रकूटों

धर्म

के राजत्व में बौद्धधर्म का बहुत ह्रास हुआ, जैनधर्म की कहीं-कहीं वृद्धि हुई; और कहीं-कहीं घटी हुई, ब्राह्मण धर्म का प्राबल्य हुआ। विष्णु, शिव और दूसरे देवताओं के बहुत से मन्दिर बने। ७६० ई० के लगभग कृष्ण प्रथम ने इलूरा में कैलाश मन्दिर बनवाया अथवा यों कहना चाहिये कि

साहित्य

चट्टान काटकर निकाला। साहित्य की भी बहुत बढ़ती हुई। ब्राह्मणों और जैनों ने, विशेषकर दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनों ने, बहुत से संस्कृत-ग्रन्थ रचे जिनमें से बहुतेरे अब तक मौजूद हैं। ९७३ ई० में राष्ट्रकूट वंश के स्थान पर एक नया चालुक्यवंश बैठा जो कल्यानी के चालुक्य नाम से प्रसिद्ध है। उसने और उसके उत्तराधिकारियों

---

[1] अरब विजय के लिये देखिये इलियट और डाउसन, पूर्ववत् भाग १। हिस्ट्री संक्षिप्त वर्णन के लिये एल्फिन्सटन, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृ० ३०६-१७॥

कल्यानी के चालुक्य का अन्त हुआ

ने चोल-राजाओं से बहुत से युद्ध किये और कभी-कभी बेतरह हार खाई। बारहवीं सदी के अन्त में इस चालुक्य वंश और साम्राज्य टूट गया। कुछ बरसों तक पच्छिमी प्रदेशों पर यादव-वंश ने देवगिरि राजधानी से और दक्खिनी प्रदेशों पर होयसल-वंश ने द्वारसमुद्र राजधानी से शासन किया। १२९४ ई० में देहली सुलतान के भतीजे अलाउद्दीन ख़िलजी ने दक्खिन पर हमला किया और बेखबर राजाओं को नीचा दिखाते हुए धुर दक्खिन तक खूब लूटमार की। देहली के तख़्त पर बैठने के बाद अलाउद्दीन ने अपने सेनापति मलिक काफ़ूर को १३०९ ई० में फिर दक्खिन जीतने को भेजा। मालिक काफ़ूर भी समुद्र तक जा पहुँचा। चौदहवीं सदी में दक्खिन में मुसलमान राज्य स्थापित हो गये। केवल पहाड़ों और घाटियों में थोड़ी स्वतन्त्रता से कुछ हिन्दू सरदार राज करते रहे।[१] उत्तर की तरह दक्खिन को भी मुसलमानों ने बहुत जल्दी और बहुत सुगमता से जीता। कारण वही थे जिनका उल्लेख पहिले कर चुके हैं। १२९४ में एक छोटी-सी सेना लेकर अलाउद्दीन ख़िलजी का धुर दक्खिन तक पहुँच जाना यही प्रमाणित करता है कि बीच के राज्य संसार की प्रगति से बे-खबर थे, एक-दूसरे की सहायता न करते थे, शासन और सैन्य-सङ्गठन में निर्बल थे।

आगमी वंश

मुसलमान-विजय

धुर दक्खिन

धुर दक्खिन में सातवीं सदी के बाद भी पाण्ड्य, चोल, केरल और पल्लव-राज आपस में पहिले की तरह खूब लड़ते रहे। कभी इसकी जीत हुई, कभी उसकी. कभी इस राज्य की सीमा घटी, कभी उसकी। ७४० ई० के लगभग जब पल्लव-राजा चालुक्यों से हार कर निर्बल हो गया तब चोल-वंश का प्रभाव खूब बढ़ा। आदित्यचोल

---

[१] दक्खिनी राज्यों के लिये ताम्रपत्र लेख 'ई० आई० इण्डिका' आई० ए० इत्यादि में है। संक्षिप्त इतिहास विंसेण्ट स्मिथ-कृत 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' (चौथा संस्करण) पृ० ४४३—५५ देखिये। मुसलमान विजय के लिए इलियट और डाउसन, पूर्ववत् भाग ३ देखिये।

(लगभग ८८०-९०७ ई०) ने पल्लव-राजा अपराजित को पराजित किया और चोल-वंश को धुर दक्खिन में प्रधान बना दिया। ९८५ ई० के लगभग चोलराज राजदेव गद्दी पर बैठा। उसने कृष्णा नदी के दक्खिन में लगभग सारे देश पर अपनी प्रभुता जमाई। उसने उत्तर में चालुक्यों को हराया और समुद्र पार १००५ ई० के लगभग लङ्का को और १०१४ ई० के लगभग अरब सागर के लक्कडिव, माल्डिव आदि टापुओं पर भी विजय पताका फहराई। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि राजराज के पास बड़ी भारी नौसेना थी और लड़ाई के जहाजों का बहुत अच्छा प्रबन्ध था। अन्य हिन्दू-नरेशों की तरह राजराज ने बहुत से मन्दिर बनवाये। सबसे बड़ा मन्दिर तञ्जोर का था जो आज तक मौजूद है। मदूरा, रामेश्वरम्, काँची आदि के मन्दिरों की तरह तञ्जोर मन्दिर भी बहुत बड़े घेरे में है, नगर सा मालूम होता है। दक्खिनी मन्दिरों के चारों ओर ऊँची दीवाल होती थी; अन्दर तालाब होते थे; बहुत से देवी-देवताओं के लिये बहुत से देवालय होते थे, प्रधान देवता के लिये मुख्य देवालय होता था और चारों ओर सब दीवालों और छतों पर, गोपुरम् पर और छतों के नीचे पत्थर की अनगिनित मूर्तियाँ होती थी। इन सब लक्षणों का बहुत अच्छा और ऊँचे दर्जे का उदाहरण राजराज का तञ्जोर-मन्दिर है।

चोल

राजराज

तञ्जोर मन्दिर

१०१८ ई० के लगभग राजराज का देहान्त हुआ और उसका लड़का राजेन्द्र प्रथम गद्दी पर बैठा। राजेन्द्र ने अपनी थलसेना और जलसेना के बल से अपना प्रभाव दूर-दूर के देशों पर फैलाया। १०२३ ई० के लगभग बङ्गाल के राजा महीपाल को नीचा दिखाया, १०२५-२७ में बर्मा देश के विशाल पीगू प्रदेश को जीता और तत्पश्चात् बङ्गाल की अण्डमान और निकोबर द्वीप समूहों को अपने साम्राज्य में मिलाया। अपनी राजधानी के लिये उसने गंगैकोंड चोलपुरम् नामक एक नया नगर बसाया, जो धन, ऐश्वर्य और सौन्दर्य में उस समय संसार के किसी भी नगर का सामना

राजेन्द्र प्रथम

कर सकता था। नगर का प्रधान मन्दिर बड़े घेरे का था और सुन्दर से सुन्दर मूर्तियों का आकार था। राजा ने नगर के पास ही एक बड़ी झील बनाई, जिसका बाँध सोलह मील लम्बा था और जिससे चारों ओर के प्रदेश की खेती की सिंचाई होती थी। दक्खिन में तालाब बनाने की प्रथा बहुत थी; सब ही राजाओं ने सिंचाई के लिये छोटे-छोटे और बड़े-बड़े तालाब बनवाये जिनके खँडहर आज भी हर तरफ नज़र आते हैं।

उत्तराधिकारी

१०३५ ई० में राजेन्द्र के मरने पर उसका लड़का राजाधिराज गद्दी पर बैठा। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने चालुक्यों से तथा और राजवंशों से बहुतेरे युद्ध किये। ग्यारहवीं ईस्वी-सदी में सुप्रसिद्ध धर्मप्रचारक रामानुज हुए, जिन्होंने वेदान्त में विशिष्टाद्वैत मत का उपदेश दिया और वैष्णवधर्म की वृद्धि की। रामानुज का प्रभाव जल्द ही दक्खिन से सारे देश में फैल में गया और हिन्दू-धर्म तथा तत्वज्ञान में अब तक दृष्टिगोचर है। साधारण साहित्य और कला की भी वृद्धि इस समय दक्खिन में बहुत हुई। ग्यारहवीं सदी से १३वीं सदी तक धुर दक्खिन का राजनैतिक इतिहास पुराने क्रम के अनुसार चलता रहा। चौदवीं सदी में मुसलमानों से मुकाबिला हुआ। देहली के खिलजी और तुगलक सुल्तानों ने दक्खिनी राजाओं को आसानी से हरा दिया, पर दूरी के कारण और स्वयं आपस के झगड़ों के कारण निर्बल होने से वह धुर दक्खिन पर अपनी पूरी सत्ता कभी नहीं जमा सके।

विजयनगर

चौदहवीं सदी के उत्तर-भाग में हरिहर और बुक्का ने एक नये विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की जो कृष्णा नदी से समुद्र तक फैल गया और जिसका शासन पुराने हिन्दू सिद्धान्तों के अनुसार होता रहा। विजयनगर-साम्राज्य दक्खिन में मुसलमान बहमनी राज्य से और १६वीं सदी के प्रारम्भ में उसके टूटने पर बीजापुर और गोलकुण्डा के सुल्तानों से बराबर की टक्कर लेता रहा। पर १५६५ ई० में दक्खिन सुल्तानों की

ध्वंस

संयुक्त सेना ने तालीकोट की लड़ाई में विजयनगर-सम्राट् को ऐसा हराया कि साम्राज्य सदा के लिये टूट गया। धुर दक्खिन

का बहुत-सा भाग सुल्तानों ने अपने राज्यों में मिला लिया और शेष भाग पर छोटे-मोटे हिन्दू-राजा राज करते रहे। स्पष्ट है कि धुर दक्खिन पर मुसलमानों का प्रभाव सबसे कम रहा। दक्खिन-पच्छिम में ट्रावनकोर राज्य सदा हिन्दुओं के ही हाथ में रहा।[1]

राजनैतिक विचार और सङ्गठन

प्राचीन समय के अन्तिम युग में राजनैतिक इतिहास का यह क्रम रहा।

अन्तिम युग की सभ्यता

अब इस युग की अर्थात ८वीं सदी से १२वीं ईस्वी-सदी तक की सभ्यता की कुछ बातों का उल्लेख करना है। सबसे पहिले राजनैतिक सङ्गठन और राजनैतिक विचार के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहनी हैं। इस समय उत्तर के राजनैतिक सङ्गठन में कोई नये ढङ्ग नहीं निकले और न कोई खास तरक्की हुई। इधर-उधर थोड़ा अन्तर अवश्य है पर वह बहुत महत्त्व का नहीं है। भवभूति के मालतिमाधव, महाबीरचरित और उत्तर-रामचरित से मालूम होता है कि राजा यज्ञ किया करते थे, कोई यज्ञ रानी के बिना पूरा नहीं था, शायद कहीं-कहीं शूद्रों को वेद पढ़ने या तप करने की मनाही थी। आठवीं सदी के लगभग माघ के शिशुपाल-वध में मण्डल, साम्राज्य और गुप्त दूत भेजने का सिद्धान्त है। इसी समय के लगभग विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में कुटिलनीति का अच्छा चित्र खींचा है। आठवीं और ६वीं सदी में जैन कवि जिन सेनाचार्य ने और

राजनैतिक सङ्गठन और विचार

---

[1] धुर दक्खिन के इतिहास के लिये शिलालेख और ताम्रपत्र लेख आई० ई०, ई० आई०, साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शन्स मद्रास एपिग्राफ़िस्ट्स रिपोर्ट, एपिग्राफिया कर्नाटिका, इत्यादि में हैं। कृष्णस्वामी आइगङ्गर-कृत 'एंशेण्ट इण्डिया' 'साउथ इण्डिया एण्ड हर मुसलमान इन्वेडर्स', 'सोर्सेज़ ऑफ विजयनगर हिस्ट्री' इत्यादि देखिए। आर० स्युएल, ए फ़ार्गाटन एम्पायर और मेजर, इण्डिया इन् दि फ़िफ़्टीन्थ सेंचुरी' भी उपयोगी हैं। संक्षिप्त इतिहास विंसेण्ट ए स्मिथ, पूर्ववत्, पृ० ४७८-६६ में हैं।

आदिपुराण

उसके मरने पर गुणभद्राचार्य ने आदिपुराण और उत्तर-पुराण में जैनमत के अनुसार कुलकरों और तीर्थंङ्करों के चरित लिखे हैं। कुलकरों ने लोगों को प्रकृति के बदलते हुए दृश्यों को समझाया और उनके अनुसार अपना जीवन पलटने का आदेश किया। पहिले तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने तीन वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्थापित किये और उनके कर्तव्य बताये। कुछ दिन बाद उनके समय में ही उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत ने तीन वर्णों में से योग्य आदमियों को लेकर ब्राह्मण जाति बनाई और उनको कर और दण्ड से मुक्त करके प्रजा के सम्मान का पात्र बनाया। कहा है कि जैन ब्राह्मण ही सच्चे ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण कहलाने वाले और लोग कोरे पाखण्डी हैं। जैन आदिपुराण से बराबर ध्वनि निकलती है कि राजा को आर्थिक, मानसिक और आध्यात्मिक बातों में प्रजा का नेता होना चाहिये।[1]

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति

राजा के कर्त्तव्य

जैन-हरिवंशपुराण में राजा श्रेणिक (बौद्धग्रन्थों का बिंबिसार) बहुत से जैन-मन्दिर बनवाता है और उसकी देखा-देखी सामन्त मन्त्री और प्रजा भी मन्दिर बनवाते हैं।[2] इससे भी जाहिर है कि हिन्दू राजा प्रजा की धार्मिक उन्नति का प्रयत्न किया करते थे। सुधर्मस्वामि गणभृथ के श्रीप्रश्नव्याकरणाङ्गम् से मालूम होता है कि ज़मीन्दारी सङ्घशासन सब तरफ़ प्रचलित था, सामन्त

---

[1] आदिपुराण की राजनैतिक झलकों के लिये देखिये पर्व १६। २४१-४६ २११, २२५-३२, २, १-७५ १६७-२०८ ॥ १७। ७६-७७, १, २१६ ॥ ३६। १३-१४, २०-२२, १०८-२४, १२७-४२, १५४-५७, २३० ॥ ४०। ४४०, ६३, ६७, १३६, १६२-६३ ॥ ४१। ४५-५५ ॥ ४२। २८१-६२ ॥ ३७। २-३, ११, १३-१४ ॥ ४३। २५६, २७६-७८ ॥ २६। ५८ ॥ ४। १४१-५६ ॥ उत्तरपुराण, ४८। ६-१०, २६-२७, ३१-३३, ६०-६१ ॥ ५४। ८०-८२ ॥ ६७। १४-१७ ॥[2] जैन-हरिवंशपुराण, पृ० १४८-४६ ॥

अन्य जैन ग्रन्थ

माण्डलिक भी कहलाते थे; राजा, सेनापति, पुलिस और, कर वसूल करने वाले कभी-कभी प्रजा पर बहुत अत्याचार करते थे।[१] चन्द्रप्रभसूरि के प्रभावक चरित में और बाड़िमसिंहसुरि के गद्य-चिन्तामणि और क्षत्रचूड़ामणि में भी इस तरह की राजनैतिक झलकें हैं। अनुयोग द्वारसूत्रम् में हरिभद्र के धर्मविन्दु में राजा-भक्ति पर जोर दिया है।

दसवीं ई०-सदी में जैन सोमदेवसूरि ने महाभारत, मनु, वसिष्ठ और ख़ास कर कौटल्य के आधार पर नीतिवाक्यामृतम् में राजनीति का पूरा वर्णन सूत्रों में किया। वह कहता है कि राजाओं और मन्त्रियों में सबसे ज्यादा जरूरत ज्ञान की है। मन्त्री ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य होने चाहिये। पर विदेशियों को कभी मन्त्री न बनाना चाहिये सेनापतियों को नीति पर कभी अधिकार न देना चाहिये क्योंकि वह लड़ाई पर हमेशा कमर बाँधे रहते हैं। राजा को खेती बढ़ानी चाहिये, बाज़ार की देख-रेख करनी चाहिये, चीज़ों के दाम मुकर्रर करने चाहिये, अधिकारियों और प्रजा के तथा दूसरे राजाओं के भाव और कर्म का पता लगाने के लिये दूतों को यति, ब्रह्मचारी, ज्योतिषी, वैद्य, सिपाही, सौदागर, गायक, नट, जादूगर, इत्यादि के भेष में चारों ओर भेजना चाहिये।[२]

सोमदेवसूरि

सोमदेव के दूसरे ग्रन्थ यशास्तलकचम्पू में भी, विशेषकर तीसरे आश्वास में, इसी तरह की कुछ बातें हैं। साहित्य के कुछ और ग्रन्थ हैं जिनसे थोड़ी सी राजनैतिक बातें मालूम होती हैं और केवल ऊपर के कथनों का समर्थन होता है जैसे भोज का युक्तिकल्पतरु, वैशंपायन की नीतिप्रकाशिका, चाणक्य के सूत्र, पद्मगुप्त का नवसाहसांकचरित,

अन्य साहित्य

---

[१] श्रीप्रश्नव्याकरणाङ्गम् १।७॥३।११-१२॥ [२] नीतिवाक्यमृतम् के राजनैतिक विचारों के लिये खासकर देखिये, सूत्र, ६२-६६, ७६-८०, ९३-९५, ९८-१००, १०२-१०४, १०६-२५, १२७-३७, ४९-१६०-६३, १७०-८४, १९०-९७, २४६-५०, २९५-३०५॥

मेरुतुङ्गाचार्य का प्रबन्धचिन्तामणि, सोमदेव का कथासरित्सागर, विद्यापति ठाकुर की पुरुष-परीक्षा, श्रीहर्ष का नैषध, वल्लालसेन का भोज-प्रबन्ध, धनपाल की (अपभ्रंश) भविसत्तकहा इत्यादि। इस काल में स्मृतियों के टीकाकार बहुत हुए—जैसे मेधातिथि, विज्ञानेश्वर। इन्होंने पुराने धर्म की व्याख्या तो की है पर उस धर्म को नई परिस्थितियों के अनुकूल भी बनाया है।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों के प्रकृत शासन के बारे में भिन्न-भिन्न पुस्तकों और ताम्र-पत्रों से कुछ बातें मालूम पड़ती हैं। सिन्ध के बारे में अरब-लेखक सुलेमान ने सिल्सलतुत्तवारीख में और इब्न खुर्दबा ने किताबुलमसालिक वलमसालिक में, अलमसूदी ने मुरूजुल्ज़हब में, अल् इद्रीसी ने नुज़्हतुलमुश्तक में लिखा है कि हिन्दुस्तान में अर्थात् सिन्ध और चारों ओर के प्रदेश में बहुत से राजा थे पर वह सब बल्हरा अर्थात् वल्लभीराय की सत्ता मानते थे। चाचनामा या तारीख-हिन्द व सिन्ध में लिखा है कि इस समय सिन्ध में सत्तर राजा थे जिनको एक आगामी लेखक मीर मुहम्मद मासूम ने तारीखुस्सिन्ध में जमीन्दार कहा है। इन अरब वर्णनों से उसी जमीन्दारी-सङ्घशासन प्रथा की ध्वनि निकलती है जो हिन्दू-ताम्रपत्रों और पुस्तकों से देश भर में व्यापक मालूम होती है। चाचनामा से मालूम होता है कि राज्य में एक सबसे बड़ा मन्त्री या वज़ीर होता था जो अफ्सरों को मुक़र्रर करता था। राजधानी अलोर में बहुत से महल और हवेली, बाग और कुञ्ज, तालाब और बेलों और फूलों की क्यारियाँ थीं। राज्य चार सूबों में बटा हुआ था जिनमें से प्रत्येक के ऊपर एक अध्यक्ष था। न्याय के लिये न्यायाधीश थे जिनको मुसलमान इतिहासकारों ने काजी कहा है। लड़ाई की सेना हमेशा तैयार रहती थी, सिपाहियों को वेतन ठीक समय पर दिया जाता था।[1]

सिन्ध

सङ्घ-शासन

मन्त्री

राजधानी

---

[1]अरब इतिहासकारों के लिए देखिए इलियट और डाउसन, पूर्ववत्, भाग १, पृ० १, ६-७, १३, २०-२१, ७५, १३८-४०; २११-१२॥

काश्मीर के बारे में राजतरङ्गिणी से सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के बारे में बहुत सी बातें मालूम होती हैं। राजतरङ्गिणी संस्कृत साहित्य के इने-गिने इतिहास-ग्रन्थों में से है और जैसा कि कह चुके हैं १२वीं सदी में कल्हण के द्वारा इसकी रचना हुई थी।

काश्मीर

काश्मीर में मुख्यत: दो-ही वर्ण थे—ब्राह्मण और शूद्र। कुछ अस्पृश्य जातियाँ भी थीं। बहुत से ब्राह्मण पुरोहित थे जिन्होंने अपनी श्रेणियाँ बना रक्खी थीं और जो पूजा-पाठ और व्रत कराते थे। रोटी-बेटी के सम्बन्ध में राजा, पुरोहित और जनता कभी-कभी जाति-पात की अवहेलना स्वतन्त्रता से करते थे। राजा से रोज़ दान लेना ब्राह्मण अपना हक़ समझते थे। डामर इत्यादि कुछ नीच जातियों के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जाता था। अनेक राजा और दर्बारियों के चरित्र बहुत गिरे हुए थे। भूत-प्रेत में बहुत विश्वास था।[1]

वर्ण

जमीन्दारी-सङ्घशासन प्रथा काश्मीर में भी थी पर उतनी नहीं थी जितनी कि मैदानों में।[2] कोई-कोई राजा ब्राह्मणों और बौद्धों को बहुत ज़मीन, द्रव्य, भोजन, वस्त्र इत्यादि देते थे; मन्दिर या बिहार बनवाते थे; अकाल या और किसी आपत्ति के आने पर अपने सारे खज़ाने से प्रजा की मदद करते थे, और यों भी सदाव्रत, अस्पताल, इत्यादि बनवाते थे, मन्दिरों की देखरेख करते थे; विद्या की वृद्धि करते थे; सिंचाई का प्रबन्ध

शासन

---

[1]राजतर०, ७ । ३६०, ३६८, १६-१७, ११, ३८, २०७ ॥ ८ । ७१०, ९०५, २३८३, ११०१ ॥ ४ ॥ ९६, ६७८ ॥ ५ । ७३, ३८९ ॥ १ । १३२, १४८, १६२ ॥ [2]राजतर० ३ । २७, २९ ॥ ४ । १४३, ४४७ ॥ ४ । १३६, १४०, २५०, ४५१-५२ ॥ ७ । ४८ ॥

करते थे और धर्म का प्रचार करते थे।[1] जयापीड़ ने बहुत दूर-दूर से विद्वान् बुलाकर अपने दरबार में रक्खे; राजाओं से ज्यादा उनका आदर किया और उनको मालामाल कर दिया। पर कोई-कोई राजा बड़े अत्याचारी और व्यसनी थे, मन्दिरों और विहारों को लूटते थे, प्रजा को कष्ट देते थे।[2]

अनशन

राज की गड़बड़ी से तङ्ग आकर ब्राह्मण बहुधा अनशन-व्रत करते हुए धरना देते थे। इन उपवासों से बड़ी हलचल मचती थी और राजा महाराजाओं के आसन डोल जाते थे। अक़्सर प्रजा के उद्देश्य इस तरह पूरे हो जाते थे।[3] जब इनसे भी काम नहीं चलता था तब प्रजा कभी-कभी बगावत करती थी या अत्याचारियों की हत्या करती थी[4]।

राजकर्मचारी

सरकारी काम के लिये बहुत पहिले ही राजा जलौक ने अठारह कर्मस्थान या दफ्तर कायम किये थे जो न्याय, कर, सेना, पुलिस, पर-राष्ट्र, धर्म इत्यादि का प्रबन्ध करते थे। ललितादित्य ने पाँच और अफ़सर क़ायम किये—जिनके नाम थे महाप्रतिपीड़, महासन्धिविग्रह, महाश्वशाल, महाभाण्डागार और महासाधनभाग, जो पञ्चमहा-शब्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। गृहकृत्य का महकमा महल के खर्च का और देवता, ब्राह्मण, परदेशी, गरीब वगैरह के लिए दान का प्रबन्ध करता था।

---

[1] राजतर० १। ६६, १२१, १४५-४८ ॥ २। २७-३३, १३२ ॥ ३। ५, २७, २६, ८, ११-१४, ४६१ ॥ ४, १८१, २१२, ४८४, ४८६-६४, ६७३ ॥ ५। ३२, ३३, १२४, १५८, १६६ ॥ ६। ८६ ॥ ७। १०६६-६८ ॥ ८। २४३ ४६, २३६ ।, २४१६, २४३३, ३३१६-१७, ३३४३-४४ ॥ [2] राजतर० २। १३२। ४। १८६, ३४७, ३६५, ६२८, ६३६ ॥ ५। ५२, १७०, १६-६६, २०६ ॥ ६। १७५ ॥ ७। ४३, १०६, ५७०, ६६६, १३४४, १०६०, १०८१, १०६२, १२१६-२७, २८५, ११०६-१५ ॥ ८। २७५६, ८६८, १८६६, ६७६-८० ॥[3] राजतर० ५। १७४ ॥ ६। ४३ ॥ ७, १०८८, १३, ४००-४०१ ॥ ८। २५१३, ७१०, ८६८-६००, ६०३-६०७, ६३६-४० ॥ [4] राजतर १। १७३ ॥ २। ११६, ५२८ ॥ ७। ६०२ ॥

राज की सेवा में बहुत से दिविर या लेखक थे जो बहुधा कायस्थ कहलाते थे, और जिनको कल्हण ने अत्याचारी कहकर गालियाँ सुनाई हैं। गाँव के मुखिया को ग्राम कायस्थ कहते थे। इसी तरह हर एक शहर का भी एक अधिकारी होता था। राज की

कायस्थ

अमदनी ज़मीन के अलावा सरहद, गढ़ी, पुल और बाज़ार में माल पर कर से भी होती थी। ग़रीब आदमियों से बेगार भी ली जाती थी।[1] ग्यारहवीं ई०-सदी के काश्मीरी कवि विद्यापति बिल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरित से इतनी ही नई बात मालूम होती है कि कोई-कोई राजा बड़े दानी और उदार होते थे और यह तो प्रगट ही है कि काश्मीर के राजाओं से विद्या और साहित्य को प्रोत्साहन मिला। राजकुमारियाँ ऊँची शिक्षा पाती थीं। इसी समय के लगभग क्षेमेन्द्र ने भारतमञ्जरी, बृहत्कथामञ्जरी, बोधिसत्वावदान कल्पलता इत्यादि ग्रन्थ लिखे जिनमें पुरानी रचनाओं का सरस मनोहर पद्य में संक्षेप है।

बिल्हण

काश्मीर के पास चम्बा रियासत में जो बहुत दिन तक काश्मीर की सत्ता मानती थी शिलालेख और ताम्रपत्र बहुतायत से मिले हैं। इनमें मन्त्री को अमात्य और प्रधान मन्त्री को राजामात्य या महामात्य कहा है। राजस्थानीय न्याय करता था, प्रमातार शायद सिर्फ़ दीवानी मुक़दमे का फैला करता था। दण्डिक और दण्डवासिक भी न्याय के अफ़सर मालूम होते हैं। क्षेत्रप खेती की रक्षा करता था। उपरिक, शौल्किक, गौल्मिक, चौरोद्धरणिक, अष्टपटलिक या महाक्षपटलिक और कायस्थ यहाँ भी वही काम

चम्बा

न्याय

---

[1] राजतर० १। ११८-२० ॥ ४। १३१। १४०-४३, ३५६, ५८, ६८०, ३४७, ६२८, ६३६, ॥ ५। १२७-३०, २४८, २३२, १०१-१७, १८०-१, १८ १७०, १६७ ॥ ६। ११७, ३०, ३८, ७०, ४१ ॥ ७। ३६४, ४२-६३, ५७०, १३०५-११०७ ॥ ८। २६४, ५७३, ७१३, ८१४; ८५ १०६, १३१, ५३, ४६, ५५, ७४, १३६, २०१०, ३३३६, २५८-५६, २७६ ॥

करते थे जो और राज्यों में। महल के अफ़सरों में खण्डरक्ष, छत्रछायिक और वेतकलि उल्लेखनीय हैं। सैनिक विभाग में हस्त्यश्वोष्ट्रबलव्यापृतक हाथी, घोड़े, ऊँट और पैदल का प्रबन्ध करते थे। वरियात्रिक भी एक फ़ौजी अफ़सर था। सेना में कुछ पहाड़ी जातियों के लोग भी थे जिनके अफ़सर अपनी ही जाति के होते थे। प्रादेशिक शासन में भोगिक या भोगपति और विषयपति के अलावा निहेलपति और नरपति का भी ज़िक्र है जो ज़िलों के हिस्सों के अधिकारी मालूम होते हैं। यहाँ ग्राम समूह अर्थात् परगना के अधिकारी को चाट कहते थे और उसके अधीन सहायक को भट। भोगिकों और विषयपतियों के सहायक विनियुक्तक कहलाते थे। दूत, गमागमिक और अभित्वरमाण इधर-उधर सन्देशा ले जाते थे। कर और न्याय का प्रबन्ध देश के और हिस्सों का सा ही था।[1]

राजकर्मचारी

प्रादेशिक शासन

उत्तरी मैदानों के शासन पर ताम्रपत्रों से बहुत प्रकाश पड़ता है। इस समय के मगध के ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है कि कभी-कभी महाराजाधिराज प्रसन्न होकर योग्य पुरुषों को दो-एक गाँव देकर राजा बना देते थे। कभी मत्स्यन्याय अर्थात् राजनैतिक गड़बड़ से तङ्ग आकर राजा महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक की उपाधियाँ देते थे।[2] ज़मीन्दारी सङ्घशासन की प्रथा इस समय पहिले से भी ज्यादा प्रचलित मालूम होता है। बड़े सामन्तों के लिए और उपाधियाँ—महासामन्ताधिपति और राजराजानक—इस समय जारी हुईं। राजकर्मचारियों में राजानक और राजपुत्र भी अक्सर गिनाये हैं, जिससे मालूम होता कि महाराजाधिराज या महाराज या राजा के पुत्र बहुधा ऊँचे पदों पर नियुक्त

मगध

उपाधि

---

[1] फोगल, 'एण्टिक्विटीज़ ऑफ़ चम्बा स्टेट,' न० १३, १५, २५, ३२॥ आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १६०२-१६०३, पृ० २३६-७१॥ आई० ए० १८८८ ई०, पृ० ७ इत्यादि। [2] [illegible] ० आई, २। न० २७॥ ४ न० ३४॥ ५ न० २४॥

अमात्य

और दण्डपाशिक

राज्यकार्य

कर

प्रादेशिक शासन

किये जाते थे। मन्त्रियों को बहुत राजामात्य कभी-कभी और महाकार्त्ताकृतिक कहते थे। मगध के ताम्रपत्रों में दौः साध-साधनिक और चौरोद्धरणिक पुलिस अफ़सर है। दण्डशक्ति भी पुलिस अफसर हो सकते हैं, पर बहुत करके शायद न्यायधीश हैं। शौल्किक और गौल्मिक चुङ्गी और जङ्गल का प्रबन्ध करते थे। दूत, खोल, गमागमिक और अभित्वरमाण इधर-उधर खबरें ले जाते थे। सरकारी क़ागज़ पत्र लिखने के लिए बहुत से लेखक थे जिनको कायस्थ कहते थे। मुख्य लेखक ज्येष्ठ कायस्थ कहलाता था। कर वसूल करने वालों में षष्ठाधिकृत भी था जो ज़मीन की पैदावार का षष्ठांश या षड्भाग जमा करता था। तरिक घाटों की देख-रेख करते थे और घाट की चुङ्गी जमा करते थे। तदायुक्तक और विनि-युक्तक छोटे कर्मचारी थे। भट शायद सिपाही थे, चाट पुलिस कर्मचारी। मगध के अन्य लेखों में कुछ और अधिकारियों के नाम हैं, जैसे क्षेत्रप—खेतों की रक्षा करने वाला, आन्तपाल—सरहद की रक्षा करने वाला, कोट्टपाल या खण्ड-रक्षक—सैनिक या पुलिस अफ़सर। राजा के हाथी, ऊँट, गाय-बैल, भैंस, घोड़ा-घोड़ी, भेड़-बकरे इत्यादि के प्रबन्ध के लिये भी कर्मचारी नियुक्त थे। प्रादेशिक शासन पहिले का सा ही रहा। भुक्ति और विषय के अलावा मण्डल का भी ज़िक्र आता है जो ज़िले का हिस्सा मालूम होता है। दशग्रामिक शब्द से मालूम होता है कि दस-दस गाँवों के समूह पर एक अधिकारी रहता था। गाँव में महत्तर, महत्तम, या महामहत्तर अर्थात् बड़े आदमियों की सलाह से प्रबन्ध होता था। करणिक कागज रखता था। कहीं-कहीं गुप्त समय के नाम राजस्थानीय और उपरिक भी आये हैं। दाशापराधिक भी एक तरह का न्यायाधोश था।[१]

---

[१] ई० आई० २। न० २७ ॥ ४। न ३४ ॥ ५ न० २४ ॥ ३। न० ३६ ॥ १२ न० २० ॥ आई० ए० : १ पृ० : १३ ॥ १५ पृ० ३०६ ॥ १७ पृ० ११ ॥

ग्यारहवीं सदी के कन्नौज ताम्रपत्रों में अन्य अधिकारियों के अलावा प्रतीहार, अक्षपटलिक (काग़ज़-पत्र रखने वाले), भिषज्, नैमित्तिक (ज्योतिषी), अन्त:पुरिक भी हैं। पट्टन (नगर), आकर (खान), स्थान (पुलिस के थाने), गोकुल (गोशाला) और अपर (दूसरे) स्थानों के अफ़सरों का भी उल्लेख है। करों में भागभोगकरे साधारण कर हैं, विषयदान जिले का कोई ख़ास कर है, तुरुष्कदण्ड शायद उत्तर-पच्छिम के शत्रुओं के लिये कोई कर है।[1]

कन्नौज राजकर्मचारी

बारहवीं सदी के कन्नौज लेखों में जातकर और गोकर भी आये हैं। यहाँ और दूसरे आस-पास के ताम्रपत्रों में सरकारी-लेखक जो कायस्थ कहलाते थे, बहुत से हैं।[2] बारहवीं सदी के कीर्तिपाल के ताम्रपत्र में महापुरोहित, धर्माधिकरणिक दैवागारिक, शङ्खधारि पण्डित; उपाध्याय, दैवज्ञ, बठक्कुर, महाक्षपटलिक आष्टवर्गिक, करणकायस्थ, महाद्वाशासनिक और महासाधनिक— यह अधिकारी भी लिखे हैं।[3] बङ्गाल के लेखों में और सब साधारण अधिकारियों के अलावा महाधर्माध्यक्ष (न्यायाधीश), महामुद्राधिकृत (टकसाल या मुहर का अफ़सर), महाव्यूहपति; महापपीलुपति (हाथियों का अफ़सर), महागणस्थ (फौजीगणों का अफ़सर भी) हैं।[4]

दूसरे राज्यों में भी बहुत कुछ ऐसी ही शासनप्रणाली थी। यहाँ केवल कुछ विशेषताएँ बताने की आवश्यकता है। उड़ीसा में महल के अफ़सर अन्तरङ्ग कहलाते थे। राजा के काग़ज पत्रों की देखरेख महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत के हाथ में थी। महाक्षपटलिक-

उड़ीसा

---

[1] ई० आई० १४ न० १५॥ [2] ई० आई० ४। न० ११ ॥ ७ न० ११ ॥ ८ न० १४ ॥ ११ न० ३। २ न० २३ ॥ आई० ए० १५ पृ० ६ ॥ १८ पृ० ९ ॥ जे० आर० ए० एस० १९०९ ई०, पृ० १०६६ ॥ [3] ई० आई० ७ न० १० [4] १२ न० ३, ई० आई० १८ ॥ १५ न० १५ ॥ १२ न० ८ ॥

भोगिक शब्दों से अनुमान होता है कि यह अधिकारी कभी-कभी कर प्रबन्ध करने के साथ-साथ किसी प्रान्त का शासक भी हो सकता था। बड़े प्रान्तों के शासक वृहद्भोगिक कहलाते थे।[1] कामरूप (आसाम) के वैद्यदेव के १२ वीं सदी के ताम्रपत्रों से मालूम होता है कि कभी-कभी मन्त्रियों के पद मौरूसी से हो जाते थे।[2] मालवा में दक्खिन की तरह बारह-बारह गाँवों के समूह पर एक-एक शासक रहता था। ग्यारहवीं सदी के जयसिंह के ताम्रपत्र में गाँव के मुखिया को पट्टकील कहा है। इस ताम्रपत्र में एक पट्टशाला—बहुत करके पाठशाला को दान दिया है।[3]

आसाम

मालवा

अल्मोड़ा, मारवाड़, बुन्देलखण्ड, छत्तीसगढ़ और वस्तर (मध्यप्रदेश) के ताम्रपत्रों में अधिकारियों की संख्या कम है, जिससे प्रकट होता है कि यहाँ शासन का विकास कम हुआ था। अल्मोड़ा की ओर कुलचारिक अर्थात् कुलों के मुखिया भी कुछ अधिकार रखते थे।[4]

अन्य प्रान्त

बारहवीं सदी के मारवाड़-लेखों से जान पड़ता है कि वहाँ गाँवों और कस्बों के आदमी अपना शासन पञ्चायतों-द्वारा आप ही कर लेते थे।[5]

मारवाड़

इस काल के लेखों में भी व्यवसायियों की श्रेणियाँ अच्छा स्थान रखती हैं। कभी-कभी दूर-दूर के गाँवों के एक ही व्यवसाय वाले लोग श्रेणी संगठित करते थे और मन्दिर इत्यादि बनवाने के लिये अपने ऊपर कर लगाते थे।[6]

श्रेणी

---

[1] ३ ई० आई०, १४ न० १ ॥ ३ न० १७ ॥ [2] ई० आई० २। न० २८ ॥ [3] आई० ए० १४, पृ० १५९ ॥ ३ न० ७ [4] ई० आ० १३। न० ७ ॥ १० न० ५, ६, ११, १७ ॥ ६ न०। २२ ॥ १ न० ५, २५, ३८। आई० ए०, १६ पृ० ३०, १ ॥ [5] ई० आई० ११ न० ४ (६, २१) ॥ [6] ई० आई०, १ न० २३ ॥

यह सब ताम्रपत्र दान के हैं, जिससे स्पष्ट है कि हिन्दू राजा जमीन, रुपया, भोजन-वस्त्र इत्यादि बहुत दान करते थे। सातवीं सदी की तरह अब भी बड़े-बड़े विद्यापीठ थे। उदाहरणार्थ, ९वीं सदी के धर्मपाल के स्थापित किये हुये विक्रमशिला विहार में १०७ मन्दिर थे, ६ बड़ी-बड़ी पाठशालाएँ थीं, १०८ शिक्षक थे और कुल मिला कर ८००० आदमी रह सकते थे। कहावत थी कि विक्रमशिला के दर्बान भी पण्डित थे और बिना शास्त्रार्थ किये किसी को अन्दर नहीं जाने देते थे।[1] राजदरबारों में वैद्य, ज्योतिषी, पहलवान वग़ैरह बहुत रहते थे।[2] प्राकृत जैनग्रन्थ अन्तगड़दसाग्र में कहा है कि चम्पा में शहर और देहात के सभी लोग आनन्द से रहते थे। कथा कहने वाले, पद कहने वाले, नाटक करने वाले, नाचने-गाने वाले, विदूषक, पहलवान, नट, रस्सी पर खेल करने वाले बहुत थे। कुएँ, तालाब, झील, बाग-बगीचे बहुतायत से थे। बाज़ार और रास्तों में हमेशा बड़ी भीड़ रहती थी। यहाँ राजा के स्नान का वर्णन बाणभट्ट का सा किया है। राजकुमार ७२ विद्या सीखता है, जैसे लिखना, पढ़ना, हिसाब, गाना, नाचना, बजाना, पक्षियों की बोली, रसायन, भूत, जेवर, कपड़ा वग़ैरह पहिनना, कुश्ती, तीरन्दाजी, हथियार चलाना, हाथी-घोड़ों की विद्या आदि। ग्यारहवीं सदी में संस्कृत के मुसलमान पण्डित अल्बेरूनी ने हिन्दू-सभ्यता का विस्तृत वर्णन लिखा जो साधारण अवस्था के लिये बहुत उपयोगी है। वह कहता है कि वैश्यों और शूद्रों में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था; शासन क्षत्रियों के हाथ में था; अदालत में जहाँ तक हो सके चार गवाह होने चाहिये; लोक-परलोक की क़स्में खाई जाती थीं और पानी, आग, तराजू वग़ैरह की परीक्षाएँ भी होती थीं। अपराधों के लिये ब्राह्मण

दान

विद्यापीठ

जीवन

अल्बेरूनी

वर्ण

न्याय

---

[1] नन्दोलाल दे, जे० बी० ए० एस० १९०९ ई०, पृ० १ ॥ [2] ई० आई०, १४ न० १५ ॥

क्षत्रियों के बनिस्बत वैश्य और शूद्रों को ज़्यादा सज़ा दी जाती थी। शूद्रों को वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार नहीं था।[१] पर मनु के टीकाकार मेधातिथि से और याज्ञवल्क्य के टीकाकार विज्ञानेश्वर से अनुमान होता है कि ७वीं सदी की तरह इस काल में भी कुछ अक्षत्रिय राजा थे।

न्याय के सम्बन्ध में पुरानी बङ्गला के मानसमङ्गल और चण्डिकाव्य के कवियों ने भी आठ परीक्षाएँ लिखी हैं—धर्म, अग्नि, पानी, स्थान, अँगूठी, साँप, लोहा और तराजू।

दक्खिन का सङ्गठन

दक्खिन की सभ्यता

उत्तर और दक्खिन की सभ्यता में कोई बड़ा अन्तर नहीं था। देश के धर्म, साहित्य, कला और आचार के विकास में दक्खिन का भाग बहुत महत्त्वपूर्ण था। हिन्दू-सभ्यता में जो परिवर्त्तन हुए, वह उत्तर की तरह दक्खिन में भी दृष्टिगोचर हैं। यहाँ केवल दक्खिन की दो एक विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है।

दक्खिनी शासन

दक्खिन में केन्द्रिक और प्रान्तीय शासन वैसा ही था जैसा कि उत्तर में।[२] दक्खिन के राजदरबारों में भी सैकड़ों पण्डित रहते थे; वहाँ भी राजा पाठशालाएँ बनवाते थे; विशेष पन्थों के लिए

---

[१] अलबेरूनी [अनु० जैकऊ] भाग १, पृ० ६६।१७०, १२५ ॥ २ ॥ पृ० १३६, १५८-६२ ॥ [२] ई० आई०, ७ । न० ६, २८, १३ । २६, १८, १६, २५, ३३, ६ । न० १६, ६, २, २४, ११, ८, ३१, ४, २१, १०, २६, १३ ॥ ५ । न० १८, ३, २५, १०, १५ ॥ ८ । न० ३३, ३१३ । न० ६, ३, १०, २७, ३७, ४०, १५ ॥ ४ नं० ३०, ५०, ६, २४, २६, ११ । न० १ ॥ १३ न० १४, २१३ ॥ १५ न० २१, ॥ १७ न० १०, १६ । न० ८, ६, ११, ॥ १२ । न० ३१, १६ ॥ ६ न० ३५ ई० ए० ११ पृ० २७३ ॥ १८ पृ० ३०६, ॥ ४ । पृ० १२ ॥ ७१०, १७, १८३, १८६ ॥ १२ । पृ० ६३ ॥ १३१०, १३८ ॥ २० पृ० १७, १०६, ४१७ ॥

व्याख्यानशाला स्थापित करते थे; कूएँ, सराय वग़ैरह निर्माण कराते थे।[1] वीरचोल के पिथम्पुरम् ताम्रपत्रों में गाँव का एक हिस्सा वैयाकरण को, दो मीमांसक को, एक वेदान्ती, एक-एक ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के शिक्षकों को, एक पौराणिक को, एक-एक वैद्य, नाई, विषवैद्य, ज्योतिषी इत्यादि को दिये हैं। विष्णु, कैलाशदेव और दूसरे देवताओं के मन्दिरों को भी हिस्से दिये हैं।[2] चालुक्य-राजा कुमारपाल ने जैनधर्म ग्रहण करने पर हेमचन्द्र के उपदेश के अनुसार शिकार खेलना, मांस खाना इत्यादि अपने राज्य में बन्द करा दिया था।

दरबार

विद्या

दक्खिन की महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रादेशिक शासन में है। नगर, ग्राम और ग्राम-समूहों के शासन में पञ्चायतों का अथवा यों कहिये जनता का भाग बहुत ज़्यादा था। दक्खिन के पुराने स्थानिक स्वराज्य का मुक़ाबिला दुनिया के किसी भी देश या प्रान्त के स्थानिक स्वराज्य से किया जाय तो वह घटिया न ठहरेगा। एपिग्राफ़िया इण्डिका, इण्डियन एन्टिक्वेरी, एपिग्राफ़िया कर्नाटिका, साउथ इण्डियन इस्किप्शन्स, मद्रास एपिग्रैफिस्ट्स रिपोर्ट इत्यादि में जो हजारों शिला-लेख और ताम्रपत्र प्रकाशित हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि नगर, ग्राम या या ग्राम-समूह के लोग प्रतिनिधि सभाओं के सदस्य चुनते थे और यह सभाएँ सारा प्रबन्ध करती थीं। जिन लोगों ने कोई बुरा काम किया हो, शासन का रुपया हज़्म किया हो, या अपनी अयोग्यता सिद्ध कर दी हो, वह सभा के सदस्य नहीं हो सकते थे। चरित्र का निर्णय जनता स्वयं कर लेती थी। छोटी वस्तियों में लोग एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते थे और एक-दूसरे के चरित्र से खूब परिचित थे। चरित्र के अलावा एक और बात प्रतिनिधियों में होनी चाहिये थी। या तो उनके पास लगभग डेढ़ एकड़ ज़मीन हो, या उनको इतनी शिक्षा हो कि वेद

प्रादेशिक शासन

प्रतिनिधि-सभा

---

[1] ई० आई०, १५ न० २४॥ [2] ई० आई०, ५ न० १०॥

या ब्राह्मण का पाठ सुना सकें। निर्वाचन के लिये प्रत्येक नगर या गाँव के कई हिस्से किये जाते थे और हर एक हिस्से में निर्वाचन के योग्य आदमियों की एक फ़ेहरिस्त बनाई जाती थी। इनमें से कुछ लोगों का निर्वाचन सम्मति से और कुछ लोगों का चिट्ठी डालकर होता था। इस तरह एक बड़ी समिति बनती थी। इसमें से पाँच-पाँच छः-छः सदस्यों की उपसमितियाँ बनती थीं जिनमें से हरएक को कोई ख़ास काम सुपुर्द कर दिया जाता था और अधिकार नियत कर दिये जाते थे। जैसे एक उपसमिति तालाबों की देख-भाल करती थी, उनकी मरम्मत कराती थी, सफाई रखती थी। दूसरी उपसमिति इसी तरह मन्दिरों का प्रबन्ध करती थी। इन सब उपसमितियों में पञ्चवारवारियम् अर्थात् पञ्चायत-उपसमिति प्रधान थी जिसमें शायद पाँच सदस्य होते थे और जो सब मामलों की अध्यक्षता करती थी। यह उपसमितियाँ और समितियाँ सब स्थानीय मामलों का प्रबन्ध करती थीं। गाँव या कस्बे की ज़मीन इनके हाथ में रहती थी, यह निकम्मी ज़मीन को उपजाऊ बनाती थी और ऐसी ज़मीन को थोड़े लगान पर किसानों को देती थीं। जब कोई ब्राह्मणों को या मन्दिरों को दान देने के लिये ज़मीन खरीदना चाहता था तो स्थानीय उपसमिति जाँच-पड़ताल करके ज़मीन का दाम तै करती थी। बहुधा गाँव या क़स्बे की समिति स्वयं कुछ दान करती थी। बहुधा वह दूसरों के दानों का प्रबन्ध करती थी। मन्दिर में दीप जलाने के लिये लोग रुपया या ज़मीन ज़्यादातर समिति के पास जमा कर देते थे।

निर्वाचन

उपसमिति

कर्त्तव्य

समितियों की आमदनी कर से होती थी जो यह अपने दायरे में लगाती थीं। यह कर कई तरह के होते थे जैसे ज़मीन पर या माल पर और कभी-कभी इनसे गाँववालों को तकलीफ़ भी होती थी। उदाहरणार्थ, एक बार ब्याह पर कर लगा दिया गया और एक

आमदनी

बार नाइयों पर। करों के अलावा गाँव वालों को कभी तालाब, मन्दिर और सड़क इत्यादि बनाने के लिये मुफ्त मेहनत करनी पड़ती थी।

पुलिस

यह समितियाँ पुलिस और न्याय का काम भी करती थीं। इनमें कुछ कर्मचारी अपराधों का पता लगाते थे, अपराधियों की खोज करते थे और मुक़दमे के लिये इन्हें समिति के सामने पेश करते थे। यदि जाँच-पड़ताल के बाद अपराध साबित होता तो समिति के न्यायाधीश या राज्य के न्यायाधीश निर्णय करके दण्ड का फ़ैसला सुनाते थे। दण्ड देने में नीयत का ख़याल रक्खा जाता था, जैसे अगर किसी से अनजान में हत्या हो जाय तो प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था। अगर कभी बहुत ज्यादा जुर्म होते थे जैसे अगर कभी डाकुओं के दल जनता को परेशान करते थे तो समिति राज्य से पुलिस या सेना की सहायता माँगती थी। यों भी समितियों पर राज्य के अधिकारी एक नज़र रखते थे। यदि समितियाँ अच्छा प्रबन्ध न करें या किसी आदमी या वर्ग पर अत्याचार करें तो राज्य के अधिकारी हस्तक्षेप कर सकते थे।

न्याय

सिंचाई

दक्खिन के राज्य-प्रबन्ध में दो एक और बातें विशेष उल्लेख योग्य हैं। खेती के लिये सिंचाई पर बहुत ध्यान दिया जाता था। नहर, तालाब, बाँध—सैकड़ों क्या हज़ारों की तादाद में बनाये गये। इनके अवशेष अब तक मौजूद हैं। जैसाकि कह चुके हैं, राजाओं ने मन्दिर भी बहुत से बनवाये जिनमें से कुछ तो संसार की अनोखी इमारतों में हैं। मदुरा, तञ्जौर, रामेश्वरम्, त्रिचनापली, चिद्रम्बरम्, कुम्बेकोनम्, श्रीरङ्गम् इत्यादि के मन्दिर बहुत लम्बे-चौड़े हैं और प्रत्येक मन्दिर मन्दिरों का एक समूह सा है, मन्दिरों का एक शहर-सा है। ऊँचे विशाल दरवाजों पर और चारों ओर दीवालों पर देवी-देवता, मनुष्यों और जानवरों की पत्थर की मूर्तियाँ बहुत घनी बनाई गई हैं। मूर्तियों के द्वारा ही कहीं-कहीं रामायण, महाभारत या पुराणों की कथाएँ बयान की हैं। कला के अलावा साहित्य को भी दक्खिनी राजाओं से बहुत

कला

प्रोत्साहन मिला। स्वयं बहुत से राजा संस्कृत या तामिल या तेलेगू-साहित्य के मर्मज्ञ पण्डित थे, विद्वानों को अपनी सभाओं में बुलाते थे, शास्त्रार्थ कराते थे, विद्वानों का आदर करते थे, उन्हें रुपया या ज़मीन देते थे और जो राजा स्वयं पण्डित न थे, उनमें से भी बहुत से इसी तरह विद्वानों का सत्कार करते थे। पाठशालाओं को भी रुपये और ज़मीन की मदद दी जाती थी।[1]

साहित्य

सामाजिक अवस्था

प्राचीन भारत के अन्तिम काल की सामाजिक अवस्था का पता अरब-लेखक अल्बेरूनी से और संस्कृत-साहित्य से लगता है। अल्बेरूनी कहता है कि चार वर्ण के लोग गाँव और शहर में पास-ही-पास मिले हुए रहते थे। क्षत्रिय वेद पढ़ते थे पर पढ़ाते न थे। शूद्र अगर चाहें तो, सूत का जनेऊ पहिन लेते थे। वह यज्ञ नहीं कर सकते थे। एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के साथ भोजन नहीं करते थे और दूसरे वर्ण वालों को बेवकूफ़ समझते थे। शूद्रों से नीचे अन्त्यज थे जैसे मोची, जुलाहे, बाजीगर, केवट, मछुये जिन्होंने अपनी श्रेणियाँ अलग बना रक्खी थीं पर जिनमें ज्यादातर लोग एक-दूसरे से ब्याह कर सकते थे। उनसे भी नीचे हाड़ी, डोम-चण्डाल इत्यादि थे जो गाँव का गन्दा काम करते थे। ऊँचे वर्ण के और पढ़े-लिखे आदमियों की भाषा साधारण लोगों की भाषा से अलग थी। बाल-ब्याह प्रचलित था, सगाई माता-पिता तै करते थे, रस्में ब्राह्मण कराते थे, न दहेज था और न तलाक़। पुरुष एक से लेकर चार तक शादी कर सकता था। घर के सब मामलों में स्त्रियों की राय ली जाती थी। राजाओं की

सामाजिक अवस्था

वर्ण

ब्याह

---

[1] दक्खिनी शासन के लिये ऊपर उल्लेख किये हुए शिलालेखों और ताम्रपत्रों के संग्रहों के अलावा देखिये कृष्ण स्वामी अय्यङ्गर, एन्शेण्ट इण्डिया, एवं सम कन्ट्रिब्यूशन्स ऑफ़ साउथ इण्डिया टु इण्डियन कल्चर।

विधवाएँ अक्सर सती हो जाती थीं पर बूढ़ी या पुत्रवती विधवाएँ सती नहीं होती थीं। स्वामी के मरने पर वारिस का धर्म था कि विधवा का पालना करे। पर बहुत विधवाओं के साथ अच्छा बर्ताव नहीं होता था। बहुत से लोग अपनी आमदनी के चार हिस्से करते थे—एक हिस्से से मामूली ख़र्च चलता था, दूसरा हिस्सा जमा कर दिया जाता था, तीसरा दान में दिया जाता था और चौथा अन्य श्रेष्ठ कामों में लगाया जाता था। कुछ और लोग थे जो कर देने के बाद आमदनी के तीन हिस्से करते थे—एक हिस्सा ख़र्च किया जाता था, दूसरा जमा किया जाता था। तीसरे के तीन हिस्से फिर किये जाते थे जिनमें से एक दान में दिया जाता था; और बाक़ी दो शेष धन की तरह ख़र्च किये जाते थे। हिन्दू लोग आपस में तो बहुत कम झगड़ा करते थे पर विदेशियों से बड़ी घृणा करते थे। वह समझते थे कि हमारा देश सबसे अच्छा है। हमारा धर्म, हमारी सभ्यता, हमारा विज्ञान, हमारी रीतिरिवाज सबसे अच्छे हैं। अपने देश का इतना गर्व था कि और सब को नीचा, तुच्छ, और हेय मानते थे। वे विदेशियों से अलग रहते थे। अल्बेरूनी कहता है कि हिन्दुओं के बहुतेरे रीति-रिवाज़ हमारे रीति-रिवाज़ों से इतने भिन्न हैं कि मानों जानबूझकर उल्टे बनाये गये हैं।[1]

स्त्री

दान

देश का अभिमान

कथासरित्सागर की कथाओं से मालूम होता है कि विद्या की प्यास छात्रों को दूर-दूर नामी गुरुओं के पास ले जाती थी।[2] उत्सवों में या और अवसरों पर कभी-कभी युवक-युवतियों में प्रेम हो जाता था और गन्धर्व-ब्याह होता था।[3] पर ज़्यादातर सगाई माता-पिता ही

कथासरित्सागर

---

[1]अल्बेरूनी (अनु० जैकऊ) भाग १, पृ० १०१-१३२, १०७, १३६, १३७, १४६, १८-२२ २७, ५१, ६१, १७६, १८१ ॥ भाग २। पृ० १४६, १५४-५५, १६४ ॥ [2]कथा० १। ३। [3]कथा० १। ४, ६ ॥ २। ११ ॥ ७। ३६ ॥ १२। ६८ ॥

करते थे ।[१] बहुत से समुदायों में लड़कियाँ पुरुष गुरुओं से पढ़ती थीं, संस्कृत का अध्ययन करती थीं ।[२] कहीं कहीं जवान लड़कियाँ अतिथियों की खातिर करती थीं । सोमप्रभा की कथा में लड़की अपने बाप से कहती है कि अभी मेरी शादी न करो ।[३] कभी-कभी बहुत दहेज दिया जाता था ।[४] कभी-कभी किसी समुदाय में जाति-पात का विचार किये बिना ही शादी होती थी ।[५] कभी-कभी पिता और पुत्र भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी होते थे जिससे आपस में कुछ मनमुटाव की सम्भावना रहती थी ।[६] एक कथा में एक राजा कन्या की पैदाइश पर रञ्ज करता है, एक बूढ़ा ब्राह्मण समझता है कि यह तो खुशी की बात है ।[७] एक दूसरी कथा में भी एक राजा अपनी रानी से कहता है कि कन्या बड़े दुःख की चीज़ है क्योंकि ब्याह करने में बड़ी कठिनाई होती है ।[८] कीर्तिसेन और उसकी सास की कथा से मालूम होता है कि सम्मिलित कुटुम्बों में कभी-कभी सास-पतोहू में बड़े झगड़े होते थे । इसके प्रेम ने मेरा बेटा लूट लिया, यह समझकर कभी-कभी सास, पतोहू पर बहुत अत्याचार करती थी ।[९] एक कथा में एक स्त्री के सती होने का हाल है ।[१०] कोई-कोई लड़कियाँ जन्म भर कुमारी रहना पसन्द करती थीं ।[११] एक कथा में एक जवान मछुआ एक राजकुमारी से ब्याह करता है ।[१२] यह भी मालूम होता है कि कभी बड़े-बड़े आदमी—मन्त्री आदि भी—नाचना सीखते थे ।[१३] नाटक-मण्डलियाँ जिनमें स्त्रियाँ भी पात्र होती थीं, इधर-उधर घूमा करती थीं ।[१४] श्राद्ध इत्यादि के लिये बहुत से राजा प्रयाग, काशी आदि तीर्थों को जाया

ब्याह

स्त्री

---

[१]कथा० ५२ । १३ ॥ [२]कथा० १ । ६ ॥ २ । १३ ॥ [३]कथा० ३ । १६ ॥ [४]कथा० ४ । २१ ॥ [५]कथा० ३ । १८ ॥ ५ । २४ ॥ [६]कथा० ६ । १८ ॥ [७]कथा० ६ । २८ ॥ [८]कथा० ७ । ३५ ॥ [९]कथा० ६ । २६ ॥ [१०]कथा० १० । ५८ ॥ [११]कथा० १२ । ६६ ॥ [१२]कथा० १६ । १०२ ॥ [१३]कथा० ६ । ४६ ॥ [१४]कथा० १२ । ७४ ॥

करते थे[1]। कथासरित्सागर में बहुत-सी कथाएं हैं जिसमें राजा पुत्रों को गद्दी दे कर बानप्रस्थी होने बन को जाते हैं।

तापस-वत्सराज

रामकृष्ण कवि के तापस-वत्सराज नाटक से भी मालूम होता है कि नाटक मण्डलियाँ बहुत थीं जो इधर-उधर दौरा किया करती थीं। तपस्वी स्त्रियों के मठ थे जिनमें संसार से तङ्ग आकर राजकुमरियाँ तक शरण लेती थीं। मेरुतुङ्गाचार्य के प्रबन्धचिन्तामणि में राजकुमारियाँ पण्डितों से शिक्षा पाती हैं, कभी-कभी अपनी मर्ज़ी के अनुसार जिससे चाहे ब्याह करती हैं। राजा, कवियों और विद्वानों का आदर करते हैं, सब लोग दान और तीर्थ की महिमा मानते हैं। एक मन्त्री ज्योतिष् के सब ग्रन्थ जलाना चाहता हैं क्योंकि उनसे धोखा हुआ था।

अनुलोम-ब्याह

ताम्रपत्रों से भी कुछ सामाजिक परिस्थितियों का पता लगता है। जोधपुर के प्रतीहार वाउक लेख से सिद्ध होता है कि अनुलोम अन्तर्जातीय ब्याह कम से कम नवीं सदी तक कभी-कभी होता था।[2] मुसलमान-लेखक इब्न-खुर्दवा का भी बयान है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय-कन्या से ब्याह कर सकता था, पर क्षत्रिय, ब्राह्मण-कन्या से नहीं।[3]

कायस्थ

कई ताम्रपत्रों में कायस्थों को ब्राह्मण या ठाकुर कहा है।[4] कायस्थ शब्द शुद्ध संस्कृत नहीं है, कायथ से बनाया गया है। कायथ का मूल ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता पर शायद स्किथियोज़ या स्क्युथीज़ हो, जिससे हिन्दुस्तान में किथियो या क्युथि बनेगा और जो बाहर से आने वाली एक जाति का नाम था। इनमें कुछ लिखने वाले थे। ग्रीस में स्किथियन लोग लेखक का काम करते थे। इनसे शायद किथियो = कायथ शब्द लेखक के अर्थ में प्रयोग होने लगा। शायद कुछ कायस्थ समुदाय स्किथियन जाति के रहे हों पर धीरे-धीरे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जो कोई भी

---

[1]कथा० १२। १०३॥ [2]ई० आई० १८ न० १२॥ [3]इलियट और डाउसन, पूर्ववत् १ पृ० १६॥[4]ई० आ ई० १ न० ५, ३८॥

लेखक का काम करते थे, कायथ = कायस्थ कहलाने लगे। धीरे-धीरे इनकी कई जातियाँ बन गईं। बारह कायस्थ जातियाँ आज तक मौजूद हैं।[१]

ताम्रपत्रों में ऐसे बहुत से राजाओं का ज़िक्र है जो मन्दिर, बिहार वग़ैरह बनवाते थे, परिषद्, पाठशाला स्थापित करते थे[२] और राजा और समाज विद्वानों की सभाएँ शास्त्रार्थ और वार्तालाप के लिए कराते थे।[३] बारहवीं ई० सदी में एक राजा आलणदेव ने अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी को जीव-हत्या की मनाही की थी कि जो हत्या करे या कराये, उसे प्राणदण्ड दिया जाय।[४] ग्यारहवीं सदी में जैन-लेखक अमितगतिसूरि ने सुभाषितरत्न-सन्दोह और धर्म-परीक्षा में ब्राह्मण वर्णव्यवस्था की कड़ी आलोचना की है।

बंगला-साहित्य

पुराने बङ्गला काव्यों से सामाजिक अवस्था के बारे में दो एक मनोरञ्जक बातें मालूम होती हैं। एक ऐसी बारात का ज़िक्र है जिनमें ७४००, बनिये ३०० भाट, ७००० आतिशबाजी वाले और सैकड़ों माली, नाई, जुलाहे और गाने-बजाने वाले थे। सैकड़ों मशालचो थे। सोने-चाँदी की ७७७ पालकियाँ थीं। दहेज भी बेतरह दिया गया। मैंमनसिंह के कवियों में युवक-युवतियों के प्रेम के उदाहरण हैं पर ज़्यादातर शादियाँ माँ-बाप ही कराते थे। ऊँची जातियों में विधवाओं के ब्याह की प्रथा उठ गयी थी; विधवाएँ व्रत-उपवास बहुत किया करती थीं। घर के और समाज के जीवन में स्त्रियों का प्रभाव अब भी बहुत था। हिन्दुस्तान के पूर्वी भागों में तन्त्रों का प्रचार बहुत बढ़ रहा था। कामरूप तान्त्रिक पन्थ के केन्द्रों में से था।

---

[१]यह धारणा लेखक को डॉ० ताराचन्द, प्रिंसिपल—कायस्थ-पाठशाला यूनिवर्सिटी कालिज, इलाहाबाद ने सुझाई थी। [२]उदाहरणार्थ ई० आई० १ न० २५, ३६ ।। २ न० १० ।।[३] ई० आई० ११ न० ४ (१२) ।। [४] दासगुप्त, जर्नल ऑफ़ दि डिपार्टमेण्ट ऑफ़ लेटर्स, कलकत्ता (यूनिवर्सिटी), भाग १४। १६२७ ई०, पृष्ठ १-१४६।

धार्मिक विचार और साहित्य

इस काल में धार्मिक विचारों का केन्द्र दक्खिन में था। आठवीं सदी में शङ्कराचार्य ने बौद्धधर्म का खण्डन करके ब्राह्मण-धर्म को बहुत बढ़ाया पर उन्होंने बौद्धों के बहुत से सिद्धान्त और रिवाज़ अङ्गीकार कर लिये। मूर्तिपूजा, अहिंसा, मठ, तन्त्र—यह बातें ब्राह्मण-धर्म में बौद्धों से आई हैं। संन्यासियों की व्यवस्था में भी शङ्कर ने बौद्धों का अनुकरण किया है। बौद्धधर्म को आखिरी धक्का मुसलमानों के हमलों से लगा। हर जगह मुसलमानों ने मठ तोड़े जो बौद्धधर्म के केन्द्र थे।

धर्म

कह चुके हैं कि ८वीं ई०-सदी के लगभग दक्खिन में जिनसेनाचार्य ने और उनके मरने पर गुणभद्राचार्य ने, जैनमहापुराण लिखा जिसके दो भाग हैं, आदिपुराण और उत्तरपुराण। जिनसेन कहता है कि जैनपुराण बहुत दिन से लिखे जा रहे थे; प्रत्येक पुराण में लोक, देश, तीर्थ, गति और फल का वर्णन होता है; पुराने लेखों के ही आधार पर उसने अपना इतिहास लिखा है। जैन लोग छः-छः कालों की दो महान् शृङ्खलाएँ मानते हैं—अनुसर्पिणी और अवसर्पिणी। अनुसर्पिणी में सुखम सुख; सुखम, सुखम दुखम, दुखम सुखम, दुखम और दुखम दुखम—यह छः काल होते हैं। अवसर्पिणी में यही काल दुखम दुखम से प्रारम्भ होकर उल्टे क्रम से चलते हैं। सुखम-सुखम में आदमी मीलों लम्बे होते थे और करोड़ों बरस जीते थे। रङ्ग सोने का-सा था, रूप बड़ा ही सुन्दर और सुख-परिपूर्ण था। कल्पवृक्षों से प्रकाश होता था और मन की अभिलाषा के अनुसार भोजन, वस्त्र, जेवर, फूल, बाजे, मकान इत्यादि मिलते थे। स्त्री के एक साथ ही दो सन्तान होती थी—एक लड़का और एक लड़की, जिनके जन्म के जरा बाद ही माता-पिता मर जाते थे और जो आगे पति-पत्नी की तरह रहते थे। सुखम-सुखम काल मानो अनगिनित बरसों तक रहा। इसके बाद सुखम-काल आया और कुछ परिवर्तन हुए।

जैनमहापुराण

सुखम-सुखम

सुखम

कल्पवृक्षों की ज्योति कुछ मन्द हो जाने से दो सूरज और दो चन्द्रमा बारी-बारी से नज़र आये और फिर बहुत दिन के बाद तारे दिखाई देने लगे। इन परिवर्तनों से डरे हुए लोगों को प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ने ढाढ़स दिलाई और सब भेद समझाया। फिर करोड़ों बरस पीछे कल्पवृक्षों के कम होने पर और लोगों में झगड़ा होने पर पाँचवें और छठे कुलकर सीमन्तक और सीमन्धर ने वृक्षों पर निशान लगाकर सीमाएँ नियत कर दीं। ग्यारहवें कुलकर नाभि के समय में कल्पवृक्ष बिलकुल लोप हो गये और बादल, मेह, साधारण वृक्ष, बनस्पति, फलफूल पैदा होने लगे। पशु भयङ्कर होने लगे। नाभि ने व्याख्यानों के द्वारा यह सब भेद बताया और पैदावार का प्रयोग सिखाया। अब तो सारा जीवन ही बदल गया। अन्तिम कुलकर और पहिले तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने गाँव और नगर बसाये, दो-सौ, चार-सौ, आठ-सौ गाँवों के समूह शासन के लिये स्थिर किये, चार बड़े राजा और उनके नीचे एक हजार छोटे-छोटे राजा स्थापित किये; दण्ड और जेलखाने का विधान किया; असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन छः उद्योगों की व्यवस्था की; लोगों को गुणों के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र जातियों में बाँटा; शूद्रों के दो भाग किये—एक तो कारु जैसे नाई, धोबी, इत्यादि और दूसरे अकारु। कारु शूद्रों के फिर दो भाग किये—एक तो स्पृश्य और दूसरे अस्पृश्य। पुरानी भोगभूमि अब बिल्कुल कर्मभूमि हो गई। ऋषभ के पुत्र चक्रवर्ती भरत ने तीनों जातियों से कुछ-कुछ लोग लेकर ब्राह्मण जाति बनाई और उसे सबसे बड़ा ठहराया। पर उसी समय ऋषभ को स्वप्न हुआ कि यह ब्राह्मण आगे जैन-धर्म से पतित होकर हिंसा और पाखण्ड में गिर जाँयगे।[1] उत्तर पुराण में बाकी तेईस तीर्थङ्कर और राम, कृष्ण, जीवन्धर, श्रेणिक आदि महापुरुषों

कुलकर

जीवन का विधान

वर्ण

[1] आदि० ३ ॥ १६ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

उत्तर पुराण

के चरित्र हैं। यहाँ एक ग्रन्य जैनग्रन्थों में भी धर्म की बड़ी महिमा गाई है—अर्थ, काम, सुख सबका आधार धर्म है। धर्म ही आत्मा को मुक्ति में धरता है। अहिंसा और वैराग्य की बड़ी प्रशंसा की गयी है। महापुराण की बहुत-सी कथाओं से मालूम होता है कि उस समय पर्दे का रिवाज नहीं था, पति-पत्नी साथ-साथ मन्दिर, बाग़ वग़ैरह जाते थे। कुछ जगह माता-पिता अपने लड़कों का ब्याह, इसलिये जल्दी करते थे कि कहीं वह वैरागी न हो जाय। नाचने-गाने वाले बहुत थे और इधर से उधर घूमा करते थे। चक्रवर्ती भरत के राज्य में ३२,००० नाट्य-गृह बताए गये हैं। बाग़-बग़ीचे भी बहुत थे। आश्रमों और विद्याओं का वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों के ढङ्ग का ही है। ब्याह, स्वयंबर इत्यादि भी उसी ढङ्ग के हैं। विद्याधर, अप्सरा, गन्धर्व इत्यादि का जीवन पूर्ण आनन्द-प्रमोद का है।[1] हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में ऋषभदेव के पूर्व भवों का भी वर्णन हैं जो एक तरह के जैन-जातक हैं।

धर्म

सामाजिक अवस्था

जैन-साहित्य

इस समय के विश्वास के अनुसार जैन-साहित्य के चार भाग थे—(१) प्रथमानुयोग, जो २५५४४२३१०७५०० श्लोकों में तीर्थङ्करों के जीवन का वर्णन करता है, (२) करणानुयोग, जिसमें विश्व का वर्णन है, (३) चरणानुयोग, जिसमें मुनियों और श्रावकों (गृहस्थों) के चरित्र का वर्णन है, और (४) द्रव्यानुयोग, जिसमें द्रव्यों का वर्णन है, अर्थात् भौतिक शास्त्र है। प्रत्येक अनुयोग में बहुत से ग्रन्थ थे।

जैन-हरिवंशपुराण इत्यादि

एक और जैनपुराण का उल्लेख यहाँ उचित है। हरिवंश पुराण में महाभारत की कथा का कुछ परिवर्त्तन करके जैन रूपान्तर किया है। यहाँ कौरव, पाण्डव और प्रजा सब जैन हैं। यहाँ भी स्वयंवर है। द्रौपदी केवल अर्जुन से ब्याह

---

[1] आदि० ४ ॥५ ॥ ७ ॥८॥ १२ ॥१५॥ १६ ॥१७॥ १९-२२॥ २७-४५॥

करती है, पाँचों पाण्डवों से नहीं। यहाँ भी सौतों में खूब झगड़े होते हैं। महा-पुराण की तरह हरिवंश पुराण में भी सुखम-सुखम इत्यादि कालों का वर्णन है।[1] पद्मपुराण इत्यादि अन्य जैन-पुराणों में रामायण की कथा का तथा और बहुत ही कथाओं का जैनरूपान्तर और, कुछ बातों में नया संस्करण है। उदाहरणार्थ, जैन कथा में रामचन्द्र के बन जाने पर दशरथ का देहान्त नहीं होता, वह संसार-त्याग कर बन को चले जाते हैं।

काव्य

इस काल में बीसों कवि हुए पर कालिदास क्या भारवि के टक्कर का भी कोई नहीं है। पुराने कवियों की नक़ल करते-करते, काव्य के नियमों की जञ्जीरों को ज़ेवर मानते-मानते, वह अपनी थोड़ी बहुत प्रतिभा से भी हाथ धो बैठे। उनमें जहाँ-तहाँ अच्छा शब्द-विन्यास हैं,

गुण-दोष

प्रकृति का वर्णन कहीं-कहीं बुरा नहीं है। शृङ्गार की दो-चार अच्छी चोटें हैं, पर कविता में स्वाभाविकता न होने से सचाई नहीं है। केवल कुछ मुख्य ग्रन्थों का उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता है। भौमक ने रावणार्जुनीय या आर्जुनरावणीय में रावण और अर्जन-कार्तवीर्य का संग्राम रामायण के आधार पर बयान करते हुए व्याकरण के उदाहरण दिये हैं। कश्मीर में शिवस्वामी ने अवदानशतक से एक कथा

कुछ अन्य-ग्रन्थ

लेकर कप्फणाभ्युदय एक बौद्धकाव्य किरातार्जुनीय और शिशुपाल वध की शैली पर लिखा। कश्मीर में ही अभिनन्द ने कादम्बरी कथासार, क्षेमेन्द्र ने ११वीं सदी में रामायण-मञ्जरी, भारतमञ्जरी, दशावतारचरित और मेख ने श्रीकण्ठचरित लिखा। ११-१२ वीं ई०-सदी में सन्ध्याकर नन्दी ने रामपालचरित में ऐसी भाषा लिखी है कि एक साथ ही रामकथा भी और बङ्गाल के राजा रामपाल की कथा भी बयान हो गई है। इसी तरह कविराज ने राघवपाण्डवीय में रामायण और महाभारत की कथाएँ एक साथ कही हैं। जैनश्रुतिकीर्त्ति ने भी एक ऐसा ही राघवपाण्डवीय-काव्य लिखा है। भाषा पर यह अधिकार

---

[1] हरिवंश पुराण।

प्रशंसा के योग्य है पर इस जञ्जाल में कविता की फाँसी हो गई। जैनकवियों में दक्खिनी कनकसेनवादिराज ने यशोधरचरित, माणिक्यसूरि ने उसी नाम का दूसरा काव्य, हरिचन्द्र ने धर्माभ्युदय, देवप्रभसूरि ने पाण्डवचरित और मृगावतीचरित, सुन्दरगणिन् ने महीपालचरित, लोलिम्बराज ने हरिविलास और अमरचन्द ने बालभारत काव्य की शैली पर रचे। बारहवीं सदी के लगभग श्रीहर्ष ने भारवि और माघ के ढङ्ग पर नैषधीय या नैषधचरित लिखा जो पाँच महाकाव्यों में गिना जाता है और जिसमें महाभारत के नल-दमयन्ती उपाख्यान को काव्य का रूप दिया गया है। आठवें सर्ग में नल के अकस्मात् प्रकट होने पर दमयन्ती कहती है :—

नैषध-चरित

"आपको देखते ही उठ कर मैंने अपना आसन जो आपकी ओर कर दिया वह यद्यपि आपके योग्य नहीं है, तथापि उसको—आप और ही कहीं जाने की इच्छा भले ही क्यों न रखते हों—क्षण भर के लिये तो अलंकृत कीजिये (२३)।"

कहिये तो सही, शिरीष की कलियों की कोमलता के भी अभिमान को हरण करनेवाले, अत्यन्त कोमल, इस चरणद्वय को आपका निर्दयी मन और कहाँ तक कष्ट देना चाहता है? (२४)... यदि आप मनुष्य हैं तो पृथ्वी कृतार्थ है, यदि आप देवता हैं तो देवलोक धन्य है, यदि आपने नागकुल को अलंकृत किया है तो नीचे होकर भी नागलोक किसके ऊपर नहीं? (४७)। इस महीतल में इतना अधिक पुण्य किसने किया है जिसके उद्देश से आपके भी पद गलियों की धूल में कमल की-सी माला बिछाते चले जाते हैं? (४८)। सन्देह की दोला का अवलम्ब करके, मैं नहीं जानती, कितने-कितने प्रकार की कल्पना मेरी बुद्धि कर रही है। अच्छा बहुत हुआ! अब इस प्रकार की सम्भावनाओं से कोई लाभ नहीं। आप ही कृपापूर्वक स्पष्ट कहिये कि किस धन्य के आप अतिथि होने आये हैं? (४९)। नल ने अपना नाम तो नहीं बताया पर कहा :—

दमयन्ती के प्रश्न

"अपने स्वामिवर्ग के सन्देश को प्राणों के समान अन्तःकरण में बड़े आदर से धारण करके दिक्पाल देवताओं की सभा से मैं तुम्हारा ही अतिथि होने आया

नल का उत्तर

हूँ (५५)। बस, रहने दीजिये, मेरा आदर हो चुका। बैठिये, आसन क्यों छोड़ दिया ? मैं जिस काम के लिये तुम्हारे पास आया हूँ यदि उस काम को तुम सफल कर दोगी तो उसी सफलता को मैं अपना सर्वोत्तम आतिथ्य समझूँगा (५६)।

नवें सर्ग में भेष बदले हुए नल के समझाने पर कि देवता उसे चाहते हैं पर वह अपने चाहे हुए नल को नहीं पा सकती दमयन्ती घबड़ाती है, रोती है और विलाप करती है :—

दमयन्ती का विलाप

"हे कामाग्ने ! तू शीघ्र ही मेरे शरीर को भस्म करके अपने यशःसमूह का विस्तार कर। हे विधाता ! दूसरे की कामना भङ्ग करना ही तेरा कुलव्रत है ! तू भी मेरे इन दुष्ट प्राणों से तृप्त होकर पतित हो जा। (८८) हे अन्तःकरण ! वियोग-रूपी ज्वाला से प्रज्वलित होकर भी तू क्यों नहीं विलय को प्राप्त होता है ? यदि तू लोहे का है तो भी तप्त होने से तुझे गल जाना चाहिये !... तू कामवाणों से विंध रहा है। अतएव तू बज्र का भी नहीं। फिर तू ही कह, तू किस वस्तु से बना है ? क्यों नहीं तू विदीर्ण हो जाता ? (८९)। हे जीवित ! तू देरी क्यों कर रहा है ? क्यों नहीं झटपट निकल खड़ा होता ? क्या तुझको सूझ नहीं पड़ता कि तेरा घर अर्थात् मेरा हृदय, जहाँ तू बैठा है, जल रहा है ? तेरा आलस्य देखकर आश्चर्य होता है (९०)। इस समय मेरा एक-एक क्षण एक-एक युग के समान जा रहा है। कहाँ तक सहन करूँ ! मुझे मृत्यु भी नहीं आती। मेरा प्रियतम मेरे अन्तःकरण को नहीं छोड़ता और मेरा प्राण मेरे मन को नहीं छोड़ता। हाय-हाय ! अपार दुखपरम्परा है ! (९४)। हे प्रियतम ! तुम्हारे लिये दमयन्ती कथाविशेष हो गई, यह तुम पीछे से क्या न सुनोगे ? अतः हे नाथ ! यदि इस समय तुमको मुझ पर दया नहीं आती तो उस (समय)...तो अपनी दया के दो-एक कणों से मुझे अनुगृहीत करना" (९९)।[१]

---

[१] भावानुवाद—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी।

सातवीं-आठवीं सदी के लगभग अमरु ने भी एक शतक रचा जिसमें मुख्यतः शृङ्गार का विषय है। बिल्हण ने चौरपञ्चाशिका में प्रेम पर ५० पद बनाये हैं। बङ्गाल में लक्ष्मण सेन के राज्य में जयदेव ने राधाकृष्ण के प्रेम में गीतगोविन्द रचा जो सर्वोत्तम संस्कृत-कविताओं में गिना जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण के गुण, रास, चरित्र और विरह गये हैं और प्रार्थनाएँ की हैं। दो-चार पदों के उदाहरण लीजिये :—

अमरु

बिल्हण

जयदेव

अहिग्राम के त्रास बयार भले मलयाचलवासी प्रबास लियो।
तनताप मिटावन आस चल्यो तुहिनाचल जाय नहाय जियो॥
लखि फूले रसाल के मौलि पै मोल ह्वै मोदित कोकिल कूक कियो।
तिनकी कलकोमल मन्द महामधुरी धुनि बानी में कान दियो॥

गीतगोविन्द

रस बासना बन्धन सांकरि राधिका धारि हिये ब्रजनारि बिसारी।
ढूँढ़ि इतै उत हारे हरी हिये आतुरता उमड़ी अतिभारी॥
तापतचे शर मैन के घाव मिट्यो चित चाव करै दृग चारी।
ऐसे कलिन्दसुता तट व्याकुल गोकुल चन्द चकोर तृषारी॥
ऊँचे उसासन आस बन्ध्यो मग ताकत बीतत साँझ सवारो।
कुञ्ज में जाइ सुहाइ कछू न फिरै फिरि देखि कै दौरि दुवारो॥
सेज संवारि बिहारि के हेतु निहारि अचेत ह्वै जात विचारो।
कामक बान ते कातर ऐसो निहार्यो पियारी तिहारो पियारो॥
भौंह कमान समान बनी अलकैं झलकैं गुनलौं अनुमानों।
बङ्कबिलोकनि बाणन को अपमान कियो अभिमान हिरानों॥
अङ्गन की छबि राधिका जीत्यो अनङ्ग थक्यो नहिं जात बलानों।
जीतनहार हथ्यार दिये जग के हरके अरि हारिकै मानों॥
पूजित है मनदार प्रसूनितैं मानो महा जयराज शिरी के।
कैधौं सिन्दूरक अंकित-अंकित कीन्हें निशङ्क ह्वै युद्ध करी के॥

पोड़ हत्यो कुवलय गजपीड़ लगे कण शोणित धार झरी के।
होहु अखण्ड सहाय तुम्हैं छबिसों भुजदण्ड प्रचण्ड हरी के ॥[1]

फुटकर कविता

इस काल में फुटकर कविता के बहुत से संग्रह भी बनाये गये। उदाहरणार्थ, कवीन्दवचनसमुच्चय में बहुत से कवियों के पद्यों का संग्रह है जिनमें से कुछ बहुत ऊँचे दर्जे के हैं। राजनीति-समुच्चय, चाणक्यनीति, वृद्धचाणक्य इत्यादि में सांसारिक मामलों पर बहुत-सी नीति कही है। चातक शतक में जीवन के सिद्धान्त हैं।

कथा-ग्रन्थ

इस समय के साहित्य में कथाओं के ग्रन्थ विशेष उल्लेख के योग्य हैं। कथा लिखने की प्रणाली देश में बौद्ध-जातकों के समय से चली आती थी। इसमें हिन्दुओं ने इतनी उन्नति की कि संसार में कोई साहित्य उनकी बराबरी न कर सका और स्वयं उनकी कथाएँ अनेक देशों में फैल गईं।

वृहत्कथा

गुणाढ्य की पैशाची वृहत्कथा खो गई है, पर बहुत से लेखकों ने उसका ज़िक्र किया है। बुद्ध स्वामी ने श्लोक-संग्रह में वृहत्कथा का संक्षेप किया है। दूसरा संक्षेप है क्षेमेन्द्रकृत वृहत्कथा मञ्जरी।

कथासरित्सागर

सोमदेव के कथासरित्सागर पर भी इसका बहुत प्रभाव पड़ा। इस बड़े ग्रन्थ में कथाओं के भीतर कथाएँ हैं और फिर उनके अन्तर्गत कथाएँ हैं, यहाँ तक कि तह-पर-तह जमती चली गई हैं। कथा की कला—परिमाण, प्रसाद, रोचकता, सरलता—बड़े ऊँचे दर्जे की है। शैली का अनुमान पहिले लम्बक की तीसरी तरङ्ग के इन वाक्यों से कुछ-कुछ हो जायगा। एक कठिन दुर्भिक्षा के समय ब्राह्मण यज्ञदत्त राजा पुत्रक से कहता है :—

---

[1]. अनु०—पं० रायचन्द नागर।

"श्री काशीपुरी में ब्रह्मदत्त नामक एक राजा हुए हैं। उन्होंने रात्रि के समय देखा कि हंस का एक जोड़ा आकाश में उड़ा जाता है, जिसके शरीर में सोने की सी झलक है और सैकड़ों राज-हंस उस जोड़े को चारों ओर से यों घेरे हैं मानो श्वेत बादलों का समूह विद्युत्पुञ्ज के चारों ओर मण्डल बाँधे हो। राजा को उस जोड़े के पुन: देखने की ऐसी उत्कण्ठा बढ़ी कि उनका मन महल के सुखों में किसी प्रकार न लगता था। मन्त्रियों की सलाह से उन्होंने एक परम सुन्दर स्वच्छ तालाब वहाँ बनवाया और इस बात की डुग्गी फिरवा दी कि हमारे राज्य से प्राणिमात्र को अभयदान दिया गया। कुछ दिनों के उपरान्त हंसों का वह जोड़ा लौट आया। राजा उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुए और जब उन हंसों को भी अभय का विश्वास हो गया तो समीप आकर बैठ गये। राजा ने पूछा कि आप लोगों का शरीर सोने का क्योंकर हुआ ? तो वे दोनों मनुष्य-वाणी से यों कहने लगे कि हे राजन् ! हम दोनों पूर्व जन्म के कौवे हैं, बलि (भोजन) के निमित्त लड़ते-लड़ते एक पवित्र शिवालय के शिखर पर गिर के मर गये। इसी कारण इन जन्म में हंस हुए और शिवालय में मरने के कारण हमारे शरीर में सुवर्ण की-सी चमक हो गई और हमें अपने पूर्व-जन्म की कथा भी स्मरण रही। ऐसी उनकी बात सुन राजा बहुत प्रसन्न हो गये और चिरकाल तक उन्हें देखकर परम सन्तुष्ट हुए। इसीलिये कहता हूँ कि अन्न और धन का सदाव्रत खोल देने से आप अपने खोये हुए पिता तथा चाचा (जो दुर्भिक्ष के मारे कहीं चले गये थे) को पा जावेंगे। यज्ञदत्त का ऐसा उपदेश सुन पुत्रक राजा ने सदाव्रत खोलने की आज्ञा उसी क्षण दे दी। इस दान की चारों ओर धूम मच गई, जिसे सुनकर वे ब्राह्मण लोग भी लौट आये और निज भार्य्याओं द्वारा पहिचाने जाकर धन-धान्य से सुखी हो रहने लगे। . . . कुछ दिनों के उपरान्त उन सभों की ऐसी इच्छा हुई कि पुत्रक को मारकर स्वयं राज्य छीन लेवैं . . . ?"[1]

यह युग नाटकों के लिये बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं पर दो एक अच्छी रचना

---

[1] अनु०—श्री रामकृष्ण वर्मा।

नाटक

अवश्य हुईं। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस बड़ा ज़ोरदार ऐतिहासिक और राजनैतिक नाटक है जिसमें पाटलिपुत्र के नन्दवंश के पतन और चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्थान के बाद कुछ राजकीय कूटनीति की घटनाएँ हैं। पहिले अङ्क में अपने ही घर पर चाणक्य अपनी खुली शिखा को हाथ से फटकारता हुआ आता है।

मुद्राराक्षस

चाणक्य—बता! कौन है जो मेरे जीते चन्द्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है?

सदा दन्तिके कुम्भ को जो विदारै। ललाई नए चन्दसी जौन धारै॥
जम्भाई समै काल सो जौन बाढ़ै। भलो सिंह को दाँत सो कौन काढ़ै॥

और भी—

कालसर्पिणी नन्दकुल, क्रोध धूमसी जौन।
अबहूँ बाँधन देत नहिं, अहो शिखा मम कौन॥
दहन नन्दकुल बन सहज, अति प्रज्वलित प्रताप।
को मम क्रोधानल पतङ्ग, भयो चहत अब पाप॥

शारङ्गरव! शारङ्गरव!!

(शिष्य आता है)

शिष्य—गुरुजी! क्या आज्ञा है?

चाणक्य—बेटा! मैं बैठना चाहता हूँ।

शिष्य—महाराज! इस दालान में बेंत की चटाई पहिले ही से बिछी है, आप विराजिये।

चाणक्य—बेटा! केवल कार्य में तत्परता मुझे व्याकुल करती है न कि और उपाध्यायों के तुल्य शिष्यजन से दुःशीलता। (बैठकर आपही आप) क्या

सब लोग यह बात जान गये कि मेरे नन्दवंश के नाश से क्रुद्ध होकर राक्षस, पिता-वध से दुखी मलयकेतु से मिलकर यवनराज की सहायता लेकर चन्द्रगुप्त पर चढ़ाई किया चाहता है। (कुछ सोचकर) क्या हुआ जब मैं नन्दवंश की बड़ी प्रतिज्ञा रूपी नदी से पार उतर चुका, तब यह बात प्रकाशित होने ही से क्या मैं इसको न पूरी कर सकूँगा ? क्योंकि...—

नवनन्दन कौं मूल सहित खोद्यो छन भर में।
चन्द्रगुप्त मैं श्रीराखो नलिनी जिमि सर में॥
क्रोध प्रीति सों एक नाशि कै एक बसायो।
सत्र मित्र को प्रगट सबन फल लै दिखलायो॥

अथवा जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता तब तक नन्दों के मारने से क्या और चन्द्रगुप्त को राज्य मिलने से ही क्या ?

× × ×

(यम का चित्र हाथ में लिये योगी का वेश धारण किये दूत आता है।)

दूत—अरे—

और देव को काम नहिं, जम को करो प्रनाम।
जो दूजन के भक्त को, प्रान हरत परिनाम॥

और,

उलटे ते हूँ बनत हैं, काज किये अति हेत।
जो जम जी सब को हरत, सोई जीविका देत॥

तो इस घर में चलकर जमपट दिखाकर गावें।

(घूमता है)

शिष्य—रावल जी ! ड्योढ़ी के भीतर न जाना।

दूत—अरे ब्राह्मण ! यह किसका घर है ?

शिष्य—हम लोगों के परम प्रसिद्ध गुरु चाणक्य जी का।

दूत—(हँसकर) अरे ब्राह्मण, तब तो यह मेरे गुरुभाई ही का घर है, मुझे भीतर जाने दे, मैं उसको धर्मोपदेश करूँगा।

शिष्य—(क्रोध से) छिः मूर्ख ! क्या तू गुरु जी से भी धर्म-विशेष जानता है ?

दूत—अरे ब्राह्मण क्रोध मत कर, सभी सब कुछ नहीं जानते, कुछ तेरा गुरु जानता है, कुछ मेरे से लोग जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध से) मूर्ख ! क्या तेरे कहने से गुरु जी की सर्वज्ञता उड़ जायगी ?

दूत—भला ब्राह्मण ! जो तेरा गुरु सब जानता है तो बतलावे कि चन्द्र किसको नहीं अच्छा लगता ?

शिष्य—मूर्ख ! इसको जानने से गुरु को क्या काम ?

दूत—यही तो कहता हूँ कि यह तेरा गुरु ही समझेगा कि इसके जानने से क्या होता है ? तू तो सूधा मनुष्य है, तू केवल इतना ही जानता है कि कमल को चन्द्र प्यारा नहीं है।

देख—

जदपि होत सुन्दर कमल, उलटो तदपि सुभाव।
जो नित पूरन चन्द सों, करत विरोध बनाव ॥[1]

भट्टनारायण ने वेणीसंहार में द्रौपदी के अपमान के बाद महाभारत की कथा कही है। अनङ्गहर्ष मात्रराज के तापसवत्सराजचरित में यौगंधरायण द्वारा वत्स और पद्मावती के व्याह कराने की पुरानी कथा है। पर इसमें भास का चातुर्य और चमत्कार नहीं है। ८-९ ई०-सदी के लगभग मुरारि के अनर्घराघव में फिर वही रामकथा है। ९-१० ई०-सदी में राजशेखर ने दस अङ्कों के महानाटक बालरामायण में राम की अथवा यों कहिये रावण की कथा कही है। अधूरे बालभारत में द्रौपदी की कथा का व्याह और द्यूत-क्रीडा का अंश है। कर्पूरमञ्जरी नाटिका बिल्कुल

अन्य-साहित्य

[1] अनु०—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

प्राकृत में है। विद्धशालभञ्जिका नाटिका में एक प्रेम-कथा है। पर इन नाटकों में चरित्र-चित्रण न तो स्पष्ट है और न ऊँचा है; भाषा क्लिष्ट है; कविता भी बहुत सरस नहीं है। क्षेमीश्वर के नैषधानन्द में महाभारत उपाख्यान की नल-कथा है और चण्डकौशिक में सत्यहरिश्चन्द्र की कथा विना किसी चातुर्य के दी है। इसके बाद के नाटक जैसे कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय, जयदेव का प्रसन्नराघव; जयसिंह सूरि का हम्मरीमदमर्दन, जैन रामचन्द्र का कौमुदीमित्राणन्द, जैन रामभद्र मुनि का प्रबुद्धरौहिणेय, प्रह्लादन देव का पार्थ-पराक्रम इत्यादि-इत्यादि बहुत साधारण कोटि के हैं। मुसलमान विजय के बाद भी बहुत से तरह-तरह के नाटक—जैसे नाटक, नाटिका, प्रकरण, प्रहसन, भाण, डिम, व्यायोग—लिखे गये पर सब प्रतिभा से शून्य हैं, यद्यपि इधर-उधर कुछ अच्छा पद्य और चरित्र-चित्रण मिलता है।

कला

गुप्तकाल के बाद भारतीय कला

गुप्त-काल के बाद भारतीय निर्माण-कला में नई-नई शैलियाँ निकलीं और बहुत-सी इमारतें बनीं। आबू पर्वत पर सफ़ेद संगमरमर के जैन-मन्दिर वर्णनातीत हैं। इनमें से विमल साह का बनवाया हुआ आदिनाथ का मन्दिर १०३१ ई० का है; तेजपाल का बनवाया हुआ दूसरा मन्दिर १२३० ई० का है; पर दोनों की शैली एक ही है और दोनों संसार की सबसे सुन्दर इमारतों में से हैं। तीर्थङ्करों की मूर्तियों पर

जैन-मन्दिर

शान्ति और वैराग्य का भाव खूब दिखाया गया है। प्रत्येक मन्दिर के दरवाजे पर एक कमरा है जिसमें दस-दस हाथी और सवार हैं। राजपूताना की सिरोही रियासत में बसन्तगढ़ के सूर्य मन्दिर में जो शायद ७ ई०-सदी का है, एक खिड़की से कोई झाँक रहा

बसन्तगढ़

है। यह मूर्ति अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक है।

भुवनेश्वर

उड़ीसा में पुरी, भुवनेश्वर और कोनारक के मन्दिर बहुत बड़े हैं। उनमें भी मूर्तियों और चित्रों की बहुतायत है। भुवनेश्वर में कोई पाँच-छ: सौ मन्दिर हैं और मूर्तियाँ हजारों हैं, पर बहुत-सी अश्लील

हैं और केवल कामशास्त्र के दृष्टान्त देती हैं। भुवनेश्वर का बड़ा मन्दिर १०वीं ई०-सदी में बना था। जगन्नाथपुरी के मन्दिर में जो ११०० ई० के लगभग बना था, एक माता और बच्चे की मूर्ति बड़ी सुन्दर और भाव-प्रदर्शक है। कोनारक के १३वीं सदी के सूर्य-मन्दिर में कुर्सी के ऊपर आठ पहिये हैं जिनमें से प्रत्येक ६ फ़ीट ८ इञ्च ऊँचा है। बाहर, सात विशाल घोड़े हैं। यह सूर्य के रथ के पहिये और घोड़े समझे जाते हैं। यहाँ पर हाथियों की भी विशाल मूर्तियाँ हैं।

खजुराहो

चन्देलों ने भी बहुत से मन्दिर बनाये। बुन्देलखण्ड की वर्तमान छतरपुर रियासत में खजुराहो में ६००-११०० ई० के बीस से अधिक मन्दिर अब तक मौजूद हैं। इनका कड़ा पत्थर ऐसा है कि उसकी मूर्तियाँ अच्छी तरह नहीं बन सकतीं। मूर्तियों के लिए रेतीले पत्थर से काम लिया है।

मथुरा का मन्दिर

ग्यारहवीं ईस्वी-सदी में महमूद ग़ज़नवी के सेवक अलउत्बी ने मथुरा के मन्दिर का हाल इस तरह लिखा है कि शहर के बीच में एक मन्दिर है जो औरों से बड़ा और सुन्दर है, जिसका न वर्णन हो सकता है, न चित्र खींचा जा सकता है। सुल्तान (महमूद ग़ज़नवी) ने इसके बारे में लिखा कि "अगर कोई इसके मुक़ाबिले इमारत बनाना चाहे तो एक अरब सोने के दीनार ख़र्च किये बिना न बना सकेगा; योग्य-से-योग्य और तजरुबेकार-से-तजरुबेकार कारीगर लगाये जाँय तो भी बनाने में २०० बरस लगेंगे।" मूर्तियों में पाँच ऐसी थीं जो लाल सोने की बनी थीं, पाँच-पाँच गज लम्बी थीं और हवा में लटक रही थीं। एक मूर्ति की आँखों में दो ऐसे लाल थे कि अगर उन्हें कोई बेचे तो पचास हज़ार दीनार पाए। दूसरी मूर्ति में एक माणिक था जो पानी से भी ज्यादा साफ़ था और शीशे से भी ज्यादा चमकदार था; तौल में ४५० मिस्क़ाल था। एक दूसरी मूर्ति के दो पैर तौल में ४४०० मिस्क़ाल थे। इन मूर्तियों से ६८३०० मिस्क़ाल सोना मिला। चाँदी की मूर्तियाँ २०० थीं। बिना तोड़े हुये इनका तौलना नामुमकिन था। मथुरा के मन्दिर

इतने मज़बूत थे कि महमूद ग़ज़नवी बड़ी कठिनता से उन्हें नष्ट कर सका।"

कश्मीर-शैली

कश्मीर-शैली के मन्दिर जो बहुधा ७५०-१२०० ई० में बनाये गये थे, ज़रा छोटे हैं। कहीं-कहीं इनके चारों ओर भी दीवारें हैं। मार्तण्ड का मन्दिर जो ललितादित्य (७२४-७६० ई०) ने बनवाया था, ६० फ़ीट लम्बा और ३८ फ़ीट चौड़ा है। इसके चारों ओर जो दीवारों का घेरा है वह २२० फ़ीट लम्बा और १४२ फ़ीट चौड़ा है। दीवारों के पास ८४ स्तम्भों का एक घेरा है जिनके बीच में मेहराब बग़ैरह बने हुए हैं। मन्दिर की सब छतें नष्ट हो गई हैं, इसलिये उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। राजा अवन्तिपुर वर्मन् (८५५-८८३ ई०) के बनवाये हुए वान्तपुर या अवन्तिपुर मन्दिर में नक्क़ाशी ज़्यादा है पर कहीं उतनी नहीं है जितनी कि कश्मीर के दक्खिन प्रदेशों में।

नैपाल

नैपाल में इस समय भी लगभग २००० मन्दिर मौजूद हैं। यहाँ की शैली मिलती-जुलती है पर हिन्दू-शैली के भी कुछ तत्त्व सम्मिलित हैं। नैपाल के मन्दिरों में छत खास चीज़ है, दीवारों पर बहुत ध्यान नहीं दिया जाता; वह तो मानों स्तम्भों के बीच के पर्दे हैं। कुछ मन्दिरों में चबूतरे पर चबूतरे हैं जिनकी सीढ़ियों पर हाथी, शेर, और वीरों की मूर्तियाँ हैं। सबसे ऊँचे चबूतरे पर मन्दिर है जिसके कई खन हैं जो छोटे होते गये हैं।

दक्खिन की कला

उत्तर और धुर-दक्खिन की शैलियों के बीच की शैली बीच के देश की है। इस तीसरी शैली के बहुत से मन्दिर दक्खिनी राजाओं ने बनवाये। चालुक्यों ने पट्टदकल और बादामी में मन्दिर बनवाये।

इलूरा

राष्ट्रकूटों ने भी बहुत इमारतें बनवाईं। इनमें इलूरा का कैलाश मन्दिर सब से प्रसिद्ध है। पहाड़ी पर एक चट्टान लम्बाई में १६० फ़ीट और चौड़ाई में २८० फ़ीट काटकर यह बनाया गया है। यह भी गुफ़ा-मन्दिर है। इसके भीतर बड़े-बड़े कमरे हैं और मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर बनाई गई हैं।

मैसूर

मैसूर में हलबीद, बेलूर इत्यादि स्थानों पर होयसल राजाओं के बहुत से मन्दिर हैं। यह मन्दिर तारे के आकार-से हैं और इनकी ज़मीन पर बहुत से चित्र बने हैं। बेलूर का मन्दिर १११७ ई० में होयसल राजा बेत्तिग ने, जिसने जैन-धर्म छोड़कर वैष्णव-धर्म अङ्गीकार किया था, बनवाया था। कुछ दिन पीछे हलबीद का मन्दिर बना। इसकी ५-६ फ़ीट ऊँची कुर्सी बड़े-बड़े पत्थरों से पटी हुई है। इस पर मूर्तियों की बहुत-सी पट्टियाँ हैं। एक पट्टी में जो ७१० फ़ीट लम्बी है, हाथियों की कोई दो-हजार मूर्तियाँ हैं। हाथियों पर सवार बैठे हैं और हौदे, जञ्जीर, जेवर वग़ैरह सब बने हुए हैं। हाथियों की पट्टी के ऊपर शार्दूल अर्थात् शेरों की एक ऐसी ही पट्टी है। इसके ऊपर एक पट्टी पत्थर की नक्काशी की है जिसमें तरह-तरह के अपूर्व सौन्दर्य के बेल-बूटे हैं। इसके ऊपर घुड़सवारों की पट्टी है और फिर नक्काशी के बेल-बूटों की पट्टी है। इसके बाद ७०० फ़ीट की पट्टी पर रामायण के दृश्य अङ्कित हैं; लङ्का-विजय हो रही है एवं राम के जीवन की अन्य घटनाएँ हो रही हैं। इसके बाद स्वर्ग के जन्तु और पक्षियों की तथा मानवी जीवन के दृश्यों की पट्टियाँ हैं। इनके ऊपर पत्थर की जालियों की खिड़कियाँ हैं।

बिलारी का मन्दिर

मद्रास प्रान्त के बिलारी जिले के पच्छिमी हिस्से में तुङ्गभद्रा नदी के किनारे कुछ पुराने मन्दिर हैं जिनकी शैली द्राविड़ शैली का एक रूपान्तर है। इनकी ख़ास बात है स्तम्भों की सुन्दरता और नक्काशी की निपुणता। पत्थर में ऐसे कौशल से काम किया गया है कि आज भी सुनार इसके नमूने पर सोने चाँदी की चीज़ें बनाते हैं। माँगला के सूर्यनारायण स्वामी मन्दिर की छत पर बेल-बूटे और रेखागणित के आकार प्रचुरता से बनाये गये हैं।

जैन-स्तम्भ

बौद्धों की तरह जैनियों ने भी बहुत से स्तम्भ बनाये थे, पर अब थोड़े से ही शेष रह गये हैं। दक्खिन कनारा जिले में मङ्गलोर से कुछ दूर मूलबद्री में १०-११ ईस्वी-सदी के लगभग जैन-मन्दिर के सामने ५२½ फ़ीट ऊँचा एक चिकने पत्थर का स्तम्भ खड़ा किया

गया है। दक्खिन कनारा में इस तरह के लगभग २० स्तम्भ और हैं। प्रत्येक स्तम्भ पर पत्थर की नक्काशी है, एक टोपी है और उसके ऊपर चोटी है। स्तम्भ की शोभा अपूर्व है। भारतीय कला में इन स्तम्भों का दर्जा बहुत ऊँचा है।

धुरदक्खिन की कला

धुरदक्खिन में निर्माण-शैली उत्तर से भिन्न थी। यहाँ गुम्बज सीधी होती है पर उसके बहुत से खन होते हैं जो बहुधा नीचे से ऊपर की ओर छोटे होते जाते हैं। ऊपर एक छोटी सी चोटी होती है। प्रधान मन्दिर के चारों ओर ऊँची दीवारों से घिरा हुआ एक विशाल दायरा होता है जिसमें बहुत से छोटे-छोटे मन्दिर, तालाब और कमरे होते हैं। चार गोपुरम् या दरवाजे होते है जो कभी-कभी बहुत ऊँचे होते हैं। इन दरवाजों, मन्दिरों और गुम्बजों पर प्रारम्भ से ही मूर्तियाँ होती थीं पर धीरे-धीरे मूर्तियाँ बढ़ती गईं। यहाँ तक कि पिछले मन्दिरों में मुश्किल से कोई जगह खाली है। दक्खिन में मन्दिर ७वीं ईस्वी-सदी से पाये जाते हैं। पल्लव राजाओं ने वर्तमान मद्रास से ३५ मील दक्खिन मामल्लपुरम् में सात रथ या पेगोडा बनवाये और काञ्जीवरम् में भी कई मन्दिर बनवाये। पल्लवों के बाद चोल-राजाओं ने तञ्जौर, त्रिचनापली इत्यादि स्थानों में विशाल मन्दिरों की रचना कराई।

हिन्दू सभ्यता पर एक दृष्टिपात

(बारहवीं ईस्वी सदी के बाद हिन्दू-सभ्यता)

१४

हिन्दू-सभ्यता की प्राचीन प्रगति

हिन्दुस्तान के इतिहास का प्राचीन-काल १२वीं १३वीं सदी में अर्थात् मुसलमान-विजय के समय समाप्त होता है। इधर तीन-चार हजार बरस से हिन्दू-सभ्यता स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित हो रही थी, चारों ओर देश-देशान्तर में फैल रही थी, विदेशी आगन्तुकों को हिन्दू बना रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि उसका सम्पर्क दूसरी सभ्यताओं से रहा था और दूसरों का असर भी उस पर पड़ा था; पर मुख्यत: वह अपने निराले मार्ग पर ही चलती रही और अपने ढङ्ग पर विकसित होती रही। अपने देश की सीमा के भीतर उसे अभी तक किसी ऐसी विपत्ति या कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था जिसे वह जीत न सके। विदेशी आक्रमणों के सामने उसे कभी-कभी सिर झुकाना पड़ा था, पर थोड़े ही दिन में या तो उसने विदेशियों को, उदाहरणार्थ, ग्रीक, हूण और अरब लोगों को निकाल दिया था, या उनको, जैसे सिथियन, यूची, कुशान आदि को बिल्कुल हज़्म कर लिया था। यह सच है कि वर्ण-व्यवस्था के कारण हिन्दू-समाज दूसरे समुदायों का पूरा-पूरा हेलमेल न कर सका पर हिन्दू-सभ्यता की—धर्म, भाषा, साहित्य, रीति-रिवाज, कला, विज्ञान की—अमिट छाप उन पर शीघ्र ही लग गई और वह पुराने समुदायों की तरह बिल्कुल उसी सभ्यता के भाग हो गये।

समादेश

बारहवीं सदी के बाद

किन्तु १२वीं १३वीं सदी में हिन्दू-सभ्यता का मुकाबिला पच्छिम एशिया की ऐसी प्रबल शक्तियों से हुआ कि सदा के लिये उसकी प्रगति बदल गई, उसका विकास उलट-पलट हो गया और उसका क्षेत्र सङ्कुचित हो गया। पैगम्बर मुहम्मद के समय से ही मुसलमान

में ऐसा धार्मिक जोश था कि फ़ारस, ग्रीस, स्पेन, हिन्दुस्तान, चीन आदि किसी देश की सभ्यता उनको अपने में न मिला सकी। इस्लाम ने खुदा की एकता, मुहम्मद की पैगम्बरी, क़ुरान की सच्चाई, बहिश्त और दोज़ख वग़ैरह के ऐसे कड़े और साफ़ सिद्धान्त रक्खे थे और लोक-परलोक के लिये ऐसा निश्चित सुसम्बद्ध तत्त्वज्ञान बना लिया था कि वह किसी भी सभ्यता का मुक़ाबिला कर सकता था। दूसरे, हिन्दुस्तान में आकर भी मुसलमानों ने दूसरे मुसलमान देशों से राजनैतिक और मानसिक सम्बन्ध क़ायम रक्खे। अगर

इस्लाम का बल

इस्लाम, संसारव्यापी या एशियाई धर्म न रहता और केवल भारतीय धर्म हो जाता तो शायद कई सदियों के बाद धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म में समा जाता। पर पच्छिम-एशिया के सम्पर्कों की बदौलत इस्लाम ने, हिन्दू-धर्म का कुछ प्रभाव ग्रहण करने पर भी, अपना व्यक्तित्व न छोड़ा। तीसरे, मुसलमानों की राजनैतिक प्रधानता के कारण भी हिन्दू-सभ्यता के लिये असम्भव था कि इस्लाम को अपने में मिला सके। अस्तु, अब अपने इतिहास में पहिली बार हिन्दू-सभ्यता के सामने यह स्थिति प्रकट हुई कि वह देश के कुछ निवासियों को हिन्दू बनाने में असमर्थ थी। दूसरों को हिन्दू बनाना तो दूर रहा, अब तो राजनैतिक प्रभुता खो जाने पर हिन्दू-सभ्यता को आत्मरक्षा के नये-नये उपाय ढूँढ़ने पड़े। अब तक ऐसी समस्या हिन्दुओं के सामने नहीं आई थी। इसको हल करने के लिये हिन्दू-समाज ने कुछ पुराने जाति-पाँति और छुआछूत के नियम बहुत कड़े कर दिये, पुरोहितों का प्रभाव और भी बढ़ा दिया; डर के मारे वह कुछ पुराने सिद्धान्तों से ऐसा चिपट गया कि मानों

आत्मरक्षा के प्रयत्न

वह जीवन के एकमात्र सार थे। इसके अलावा विदेश-यात्रा इत्यादि का निषेध करके अहिन्दुओं को हिन्दू बनाने की बहुत पुरानी परिपाटी का निराकरण करके, उसने अपनी रक्षा के लिये अपने को अपने में ही समेट लिया। यह आग्रह उस अनुकूलन शक्ति का नया निराला रूप था जिसका प्रयोग हिन्दू-समाज ने नई परिस्थितियों के समय किया था। इसका मूल-मन्त्र आक्रमण करना नहीं था जैसा कि अब तक हिन्दू-सभ्यता ने बार-बार, यद्यपि धीरे-धीरे, किया था किन्तु इसका मूलमन्त्र दूसरों के आक्रमण से अपनी

रक्षा करना था। नये अनुकूलन में बहुत ज़ोर नहीं था पर ज़िद बहुत कड़ी थी। यहाँ दृष्टि भविष्य की अपेक्षा भूतकाल पर अधिक थी, आशावाद की जगह भाग्य पर विश्वास था।

विदेशी सम्पर्कों का टूटना

यह ज़रा और स्पष्ट होना चाहिये कि १२वीं १३वीं सदी से हिन्दुओं के विदेशी सम्बन्ध प्रायः टूट गये। नये उपनिवेश बसाना अब उनकी शक्ति के बाहर था, अपने ही बसाये हुए उपनिवेशों से सम्बध रखना भी असम्भव था; विदेशी राजाओं से वैसे सम्पर्क रखने का प्रश्न ही न था जैसे कि चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार या अशोक, हर्षवर्धन या पुलकेशिन् ने स्थापित किये थे। दूसरे देशों में अपनी सभ्यता फैलाने का उद्योग बिल्कुल बन्द हो गया। विदेशी व्यापार भी बहुधा हिन्दुओं के हाथ से निकल गया और साधारण विदेश-यात्रा भी लगभग बन्द हो गई। शायद कई-सौ बरस तक किसी हिन्दू ने हिन्दुस्तान के बाहर कदम नहीं रक्खा। जातियों और सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क से जो नये-नये विचार और भाव पैदा होते हैं, ज्ञान या सङ्गठन में जो नये आविष्कार होते हैं, विद्या और जीवन की जो स्वाभाविक समालोचना होती है, उससे हिन्दू-समाज वञ्चित हो गया। जो कुछ परिवर्तन हुए वह देश के भीतर की मुसलमान-सभ्यता के सम्पर्क से ही हुए, पर जैसा कि ऊपर दिखा चुके हैं, यह सम्पर्क भी पूरा-पूरा नहीं हुआ। इस परिस्थिति में हिन्दू सभ्यता की कूप-मण्डूक की गति हो गई; स्वतन्त्र विकास और प्रसार रुक गये, बल और प्रभाव कम हो गये।

मध्य-युग

पर कोई यह न समझे कि मुसलमान-विजय के बाद हिन्दू-सभ्यता मर गई। हिन्दू-सभ्यता का अन्त तो कभी हुआ ही नहीं; वह आज भी जीती-जागती मौजूद है। तेरहवीं ई०-सदी से हिन्दुस्तान के इतिहास का मध्यकाल प्रारम्भ होता है जो लगभग १८वीं ई० सदी तक रहा। इस युग की हिन्दू-सभ्यता की विवेचना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है पर उसकी समीक्षा के प्रयोजन से यह बताना ज़रूरी है कि १२ वीं

१३वीं सदी की राज्यक्रान्ति, पराजय और सङ्कोच के बाद भी देश में हिन्दू प्रभाव बहुत कुछ स्थिर रहा।

राजनीति में हिन्दू-प्रभाव

सबसे पहिले राजनीति के क्षेत्र पर एक दृष्टि डालिये। जैसा कि पिछले अध्याय में कह चुके हैं, धुरदक्खिन में मुसलमान-आक्रमणों के बाद १४ वीं सदी के प्रारम्भ में शक्तिशाली विजयनगर साम्राज्य स्थापित हुआ जो १५६५ ई० तक क़ायम रहा। उसके पतन के बाद भी इधर-उधर प्रदेशों में भिन्न-भिन्न हिन्दू-राजा राज करते रहे। १७-१८वीं सदियों में कुछ हिन्दू-नरेशों का सम्पर्क अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों से हुआ। अठारहवीं सदी की कूटनीतियों का और लड़ाइयों का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं हैं। अठारहवीं सदी के अन्त में वर्तमान मद्रास प्रान्त अंग्रेज़ों के हाथ में आया, पर उन्होंने पुराने हिन्दू-शासन की बहुत सी बातें अङ्गीकार कर लीं। उदाहरणार्थ, ज़मीन का जो बन्दोबस्त आज मद्रास प्रान्त में प्रचलित है, वह चोल और विजयनगर साम्राज्यों के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। अनेक परिवर्तन हो जाने पर भी प्रादेशिक शासन में आज तक हिन्दू-चिह्न मौजूद हैं। धुरदक्खिन में ट्रावनकोर के अलावा मैसूर का एक बड़ा हिन्दू-राज्य और कोचीन, पुदूकोटा आदि छोटे-छोटे हिन्दू-राज्य आज तक मौजूद हैं।

धुरदक्खिन

दक्खिन

कृष्णानदी के उत्तर में १४वीं ईस्वी-सदी में दक्खिनी मुसलमान-शासकों ने देहली की अधीनता का निराकरण करते हुए स्वाधीनता का अवलम्बन किया। हसनगङ्गू की अध्यक्षता में बहमनी साम्राज्य स्थापित हुआ जो १५१८ या यों कहिये १५२६ ई० तक क़ायम रहा। जब वह भीतरी फूट के कारण टूट गया तब पाँच मुसलमान-सल्तनतें प्रकट हुईं—बिदार, बरार, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा—जो १७ वीं सदी के भिन्न-भिन्न बरसों तक अर्थात् उत्तर के मुगल-साम्राज्य में मिल जाने के समय तक स्थिर रहीं। इनके अलावा कुछ उत्तर की ओर नर्मदा नदी के पास ख़ानदेश का मुसलमान-राज्य था। इन तमाम राज्यों के इतिहास में

मुसलमान-राज्य

हिन्दू-प्रभाव पग-पग पर दृष्टिगोचर है। हिन्दू-शासन के सिद्धान्त यहाँ से कभी न मिटने पाये। जमीन का बन्दोबस्त, कर, प्रादेशिक नियम—जहाँ देखिये कुछ-न-कुछ हिन्दू-लक्षण मौजूद हैं। धार्मिक सहनशीलता की नीति जिसकी गणना हिन्दू-सङ्गठन के प्रधान और सर्वोत्तम सिद्धान्तों में है, यहाँ अधिकतर मानी गई। हिन्दू-राज्यों की तरह मुसलमान-राज्यों से भी साहित्य और कला को बहुत प्रोत्साहन मिला जिसके प्रमाण और परिणाम आज तक मौजूद हैं। यह भी याद रखना चाहिये कि इन मुसलमान-राज्यों की हजारों छोटी-छोटी नौकरियों पर और बहुतेरे ऊँचे पदों पर हिन्दू मुक़र्रर थे। उन्होंने बहुतेरी पुरानी सरकारी रीतियाँ क़ायम रक्खीं और साधारणतः हिन्दू-प्रभाव को स्थिर रक्खा।

कोंकन

दक्खिन में एक प्रान्त ऐसा भी था जहाँ हिन्दू सदा थोड़े-बहुत स्वतन्त्र बने रहे और जहाँ से फिर १७वीं सदी में हिन्दू-विद्रोह और स्वाधीनता का झण्डा उठा। अरबसागर और पच्छिमी घाटों के बीच में जो लम्बा और तङ्ग पहाड़ी प्रदेश है। वह कोंकन कहलाता है। यहाँ के रहने वाले मराठा आधे स्वतन्त्र और आधे परतन्त्र थे। उनको पूरी तरह जीतने का उद्योग मुसलमान-नरेशों ने नहीं किया था; वरन् १६ वीं सदी में उनसे मेल कर लिया था। कुछ मराठों ने दक्खिनी सल्तनतों में नौकरी की,

मराठा

सेना और शासन में ऊँचे पद पाये और कभी-कभी, जैसे अहमदनगर की निज़ामशाही सल्तनत में, सिंहासन तक का बार-बार निपटारा किया। जब १६वीं सदी के अन्त में और १७वीं सदी में आगरा और देहली के मुग़ल-बादशाहों ने अर्थात् अकबर (१५५६-१६०५ ई०), जहाँगीर (१६०५—२७ ई०), शाहजहाँ

मुग़ल हमले

(१६२७-१६५८ ई०), और औरङ्गज़ेब (१६५८-१७०७ ई०) ने दक्खिन को विजय करने के लिये अपनी पूरी शक्ति से हमले किये और बड़ी-बड़ी सेनाएँ भेजीं, तब मराठों ने सल्तनतों की ओर से युद्ध करके शत्रु को खूब छकाया। स्वयं बादशाह जहाँगीर ने अपने तुज़ुक अर्थात्

रोज़नामचे में मराठों के बल और कौशल की दाद दी है। पर मुग़ल-साम्राज्य के पास इतना रुपया था और इतने सिपाही थे और इधर दक्खिन में आपसी फूट इतनी थी कि एक-एक कर के दक्खिनी मुसलमान रियासतें जीत ली गईं। मराठों की जो पुरानी थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता थी वह भी अब सङ्कट में आ गई। इस भयङ्कर परिस्थिति में मराठों ने अपने बल को बढ़ा कर सङ्गठित किया और क्रान्तियों की गड़बड़ से लाभ उठाकर मुग़ल-साम्राज्य को चुनौती दी। अनेक पराक्रमों के बाद शिवाजी ने मराठा-साम्राज्य की नींव डाली, १६७४ ई० में रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक पुरानी हिन्दू-रीति के अनुसार कराया और १६८० ई० तक राज्य किया। शिवाजी की शासन-व्यवस्था में कुछ बातें दक्खिनी सल्तनतों से उनके द्वारा मुग़ल-साम्राज्य तक से ली गई थीं; पर बहुत-सी बातें पुरानी हिन्दू-परम्परा की ही थीं। शिवाजी का अष्ट-प्रधान रामायण और महाभारत की याद दिलाता है। अमात्य, मन्त्री, सचिव, सेनापति इत्यादि उपाधियाँ जो पुराने हिन्दू-ग्रन्थों, शिलालेखों और ताम्रपत्रों में मिलती हैं, एक बार फिर प्रचलित हुईं। मराठा सभासद् में १८ कारखानों का वर्णन पढ़ते समय कौटिल्य के अर्थशास्त्र का स्मरण होता है। प्रादेशिक शासन में भी गाँव का पाटिल, पुराने अक्षपटलिक या महाक्षपटलिक का रूपान्तर है और कुलकर्णि करणिक का रूपान्तर है। शासन के सिद्धान्त भी पुराने हिन्दू-सिद्धान्त से मिलते-जुलते हैं। गुरु रामदास (१६०८-१६८२ ई०) ने शिवाजी के पुत्र सम्भा जी को उपदेश दिया था कि महाराष्ट्र के धर्म का प्रतिपादन करो। धर्म की वृद्धि का ही उपदेश पुराने आचार्य हिन्दू-राजाओं को दिया करते थे। मराठा-शासकों ने मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, तालाब, बाँध इत्यादि बनवाने में और कविता, गायन, कला, शिक्षा, आदि को प्रोत्साहन देने में भी पुराने हिन्दू राजाओं का अनुकरण किया। प्राचीन शासन-प्रणाली की निर्बलता भी मराठा-सङ्गठन में दृष्टिगोचर है। शिवाजी के बाद मराठों ने दक्खिन के अलावा मध्य-भारत में, उत्तर-भारत में और धुरदक्खिन में भी कई प्रदेश

शिवाजी

मराठा-शासन

जीते और एक विशाल साम्राज्य की सृष्टि की। इस साम्राज्य का आधार पुराने ढङ्ग का सङ्घ-सिद्धान्त ही था। बड़ौदा में गायकवाड़, ग्वालियर में सिन्धिया, इन्दौर में होल्कर, नागपुर में भोंसला और पूना में पेशवा बहुत-कुछ स्वतन्त्र थे पर एक साम्राज्य में संयुक्त थे। आपस में लड़ते-भिड़ते थे और मेल भी करते थे। सङ्घ-प्रथा से १८वीं सदी में भी कुछ लाभ अवश्य हुए पर राजनैतिक और सैनिक नेतृत्व और शक्ति बिखर जाने से बल भी कम हो गया। १७६१ ई० में पानीपत की लड़ाई में मराठों की विशाल सेना अफ़ग़ानिस्तान के अहमदशाह अब्दाली से हार गई और मराठों की आधिपत्य की आशाएं सदा के लिये मुर्झा गईं। इसी कारण १८वीं सदी के अन्त में और १९वीं सदी के प्रारम्भ में मराठा रियासतें एक-एक करके अंग्रेज़ों से हार गईं और या तो मिट गईं या अंग्रेज़ी साम्राज्य के अधीन हो गईं। तथापि उनका इतिहास यह सिद्ध करता है कि हिन्दू-सभ्यता का राजनैतिक अंश भी १२वीं सदी के बाद अनेक शताब्दियों तक स्थिर रहा।[1] यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि गायकवाड़, होलकर और सिन्धिया की रियासतें अब तक मौजूद हैं।

सङ्घ-सिद्धान्त

मराठों का ह्रास

---

[1] मराठा इतिहास के लिए मराठा चिटणिस, विशेषकर सभासद् देखिये। राजवाड़े, पारसनिस, सरदेसाई आदि मराठा विद्वानों ने बहुत-सी मौलिक सामग्री इकट्ठी की है। सुसम्बद्ध इतिहास के लिए सरदेसाई कृत मराठी ग्रन्थ 'मराठा रियासत' देखिये। आदर्शों के लिए विशेषकर रामदास, दासबोध, दशक १०, सभास ६॥ फ़ारसी में तुज़ुकजहांगीरी, मोतमदख़ां-कृत इक़बाल-नामा, अब्दुलहमीद लाहौरी-कृत बादशाहनामा, मिर्ज़ा मुहम्मद काज़िम-कृत आलमगीरनामा मुहम्मद साक़ी मुस्तईदख़ां-कृत मासिर आलमगीरी, ख़फ़ी ख़ां-कृत मुन्तख़-बुल्लुबाब, सैरुलमुताख़िरीन आदि में मराठों का कुल हाल है। अंग्रेज़ी में देखिये, ग्राण्ट डफ़, 'हिस्ट्री ऑफ़ दि मराठाज़,' महादेवगोविन्द राणाडे 'राइज ऑफ़ दि मराठा पावर', किनकेड और पारसनिस 'हिस्ट्री ऑफ़ दि मराठा पीपुल',

मध्य-हिन्द में भी बहुत से हिन्दू-राजा बराबर राज करते रहे और उनके वंशज अब तक मौजूद हैं। बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड को देहली या आगरे के कोई मुसलमान सम्राट् पूरी तरह न जीत सके। यहाँ के शासन में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन अवश्य हुए पर हिन्दू-सङ्गठन के बहुत से सिद्धान्त स्थिर रहे।[1] सोलहवीं सदी के अन्त में और १७वीं सदी के प्रारम्भ में ओरछा के राजा बीरसिंह बुन्देला ने पण्डितों से बहुतेरे संस्कृत-ग्रन्थ जैसे वीर-मित्रोदय रचवाये। इस युग के राजाओं के बनवाये हुये मन्दिर, तालाब, झील तथा पुल वग़ैरह अब भी मौजूद हैं या कम-से-कम उनके खण्डहर दृष्टिगोचर हैं।

मध्य-हिन्द

उत्तर में भी कुछ छोटी-छोटी हिन्दू रियासतें बहुत दिन तक स्वतन्त्र रहीं। उड़ीसा में ऐसे अनेक राज्य थे। उड़ीसा और गोलकुण्डा की सीमा पर खुर्दा नामक एक राज्य १७ वीं सदी के प्रारम्भ तक स्वतन्त्र रहा और पुराने ढङ्ग की-सी सेना से सन्तोष करता रहा।[2] कश्मीर के दक्खिन में पञ्जाब की सीमा के पास किष्टवाड़ भी १६वीं सदी तक स्वतन्त्र रहा।[3] उत्तर-पच्छिम पञ्जाब में काँगड़ा ५२ घेरों के बाद १६२०

उत्तर में

यदुनाथ सरकार, 'शिवाजी', सरदेसाई, 'मेन करेण्ट्स ऑफ़ मराठा हिस्ट्री'। मराठा इतिहास का अनुसन्धान इधर बहुत से विद्वानों द्वारा हो रहा है।

१. ऊपर के उल्लिखित फ़ारसी ग्रन्थ देखिये। छतरपुर आदि के राजनगरों में बुन्देल, बघेल, इत्यादि के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। अंग्रेजी में देखिये, फर्गूसन, 'हिस्ट्री ऑफ़ दि बुन्देलज'।

२. तुज़ुकजहाँगीर (राजर्स और बेवरिज) १, पृ० ४३३॥ बहारिस्तान ग़ैबी (पेरिस की हस्तलिपि) देखिये, यदुनाथ सरकार, जर्नल आफ़ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सुसायटी, जिल्द २, भाग १, पृ० ५३। ५६॥

३. मोतमदखां, इक़बालनामा, पृ० १४३-४६॥ तुज़ुकजहाँगीरी (राजर्स और बेवरिज) २, पृ० १३७-३६॥ शाहनवाज खां, मासिर-उल-उमरा (अनु०) बेवरिज १, पृ० ४६०॥

ई० में ही मुसलमानों के हाथ आया।[१]

उत्तर-पूरब

उत्तर-पूरब में बङ्गाल के एक छोटे से प्रदेश में कुछ हिन्दू-जमींदारों ने अपना प्रभाव जमाया और १७वीं सदी तक द्वन्द्व मचाते रहे। यह बारह-भुइँया कहलाते थे और इनका सङ्गठन पुराने हिन्दू-सङ्घ का ही रूपान्तर था, बल्कि उससे भी ढीला था। इनके नेता प्रतापादित्य का उल्लेख बङ्गला-साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है।[२] आसाम और कूचबिहार में हिन्दू राजाओं का शासन मुगलसम्राट् शाहजहाँ और औरङ्गजेब के समय तक अर्थात् १७वीं ईस्वी-सदी तक रहा।[३] नैपाल तो सदा ही स्वतन्त्र रहा और उसकी शासन-पद्धति में बहुत-सी प्राचीन हिन्दू रीतियाँ प्रचलित रहीं।[४] उन्नसवीं

नैपाल

---

१. तुजुक जहाँगीरी, पूर्ववत्, २, पृ० १८४॥ फतहकाँगड़ा (रामपुर) हस्तप्रति। इलियड और डाउसन, पूर्ववत्, २, पृ० ३४, ४४४-४५॥ ३॥ पृ० ४०५-४०७, ५१५, ५७०॥ ४॥ पृ० ६७, ४१५, ४५५॥

२. निखिलनाथ राय और सत्याचरन शास्त्री-कृत प्रतापादित्य के जीवन-चरित्र देखिये। निखिलनाथराय-कृत 'मुर्शिदाबाद का इतिहास' भी देखिये। राखलदास बनर्जी-कृत 'बांगलार इतिहास' बहुत उपयोगी है। अंग्रेजी में देखिये जेम्स बाइज, जर्नल ऑफ़ द एशियाटिक सुसायटी ऑफ़ बङ्गाल, १८७४ पृ० १६४, २१४॥ १८७५ पृ० १८१-८३॥

३. देखिये गेट, 'हिस्ट्री ऑफ़ आसाम'।।सुधीन्द्रनाथ भट्टाचार्य-कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ मुगल नार्थ ईस्टर्न फ्राण्टियर पालिसी' में आसाम और कूचबिहार के भाषाग्रन्थों और किंवदन्तियों का सविस्तार उल्लेख है।

४. राइट, 'हिस्ट्री ऑफ़ नैपाल' नैपाल का पूरा और प्रामाणिक इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया है। जब लिखा जायगा तब उससे उत्तर की सभ्यता के इतिहास में बहुत सहायता मिलेगी।

ईस्वी-सदी में जो क़ानून, न्याय-पद्धति और दण्ड-विधान नेपाल में प्रचलित थे, वह प्राचीन हिन्दू परम्परा के ही थे। राज्य ने जो बहुत से भार अपने ऊपर ले रक्खे थे, वह भी हिन्दू-परम्परा के साक्षी हैं।

राजपूताना

मध्यकाल में उत्तर में हिन्दू-स्वतन्त्रता या अर्धस्वतन्त्रता का केन्द्र था राजपूताना। १२ वीं १३ वीं सदी में मुसलमानों से हारने पर बहुतेरे राजपूत उस प्रदेश में चले आये जिसका नाम उनके कारण राजपूताना हो गया। यहाँ उन्होंने आमेर, मारवाड़, मेवाड़, बूँदी इत्यादि बहुत से राज्य स्थापित किये, जो किसी-न-किसी रूप में अब तक मौजूद हैं। इसके इतिहास में पुरानी हिन्दू राजनैतिक प्रथा के बहुत से लक्षण पाये जाते हैं। यहाँ छोटे-बड़े बहुत से राज्य थे; सङ्घ और जमीन्दारी के सिद्धान्तों पर राजनैतिक सङ्गठन अवलम्बित था; आपस में ख़ूब लड़ाइयाँ होती थीं; धर्म में सहनशीलता थी; विद्वानों का मान था; राज्य की ओर से मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, तालाब इत्यादि बहुत बनाये जाते थे; साहित्य, कला तथा गायन आदि में बहुत प्रोत्साहन मिलता था। यहाँ भी सैन्य-सञ्चालन में पुरानी नीति का अवलम्बन करने से कभी-कभी बहुत हानि उठानी पड़ी। कुछ राजपूत-रियासतों ने तो जल्द ही देहली या आगरे की प्रधानता स्वीकार कर ली पर

मेवाड़

मेवाड़ ने अनुपम वीरता से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की। पन्द्रहवीं सदी में और फिर १६वीं सदी के प्रारम्भ में मेवाड़ के राजाओं ने राजपूताने के बाहर अनेक प्रदेशों पर अपनी प्रभुता जमाई। राना साँगा ने तो सीकरी की लड़ाई में पहिले मुग़ल-सम्राट् बाबर से १५२७ ई० में टक्कर ली। अकबर बादशाह के समय में राणाप्रताप ने जो साहस और शौर्य दिखाया वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है। मेवाड़ का पतन १८१४ ई० के पहिले नहीं हुआ और तत्पश्चात् भी घरेलू मामलों में वह अन्य राजपूत रियासतों से अधिक स्वतन्त्र रहा।[1]

---

[1] राजपूताना के लिये नैणसीख्यता आदि मौलिक ग्रन्थ देखिये। कविराज श्यामलदास-कृत वीरविनोद बहुत उपयोगी है। इसकी एक प्रति काशी नागरी-

स्वतन्त्र या अर्धस्वतन्त्र हिन्दू-राज्यों के अलावा हिन्दू राजनैतिक प्रभाव

मुसलमान-राज्यों पर हिन्दू-प्रभाव

उत्तर के मुसलमान राज्यों पर भी मध्यकाल में दृष्टिगोचर है। एक तो मुसलमानों ने पुराने हिन्दू राजनैतिक शासन की बहुत-सी बातों को अङ्गीकार कर लिया। उन्होंने भी वैसे ही प्रान्त और जिले बनाये और कुछ-कुछ वैसे ही अधिकारी नियुक्त किये; गाँवों को वैसे ही प्रबन्ध के अधिकार दिये; जमीन पर और आने-जानेवाले माल पर वैसे ही कर लगाये। सोलहवीं सदी में उन्होंने धार्मिक सहनशीलता भी सीख ली। यद्यपि औरङ्गजेब आदि कुछ बादशाहों ने आगे चलकर इस नीति को छोड़ दिया। जमीन्दारी-सङ्घ शासन की प्रथा भी मध्यकाल में कुछ-

प्रधान लक्षण

कुछ मौजूद रही। बहुत से हिन्दू-राजा या मुसलमान-शासक भीतरी मामलों में स्वतन्त्र रहे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन हिन्दू-शासन और मध्यकालीन मुसलमान-शासन में बहुत से अन्तर थे, पर यहाँ हिन्दू-सभ्यता के इतिहास के सम्बन्ध में इस बात पर ज़ोर देना है कि उस सभ्यता के राजनैतिक अंशों का लोप स्वतन्त्रता के साथ नहीं हुआ। बादशाह अकबर के समय की पुस्तक आईन-अकबरी के मुग़ल-शासन के वर्णन की तुलना प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों से कीजिये तो कहीं-कहीं विचित्र सामञ्जस्य दिखाई देता है। दूसरी बात यह है कि १६वीं सदी में शेरशाह के समय में और विशेषकर अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के

प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। राजपूताना में भी कहीं-कहीं प्रतियाँ मिल जाती हैं। टाड-कृत 'एनेल्स एण्ड ऐण्टिक्विटीज ऑफ़ राजस्थान' प्रसिद्ध है। गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा कृत 'राजस्थान' में बहुत सी नई बातें हैं। देवीप्रसाद मुन्सिफ़ और विश्वेश्वरनाथ रेउ के अनेक लेख भी उपयोगी हैं। फ़ारसी में वह ग्रन्थ देखिये जिनका उल्लेख मराठों के सम्बन्ध में किया है। फ़ारसी इतिहासों के बहुत से अंशों के अनुवाद ईलियट और डाउसन में हैं। परलोकगत इटैलियन टैसीटोरीका 'हिस्टॉरिकल एण्ड बार्डिक सर्वे ऑफ़ राजपूताना' अधूरा रह गया। अभी बहुत-सी मौलिक ऐतिहासिक सामग्री अप्रकाशित पड़ी है।

समय में बहुत से हिन्दू राजा और बहुत से अन्य योग्य हिन्दू मुग़ल-शासन में बहुत ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त हुए। उनसे भी हिन्दू राजनैतिक सिद्धान्तों की स्थिरता में बहुत सहायता मिली। मुग़ल-साम्राज्य के द्वारा हिन्दू सङ्गठन के कुछ तत्त्व अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी १८वीं सदी के अन्त में और १९वीं सदी के प्रारम्भ में मान्य हुए और अब तक मौजूद हैं।[1]

साहित्य

स्वतन्त्र और अर्धस्वतन्त्र हिन्दू राज्यों में संस्कृत-साहित्य का पठन-पाठन पहिले की तरह जारी रहा और काव्य, अलङ्कार, ध्वनि, व्याकरण, तत्त्वज्ञान, गणित, ज्योतिष इत्यादि के बहुत से नये ग्रन्थ भी लिखे गये। मुसलमान राज्यों में भी हिन्दुओं ने संस्कृत लिखना-पढ़ना जारी रक्खा। इस मानसिक जीवन का व्योरेवार इतिहास यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं लिखा जा सकता, पर यह स्पष्ट है कि मध्यकाल का संस्कृत-साहित्य बहुत विशाल है। इसके कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और बहुतेरे हस्तप्रतियों के रूप में देश के लगभग प्रत्येक प्रान्त के पुस्तक भण्डारों में देखे जा सकते हैं। इस साहित्य में मौलिकता बहुत नहीं है, प्रतिभा यत्र-तत्र ही मिलती है पर टीका, टिप्पणी, संक्षेप और सङ्कलन में इनमें बहुत विद्वत्ता और चातुर्य दिखाया है।

नाटकों में वामनभट्ट बाण का पार्वतीपरिणय जो १४०० ई० के लगभग

---

[1] इस विषय पर उन्हीं ग्रन्थों में सामग्री है जिनका हवाला राजपूत और मराठा इतिहास के सम्बन्ध में दिया है। मुग़ल-शासन के लिये बेनीप्रसाद 'हिस्ट्री ऑफ़ जहाँगीर' अध्याय ५, और यदुनाथ सरकार 'मुग़ल ऐड्मिनिस्ट्रेशन' भी देखिये। क़ानूनगो कृत 'शेरशाह' भी देखिये। मौलिक सामग्री में अबुलफ़ज़्ल-कृत 'आईन-अकबरी', जहाँगीर कृत 'तुज़ुक' और सुजान राय-कृत 'खुलासतुत्त-वारीख़' विशेषकर उपयोगी हैं। अन्य फ़ारसी ग्रन्थ भी जिनके अंश ईलियट और डाउसन ने उद्धृत किये हैं, देखिये। शाहनवाज़ख़ाँ के फ़ारसी ग्रन्थ मासिर-उल-उमरा में हिन्दू राजाओं और अफ़सरों के जीवन की भी बहुत-सी बातें लिखी हैं।

लिखा गया था और गङ्गाधर का गङ्गादास प्रताप विलास जो १५वीं सदी के बीच में लिखा गया था विशेष उल्लेख के योग्य हैं। मिथिला में पद्म भट्ट ने एक नया व्याकरण रचा और भावदत्त मिश्र ने नैषध की टीका के अलावा अलङ्कार और रस पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा। स्मृतियों पर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गईं जिनमें समय के अनुसार कुछ परिवर्तन भी सम्मिलित हैं।[1]

देश-भाषा

तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य का सहारा बहुत-कुछ उठ जाने से, अनेक पण्डितों और कवियों के निराश्रय हो जाने से और अनेक ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन-मठों या पाठशालाओं के नष्ट हो जाने या टूट जाने से संस्कृत का प्रचार कम होने लगा। १४-१५वीं ईस्वी-सदी में देशी-भाषाएँ जिनके विकास का निर्देश १०वें अध्याय में कर चुके हैं, साहित्य का माध्यम होने लगीं। १५-१६वीं सदी में बङ्गला, हिन्दी, गुजराती, मराठी, आदि प्रौढ़ साहित्यिक भाषा हो गईं और अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने उनमें रचना की। अनेक मुसलमान सुल्तानों और बादशाहों से इन भाषाओं को आश्रय मिला और हिन्दू-राजाओं तथा जनता ने भी प्रोत्साहन दिया। उदाहरणार्थ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने बहुत से हिन्दी कवियों को दरबार में बुलाया और सत्कारपूर्वक द्रव्य दिया। नई सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में देशी-भाषाओं की उन्नति अनिवार्य थी। एक तो संस्कृत का प्रचार घटने पर हिन्दुओं को ही देशी-भाषा के साहित्य की आवश्यकता थी। दूसरे, हिन्दू-मुसलमानों में तत्त्वज्ञान और साहित्य का सम्पर्क

हिन्दू-मुसलमान सम्पर्क

अवश्यम्भावी था, पर यह संस्कृत के द्वारा नहीं हो सकता था। संस्कृत बोल-चाल की भाषा न थी; उसका व्याकरण भी बहुत क्लिष्ट है। हिन्दू-विद्यार्थी

[1] देखिये, मिश्रबन्धु विनोद; शिवसिंह सरोज; ग्रियर्सन, 'वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान; 'रिपोर्ट ऑन दि सर्च ऑफ़ हिन्दी मैनस्क्रिप्ट्स'; बेनीप्रसाद, 'प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि इण्डियन हिस्टारिकल रेकर्ड्स कमीशन', १९२२॥

बरसों के निरन्तर परिश्रम के बाद कहीं संस्कृत के पण्डित हो सकते थे। मुसलमानों के लिये संस्कृत टेढ़ी खीर थी। ग्यारहवीं सदी में अल्बेरूनी और १६वीं सदी में फ़ैज़ी और अब्दुल क़ादिर बदायूनी को छोड़कर कोई मुसलमान संस्कृत के पण्डित नहीं हुए। इनके विपरीत देश-भाषाएँ आसान थीं, मुसलमान स्वभावतः उन्हें सीख लेते थे। अमीर खुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुर रहीम ख़ानख़ाना, ताज इत्यादि-इत्यादि बहुत से मुसलमानों ने हिन्दी में अच्छी कविता की।[1] स्वयं कबीर, जिसकी 'वाणी' और 'बीजक' हिन्दी की सर्वोत्तम रचनाओं में हैं और कुछ अंशों में तो अनुपम हैं, शायद वह मुसलमान जुलाहा था। मुसलमान-शासक, अमीर और विद्वान् देशी-भाषा की रचनाओं का आनन्द उठा सकते थे। अस्तु, हिन्दू-मुसलमान सम्पर्क का एक यह आवश्यक परिणाम हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत का स्थान देशी-भाषाओं ने बहुत-कुछ ग्रहण किया। सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य, नानक, दादू, मीराबाई, तुकाराम, रामदास इत्यादि की प्रतिभा संस्कृत को छोड़कर देशी-भाषा के द्वारा प्रगट हुई। पर यह न समझना चाहिये कि पुराने संस्कृत-

संस्कृत का प्रभाव

साहित्य, दर्शन और धर्म का प्रभाव जाता रहा। देशी भाषाओं की कविता पुराने विचारों और भावों से भरी हुई हैं। कृत्तिवास की बङ्गला रामायण पुरानी कथाओं का रूपान्तर है। तुलसीदास का रामचरित मानस, केशव की रामचन्द्रिका, इत्यादि-इत्यादि ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के आधार पर लिखे गये हैं। सूरदास के सूरसागर का आधार श्रीमद्भागवत है। नन्ददास इत्यादि की कविता भी पुराने भक्तिकाव्य का स्मरण दिलाती हैं। कबीर ने प्रचलित हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना की है और पुरोहितों को बहुत जली-कटी सुनाई है, पर उसकी रचना

---

[1] मिश्रबन्धु विनोद में हिन्दी के बहुत से मुसलमान कवियों के नाम और उनकी रचना के उदाहरण मिलेंगे।

में उपनिषदों के कुछ सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों रक्खे हैं। सम्भव है कि उसने उपनिषद् स्वयं न पढ़े हों, पर उनके सिद्धान्त कहीं-न-कहीं से उनके पास आ गये थे।[1] रैदास, नानक, पीपा, सेन इत्यादि में भी पुराने तत्त्वज्ञान और भक्ति-सिद्धान्त की मात्रा कम नहीं है।[2] इसी तरह बँगला-साहित्य ने भी पुराने साहित्य के क्रम का उल्लङ्घन नहीं किया है।[3] गुजराती, मराठी, उड़िया इत्यादि के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इन सब भाषाओं में १५वीं सदी से लेकर आज तक संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद भी बहुतायत से होते रहे हैं। प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषाओं में जैनों ने सैकड़ों क्या हज़ारों ग्रन्थ रचे, जिनमें से कुछ तो प्रकाशित

---

[1] कबीर का एक संस्करण वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से निकला है, बीजक का सम्पादन अहमदशाह ने किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय का सङ्कलन उपयोगी है। बेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद ने कबीर की साखी प्रकाशित की है। सिक्खों के आदि ग्रन्थ में कबीर के बहुत से पद हैं। एक नया संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होने वाला है। कबीर के तत्त्वज्ञान और भक्ति-रहस्य के लिये रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सङ्कलन की भूमिका देखिये। ऐतिहासिक समालोचना के लिये देखिये, बेनीप्रसाद, कबीर ए स्टडी; कबीर, हिज़ साङ्ग; दुमारो, अहमदाबाद, १९२४। बेनीप्रसाद, संक्षिप्त सूरसागर, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, भूमिका, भी देखिये।

[2] इन कवियों की रचना सन्तबानी संग्रह में देखिये। नानक के लिये आदि-ग्रन्थ सबसे उपयोगी है। जोधपुर, जैपुर इत्यादि के राजपुस्तकालयों में और व्यक्तिगत पुस्तकालयों में सन्त कवियों की रचनाओं की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियां हैं। साधारण हिन्दी साहित्य के लिये मिश्रबन्धु-विनोद और हिन्दी नवरत्न के अलावा शिवसिंह सरोज, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की हस्तप्रतियों की खोज की रिपोर्टें, ग्रियर्सन-कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' और के-कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दी लिटरेचर' भी देखिये।

[3] देखिये, दिनेशचन्द्र सेन, 'हिस्ट्री ऑफ़ बङ्गाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर'।

जैन-ग्रन्थ

हो चुके हैं और अधिकांश मन्दिरों और भण्डारों में हस्त-प्रतियों के रूप में ही रक्खे हैं। इनमें से बहुत से तो प्राचीन पाली और संस्कृत जैन-ग्रन्थों के भावानुवाद या छायानुवाद हैं और शेष ग्रन्थों पर भी पुराने जैन-साहित्य की छाप लगी हुई है। स्पष्ट है कि भाषा की शृङ्खला टूट जाने पर भी हिन्दू मानसिक जीवन की शृङ्खला मध्यकाल में नहीं टूटी।

हिन्दू भाषा, साहित्य और दर्शन ने अपनी रक्षा की सामर्थ्य दिखाने के अलावा मुसलमानों पर भी बहुत प्रभाव डाला। कह चुके हैं कि हिन्दू-मुसलमान-सम्पर्क की आवश्यकताओं के कारण मुसलमान स्वभावत: लोक-भाषाएँ सीख रहे थे। हिन्दी में कुछ फ़ारसी और थोड़े से अरबी शब्दों की मिलावट से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई, अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हिन्दी ने वह रूप धारण किया जिसे उर्दू कहते हैं। सच पूछिये तो बहुत दिन तक नाम का भी भेद न था। जिस बोली को आजकल लोग उर्दू कहते हैं वह प्रारम्भ में हिन्दी ही कहलाती थी।

उर्दू

उर्दू का ऐतिहासिक अनुसन्धान हाल में ही प्रारम्भ हुआ है, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि इसके पहिले कवि हिन्दी नाम से ही कविता रचते थे। वह यही समझते थे कि हम हिन्दी-काव्य लिख रहे हैं। उत्तर में ही नहीं किन्तु दक्खिन में भी यही अवस्था थी। हिन्दी और उर्दू का पार्थक्य जो आजकल दिखाई देता है, पीछे प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों की इस हिन्दी या उर्दू कविता में हिन्दू विचार और भाव, पौराणिक और ऐतिहासिक उल्लेख भी भरे हैं। कवि का नाम न मालूम हो तो सहसा कोई नहीं कह सकता कि रचयिता हिन्दू था या मुसलमान ? हिन्दी-उर्दू का पार्थक्य हो जाने पर भी दोनों का व्याकरण एक ही रहा है और साधारण शब्द भी समान रहे हैं।[१] उर्दू के रूप में हिन्दी सारे देश के मुसलमानों में फैल रही है।

---

१. उर्दू साहित्य के इतिहास के लिये देखिये रामबाबू सक्सेना, 'हिस्ट्री ऑफ़ उर्दू लिटरेचर'। इसका उर्दू अनुवाद भी हो गया है।

हिन्दू धर्म और दर्शन ने मध्यकाल के मुसलमानों के जीवन पर बहुत असर किया—यह स्वाभाविक ही था। हिन्दुस्तान के बाहर उपनिषद्, गीता और वेदान्त के मूल-सिद्धान्त पहुँच गये थे। ब्रह्म की सर्वव्यापकता, परमेश्वर की एकाग्र भक्ति, ब्रह्म में तल्लीनता, "तत्त्वमसि" त्याग और तप—यह सिद्धान्त कुछ मुसलमान सिद्धान्तों से जा मिले। यहाँ अन्य सिद्धान्तों का भी सङ्घर्ष हुआ जो पारसी और ईसाई धर्मों के प्रभाव से और ग्रीक तत्त्वज्ञान की कुछ विचित्र शाखाओं के प्रभाव से पच्छिम-एशिया में इधर-उधर प्रचलित थे। इस घनिष्ट सम्पर्क से मुसलमान संसार में सूफीमत की उत्पत्ति हुई, जिसने सारे मुसलमान तत्त्वज्ञान और साहित्य पर अपनी छाप लगा दी। सूफ़ी कवियों के उद्गार हिन्दू-भक्तों के से ही हैं – वही ईश्वर-प्रेम है, वही एकाग्रता है, वही आत्म-समर्पण है, वही भाव ,वही उपमाएँ हैं। हिन्दुस्तान में भी सूफ़ी मत ने बहुत प्रसिद्ध पाई। इसके अलावा साधारण मुसलमान विचार भी हिन्दू-तत्त्वज्ञान से अछूता न बचा। हिन्दुस्तान में जो फ़ारसी और अरबी साहित्य रचा गया और जिसकी वैज्ञानिक आलोचना अब प्रारम्भ हो रही है, हिन्दू प्रभाव का साक्षी है। बहुत से मुसलमानों ने हिन्दू-सिद्धान्तों को पसन्द किया। बादशाह अकबर आदि कुछ मुसलमान नरेश उनके पक्षपाती थे। शेख़ मुबारक, फैज़ी, अबुल फ़ज्ल आदि बहुतेरे विद्वान् मुक्त कण्ठ से हिन्दू धर्म और वेदान्त की प्रशंसा करते थे और तदनुसार अपने जीवन को चलाते थे। बादशाह शाहजहाँ कट्टर मुसलमान था पर उसका बड़ा लड़का दाराशिकोह वेदान्ती था। उसने अल्लोपनिषद् की रचना कराई जिसमें इस्लाम और हिन्दू-तत्त्वज्ञान का मिश्रण है।[1] इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि

मुसलमान-धर्म और दर्शन

सूफ़ी मत

साधारण प्रभाव

---

[1]इसकी प्रति खुदाबख्श ओरियटण्ल लाइब्रेरी, पटना में है। हिन्दुस्तान के फ़ारसी और अरबी साहित्य के संग्रह, हैदराबाद (दक्खिन), रामपुर, टोंक आदि

मुसलमान-विजय के बाद जिन हिन्दुओं ने इस्लाम अङ्गीकार किया था वह अपनी विचार-पद्धति को और अपने पैतृक विश्वासों को बिल्कुल छोड़ नहीं सकते थे। उनके द्वारा भी मुसलमान-समाज में हिन्दू विचार फैलते रहे।

मूर्तिकला

इस वर्णन से स्पष्ट है कि अनेक अंशों में हिन्दू और मुसलमान सभ्यताएँ एक हो गईं या कम-से-कम एक-दूसरे के बहुत निकट आ गईं। मध्यकाल की भारतीय कला के इतिहास से भी यही ध्वनि निकलती है। यह मानना पड़ेगा कि इस युग में हिन्दू कला का ह्रास अवश्य हुआ। इस्लाम में मूर्ति पूजा का विरोध मूर्ति का ही विरोध हो गया था। मुसलमानों ने बहुत सी मूर्तियाँ तोड़ डालीं, स्वयं उनके मूर्ति बनाने की तो कोई बात ही नहीं थी। जब सहनशीलता का युग प्रारम्भ हुआ, तब हिन्दू फिर स्वतन्त्रतापूर्वक मूर्ति बनाने लगे। पर विजयनगर साम्राज्य को छोड़कर और कहाँ उन्होंने इस कला में कोई उन्नति नहीं की। वरन् इसके आदर्श गिरते ही रहे। अस्तु, मध्यकाल की हिन्दू-मूर्तिकला में कोई विशेष बात नहीं है, पर भवन-निर्माण, चित्रण और गायन में हिन्दू-प्रतिभा और सिद्धान्त ने नये-नये पन्थों पर पग रक्खा।

चित्रकला

१६वीं-१७वीं सदी में चित्रकला के क्षेत्र में हिन्दू और फ़ारसी तत्त्वों के सम्मिश्रण के नये चमत्कार प्रगट हुए। मुग़ल बादशाह अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ चित्रकला के शौक़ीन थे, चित्रकारों को आश्रय देते थे और प्रतिभाशाली कृतियों पर बड़ी उदारता से इनाम देते थे। उनके समय के बहुतेरे चित्र अब तक मौजूद हैं और अपने कौशल पर आश्चर्य दिलाते हैं मध्यकाल में राजपूत चित्रकला ने भी बहुत उन्नति की और आमेर, जोधपुर इत्यादि रियासतों में सैकड़ों हृदयग्राही चित्र अङ्कित किये गये।

इस युग में रचनात्मक प्रतिभा का सबसे अधिक विकास भवन-निर्माण के

रियासतों के राजपुस्तकालयों और व्यक्तिगत पुस्तकालयों में भी हैं। बङ्गाल एशियाटिक सुसायटी, कलकत्ता, और ख़ुदाबख़्श ओरियण्टल लाइब्रेरी, पटना, में भी बहुत सी हस्तप्रतियाँ हैं। लन्दन के ब्रिटिश-म्यूज़ियम और इण्डिया आफ़िस के पुस्तकालयों में और भी ज्यादा सामग्री है।

भवन-निर्माण

क्षेत्र में हुआ। मुसलमान-नरेशों को इमारत बनाने का शौक़ हमेशा से था। हिन्दुस्तान में मुसलमानों के आने के थोड़े दिन बाद ही हिन्दू और मुसलमान निर्माण-सिद्धान्तों का सम्पर्क और मिश्रण प्रारम्भ हुआ और नई-नई रीतियों का आविष्कार हुआ। मध्यकाल की हिन्दुस्तानी इमारतें आज भी दर्शकों को चकित करती हैं और सदा संसार की सर्वोत्तम इमारतों में गिनी जायँगी। पुरानी हिन्दू इमारतों से और हिन्दू-निर्माण-सिद्धान्तों से इनकी तुलना करने पर हिन्दू प्रभाव स्पष्ट प्रगट होता है। उदाहरणार्थ आगरे के पास सिकन्दरे में अकबर की क़ब्र की इमारत हिन्दू रीति की याद दिलाती है। देहली और आगरे के क़िले की इमारतें फ़तेहपुर सीकरी के महल, लाहौर के मक़बरे और आगरे का ताजमहल भी हिन्दू प्रभाव से खाली नहीं है। राजपूताना में आमेर आदि के महल भी बहुत करके उसी प्रथा का अनुकरण करते हैं जो उत्तर-भारत के और प्रदेशों में प्रचलित थी।[१] अस्तु हिन्दू-कला का इतिहास मध्यकाल में पलट ज़रूर गया, पर समाप्त नहीं हुआ। उसके तत्त्व नष्ट नहीं हुए, वरन् और तत्त्वों से मिलकर नये-नये रूपों में प्रगट हुए।

अब सामाजिक जीवन पर एक नज़र डालिये। मध्यकाल में पुराना हिन्दू-

सामाजिक जीवन

सङ्गठन कई अंशों में अवश्य बदल गया। कह चुके हैं कि अन्य धर्मों और जातियों से अपनी विलक्षण सभ्यता की रक्षा करने के लिये हिन्दू-समाज ने जातिपाँत के, खाने-पीने के, बन्धन

---

[१], मध्यकाल की कला के लिये फर्गुसन, हेवेल और विन्सेंट ए स्मिथ के वही ग्रन्थ देखिये जिनका उल्लेख पहिले कर चुके हैं। आर्कियोलाजिकल सर्वे की रिपोर्टें और 'जर्नल ऑफ़ इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री' बहुत उपयोगी हैं। ब्राउन, 'मुग़ल पेण्टिङ्ग' भी देखिये। चित्रों के नमूने खुदाबख्श ओरियण्टल लाइब्रेरी, पटना, कलकत्ता एशियाटिक सुसायटी ऑफ़ बङ्गाल के पुस्तकालय में, महाराजा बनारसी, नवाब रामपुर इत्यादि के पुस्तकालयों में एवं जयपुर, जोधपुर आदि के अजायबख़ानों में हैं। देहली, लाहौर इत्यादि में व्यक्तियों के पास भी बहुत से चित्र हैं।

और भी कड़े कर लिये, पुरोहितों की महिमा और भी बढ़ा दी। स्वतन्त्रता के समय में हिन्दू-समाज का नेतृत्व राजा और पुरोहित दोनों के हाथ में था; मुसलमान-विजय के बाद वह नेतृत्व केवल पुरोहितों के हाथ में आ गया। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि पुरोहितों के नेतृत्व में सामाजिक-जीवन को सङ्कुचित करनेवाली शक्तियाँ बहुत प्रबल हो गईं। विदेशों से सम्पर्क बहुत कम हो गया था। जिन हिन्दुओं ने एशिया, यूरुप और अफ्रीका में अपने धर्म, तत्त्वज्ञान और साहित्य, कला का प्रचार किया था और समुद्र पार करके बहुत से देश एवं टापू आबाद किये थे वह अब विदेश-यात्रा को ही पाप समझने लगे। छुआछूत का भेद तो पहिले भी था पर अब वह बहुत बढ़ गया। अन्तर्जातीय अनुलोम ब्याह पहिले ही कम हो गया था; अब वह करीब-करीब बिल्कुल मिट गया। स्त्रियों का पद हिन्दू-स्वतन्त्रता के अन्तिम काल तक बहुत गिर चुका था; पर्दा शुरू हो गया था। बारहवीं सदी से जो राजनैतिक खलबली मची, उसमें स्त्रियों की जोखिम बढ़ गई और पर्दा बहुत कड़ा हो गया। स्वयं मुसलमानों में पर्दा बहुत होता था; उनके अनुकरण से भी उत्तर-भारत के हिन्दुओं में यह प्रथा बलवान हो गई। पर्दे से स्त्री-शिक्षा को गहरा धक्का लगा—यह स्वाभाविक ही था। हिन्दुओं के बहुत से समुदायों में बाल-ब्याह पहिले ही प्रारम्भ हो गया था। स्मृतियों में उसका विधान है और पुराणों से भी उसकी ध्वनि निकलती है। तेरहवीं सदी के बाद स्त्रियों के पद के ह्रास से, वर्ण-व्यवस्था की कठोरता से, और राजनैतिक गड़बड़ से बाल-ब्याह और भी बढ़ गया और नन्हें-नन्हें बच्चों तक की शादियाँ होने लगीं। इस प्रकार हिन्दू-समाज की निर्बलताएँ बढ़ गईं, पर सङ्गठन के मूल-सिद्धान्त प्राचीन समय के से ही रहे। मध्यकाल में वर्ण-व्यवस्था को एक धक्का ज़रूर लगा। अब तक हिन्दू न्याय में वर्णभेद का थोड़ा-बहुत विचार अवश्य किया जाता था; स्मृतियों में एक ही अपराध के लिये; भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये; भिन्न-भिन्न दण्डों का विधान है। पर

नेतृत्व

स्त्रियों का पद

बाल-ब्याह

न्याय

मुसलमान न्यायाधीश इस भेद को न मानते थे। उनकी दृष्टि में सब हिन्दू बराबर थे। सो, जहाँ वर्ण-व्यवस्था के और नियम कड़े हो गये वहाँ न्याय-सम्बन्धी भेद मिट गये।

जीवन का भाव

मध्यकाल में हिन्दुओं के जीवन का साधारण भाव कहाँ तक बदल गया—इस आवश्यक प्रश्न का उत्तर देना सहज नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन युग में भी हिन्दू-जीवन का भाव सदा एक-सा नहीं रहा था। कह चुके हैं कि ऋग्वेद के पहिले नौ मण्डलों के युग में जीवन का जैसा आनन्द और आह्लाद था वैसा आगामी काल में नहीं रहा। तत्पश्चात् बौद्ध और जैन-धर्मों की प्रधानता ने कुछ और परिवर्तन किये। अन्त में बाहर से आने वाली जातियों की उथल-पुथल ने आशावाद को निर्बल कर दिया। मध्यकाल में राजनैतिक स्वतन्त्रता मिट जाने से, राजनैतिक गड़-बड़ से, सामाजिक-कुरीतियों के दृढ़ हो जाने से, विदेशी सम्पर्क

निराशा

टूटने पर साधारण सङ्कुचन से और पुरोहितों की प्रधानता से भाग्यवाद की मात्रा बहुत बढ़ गई और आन्तरिक सामाजिक निराशा प्रबल हो उठी। हिन्दुओं ने कर्म और संसार का जो सिद्धान्त निकाला था और जो उपनिषदों के बाद सब को मान्य हुआ वह मानो दुधारी तलवार थी। जिस समाज में आत्मविश्वास हो उसके लिये यह आशावाद और स्वावलम्बन का सिद्धान्त है। साहसी व्यक्तियों के चित्त में कर्म-सिद्धान्त यह भाव उत्पन्न करता है कि हम हीं अपने भाग्य के विधाता हैं; हम

कर्म-सिद्धान्त

अपने कर्मों के बल से सब कुछ कर दिखायेंगे; जो कुछ हमारा हक़ है वह हमें ज़रूर मिलेगा; हमारा पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं हो सकता। पर यदि आत्मविश्वास नहीं है और साहस नहीं है तो कर्म-सिद्धान्त से विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं। तब यह धारणा होती है कि जो होना है वह होगा; भाग्य में जो लिखा लाये हैं वह भुगतना ही होगा; सुख-दुःख जो कुछ पड़े सब सहना होगा; हाथ-पैर पटकना व्यर्थ है। दैव पर निर्भर रहने का यह भाव मध्यकाल में बहुत प्रबल मालूम होता है;

रामचरित-मानस में रामचन्द्र के बनवास और दशरथ के मरण के बाद—

हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ।
सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनि नाथ॥

सूरदास भी कहते हैं कि कर्म की गति टाले नहीं टलती। ऐसे वाक्यों से मध्यकाल का हिन्दी या बङ्गला-साहित्य भरा पड़ा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं विपरीत भाव भी हैं जैसे कि "दैव-दैव आलसी पुकारा"। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत-साहित्य से भी भाग्यवाद के सैकड़ों वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं। पर एक ओर समस्त मध्यकालीन साहित्य को रखिये और दूसरी ओर समस्त प्राचीन साहित्य को, विशेषकर, सातवीं ई०-सदी तक के संस्कृत-साहित्य को रखिये, तो मानना पड़ेगा कि मध्यकाल में भाग्यवाद और निराशा की मात्रा अधिक है। एक संस्कृत-कवि का श्लोक है कि उद्योगी पुरुष सिंह के पास लक्ष्मी आती हैं, "दैव देता है" यह तो डरपोक आदमी करते हैं, दैव को छोड़कर अपनी शक्ति से पौरुष करो, यत्न करने पर सिद्धि न हो तो क्या दोष है? आत्मावलम्बन के ऐसे ओजस्वी कथन देश-भाषाओं के मध्यकालीन साहित्य में बहुत नहीं मिलते।

भाग्यवाद

मध्यकाल में भगवद्गीता की जो गति हुई उससे यह निष्कर्ष बहुत स्पष्ट हो जायगा। गीता का उपदेश रणभूमि में दिया गया था और अर्जुन से कठोर युद्ध कराने के प्रयोजन से दिया गया था। श्रीकृष्ण की गर्जना है कि उठो, जागो और भूति-कर्मों में लगो। कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फलों में नहीं, परमेश्वर को समर्पण करते हुए कर्म करो; निष्काम कर्म करो—यह गीता का सार है। गीता के सारे तत्त्वज्ञान, योग और भक्ति का परिणाम वही होता है जो श्रीकृष्ण का ध्येय था। अर्थात् अर्जुन फिर गाण्डीव धनुष को उठाता है और पूर्ण जय तक घमासान युद्ध करता है। गीता में यों तो बहुत सी बातें हैं किन्तु उपर्युक्त ऐतिहासिक सम्बन्ध में पढ़िये तो प्रधान सिद्धान्त अनवरत कर्म का है। पर मध्यकाल का वायुमण्डल ऐसा था कि लोग गीता के तात्त्विक प्रयोजन को भूल गये। मध्यकाल के साहित्य

मध्यकाल में भगवद्गीता

में गीता की चर्चा बहुत है और बहुत सी टीकाएँ मिलती हैं, पर यहाँ धारणा है कि गीता योगध्यान और तत्वज्ञान की पुस्तक है। गीता के आधार पर कर्मयोग की दुन्दुभी बजाना मध्यकाल का काम नहीं था। बात यह है कि जिस युग की जैसी भावना होती है उसे शास्त्रीय-सिद्धान्त के रूप भी वैसे ही दिखाई देते हैं। हजार बरस तक हिन्दू गीता के मर्म को भूले रहे। गीता के रहस्य को समझाना वर्तमान बीसवीं सदी के नेताओं और लेखकों का काम था।

परिवर्तन

मध्यकाल में साधारणतः हिन्दू भावना इस तरह की थी। पर याद रखना चाहिये कि यह तमाम युग एक सा नहीं था। तेरहवीं ईस्वी-सदी से १५ वीं ईस्वी-सदी तक जो अवस्था थी वह १६ वीं सदी में कुछ बदल गई, एवं फिर १७ वीं सदी में कुछ और परिवर्तन हुए। जब मुसलमान-राज्यों ने धार्मिक सहनशीलता की नीति अङ्गीकार की, जब उन्होंने हिन्दुओं के लिये शासन के द्वार खोल दिये और उसके बाद जब हिन्दुओं ने विप्लव करके नये-नये स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये, तब जीवन का भाव बदलने लगा। तथापि सामान्यतः प्राचीन हिन्दू-युग में और मध्यकाल में वह अन्तर था जिसका निर्देश अभी ऊपर किया है।

मध्यकाल में उन्नति

पर कोई यह न समझे कि मध्यकाल में देश ने किसी तरह की उन्नति न की और मुसलमानों के सम्पर्क से हिन्दुओं को किसी तरह का लाभ न हुआ। प्रत्येक युग में बड़ी-बड़ी घटनाओं से तरह-तरह की लहरें पैदा होती हैं और तरह-तरह के परिणाम निकलते हैं। जैसे प्राचीनकाल में जीवन और आन्दोलन की बहुत-सी धाराएँ थीं और कोई-कोई एक दूसरे के प्रतिकूल थीं, वैसे ही मध्यकाल में भी प्रगति के मार्ग तरह-तरह के थे। ऊपर दिखा चुके हैं कि मुसलमानों के सम्पर्क से भाषा, चित्रकला और निर्माण-कला में नये-नये विकास हुए। देशी-भाषाएँ प्रौढ़ साहित्यिक भाषा हो गईं और बहुतेरे प्रतिभाशाली कवियों ने उनमें रचना की। इसका अधिकांश श्रेय उन प्रभावों को है, जो मुसलमानों के आने पर प्रगट हुए थे। अगर १२वीं-१३वीं सदी में राजनैतिक क्रान्ति न होती तो शायद लोकभाषा और साहित्यिक

भाषा का पुराना भेद जरा भी कम न होता। लोकभाषाओं का मध्यकालीन साहित्य उत्पत्ति के लिए ही नहीं किन्तु विषय के लिए भी मुसलमानों का ऋणी है। मुसलमान धर्म का प्रधान सिद्धान्त है परमेश्वर की एकता।

भक्तिवाद

हिन्दू-तत्त्वज्ञान इस सिद्धान्त तक बहुत प्राचीन समय में ही पहुँच गया था, पर ब्राह्मण-धर्म में इस पर उतना जोर नहीं दिया गया था जितना कि इस्लाम में। मुसलमान विद्वानों और तत्त्वज्ञानियों के सम्पर्क से हिन्दुओं ने भी परमेश्वर की एकता पर ज्यादा ज़ोर दिया। इस परिवर्तन का प्रतिबिम्ब मध्यकालीन साहित्य में है। एक परमेश्वर की भावना दृढ़ होने से एवं वेदान्त और सूफ़ी मत के सङ्घर्षण से भक्ति-मार्ग के प्रचार में सहायता मिली। हिन्दी, बङ्गला, मराठी, इत्यादि के मध्यकालीन साहित्य में सबसे अच्छे ग्रन्थ भक्ति के ही हैं। हिन्दू-मुसलमान-धर्मों के सन्निकर्ष से कुछ नये धार्मिक आन्दोलन भी उत्पन्न हुए। उदाहरणार्थ, १५वीं-१६वीं ईस्वी-सदी में गुरु नानक ने सिक्ख धर्म चलाया जिसमें दोनों धर्मों के तत्त्वों का समावेश है।[१] अन्य धार्मिक कवियों और उपदेशकों में भी मुसलमान-प्रभाव नजर आता है।

राजनैतिक संयोजक शक्ति

राजनीति में भी मुसलमानों ने एक बड़ा भारी परिवर्तन किया जिससे देश को असीम लाभ हुआ। पिछले अध्यायों से सिद्ध हुआ होगा कि हिन्दुस्तान का राजनैतिक इतिहास संयोजक और विभाजक शक्तियों के संग्राम का चक्र है। जब संयोजक शक्तियाँ अधिक प्रबल हुईं तब मौर्य, गुप्त, वर्धन इत्यादि साम्राज्य बने, जब विभाजक शक्तियों ने जोर पकड़ा तब देश छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया। प्राचीनकाल के तमाम राजनैतिक इतिहास पर विचार कीजिए तो प्रधानता विभाजक शक्तियों की

---

[१] गुरु नानक के लिये आदिग्रन्थ देखिये। इसका संस्करण बहुधा गुरुमुखी में है। देवनागरी अक्षरों में एक संस्करण लखनऊ से प्रकाशित हुआ था पर अब वह दुष्प्राप्य है। अंग्रेजी में फ़ान ट्रंप का अनुवाद बहुत गलत है। मेकालिफ़ का 'सिक्ख रिलीजन' बेहतर है। हिन्दी में गुरु नानक की वाणियों का एक सङ्कलन 'सन्तबानी संग्रह' में भी प्रकाशित हुआ है।

ही मालूम होती है। मध्यकाल में भी संयोग और विभाग का पुराना चक्र चलता रहा; देहली या आगरा के सुल्तानों या बादशाहों का झण्डा कभी-कभी तो लगभग सारे देश पर फहराया और कभी-कभी एक-दो प्रदेशों पर ही जैसे-तैसे हिलता रहा। पर इस काल में पहिले की अपेक्षा संयोजक शक्तियाँ अधिक प्रबल हैं; साम्राज्यों का जीवन अधिक है, बल अधिक है। साम्राज्य का होना अब एक स्वाभाविक बात मालूम होती है। राजनैतिक एकता की पुरानी रुकावटें निर्बल हो रही हैं। अस्तु, मुसलमान-नरेशों की राजनैतिक आकांक्षाओं ने और सामरिक बल ने देश की एकता बढ़ाने में बड़ा काम किया और राष्ट्रीयता के उस भाव के लिये ज़मीन तैयार की जो १६ वीं सदी में पैदा हुआ।

हिन्दूपने का भाव

राजनैतिक एकता को दृढ़ करने के साथ-साथ मुसलमानों ने हिन्दूपने का भाव भी बढ़ाया। जब तक देश में केवल हिन्दू ही रहते थे तब तक उनको कभी अपनी एकता का ध्यान न आया। वह जानते थे कि हम दूसरे देशों के निवासियों से भिन्न हैं और बढ़ कर हैं। ग्यारहवीं ईस्वी-सदी में अल्बेरूनी ने देखा कि हिन्दुओं को अपने ऊपर बड़ा गर्व है, और दूसरी जातियों के लिये बड़ा अपमान है। तथापि हिन्दुत्व का भाव बहुत निर्बल था। कुछ प्रादेशिक भाव थे, मत-मतान्तर के भाव थे, वर्णों के भाव थे जातियों के, उपजातियों के, उनकी भी शाखाओं के भाव थे, पर हिन्दुत्व की धारणा बहुत कमज़ोर थी। जब मुसलमान आकर बस गये तब तारतम्य के द्वारा हिन्दूपने की वृद्धि हुई और हिन्दुओं ने समझा कि हमारी भी कोई एकता हो सकती है। स्वयं हिन्दू शब्द जो सिन्ध नदी के नाम से निकला है और जो मूल अर्थ में सिन्धु के आसपास रहने वालों का द्योतक है मध्यकाल में प्रचलित हुआ। प्राचीन सभ्यता के सम्बन्ध में हमने इस शब्द का प्रयोग केवल इस कारण किया है कि और कोई शब्द नहीं है जो धर्म और वर्ण के भेदों को छोड़कर देश के सब निवासियों का द्योतक हो। प्राचीन समय में हमारे देश में विचार ही वर्ण और धर्म के भेदों के अनुसार चलता था। पुराने स्मृतिकारों की कल्पना ने चीन और यूनान आदि देशों के निवासियों की उत्पत्ति वर्ण सङ्करता के आधार पर लिख मारी। वर्ण के अनुसार सब कुछ सोचने

और लिखने की इस परिपाटी को उस समय धक्का लगा जब देश में बहुत से ऐसे लोग आ बसे जिनके लिये वर्ण कोई चीज़ ही न था। उनसे अपना भेद देखकर हिन्दुओं ने हिन्दुत्व का भाव ग्रहण किया।

साधारण जीवन

मुसलमानों के आने पर हिन्दुस्तान का सम्पर्क पच्छिमी देशों से बहुत हो गया; मध्यकाल में बराबर आमद-रफ्त होती रही, और व्यापार भी खूब हुआ। हिन्दुस्तान में बहुत से नये फलों का चलन हुआ; नई तरह की मिठाइयाँ और पकवान बनने लगे। इन सब के विदेशी नाम आज तक प्रचलित हैं और इतने साधारण हो गये हैं कि इनको कोई विदेशी नहीं समझता। कई तरह के नये वस्त्र भी प्रचलित हुए, जो अब सारे देश में विशेषकर उत्तरी मैदानों में साधारण हो गये हैं। बाग़ बनाने की विद्या में भी बहुत उन्नति हुई।

निष्कर्ष

यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में हिन्दुओं ने अपने जीवन को नई परिस्थिति के बहुत कुछ अनुकूल बनाया। तथापि उनकी सभ्यता के पुराने सिद्धान्त पुराने रूप में या परिवर्तित रूप में बराबर प्रचलित रहे। पुरानी शृङ्खला कभी टूटने न पाई।

अर्वाचीनकाल

अर्वाचीनकाल

अर्वाचीनकाल में भी हिन्दू-सभ्यता ने बड़ी स्थिरता दिखाई है और अनुकूलन की शक्ति का भी परिचय दिया है। यूरुप के इतिहास में अर्वाचीनकाल १५वीं-१६वीं ईस्वी-सदी में प्रारम्भ होता है, क्योंकि उस समय वहाँ बहुत से राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और मानसिक परिवर्तन एक साथ हुए और जीवन का एक नया भाव प्रगट हुआ। पर हिन्दुस्तान के इतिहास में अर्वाचीनकाल १८वीं सदी के अन्त में अथवा यों कहिये १९वीं सदी के प्रारम्भ में शुरू होता है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना होते ही देश संसारव्यापी मानसिक, आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों के चक्र में पड़ गया। क्रान्तिकारी राजनैतिक परिवर्तन ने जीवन के सब अङ्गों को

धीरे-धीरे छाप लिया। हिन्दुस्तान में यूरोपियन सभ्यता का वह प्रभाव प्रारम्भ हुआ, जो अब तक जारी है और जिसका अन्तिम परिमाण भविष्य के गर्भ में छिपा है।

पारस्परिक प्रभाव

पूर्वी और पच्छिमी सभ्यताओं का सम्पर्क और सङ्घर्षण, जो आज एशिया के सब देशों में दिखाई देता है विश्वव्यापी महत्त्व की बात है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अर्थात् रेल, जहाज, विमान, तार, बेतार, छापा इत्यादि के कारण अब एक सभ्यता दूसरी सभ्यता पर बड़ी तेजी से और बड़ा गहरा प्रभाव डाल सकती है। संसार की सब जातियाँ एक-दूसरे के निकट आ रही हैं और कहीं एक-दूसरे की नकल कर रही हैं, कहीं घृणा कर रही हैं, कहीं सोच-विचार के बाद कुछ विदेशी तत्त्वों का अपने सङ्गठन में समावेश कर रही हैं। भविष्य में हिन्दुस्तान की सभ्यता क्या रूप धारण करेगी यह निश्चयपूर्वक कोई नहीं कह सकता। पर अब तक तो पुरानी सभ्यता के लक्षण मौजूद हैं और उनकी हज़ारों बरस की स्थिरता यह आशा दिलाती है कि भविष्य में भी ऐसे ही या किसी परिवर्तित रूप में मौजूद रहेंगे। यह बताने की तो कोई आवश्यकता नहीं है कि इस समय तक हिन्दुओं में पुराने धर्म प्रचलित हैं, पुरानी सामाजिक व्यवस्था का चलन है, पुराने साहित्य का अध्ययन होता है और जीवन की दृष्टि भी बहुत-कुछ पुरानी-सी है। परिवर्तन अवश्य हो रहे हैं पर इनसे हिन्दू-सभ्यता की निर्बलता नहीं किन्तु शक्ति ही प्रगट होती है।

अनुकूलन

हिन्दू-सभ्यता ने अपने को समय के अनुकूल बनाने की शक्ति पहले भी दिखाई थी। इसी शक्ति ने उसको जीवित रक्खा था और आज भी यही शक्ति उसको थामे हुए है। गत सौ बरस में यह अनुकूलन अनेक रूपों में प्रगट हुआ है। धर्म और समाज के क्षेत्र में ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, प्रार्थना-समाज आदि के आन्दोलन इस अनुकूलन के द्योतक हैं। सारे समाज में विदेशयात्रा, खान-पान, जाति-पाँत, ब्याह की आयु इत्यादि के बारे में जो भाव बदल रहा है वह भी अनुकूलन का प्रमाण है। चारों ओर राजनैतिक जागृति हो रही है। आचार में कुछ नई-नई बातों पर जोर दिया जा रहा है। इस अनुकूलन में भी पुरानी सभ्यता के तत्त्व दृष्टिगोचर हैं। वेदों के

या उपनिषदों के कुछ सिद्धान्तों के आधार पर नये धार्मिक समाज बनाये गये हैं। जीवन के नियमन के लिये गीता आदि के नये अर्थ हो रहे हैं। समाज-सुधारक भी बहुधा किसी-न-किसी प्राचीन वाक्य की दुहाई दिया करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और दूसरे कवियों में प्राचीन अध्यात्म विद्या और तत्त्वज्ञान का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर है। हिन्दू तत्त्वज्ञान का प्रभाव तो १८वीं सदी के अन्त से यूरुप पर भी कुछ पड़ रहा है। शापनहायर, डायसन, बर्गसन, आदि प्रसिद्ध यूरोपियन तत्त्वज्ञानी हिन्दू तत्त्वज्ञान के प्रभाव के नीचे आ चुके हैं।

समीक्षा की आवश्यकता

हिन्दू-सभ्यता का महत्त्व

जो सभ्यता कम-से-कम चार हजार बरस पुरानी है और अब तक जीती-जागती मौजूद हैं, जो हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देश के सब भागों में प्रचलित रही है, जिसके बहुतेरे सिद्धान्त देश-देशान्तर में फैले हैं, और जिसने स्थिरता, अनुकूलन और परिवर्तन का ज्वलन्त संयोग दिखाया है, वह अवश्य ही संसार की प्रधान सभ्यताओं में गिनी जायगी। सच पूछिये तो वह बिलकुल अनोखी और अनुपम है। मिस्र, बैबिलन, ऐसिरया, मीडिया, फारस, ग्रीस और रोम में भी बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ प्राचीनकाल में उत्पन्न हुईं पर वह सब काल के गाल में समा गईं। आजकल जो सभ्यताएँ यूरुप या अमरीका या पच्छिम-एशिया में प्रचलित हैं वह बहुत नई हैं। चीन की सभ्यता अवश्य बहुत पुरानी है, पर उसका प्रभाव हिन्दू-सभ्यता का सा नहीं रहा और उस पर बाहर से असर भी बहुत पड़ा है। संसार के इतिहास में हिन्दू-सभ्यता का एक विलक्षण स्थान है।

समीक्षा में पक्षपात

इस सभ्यता के सिद्धान्तों की समीक्षा में किसी पक्षपात की आवश्यकता नहीं है। इसका स्थान सदा ऊँचा रहेगा; अतएव इसकी समालोचना से झिझकने का कोई कारण नहीं है। पर अभी तक हिन्दू-सभ्यता की निष्पक्षपात समीक्षा बहुत कम हो पाई है। बहुत से यूरोपियन लेखक तो इसको समझने में ही असमर्थ रहे हैं और इधर-

उधर की बहुत सी निर्मूल बातें लिख गये हैं। हिन्दुओं को स्वभावतः अपनी सभ्यता का इतना गर्व रहा है कि उनको वह सब गुणों से परिपूर्ण और सब दोषों से रहित मालूम होती है। अपनी जाति या इतिहास का अभिमान तो सारे संसार में दिखाई देता है पर हिन्दुस्तान में यह विशेष प्रबल है। एक तो वर्तमान पतन के समय में पुरानी श्रेष्ठता और परिपूर्णता के चिन्तन से कुछ मानसिक सन्तोष होता है। दूसरे, लोग आशा करते हैं कि पूर्वजों की मर्यादा जितनी ऊँची ठहरेगी उतना ही प्रोत्साहन वर्तमान काल की उन्नति को मिलेगा। अस्तु, कई हिन्दू इतिहासकार प्राचीन समय में वर्तमान यूरोपियन ढङ्ग की सामाजिक-व्यवस्था, जनसत्ता, इत्यादि-इत्यादि ढूँढ़ने की चेष्टा कर रहे हैं। यह प्रयत्न पाठकों को भी बहुत सुहाते हैं पर इनकी उपयोगिता सन्दिग्ध है। एक तो राष्ट्रीय उन्नति का आधार ऐतिहासिक सत्य ही हो सकता है, कल्पना नहीं। जो व्यक्ति अपनी निर्बलताओं को पहिचानने से ही इनकार करता है; वह कभी-कभी धोखा खाता है। जो देश अपनी भूलों को भुलाता है और उनके स्थान पर श्रेष्ठता की कल्पना करता है वह अवश्य ही धोखा खायेगा। प्रत्येक देश को अपना इतिहास ठीक-ठीक जानना चाहिये और सत्य घटनाओं से ही स्वाभिमान, आत्मविश्वास, शिक्षा और चेतावनी ग्रहण करनी चाहिये। सच्चे निष्पक्षपात इतिहास के द्वारा ही भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर यथार्थ विचार हो सकता है। यही इतिहास का उपयोग है। जहाँ खींचतान होती है वहाँ इतिहास की उपयोगिता जाती रहती है। दूसरे, पक्षपातपूर्ण इतिहास बहुत दिन तक स्थिर नहीं रह सकता। मौलिक सामग्री का अध्ययन करने वालों का विश्वास उससे जाता रहेगा और तरह-तरह के सन्देह पैदा होंगे। एक बात और है। अगर हमारी प्राचीन सभ्यता सर्वथा परिपूर्ण थी, अगर उसमें कोई दोष न था, कोई निर्बलता न थी, तो देश का पतन क्यों हुआ ? अगर परिपूर्णता होते हुए ऐसा गहरा पतन हुआ, तो पतित अवस्था के बाद क्या न होगा ? फिर भविष्य के लिये क्या आशा है ? सच तो

कारण

पक्षपात से हानि

इतिहास की उपयोगिता

यह है कि ऐतिहासिक सत्य को उल्लङ्घन करके अपनी सभ्यता को दोषरहित समझना भीषण निराशावाद है, एक तरह की आत्म-हत्या है। अस्तु, पुरानी सभ्यता की समीक्षा बिना किसी पक्षपात के और बिना किसी भय के होनी चाहिये—विशेषकर वर्तमान समय में जब संसार सङ्गठन के मूल-आधार और सिद्धान्तों पर बहस कर रहा है।

सभ्यता के लक्षण

सभ्यता की कसौटी

सभ्यता क्या है? सभ्यता की अथवा यों कहिये सभ्यता की प्रगति की कसौटी क्या है? समाजशास्त्र एवं नीतिशास्त्र के इस अत्यन्त जटिलप्रश्न की पूरी मीमांसा के लिये यहाँ स्थान नहीं है। पर इतना कह सकते हैं कि सभ्यता की एक कसौटी प्रकृति की अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों की विजय है। पशु, पक्षी सदा प्रकृति के अधीन हैं। आँधी-पानी, गर्मी-सर्दी, अकाल इत्यादि से वह अपनी रक्षा अच्छी तरह नहीं कर सकते। जङ्गली आदमी पशुओं से अच्छे हैं पर प्रकृति की चोटें उन पर भी बड़े जोर से पड़ती हैं और वह यथेष्ठ रूप से अपना बचाव नहीं कर सकते। बाढ़ आये तो वह पानी में बह जाते हैं, सूखा पड़े और शिकार भी न मिले तो वह मर जाते हैं; जानवरों से भी उनको बहुत डर रहता है; उनकी कल्पना के भूत-प्रेत भी चारों ओर से उन्हें सताते हैं। सूरज, चन्द्रमा और नक्षत्र, मेंह, आँधी और बिजली, पृथ्वी और पहाड़, नदी और समुद्र आदि को देवता समझ कर वह पूजते हैं और प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, पर उनका ज्ञान प्राप्त कर के उनको जीतने की अर्थात् उनसे रक्षा का पूरा प्रबन्ध करने की और उनकी शक्ति से अपना काम निकालने की चेष्टा नहीं करते। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे प्रकृति पर विजय होती जाती है। यह सभ्यता की एक कसौटी है और

प्रकृति पर विजय

इसका मूलमन्त्र है ज्ञान। दो-एक उदाहरणों से यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जायगा। अज्ञान की अवस्था में आदमी नदी से पानी पी सकता है, पर और कुछ नहीं कर सकता। वह नदी

से डरेगा और अगर बहुत साहस करेगा तो डूब मरेगा। पर ज्ञान होने पर आदमी किश्ती बना कर नदी को सुगमतापूर्वक पार कर सकता है; पुल बना कर आने-जाने की रुकावट को लगभग बिल्कुल दूर कर सकता है; नदी से खेत सींच सकता है; नहर काट कर दूर-दूर तक सिंचाई कर सकता है; नदी की धारा से पनचक्की चला सकता है और बिजली बना कर रोशनी, पङ्खे और मशीन का प्रबन्ध कर सकता है; नदी के किनारे बड़े-बड़े नगर बसा सकता है और नदी से व्यापार कर सकता है। इसे नदी पर विजय कह सकते हैं। यह सच है कि कभी-कभी नदी का वेग ऐसा बढ़ सकता है कि गाँव और नगर डूब जाँय, पुल और किश्ती बह जाँय और चारों ओर हाहाकार मच जाय। पर एक तो ऐसा बहुत कम होगा और दूसरे इससे इतना ही सिद्ध होता है कि नदी पर विजय अभी पूरी नहीं हुई। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जायगा और उसका उपयोग होता जायगा वैसे-वैसे विजय की मात्रा भी बढ़ती जायगी। आँधी, मेह पर भी ज्ञान के द्वारा विजय होती है अर्थात् ज्ञान के उपयोग से मजबूत मकान बनाये जाते हैं और पानी के बहाव का यथोचित प्रबन्ध किया जाता है। ज्ञान के द्वारा पृथ्वी पर खेती होती है; खान खोद कर बहुत-सी धातु निकाली जाती हैं और उद्योग, व्यापार, रहन-सहन इत्यादि का सारा इन्तिज़ाम होता है। गणित और भौतिक-शास्त्र के ज्ञान के द्वारा भाप और बिजली को जीतकर रेल, तार, बेतार, जहाज इत्यादि चलाये गये हैं, हज़ारों चीज़ बनाने के लिये पुतलीघर स्थापित किये गये हैं। प्रकृति की यह सब विजय ज्ञान के द्वारा होती है; इससे कष्ट दूर होता है और सुख, ऐश्वर्य के साधन-बेहिसाब बढ़ सकते हैं। अस्तु, प्रकृति पर मानवी विजय को सभ्यता की एक कसौटी मान सकते हैं।

दृष्टान्त

पर उस ज्ञान के अलावा जिससे प्रकृति पर विजय होती है एक और तरह का ज्ञान भी है। प्राकृतिक शक्तियों के पीछे कोई चेतन शक्ति है या नहीं? इस तमाम विश्व को रचने वाला और इसका नियमन करने वाला कोई है या नहीं? अगर है तो मनुष्य में उसका कोई अंश है या नहीं? अगर है तो इस अप्राकृतिक पदार्थ का सम्बन्ध

आध्यात्मिक जिज्ञासा

विश्व के स्वामी से किस प्रकार का है ? मरने के बाद क्या होता है ? यह प्रश्न जिस विषय से सम्बन्ध रखते हैं वह शायद अज्ञेय होता है, जैसा कि हर्बर्ट स्पेन्सर का विश्वास था; शायद वह हमारी बुद्धि की पहुँच के बाहर है। पर मानवी मस्तिष्क इन अवश्यम्भावी प्रश्नों को यों ही नहीं छोड़ सकता।

तत्त्वज्ञान

वह विश्व की समस्या की तह पर पहुँचने का प्रयत्न करता है और तरह-तरह के सिद्धान्त निकालता है जो लोग इस जीवन को ही सब कुछ मानते हैं और परलोक सम्बन्धी प्रश्नों को निरा वितण्डावाद समझते हैं वह भी कभी-कभी जैसे मृत्यु के दृश्य के सामने, हक्के-बक्के रह जाते हैं और अस्तित्व के रहस्य की ओर झुकते हैं। सार्थक हो चाहे व्यर्थ हो, आध्यात्मिक जिज्ञासा मिटाये नहीं मिट सकती। संसार में सैकड़ों क्या हजारों भिन्न-भिन्न आध्यात्यिक सिद्धान्त निकले हैं और निकल रहे हैं। इनके पारस्परिक सत्यासत्य का निर्णय कोई नहीं कर सकता पर यह परीक्षा अवश्य की जा सकती है कि किस जाति ने तत्त्वज्ञान में कितनी गम्भीरता और युक्ति से काम लिया है। तत्त्वज्ञान से चाहे भौतिक सुख की वैसी वृद्धि न हो जैसी भौतिक ज्ञान से होती है पर वह दूसरी तरह के सुख का साधन है। उससे आभ्यन्तरिक शान्ति मिल सकती है या कम-से-कम यह सन्तोष हो सकता है कि हमने यथोचित अनुसन्धान कर लिया। अस्तु, प्राकृतिक ज्ञान के अलावा आध्यात्मिक अनुसन्धान, अथवा यों कहिये तत्त्वज्ञान भी सभ्यता की एक कसौटी है।

ज्ञान का सङ्कट

पर एकमात्र ज्ञान के आधार पर किसी भी सभ्यता की श्रेष्ठता या परिमाण का निर्णय नहीं किया जा सकता। यह एक कसौटी है, पूरे निश्चय की सामग्री नहीं है। सम्भव है कि कोरे ज्ञान सञ्चय का अन्तिम परिणाम सभ्यता का नाश ही हो अर्थात् इतना ज्ञान इकट्ठा हो जाय कि सभ्यता उसे सँभाल न सके और उसके बोझ से चूर-चूर हो जाय। आज पश्चिमी सभ्यता इसी सङ्कट के सामने खड़ी है और पश्चिमी सिद्धान्त और राजनीति इस दुविधा में पड़े हैं कि वह वैज्ञानिक सभ्यता इस शताब्दी में ही लोप हो जायगी या घोर सङ्कट से छुटकारा पाकर और

पच्छिमी सभ्यता की भयङ्कर स्थिति

आगे बढ़ेगी ? बात यह है कि पच्छिम में वैज्ञानिक खोज इतनी हो चुकी है और लड़ाई की तैयारी में हत्या के ऐसे-ऐसे रोमाञ्चकारी आविष्कार हो चुके हैं कि अगर फिर १९१४-१८ का-सा विश्वव्यापी युद्ध हो तो विमान, बम्ब और गैस के द्वारा राजधानी तथा उद्योग, व्यापार, विद्या और कला के सब नगर मिनटों में सदा के लिये मिटाये जा सकते हैं। आज यह सम्भावना यूरुप के सामने है कि विज्ञान सभ्यता को मिटा दे और फिर आप भी मिट जाये। आज गहरे गर्त्त के कगार पर यूरोपियन सभ्यता इस कारण आ पड़ी है कि मनुष्य ने ज्ञान तो बहुत सञ्चय किया है पर उसका ठीक प्रयोग नहीं समझा है अर्थात् उसका ज्ञानबल असामाजिक, पाशविक वृत्तियों के हाथ में है। इससे प्रगट होता है कि ज्ञान और प्रकृति-विजय यथेष्ट नहीं है। सभ्यता की पूर्णता के लिये बाहरी प्रकृति को जीतना काफी नहीं है; मनुष्य को अपनी भीतरी प्रकृति भी जीतनी चाहिये। मानवी-प्रकृति में कई प्रवृति

मानवी प्रकृति पर विजय

हैं जिनका नियमन व्यक्ति के जीवन की शान्ति और सुख के लिये एवं समाज के सामञ्जस्य और संवृद्धि के लिये आवश्यक है। क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या और निष्ठुरता से व्यक्ति अपना और दूसरों का जीवन स्वार्थपूर्ण और क्लेशमय बना सकता है। इनको जीतना अर्थात् इनके वेग को सामाजिक संवृद्धि के मार्गों में परिणत कर देना सभ्यता के लिये आवश्यक है। अगर यह प्रवृत्तियाँ उच्छृङ्खल होकर जीवन पर अपनी ही प्रभुता जमा लें तो मानवी-समाज द्वेष और संग्राम का केन्द्र हो जाय और समाज के सुख में और उन्नति में बड़ी बाधा हो। इसके विपरीत अगर अहिंसा, स्नेह, और सहानुभूति की प्रधानता हो, तो यह लोक स्वर्ग के तुल्य हो सकता है। आज तक कोई समाज ऐसा नहीं हुआ जिसमें केवल बुरी प्रवृत्तियाँ अथवा यों कहिये असामाजिक प्रवृत्तियों का या केवल अच्छी अर्थात् सामाजिक प्रवृत्तियों का अकण्टक राज्य रहा हो। इतिहास में सदा दोनों तरह की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण रहा है पर किन प्रवृत्तियों की मात्रा कितनी है—यह सभ्यता की एक कसौटी है।

समाज के सुख के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति एक-दूसरे को क्षति न

समाज की सेवा

पहुँचाएँ पर इसके अलावा समाज की उन्नति के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति समाज की सेवा करें अर्थात् अपने मानसिक, औद्योगिक, राजनैतिक या और तरह के प्रयत्नों से सामाजिक संवृद्धि की चेष्टा करें।

यह सामाजिक सहयोग अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि समाज के बहुत से काम इतने विशाल और कठिन हैं कि बहुत से आदमियों के सम्मिलित विचार और प्रयत्न से ही पूरे हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, सामाजिक अवस्था की समीक्षा और उन्नति के उपाय ढूँढ़ना, राजनैतिक जीवन में ऊँचे आदर्श स्थापित करना और सब के हितों की सेवा कराना, सामाजिक न्याय को सर्वव्यापी बनाना—यह काम तभी पूरे हो सकते हैं जब बहुत से स्त्री-पुरुष सार्वजनिक जीवन में सम्मिलित हों और स्वार्थ और पक्षपात से रहित होकर समाज की सेवा करें। शिक्षण में, आर्थिक जीवन में, एवं जीवन के दूसरे विभागों में भी सहयोग और सेवा के भाव की आवश्यकता है। जो सभ्यता यथेष्ट संख्या में निष्काम समाजसेवी पैदा कर सकती है अर्थात् जो अपने आदर्शों और परिस्थितियों के द्वारा समाजसेवा का भाव जागृत कर सकती है और स्थिर रख सकती है वह सभ्यता उन्नति करेगी और सफल कहलाने के योग्य होगी।

सामञ्जस्य

संसार में बहुत से व्यक्ति हैं जो धनी और विद्वान्, सच्चरित्र और समाजसेवी होते हुए भी सुखी नहीं हैं। बाहर से देखिये तो उनके पास किसी चीज की कमी नहीं है, पर भीतर-ही-भीतर वह घोर अशान्ति के शिकार हैं। इसी तरह अनेक समाज हैं जिनके पास विद्या और वैभव की बहुतायत है और समाजसेवकों की भी कमी नहीं है; पर वह असन्तोष और क्लेश में फँसे हैं। इसका कारण क्या है? यदि मनुष्य अपने जीवन का विश्लेषण करे तो इस परिणाम पर पहुँचेगा कि सुख और शान्ति के लिये आन्तरिक सामञ्जस्य की आवश्यकता है। किसी शारीरिक या मानसिक शक्ति का अत्यधिक प्राबल्य हो जाय और शक्तियाँ अविकसित पड़ी रहें तो जीवन अधूरा रह जायगा और पूर्ण सुख और सन्तोष दूर

व्यक्तिगत

भाग जायगा । अगर कुछ चित्तवृत्तियों की अत्यधिक पूर्ति की जाय और अन्य वृत्तियों की अवहेलना की जाय तो आन्तरिक जीवन एक नीरव संग्राम का क्षेत्र हो जायगा । व्यक्तित्व की पूर्णता इसमें है कि सब शक्तियों और वृत्तियों का यथोचित विकास और प्रसार हो, उनमें पारस्परिक विरोध न हो किन्तु बुद्धि के द्वारा उन सब का सामञ्जस्य और सङ्गठन कर दिया जाय ।

सामाजिक-सामञ्जस्य

व्यक्तिगत जीवन के सामञ्जस्य के लिये एक बात बहुत जरूरी है । मनुष्य सामाजिक जीव है । समाज न हो तो व्यक्ति का न जन्म हो सकता है, न भरण-पोषण हो सकता है, न शक्तियों का विकास हो सकता है । माँ के दूध के साथ बच्चा सामाजिकता का पान करता है । धीरे-धीरे वह समाज के जीवन का अटूट भाग बनता जाता है । हिन्दुओं के और अन्य जातियों के संस्कार इसी सामाजिक दीक्षा के चिह्न अथवा घोषणापत्र हैं । व्यक्ति स्वभावत: समाज का अङ्ग है । समाज से अर्थात् अन्य व्यक्तियों और समुदायों से उसका सामञ्जस्य होना चाहिए । अगर सामञ्जस्य नहीं है तो उसके जीवन में कठिनाई और अड़चन होगी और समाज का जीवन किसी-न-किसी अंश में अस्त-व्यस्त हो जायगा ।

समुदाय

अपने व्यक्तित्व की अथवा यों कहिये अपनी सामाजिकता की पूर्ति के लिये मनुष्य बहुत से समुदाय या सङ्घ स्थापित करता है । राजनीति, शिक्षा, उद्योग, धर्म, साहित्य, मनोरञ्जन इत्यादि-इत्यादि की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये वह तरह-तरह के सङ्गठन करता है । इस प्रकार बहुत से समुदाय बनते हैं । कुटुम्ब का समुदाय तो मानो प्रकृति ने ही बना दिया है । जैसे व्यक्तिगत जीवन में वृत्तियों की सन्धि और सामञ्जस्य आवश्यक है वैसे ही सामाजिक जीवन में व्यक्तियों के ही नहीं किन्तु समुदायों के सामञ्जस्य की आवश्यकता है । स्मरण रखना चाहिये कि सामञ्जस्य का अर्थ दमन नहीं है; सच्चा सामञ्जस्य विकास और प्रसार का है । व्यक्ति, समुदाय और समाज के वास्तविक सामञ्जस्य की मात्रा जितनी अधिक होगी उतनी

ही सुगमता जीवन से होगी। यदि सभ्यता का लक्ष्य मानव-जीवन की पूर्ति और सुख है तो सामञ्जस्य को भी सभ्यता का एक लक्षण और कसौटी मानना पड़ेगा।

पुरानी हिन्दू-सभ्यता के लक्षण

समाहरण

इस प्रकार सामान्यतः सभ्यता की परीक्षा के लिये पाँच कसौटियाँ स्थिर की जा सकती हैं—(१) ज्ञान के द्वारा प्रकृति पर विजय; (२) तत्त्व-ज्ञान के द्वारा विश्व एवं आत्मा और परमात्मा, जीवन और मरण, सुख और दुःख की पहेलियों को सुलझाने का युक्तिपूर्ण प्रयत्न; (३) मानवी-प्रकृति पर विजय अर्थात् चित्तवृत्तियों का संयम और नियमन; (४) सामाजिक हित और सेवा का व्यापक भाव; (५) व्यक्तिगत और सामाजिक सामञ्जस्य। किसी सभ्यता ने इन आदर्शों को कहाँ तक व्यवहार में परिणत किया—इस विषय पर मदभेद के लिये बहुत स्थान है। ऐतिहासिक निर्णय के लिये पूरी सामग्री नहीं मिलती। मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक अवस्थाओं का तारतम्य यों भी कठिन है। तथापि यह देखना चाहिये कि इन कसौटियों पर कसने से प्राचीन हिन्दू-सभ्यता कैसी उतरती है?

प्राचीन हिन्दू-सभ्यता और प्रकृतिज्ञान

प्रकृत्तिज्ञान में पुराने हिन्दू अपनी समकालीन किसी जाति से कम नहीं थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ बातें जो चीन, मिस्र, ग्रीस या रोमवालों को मालूम थीं, हिन्दुओं से छिपी हुई थीं पर इसके विपरीत बहुत सी बातें हिन्दुओं को मालूम थीं किन्तु औरों को नहीं। गत दो-सौ बरस में यूरुप ने वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम मचा दी है और दिन-दूनी रात चौगुनी ऐसी उन्नति की है कि आँखें चकाचौंध हो जाती हैं, पर १७ वीं सदी तक यूरुप का प्राकृतिक ज्ञान सामान्यतः प्राचीन भारत से अधिक नहीं था। गणित और ज्योतिष् में हिन्दू उनसे बढ़कर ही थे, रसायन में उनके बरावर नहीं थे, पर वैद्यक में उनसे बहुत आगे निकल चुके थे, नहर,

भिन्न-भिन्न विषय

तालाब, बाँध, भवन इत्यादि बनाने में किसी से कम नहीं थे। शरीर की बनावट का ज्ञान और बनस्पतियों का ज्ञान, हिन्दुओं को जैसा था वैसा किसी पुरानी जाति को नहीं था।

उन्होंने ऐसी-ऐसी दवाओं का पता लगाया जो आज भी उपयोगी हैं और आश्चर्य कराती है। जन्तुशास्त्र में हिन्दू पीछे रह गये थे पर सच पूछिये तो १८ वीं सदी तक किसी भी जाति का जन्तुज्ञान ऊँचे दर्जे का नहीं था। मनोविज्ञान में हिन्दुओं के कुछ सिद्धान्त बहुत मार्के के हैं। योगशास्त्रों में मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण आश्चर्यजनक है और नीतिशास्त्रों में भी उसकी विवेचना बहुत ऊँचे दर्जे की है। यह सच है कि हिन्दू मानसशास्त्र की पद्धति सर्वथा वैज्ञानिक नहीं थी, पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वैज्ञानिक मानसशास्त्र १८ वीं सदी से पहिले कहीं भी नहीं था। अस्तु, ज्ञान और प्रकृति पर विजय के सम्बन्ध में हिन्दू-सभ्यता १६-१७वीं सदी के पहिले की किसी भी सभ्यता से कम न थी। यह सच है कि प्रकृति पर पूरी विजय न हुई; अतिवृष्टि, अवृष्टि इत्यादि प्राकृतिक विपत्तियों के परिणामों का यथोचित निराकरण नहीं हुआ; आने-जाने के मार्गों में असुविधाएँ बनी रहीं; वर्तमान समय में ऐसे आविष्कार नहीं हुए। पर स्मरण रखना चाहिये कि प्रकृति की कठिनाइयाँ भी बहुत बड़ी हैं और उनको जीतने में बहुत सदियाँ लगती हैं। आज भी वह पूरी तरह नहीं जीती जा सकी हैं। शायद हिन्दुओं को भौतिकशास्त्रों की ओर कुछ अधिक ध्यान देना चाहिये था, पर कुछ भी हो उन्होंने जितना किया वह इस समय की दृष्टि से प्रशंसनीय है।

तत्त्वज्ञान

प्रकृतिज्ञान को छोड़कर तत्त्वज्ञान की ओर देखिये तो हिन्दू-सभ्यता का गौरव और भी स्पष्ट प्रतीत होगा। उपनिषदों के समय से लेकर १२वीं-१३वीं ईस्वी सदी तक हिन्दुओं ने विश्व की मीमांसाओं को सुलझाने का प्रयत्न बड़े योग से और बड़ी युक्ति से किया। उनके निष्कर्षों से कोई सहमत हो या न हो पर उपनिषद्, षड्दर्शन, भगवद्गीता, एवं बौद्ध और जैन, दर्शनों के महत्त्व से कोई इनकार नहीं कर सकता। जर्मनी के प्रख्यात दार्शनिक शापनहायर ने कहा था कि उपनिषदों से मुझे अपने जीवन में शान्ति मिली है और उपनिषदों से ही मुझे अपनी मौत में शान्ति मिलेगी। मैक्समुलर ने कहा था कि मानवी-मस्तिष्क ने सबसे बड़े सिद्धान्त और सबसे बड़ी युक्तियाँ हिन्दुस्तान में ही

यूरोपियन सम्मतियाँ

निकलीं। हाउस्टन स्टुअर्ट, चेम्बरलेन इत्यादि लेखक भी जो सदा जर्मन जातियों की श्रेष्ठता और प्रधानता के गीत गाया करते हैं इतना तो मानते ही हैं कि तत्त्व-ज्ञान में हिन्दुओं की बराबरी कोई नहीं कर सका। कह चुके हैं कि विश्व की पहेली सब के सामने कभी-न-कभी आती है। मौत के बाद क्या होता है ?—इस प्रश्न से कोई बच ही नहीं सकता। हिन्दुओं का स्वभाव ऐसा गम्भीर था कि इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना उनको चैन नहीं था। यह भी उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था, यद्यपि और बहुत सी जातियाँ १६वीं सदी तक यह न समझ पाईं कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में मतभेद अनिवार्य है और सत्य की खोज में सहनशीलता के बिना काम नहीं चल सकता। हिन्दुओं में विचार की स्वतन्त्रता का राज्य था। बीसों क्या सैकड़ों मत निकले; कोई किसी सिद्धान्त को मानता था, कोई किसी दूसरे को; कोई परमेश्वर में विश्वास करता था, कोई अनीश्वरवादी था; किसी-किसी को आत्मा या पुनर्जन्म का अस्तित्व ही मान्य न था। सब धारणाओं या सिद्धान्तों पर पूरी-पूरी बहस हुई और अन्त में कुछ सिद्धान्त लगभग सारी जाति को मान्य हुए। अगर विचार की स्वतन्त्रता और सहनशीलता न होती तो तत्त्व ज्ञान में ऐसी आश्चर्यकारी, ऐसी चमत्कारिक सफलता कभी न हो सकती थी। हिन्दू-तत्त्वज्ञान का प्रधान गुण यह है कि वह अस्तित्व की तह तक पहुँचने का प्रयत्न करता है और सदा युक्ति के मार्ग पर चलकर धारणाएँ स्थापित करता है। यहाँ न्याय अर्थात् तर्क की हद हो गई है। सारे तत्त्वज्ञान में निर्भयता कूट-कूटकर भरी है। अस्तु, इस सम्बन्ध में हिन्दू सभ्यता का स्थान सबसे ऊँचा है। यदि कोई आपत्ति हो सकती है तो यह है कि तत्त्वज्ञान में जाति ने अत्यधिक मानसिक शक्ति व्यय की और यथोचित सामञ्जस्य की अवहेलना की। परलोक की धुन में बहुत से लोगों ने इस लोक को भुला दिया। किसी-किसी काल में आध्यात्मिक अनुसन्धान के प्रवास के कारण वैराग्य और संन्यास का ऐसा दौर-दौरा हुआ कि बहुत से कुटुम्बों का जीवन अस्त-व्यस्त

गम्भीरता

मतभेद

सहनशीलता

निर्भयता

हो गया, बहुत सा नैतिक बल समाजसेवा से खिंच कर दूर जङ्गलों और पहाड़ों में जा पड़ा और कभी-कभी राजनैतिक-जीवन में भी कठिनाइयाँ पैदा हुईं। सामान्यतः परलोक की चिन्ता ने इस जीवन के निजी महत्त्व को कुछ कम कर दिया और समाज पर आने वाले दुःखों और आपत्तियों का सामना पूरी-पूरी सङ्गठित शक्ति में न होने दिया। यदि हिन्दुओं को तत्त्वज्ञान का प्रेम ज़रा कम होता तो उनकी मानसिक प्रतिभा भौतिक-शास्त्रों में और भी अधिक उन्नति करती और जीवनोपयोगी आविष्कारों के द्वारा मानव-जाति की अधिक सेवा करती।

एक आपत्ति

तत्त्वज्ञान का प्रधान उद्देश्य सत्य की खोज, पर सत्य के ज्ञानमात्र से हिन्दुओं को सन्तोष न था। उसके आधार पर उन्होंने जीवन और मोक्ष का मार्ग निश्चित करने की भी चेष्टा की। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि मनुष्य और कुछ करे या न करे पर उसे अपनी प्रकृति पर विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिये; अपनी निर्बलताओं को दूर करना चाहिये; क्रोध, मान, माया, लोभ, मत्सर आदि प्रवृतियों को वश में करनी चाहिये, मौत से कभी न डरना चाहिये। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि धर्मों से जो नीतिशास्त्र संयुक्त हैं उन सब में आत्मसंयम की बड़ी महिमा है। गुरुओं के साथ या मठों की बड़ी-बड़ी पाठशालाओं में विद्यार्थियों को सबसे पहले संयम सिखाया जाता था, गृहस्थों को संयम का उपदेश दिया जाता था और वानप्रस्थों तथा संन्यासियों से तो पूर्ण संयम की आशा की जाती थी। हिन्दुओं में त्याग का जो आदर्श था वह भी ऊँचे संयम का मार्ग था। इसके कारण बहुतेरे लोग संसार के सब ऐश्वर्य और सुख को ही तुच्छ समझते थे और उसे पुराने कपड़े की तरह आसानी से छोड़ने को तैयार थे। हिन्दू-आचार या धर्म का प्रधान अङ्ग, प्रधान लक्षण, संयम था। यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि सब लोग पूरे संयमी हो गये थे। अगर ऐसा होता तो आपस के लड़ाई-झगड़े बिल्कुल मिट जाते। प्राचीन-भारत का राजनैतिक इतिहास संग्रामों से, बहुधा अनावश्यक और हानिकर संग्रामों से, भरा हुआ है

आत्मसंयम

आदर्श

पिछले अध्यायों में उनके बहुत से दृष्टान्त मिले होंगे। उनसे प्रगट है कि राजवर्गों में और जनताओं में पूरा संयम नहीं था, दूसरों की धन-धरती छीनने की प्रबल आकांक्ष थी, कभी-कभी क्रोध और ईर्ष्या की धूम हो जाती थी। समाज या कुटुम्ब के जीवन के बारे में जो बातें मालूम हैं वह भी पूर्ण संयम नहीं सिद्ध करतीं। तो भी इतना स्पष्ट है कि संयम का आदर्श बहुत ऊँचा था और बहुतेरे लोग उसको पालन करने की चेष्टा करते थे। सब विद्यापीठों में ब्रह्मचर्य पर जोर दिया जाता था। और यावज्जीवन आत्म-शासन की शिक्षा दी जाती थी। मानवी प्रकृति पर विजय पाने का महान् प्रयत्न धार्मिक साहित्य में ही नहीं किन्तु हिन्दू लौकिक-साहित्य में, मूर्तियों और चित्रों में मन्दिरों और मठों में भी प्रतिविम्बित है। आत्मसंयम की दृष्टि से समीक्षा कीजिये तभी हिन्दू-कला के गुण और चमत्कार समझ में आ सकते हैं। गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ देखिये, जो हिन्दुस्तान और यूरुप के अजायबख़ानों में बहुतायत से मौजूद हैं। यहाँ मानों संयम को मूर्ति के रूप में बैठा दिया है। जैन-तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ प्रथमतः इन्द्रिय जीतने वालों की मूर्तियाँ हैं। अनेक ब्राह्मण-मूर्तियों में भी यही प्रधान लक्षण है। मूर्ति के द्वारा संयम प्रगट करने का अपूर्व कौशल हिन्दुओं में था। ग्रीस की मूर्तिकला का प्रधान लक्ष्य शारीरिक सौन्दर्य था। हिन्दू मूर्तिकला-लक्ष्य नैतिक सौन्दर्य था। हिन्दू चित्रों में भी बहुधा शरीर और प्रकृति को गौण रख के मानसिक अवस्था और विशेषकर संयम को प्रगट करने का प्रयास है। बहुत से हिन्दू कवियों और लेखकों ने संयम और आत्मनिग्रह के वर्णन में क़लम तोड़ दी है।

व्यवहार

पर इस आत्मसंयम के आदर्श और अभ्यास की जड़ में एक निर्बलता थी जो मध्यकालीन यूरुप और पच्छिम-एशिया के देशों में भी नज़र आती है और जिसका सङ्केत यहाँ आवश्यक है। प्राचीन हिन्दुओं ने कुछ प्रवृत्तियों को बिलकुल दबाने का अथवा यों कहिये कभी-कभी मिटाने का प्रयत्न किया। पर वह यह भूल गये, जैसा कि आजकल का मनोविज्ञान सिखाता है, कि यह प्रवृत्तियाँ मिटाई नहीं जा सकतीं;

एक निर्बलता

दमन

इतनी स्वाभाविक हैं कि मिटाने का प्रयत्न ही नैतिक और मानसिक-जीवन के लिये हानिकर हो सकता है। इसलिये इन प्रवृत्तियों को दबाने या मिटाने के बजाय इनके ध्येय ऊँचे करने का, इनकी शक्ति के लिये अच्छे-अच्छे मार्ग निकालने का, प्रयत्न करना चाहिये। इनको स्वभावतः बुरा समझने की, इनकी निन्दा करने की, कोई आवश्यकता नहीं है। इनको स्वीकार कीजिये और फिर इनका नियमन करने की चेष्टा कीजिये। ऐसा करने से व्यक्ति का जीवन पूर्ण और सुखमय होगा, समाज में सामञ्जस्य होगा, चारों ओर उल्लास का भाव होगा और असामाजिक आचार भी बहुत कम होगा। दो-एक उदाहरण लीजिये। मनुष्य की चेतना में अहम् का भाव है; विश्व को वह अहम् की आँखों से ही देखता है; इस भाव से अभिमान उत्पन्न हो सकता है; अभिमान के वश होकर आदमी दूसरों को नीचा समझता है, दूसरों के सुख-दुःख का विचार छोड़ देता है और अत्याचारी हो जाता है। अहम् के भाव पर कैसे विजय हो? अगर इसे मिटाने का प्रयत्न कीजिये तो व्यक्तित्व के नाश हो जाने का डर है; व्यक्तित्व के नाश हो जाने से जीवन-चक्र का केन्द्र ही बिगड़ जायगा। अस्तु, अहम् को मिटाने का प्रयत्न करना अनुचित है। पर अहम् को सामाजिकता से ऐसा परिपूर्ण कर सकते हैं कि उसकी असामाजिक प्रवृत्ति जाती रहे, उसे अभिमान हो तो अहिंसा का हो, समाज-सेवा का हो; अगर वह अपने को दूसरों से अच्छा समझे तो उनका अपमान करने के बजाय उनको अपने आदर्श तक उठाने का प्रयत्न करे। इस प्रकार अहम् को मिटाने से बजाय अहम् को शुद्ध करने की चेष्टा करनी चाहिये। एक और प्रवृत्ति को लीजिये। जाति को स्थिर रखने के लिये प्रकृति ने अपने विकास-क्रम में मानवी चित्त को ऐसा बनाया है कि स्त्री की ओर पुरुष का आकर्षण होता है और पुरुष की ओर स्त्री का। व्यापक अर्थ में इसको काम-प्रवृत्ति कह सकते हैं। यह प्रवृत्ति उच्छृङ्खल हो जाय तो बहुतेरे जीवनों का सत्यानाश कर सकती है, शरीर,

परिवर्तन

अहम्

काम

मस्तिष्क, और चरित्र को मिट्टी में मिला सकती है और समाज में हाहाकार मचा सकती है। यह इतनी बलवान प्रवृत्ति है कि इसका नियमन और समाजीकरण सामाजिक सङ्गठन का एक मुख्य उद्देश्य है। पर इसकी प्रबलता से तङ्ग आकर बहुत से धार्मिक और नैतिक शिक्षकों ने इसको मिटाने का उपदेश दिया है; इसको बहुत बुरा बताया है; इसलिये संसार छोड़ने की शिक्षा दी है। जैसा कि पहले कह चुके हैं, इस प्रकार के भावों के कारण स्त्री-मात्र की बहुत निन्दा हुई, पर्दे का रिवाज शुरू हुआ, स्त्रियाँ घरों में बन्द रहने लगीं, बहुत-सी विधवाएँ जला दी गईं, विधवा-व्याह कम हो गया, और स्त्रियों का पद बहुत गिर गया। प्राचीन-भारत में ही नही किन्तु मध्यकालीन यूरुप में और कई युगों तक कुछ मुसलमान देशों में भी कुछ-कुछ ऐसे ही परिणाम दिखाई देते हैं। अपने प्रधान ध्येय में शायद कुछ सफलता इससे हुई होगी, पर सामाजिक क्लेश के रूप में इसका मूल्य बहुत अधिक था। इसके विपरीत कामप्रवृत्ति को स्वभावतः बुरी समझने के बजाय उसके प्रगटन का यथोचित प्रबन्ध और उसके ध्येय का यथोचित नियमन किया जा सकता है। जहाँ स्त्री-पुरुष साधारणतः मिलते-जुलते रहते हैं, वहाँ बुरी वासनाएँ जल्दी नहीं पैदा होतीं; जहाँ शिक्षा और अनुभव से स्त्रियों के मानसिक और नैतिक बल के विकास का अवसर होता है, वहाँ वह सामाजिक जीवन में पूरा भाग लेते हुए भी अपनी रक्षा आप कर लेती हैं। जहाँ प्रेमब्याह का अवसर होता है वहाँ काम-प्रवृत्ति सारे जीवन को मधुर कर सकती है, शिष्टाचार को ऊँचा कर सकती है और काव्य तथा कला को प्रोत्साहन दे सकती हैं। इस सम्बन्ध में जिन समाजों ने कोरी दमन-नीति के आधार पर अपने आदर्श बनाये और संस्थाएँ रचीं उनको हानि उठानी पड़ी है। हिन्दू आध्यात्मिक आदर्श में तो भूख-प्यास, जाड़ा-गर्मी आदि को जीतने तक का प्रयत्न है।

निष्कर्ष

हिन्दू संयम की यह निर्बलता स्वीकार करनी पड़ेगी कि इसमें दमन की मात्रा आवश्यकता से अधिक थी। इन्द्रियों को वश में रखने का आदर्श बहुत अच्छा था, पर इसके प्रतिपादक मानव

प्रकृति को पूरी तरह न जानने के कारण यह भूल गये कि सब प्रवृत्तियों के विकास, सामञ्जस्य और समाजीकरण में ही जीवन की पूर्णता होती है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि साधारणतः संयम में भारतीय आदर्श बहुत ऊँचा था और उससे जीवन के अनेक अंशों के सञ्चालन एवं उन्नति में बहुत सहायता मिली।

सामाजिकता

संयम का विषय स्वभावतः सभ्यता की चौथी कसौटी सामाजिकता की ओर ले जाता है। हिन्दू सभ्यता नें व्यक्ति की स्वार्थपरायणता की जगह पर कहाँ तक सामाजिकता और समाज-सेवा की स्थापना की? पर इस प्रश्न के पहिले एक और प्रश्न है कि सामाजिकता और सामाज-सेवा का क्षेत्र कितना मानना चाहिये? जो पुरुष अपने कुटुम्ब के लिये दिनरात परिश्रम करता है, अपनी स्त्री और सन्तान के आराम के लिये सब क्लेश भी सहता है, वह स्वार्थी नहीं कहा जा सकता। पर अगर उसका सारा स्नेह कुटुम्ब तक ही परिमित है, अगर उसकी सहानुभूति के क्षेत्र की सीमा घर की दीवालें ही हैं, अगर वह अपने कुटुम्ब के लिये दूसरों को धोखा देने या लूटने को तय्यार है तो वह समाज सेवी नहीं कहा जा सकता और न उसमें सामाजिकता की मात्रा ही अधिक मानी जा सकती है। इसी तरह जो मनुष्य केवल अपने गाँवों को सब कुछ मान बैठा है और बाहर के सुख-दुःख से उदासीन है

सहानुभूति का क्षेत्र

वह ग्रामसेवक है, पूरे समाज का सेवक नहीं है। जो पुरुष अपने वर्ग या वर्णों के ही हित में लगा हुआ है या अपने समुदाय के हितों पर ही ज्यादा ज़ोर देता है वह भी पूरा समाज-सेवक नहीं है। इस युक्ति के अनुसार समाज का क्षेत्र मनुष्य जाति के बराबर है और सभ्यता की कसौटी यह ठहरती है कि उसके आदर्शों और संस्थाओं के द्वारा सब मनुष्य के हित की सेवा होती है या नहीं। आज तक कोई सभ्यता नहीं हुई जो इस कसौटी पर पूरी उतर सके। प्राचीन समय में चीन, मिस्र, पैलेस्टाइन, फ़ारस, ग्रीस, रोम इत्यादि के निवासी अपने ही देशवालों से थोड़ी-बहुत सहानुभूति रखते थे और परदेसियों को असभ्य या नीच मान कर उन्हें दासता या पराधीनता के

दूसरों देशों से व्यवहार

या कम-से-कम नीचे पद के ही योग्य समझते थे। आजकल भी अमरीका, जापान, इङ्गलिस्तान, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि देश वाले अपने को सबसे श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरी जातियों से लड़ने को या उनकी कमजोरी से स्वार्थ-साधन करने को तैयार हैं। प्राचीन भारतवासी भी अपने को सबसे श्रेष्ठ मानते थे। पर उनको यह श्रेय प्राप्त है कि बलवान होते हुए भी उन्होंने कभी दूसरे देशों पर अत्याचार नहीं किया। उन्होंने दूर-दूर के देशों और द्वीपों में अपने उपनिवेश बनाये और अपनी सभ्यता का प्रचार किया पर वर्तमान यूरोपियन जातियों की तरह कभी आदिम निवासियों को मार-कूटकर नष्ट नहीं किया, गुलाम नहीं बनाया, पददलित नहीं किया। अशोक, कनिष्क इत्यादि के राजत्व में उन्होंने दूसरे देशों की सेवा करने की चेष्टा की। इस दृष्टि से हिन्दू-सभ्यता संसार की और सभ्यताओं में ऊँची ठहरती है।

वर्ग-सम्बन्ध

पर जैसा कि ऊपर सङ्केत कर चुके हैं, सामाजिकता की परीक्षा देश के भीतर के वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों से भी होती है। यहाँ भी आज तक कोई सभ्यता परिपूर्ण नहीं हुई। ग्रीस और रोम की पुरानी सभ्यता तो दासता के आधार पर स्थिर थी अर्थात् लाखों दास थे, जो मिहनत-मजदूरी करते थे, अत्याचार सहते थे, और स्वतन्त्र नागरिक आनन्द से राजनीति, साहित्य, कला इत्यादि में लगे थे या योंही चैन उड़ाते थे। मध्यकालीन यूरुप में गुलामी लगभग बन्द हो गई पर खेतिहरों की अवस्था अर्धदासता की-सी थी। आजकल यूरुप में न तो दासता है और न अर्धदासता पर वर्ग-भेद बहुत है और सामाजिक एवं आर्थिक सङ्गठन ऐसा है कि मिहनत-मज़दूरी करने वालों को बड़े क्लेश उठाने पड़ते हैं। समाज में कई वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग के हितों की एक बराबर सेवा नहीं होती। वर्गों के अधिकांश मनुष्य विशेषकर अपने ही वर्ग की चिन्ता करते हैं। अमरीका, जापान इत्यादि में भी अनेक अंशों में ऐसी ही परिस्थिति दिखाई देती है। इस प्रकार एक ही देश के भीतर सामाजिकता या समाज-सेवा की कमी नज़र आती है, सहानुभूति का सङ्कोच दिखाई देता है, स्नेह का क्षेत्र परिमित मालूम होता

है। इन तमाम सभ्यताओं का यह दोष पुराने हिन्दुस्तान की सभ्यता में भी था और किसी-किसी अंश में सबसे ज्यादा था। वर्णभेद की उत्पत्ति के ऐतिहासिक कारणों की विवेचना पहले कर चुके हैं और उस व्यवस्था के प्रकृत व्यवहार को स्पष्ट करने की चेष्टा भी कर चुके हैं।

वर्ण

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुराने हिन्दुस्तान में नीच जातियों का अपमान होता था, उन्नति के अवसर उनको बहुत कम दिये जाते थे, ऊँचे मानसिक और आध्यात्मिक जीवन से वह वञ्चित थे, उनकी आर्थिक अवस्था भी शोचनीय थी। सूत्रकार, स्मृतिकार, पुराण-लेखक आदि सब कहते हैं कि इन जातियों का एकमात्र धर्म है द्विजों की सेवा। इस प्रकार यहाँ द्विजों के सुख का विचार था, शूद्र केवल उस सुख के साधन थे। कुछ शूद्रों की अवस्था ज़रूर अच्छी थी पर बहुतेरे बड़े नीचे धरातल पर जीवन-निर्वाह करते थे। इस मामले में ऊँची जाति वालों के हृदय इतने सङ्कुचित थे कि सामाजिक अत्याचार उनको अत्याचार ही न मालूम होता था। धर्म का विधान या पूर्वजन्म के कर्मों का फल मानकर वह उसी सङ्गठन को उचित समझते थे। सामाजिक-न्याय का भाव ही निर्बल हो गया था।

अत्याचार

स्वयं द्विजों में भी समानता का कोई भाव नहीं था। तीन बड़े भेद थे और छोटे-छोटे तो सैकड़ों भेद थे। सब को उन्नति और सुख के समान अवसर नहीं थे। जन्म की आकस्मिक घटना से आदमी का पद नियत हो जाता था। जिसने वैश्यकुल में जन्म लिया उसको प्रचण्ड से प्रचण्ड विद्वान् होने पर भी किसी विशाल विद्यापीठ का अध्यक्ष चुनने का अवसर बहुत नहीं था। व्यक्ति और समाज के सुख और उन्नति के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों का पूरा-पूरा विकास करके; जिस व्यवसाय की ओर अपनी प्रवृत्ति और अकांक्षा हो वह व्यवसाय कर सके; अपने गुणों के कारण वह जितने आदर-सम्मान के योग्य हो उतना समाज से निष्कण्टक रूप में पा सके।

समानता का अभाव

अगर वर्णभेद के सिद्धान्त पूरी तरह माने जाते तो यह स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती। मानवी-प्रकृति ने सिद्धान्त की बेड़ी को बहुत-कुछ तोड़ दिया, पर सिद्धान्त ऐसा प्रबल था कि उसने व्यवसाय की स्वतन्त्रता में बड़ी रुकावट डाली। हिन्दुओं का कुछ ऐसा विश्वास था कि जन्म से ही व्यवसाय की प्रवृत्ति नियत हो जाती हैं, जैसे व्यापारी का लड़का व्यापार के योग्य है, मोची का लड़का जूता बनाने के योग्य है, पुरोहित का लड़का पुरोहिती के योग्य है। पर यह विश्वास भ्रममूलक है। वैज्ञानिक परीक्षाओं ने इसे असत्य सिद्ध कर दिया है। घर में पिता के व्यवसाय की शिक्षा का साधन अवश्य रहता है पर मानसिक शक्तियों की विशेषता या प्रवृत्ति पैतृककुल के अधीन नहीं है। स्वतन्त्रता और शिक्षा होने पर ही मनुष्य को अपनी विशेष प्रवृत्ति का पता लगता है। यहाँ हिन्दू-सङ्गठन ने व्यक्तित्व पर आघात किया और समाज-सेवा के अवसर बेतरह घटा दिये। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि अदालत में दण्ड देने के समय वर्ण का जो विचार किया जाता था उससे केवल न्याय की हत्या होती थी।

व्यवसाय

जात-पाँति के भेदों से हिन्दू-समाज सैकड़ों टुकड़ों में बिखर गया। हर एक टुकड़े का अपना अलग-अलग जीवन था, मानों अपना अलग संसार था। राष्ट्रीयता का भाव कभी उदय न हुआ, हिन्दुत्व का भाव भी मुसलमानों के आने के पहले प्रबल न हुआ। सामाजिक विच्छेद ने राजनैतिक विच्छेद से मिलकर देश को बारबार नीचा दिखाया। छुआछूत, खानपान और सगाई-ब्याह के प्रतिबन्धों का प्रभाव मन पर यही पड़ता है कि हमारे यहाँ एक समाज नहीं है, एक जनता नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है, अनेक समाज और अनेक जनताएँ हैं। पूरे समाज की सेवा और पूरे समाज की भक्ति का भाव बहुत कम लोगों के हृदय में जागृत होता है जब उस समाज पर बाहर से या भीतर से कोई सङ्कट आता है तब थोड़े से आदमी ही अपने हृदय की प्रेरणा से उसकी रक्षा के लिये आगे बढ़ते हैं। सामाजिक विच्छेदों से साधारण समय में भी पूरे समाज की सेवा का भाव निर्बल हो जाता

समाज-विच्छेद

है, सहानुभूति का क्षेत्र सङ्कुचित हो जाता है, हृदय सङ्कीर्ण हो जाता है। हिन्दू सङ्गठन की यह सबसे बड़ी कमजोरी थी। वर्ण-व्यवस्था से देश की रक्षा में एक और तरह से भी रुकावट हुई। इतिहास में घोर सङ्कट के समय अनेक समाजों से सब पुरुष युद्ध के लिए तय्यार हुए हैं। उदाहरणार्थ, जब ई० पू० पाँचवीं सदी में फ़ारस ने ग्रीक नगर राज्य एथेन्स पर हमला किया तब सब एथीनियन नागरिकों ने लड़ाई के लिए कमर बाँधी। स्पार्टा में तो योंही सब लोग समर के लिए तय्यार रहते थे। १९१४-१८ की लड़ाई में जर्मनी, फ्रान्स, इङ्गलैण्ड आदि देशों के सब पुरुष राष्ट्रीय सेवा में लगे थे,—लाखों तो मैदान में लड़ रहे थे और बाकी गोला बारूद बना रहे थे, रेल-तार चला रहे थे और दूसरे जरूरी काम कर रहे थे। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी-न-किसी रूप में सारी जाति देशरक्षा के काम में लगी हुई थी। पर हिन्दू-व्यवस्था में देशरक्षा का काम केवल एक वर्ण को सौंप दिया गया था। यह सच है कि यहाँ भी व्यवस्था का उल्लङ्घन करके कुछ ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सेना में आये, नायक भी हुए, और यहाँ तक बढ़े कि राजा और सम्राट् बन बैठे। पर साधारणतः राज्य रक्षा एक ही वर्ण के हाथ में थी, बहुतेरे समुदायों से युद्ध करने की, हथियार बाँधने की, चर्चा ही उठ गई थी; सैनिक सेवा उनके बस की बात न रही थी। इस अवस्था में कभी-कभी देश को बड़ी हानि उठानी पड़ी। एक तो राजनैतिक विच्छेद के कारण एक-दो राज्यों को अकेले-अकेले ही आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ता था। दूसरे, पूरे समाज की सेवा का भाव निर्बल होने से रक्षा के काम में जनता से यथेष्ट सहायता न मिलती थी। तीसरे, वर्ण-व्यवस्था के कारण बहुधा केवल एक ही वर्ग युद्ध करता था।

राजनैतिक सङ्कट

वर्ण-व्यवस्था के कारण आभ्यन्तरिक राजनैतिक जीवन भी छिन्न-भिन्न हो गया था। यहाँ क्षत्रियों के अलावा और वर्णों से राजनीतिक निकलते रहे। तथापि व्यवस्था ने उनकी संख्या अवश्य ही कम कर दी। साधारणतः वैसा व्यापक राजनैतिक जीवन नहीं

राजनैतिक जीवन

प्रगट हुआ जैसा कि पुराने ग्रीस या रोम में था या १६वीं सदी के बाद युरुप में हुआ है। निस्सन्देह राजनैतिक जीवन के इस सङ्कोच के और भी कारण थे; जैसा कि कह चुके हैं, राज्य बड़े-बड़े थे, आने-जाने की सुविधा आजकल की-सी नहीं हो सकती थी; सङ्गठन छोटे-छोटे प्रदेशों के आधार पर था; गाँव ही बहुत सी बातों में स्वाधीन थे। पर इन सब के अलावा, वर्ण-व्यवस्था ने भी राजनैतिक जीवन के क्षेत्र को परिमित कर दिया।

सामञ्जस्य

अस्तु, सामाजिकता और समाज-सेवा की दृष्टि से हिन्दू सभ्यता को वैसी सफलता नहीं हुई जितनी और मामलों में हुई थी। तो भी यह स्पष्ट है कि राजनैतिक, आर्थिक और साधारण सामाजिक जीवन में एक तरह का सामञ्जस्य हो गया था, एक तरह की व्यवस्था हो गई थी, एक तरह का समझौता हो गया था जो शताब्दियों तक बना रहा। प्रत्येक गाँव अपनी बहुत सी आवश्यकताओं को आप ही पूरा कर लेता था। प्रत्येक उपजाति अपनी अन्य आवश्यकताओं को आप ही पूरा कर लेती थी। शेष प्रयोजनों के लिए छोटे-छोटे राज्य और दो-चार बातों के लिये बड़े-बड़े साम्राज्य पर्याप्त थे। प्रत्येक समाज के सामने यह प्रश्न रहता है कि व्यक्ति के विचार, भाव, प्रवृत्ति इत्यादि को सामाजिक रूप कैसे दे, स्वार्थ को परार्थ से कैसे संयुक्त करे? कुछ आदर्श होने चाहिये; कुछ संस्थाएँ होनी चाहिये जिनके द्वारा व्यक्तियों की शक्तियों का और उनके हितों का समीकरण और सामञ्जस्य हो। इस सर्वप्रधान उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये हिन्दू-समाज ने कुछ आदर्शों और कुछ संस्थाओं का विकास किया। आज हजारों बरस के अनुभव के बाद हम देख सकते हैं कि उनमें क्या कमी थी, पर हमें यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना चाहिये कि इनमें समय की बहुत-कुछ अनुकूलता थी; आवश्यकताओं को पूरा करने की बहुत-कुछ शक्ति थी। उनकी स्थिरता ही उनकी ऐतिहासिक उपयोगिता का एक प्रमाण है।

हिन्दू सामञ्जस्य के सम्बन्ध में एक प्रथा और एक आदर्श का उल्लेख विशेष-रूप से होना चाहिये। राजनैतिक सङ्गठन के सम्बन्ध में सङ्घप्रथा का वर्णन पिछले

सङ्घ

अध्यायों में बार-बार कर चुके हैं। इसके गुणों और अवगुणों की समीक्षा भी हो चुकी है। यहाँ पर केवल इस मूल-तत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित करना है कि हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देश के सङ्घ सिद्धान्त सामञ्जस्य का एक रूप था। सैकड़ों; हजारों, मील के फ़ासलों के कारण स्थायी राजनैतिक एकता असम्भव थी।

राजनीति

किसी भी राजधानी से बड़े राज्य पर सीधा केन्द्रित शासन न तो संभव था और न उपयोगी हो सकता था। पर इसके साथ-साथ राजनैतिक व्यवस्था और सामञ्जस्य की भी आवश्यकता थी। इस परिस्थिति में हिन्दू सङ्गठन ने सङ्घसिद्धान्त का अवलम्बन किया। राजनैतिक सङ्घप्रथा के बल से हिन्दू-राज्य जनता की बहुत सेवा कर सका और सभ्यता के अनेक अंशों—शिक्षा, साहित्य, कला "इत्यादि—को प्रोत्साहन दे सका।

आर्थिक जीवन

पर सङ्घसिद्धान्त राजनीति तक ही परिमित था। आर्थिक जीवन में श्रेणियाँ भी इस सिद्धान्त का एक रूप थीं। तरह-तरह के उद्योग और व्यापार करने वाले अपनी-अपनी श्रेणियाँ बनाकर बहुत सा आत्मशासन करते थे। शेष आर्थिक सामञ्जस्य राज्य, प्रचलित रीति-रिवाज और लोकमत के द्वारा हो जाता था। व्यावसायिक स्वराज्य और सामञ्जस्य निस्सन्देह हिन्दुओं के आर्थिक अभ्युदय के कारण थे। साधारण सामाजिक जीवन में सामञ्जस्यन वर्ण, अथवा यों कहिये जाति और उपजाति के सङ्गठन का रूप धारण किया। उसकी आलोचना अभी कर चुके हैं। हिन्दू-सभ्यता में सङ्घसिद्धान्त इतना प्रबल और व्यापक था कि वह धर्म में भी दृष्टि-गोचर है।

धर्म

यहाँ धार्मिक सहनशीलता और धर्मों के पारस्परिक ऋण का फिर उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। पर ब्राह्मण धर्म की एक विशेषता पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसमें कहीं कट्टरता नहीं हैं, जटिलता नहीं है। व्यापकता और सहिष्णुता इसके मुख्य लक्षण हैं। अपने अनुयायी को विचार और पूजा की जैसी स्वतन्त्रता यह

देता है वैसी आज तक संसार में किसी धर्म ने नहीं दी है। चाहे कोई केवल एक परमेश्वर को माने और चाहे अनेक देवी-देवताओं की उपासना करे; द्वैतवादी हो, या अद्वैतवादी हो; कर्मकाण्ड वाला हो या योगी हो;—सबके लिये ब्राह्मण धर्म के भीतर स्थान है। यह मानो राजनैतिक सङ्घ-सिद्धान्त का धार्मिक व्यवहार है। इसके बल से ब्राह्मण-धर्म ने बहुतेरे अनार्यमतों को और विदेशी आगन्तुकों के मतों को कुछ बदल कर अपने में मिला लिया। हिन्दुओं के दार्शनिक संसार में भी सङ्घ-सिद्धान्त प्रचलित है।

अहिंसा

सामञ्जस्य का एक सर्वव्यापी आदर्श हिन्दुओं ने निकाला था जो अन्य जातियों के धर्मों और नीति-शास्त्रों में मिलता अवश्य है पर जिसकी पूरी व्याख्या हिन्दुस्तान में ही हुई थी। यह अहिंसा का आदर्श था जो बौद्ध और जैन धर्मों का आधार है और ब्राह्मण धर्म को भी मान्य है। हिन्दुओं का अहिंसा का आदर्श मनुष्य, पशु, पक्षी कीड़े-मकोड़े सब ही जीवनधारियों के लिये है। जीव मात्र को एक कुटुम्ब मानना और मनुष्य को सब प्राणियों के हित का ध्यान रखने का उपदेश देना—यह हिन्दू आचार-शास्त्र का, हिन्दू-सभ्यता का सबसे बड़ा गुण था। सबसे ऊँचा आदर्श जिसकी कल्पना मानवी मस्तिष्क कर सकता है अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धान्त का जितना व्यवहार किया जायगा उतनी ही मात्रा सुख और शान्ति की विश्वमण्डल में होगी। मानव जाति ने अभी तक आदर्श को कार्य में परिणत नहीं किया है पर आदर्श की व्याख्या ही एक बड़े महत्त्व की बात है। हिन्दू-सभ्यता का श्रेय है कि उसने कुछ समुदाय उत्पन्न किये जो साधारण जीवन में ही नहीं किन्तु आर्थिक और राजनैतिक जीवन में भी इस आदर्श का प्रयोग करते रहे और जिन्होंने आज तक इसको जीता-जागता रक्खा है। जब संसार इस आदर्श का पूरा प्रयोग करेगा तब जीवन का पूर्ण सामञ्जस्य होगा और गौतम बुद्ध एवं महावीर स्वामी सरीखे उपदेशक संसार के—जीव मात्र के—सबसे बड़े हितैषी माने जाँयगे।

यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दू-सभ्यता के आदर्श हिन्दू धर्म,

समाप्ति

नीति, साहित्य और कला में विद्यमान् हैं। सभ्यता के इन अङ्गों का बड़प्पन वह सब लोग मानते हैं जिनको इनसे थोड़ी सी भी जानकारी है। हिन्दुस्तान में सदा उनका प्रभाव रहेगा और संसार सदा उनको अपना एक बहुमूल्य कोष मानेगा। सब बातों का विचार करके देखिये तो हिन्दू-सभ्यता जगत् की इनी-गिनी प्रधान सभ्यताओं में गणना के योग्य है। अभी इसका इतिहास समाप्त नहीं हुआ है। समय के अनुसार यह अपने में परिवर्तन अवश्य करेगी। अनुकूलन ही व्यक्तिगत या जातीय जीवन का प्रधान लक्षण है। पर हिन्दू सभ्यता में ऐसे सिद्धान्त हैं जो सम्भवतः भविष्य में सारे जगत् पर फिर प्रभाव डालेंगे और मानव जाति को नया मार्ग दिखायेंगे। अहिंसा ब्रह्मचर्य, संयम, त्याग, ज्ञान की खोज, तर्क, सहनशीलता—यह आदर्श कभी न कभी संसार भर में प्रशंसा पायेंगे और सारी सभ्यता की उन्नति के साधन होंगे।